एकादशोपनिषत्संग्रह

भाषा-टीका-सहित

ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक,
माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय,
छान्दोग्य, बृहदारण्यक,
श्वेताश्वतरोपनिषदः

सत्यानन्द

ओ३म्

एकादशोपनिषत्संग्रह

भाषा टीका सहित

—***—

लेखक

स्वामी सत्यानन्द

—***—

पंचमावृत्ति] संवत् २०३२ [मूल्य ६.००

प्रकाशक :—
श्री स्वामी सत्यानन्द धर्मार्थ ट्रस्ट,
८, रिंग रोड, नई दिल्ली ११००१४

—

पुस्तक मिलने का पता—

१. श्रीरामशरणम्,
८. रिंग रोड, लाजपत नगर,
नई देहली-११००१४.

—***—

२. भगवान दास एण्ड कम्पनी,
कश्मीरी गेट, देहली-११०००६

—***—

मुद्रक :—
इंडिया आफसेट प्रैस
मायापुरी नई दिल्ली-११००२७

सूची-पत्र

प्रकरण और विषयादि

ऐतरेयोपनिषद्

छान्दोग्योपनिषद्

बृहदारण्यकोपनिषद्

श्वेताश्वतरोपनिषद्

ॐ

ईशावास्योपनिषद्

ओम् पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

वह परमेश्वर पूर्ण है—सच्चिदानन्द, सर्वशक्तिमान, अखण्ड है। यह दृश्यमान जगत् भी स्वसत्ता में पूर्ण है—कुछ भी ऊना नहीं है, याथातथ्य है। पूर्णस्वरूप भगवान् से ही यह पूर्ण जगत् उदय होता है। सौन्दर्य से, सुक्रम से, सुनियम से, यथायोग्यता से तथा पारस्परिक सुयोग संयोग से रचना की पूर्णता ज्ञान शक्ति से पूर्ण रचयिता से ही विकसित होती है। उस परम पूर्ण परमेश्वर का पूर्ण स्वरूप लेकर—अपने में धारण करके, फिर भी अनन्त महिमामय भगवान् सर्वत्र पूर्ण ही रह जाता है, वह कदापि खण्डित नहीं होता। एक ही शब्द, जैसे सहस्रों यंत्रों पर, एक काल में ही पृथक्-पृथक् व्यक्त होकर भी मूल के शब्दत्व में एक ही बना रहता है, ऐसे ही सहस्रों हृदय कमलों में एक काल में परमेश्वर की पूर्ण अनुभूतियां होने पर भी उस के स्वरूप की पूर्णता एक ही बनी रहती है।

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥१॥

यह दृश्यमान सब और जो कुछ भी त्रिलोकी में जगत् है—अखिल विश्व है, वह सब ईश्वर से बसने योग्य है—उस में ईश्वर स्वशक्ति, सत्ता से विद्यमान है। भगवान् के नियम-नियंत्रण में सम्पूर्ण संसार है। वही सर्व विश्व में बसी हुई चेतना जगत् का आत्मा है। उत्पत्ति, स्थिति, लय उसी मूलसत्ता के आश्रित हैं, सर्वसमर्थ, सर्वशक्तिमान् भगवान्, सारे संसार का स्वामी है तथा संचालक है, सब पदार्थ उसी के हैं, इस भावनामय त्याग से, हे उपासक तू पदार्थों को भोग; सब भोग भगवान् की देन जान। तू मत ललचा; वस्तुओं के संग्रह, संचय की लालसा न कर। तू विचार करके देख, किस का धन है ? सब पदार्थ परमेश्वर ही के हैं।

आस्तिक, बुद्धिमान्, विवेकी, उपासक यह विचार करे कि लोक-लोकान्तारों के मान का, अन्तर का, गतिविधि का, स्थिति-मर्यादा का जो नियन्ता है वह सर्वसमर्थ-

चेतन तत्त्व है और जिस सत्ता द्वारा, तौल-मापपूर्वक, नित्य नये पदार्थों का निर्माण होता रहता है वह इस महारसायनशाला का संचालक पूर्ण ज्ञानस्वरूप है। वही शक्ति ज्ञानस्वरूप ईश्वर इस विश्वभवन में बसा हुआ है। इस मन्दिर के सभी पदार्थों का स्वामी, वही त्रिकाल में रहने वाला परम पुरुष है। भक्त, इस भावमय समर्पणरूप त्याग से पदार्थों का भोग-उपयोग करे। भोग्य पदार्थ न कभी किसी के साथ गये न जायेंगे। इस विवेक-विचार से लालच न करे और सोचे कि धन किस के साथ जाता है? वह तो यहीं पड़ा रह जाता है। ऐसी विचार-बुद्धि से संग्रह, परिग्रह की व्यर्थ प्रवृत्ति को वह संयम में रखे।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

जगत् में भगवान् को बसा हुआ मानने वाला, समर्पणरूप त्यागयुक्त उपासक इस लोक में सौ वर्षों तक, नित्य नैमित्तिक कर्मों को करता हुआ ही जीने की इच्छा करे—ब्रह्मज्ञानी, तत्त्ववेत्ता कर्तव्य कर्मों का त्याग कदापि न करे। वह परहित, परोपकार, परसेवा आदि शुभ कृत्यों को करने के लिए ही जीना चाहे। इस प्रकार कर्तव्य-कर्मपरायण, तुझ कर्मयोग-युक्त पुरुष में कर्म-संस्कार का लेप नहीं लगता—भागवत कर्मों को करने वाला कर्मशील उपासक कर्म-संस्कार से लिप्त नहीं होता। इस से - कर्मयोग से, भिन्न दूसरा, निर्बन्ध का मार्ग नहीं है। मुक्ति का एक मात्र मार्ग, आस्तिक भाव सहित कर्मयोग है। विश्व में भगवान् को बसा हुआ जानने से, शुभ कर्मों को करना, ईश्वर के चलाये चक्र को सुचालित रखने में योग देना है। ऐसे जन के कर्म भागवत कर्म ही होते हैं। इस कारण, ऐसा ज्ञानवान् कर्मयोगी कर्मसंस्कारों के बन्धनों से मुक्त ही बना रहता है।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥३॥

भली प्रकार जो रमण करे, सुशीलता का, सभ्यता का, शिष्टताका तथा सदाचार का जीवन व्यतीत करे वह सुर कहा जाता है इस से विपरीत, आचार-हीन, असभ्य, अशिष्ट तथा नास्तिक जन का नाम असुर है। ऐसे असुरों के योग्य वे प्रसिद्ध, घोर अन्धकार से आवृत—गाढतर अज्ञान से घिरे हुए, जो लोक हैं—जन्म स्थान हैं, उनको, वे मर कर जाते हैं जो कोई आत्महत्यारे जन होते हैं। आत्मा सत्यों का सत्य है, मौलिक सत्य तत्त्व है। सदाचार आदि सत्कर्म सत्फल के कारण हैं। सद्धर्म उत्तम जीवन बनाने का श्रेष्ठ साधन है। जो जन, परमात्मा आत्मारूप मौलिक सत्य को स्वीकार नहीं करते वे आत्महत्यारे हैं, सदाचारहीन जन, केवल प्राणों में

रमण करते हुए असुरभाव से अपने-आप के हिंसक ही हो जाते हैं और धर्म-विरोधी जन भी अपनी उत्तम गति-मति का हनन कर डालते हैं। इस कारण ऐसे नास्तिक भाव वालों को इस मंत्र में आत्महन जन कहा है।

इस उपनिषद् के प्रथम मंत्र में ईश्वर को विश्व में बसाने का जो उपदेश है उस से विपरीत, जो जन, अपने अहंकार को सृष्टि का स्वामी बना लेते हैं, भोगोपभोग को ही जीवनोद्देश्य मानते हैं और निरे प्रकृति के उपासक बने रहते हैं, वे सब, आत्महनन ही किया करते हैं। अपनी आत्मध्वनि को दबा देने वाले, न्याय का हनन करने वाले और सत्य के गोपक, लोपक जन भी आत्महत्यारे होते हैं। वे लोग भी, जो कर्मयोग को त्याग देते हैं, कर्तव्य-पालन नहीं करते तथा निराशाग्रस्त अकर्मण्य बन जाते हैं, आत्महनन ही करते हैं। वे जडता का जीवन और घोर अज्ञान का जन्म ही बिताया करते हैं। इस मंत्र में ऊपर वर्णित लक्षणों से युक्त जनों को ही आत्महन्ता कहा गया है।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

अखिल विश्व में बसा हुआ उपास्य देव अचल है—स्वस्वरूप में अविचल है, एक है—अखण्ड, अद्वितीय है। वह स्वाभाविक संकल्प बल से, मानव-मन से भी अधिक वेगवान् है। प्रभु की स्वाभाविकी इच्छा अतुल वेगवती है। इस परमेश्वर को नेत्र आदि देव न पहुँच पाये। वह इन इन्द्रियों से आगे गया हुआ है—विद्यमान है। वह इन्द्रियों से अग्राह्य है। दौड़ते हुए अन्यों को—वायु, विद्युत् आदि वेगयुक्त शक्तियों को भी—वह भगवान् लांघ जाता है परन्तु स्वरूप से कूटस्थ है। उसमें—सर्वशक्तिमान् भगवान् के नियत नियम में, जीव कर्मों को धारण करता है। उस की नियम-नियति में जन्म, कर्मफल की व्यवस्था चलती रहती है। "मातरि आकाशे श्वयति गच्छति, वा स्थितिं लभते तथा जन्म-जन्मान्तरं प्राप्नोतीति मातरिश्वा जीवः" आकाश में जो जाए, ठहरे, जन्म-जन्मान्तर को पाये वह मातरिश्वा जीवात्मा है।

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

वह परमेश्वरतत्त्व हिलता है—अलौकिक क्रियावान् है। वह परमेश्वरतत्त्व अकम्प है—अपने स्वरूप में सदा स्थिर, एक रस है। वह परमेश्वरतत्त्व दूर है—अज्ञानियों से दूर है, इन्द्रियों से ग्रहण नहीं किया जा सकता। वह परमेश्वरतत्त्व ही अत्यन्त समीप है—विश्वात्मा है, आत्मग्राह्य है। वह परमेश्वरतत्त्व इस दृश्यमान

सब जगत् के भीतर है—स्वसत्ता से विश्व में विद्यमान है। और वह परमेश्वरतत्त्व ही इस सब के—दृश्यमान जगत् के, बाहर है। परमेश्वर अलौकिकी, स्वाभाविकी क्रिया से युक्त है, स्वरूप में निश्चल है। समष्टि और व्यष्टि आत्मा में देश, काल-कृत अन्तर नहीं है किन्तु केवल अज्ञानकृत अन्तर है। वह आत्मा से जाना जाता है और वह स्वसत्ता-भाव से सर्वत्र विद्यमान है।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥६॥

जो ही प्रबुद्ध उपासक, सब भूतों को—प्राणी-अप्राणी पदार्थों को, आत्मा में ही—परम चेतन तत्त्व में ही, देखता है, विवेक बुद्धि से परम चेतन तत्त्व में सब भूतों को आश्रित जानता है और सब भूतों में परमेश्वर को विद्यमान समझता है—अखिल विश्व की परमात्मा में एकता तथा समता अनुभव करता है, तब उसे आत्मज्ञान की प्राप्ति से वह किसी से भी नहीं घृणा करता। परमेश्वर का उपासक, आत्म-ज्ञान लाभ कर लेने पर सब भूतों में परम ज्योति ही जगती जान कर ऊंच-नीच, लघु-महान् की भावना भुला देता है। उस के समीप, कोई भी जन घृणा के योग्य नहीं रहता। वह वस्तुमात्र को और अखिल मानव-मण्डल को महेश्वर का मन्दिर मानता है। उसका प्रेम-क्षेत्र तथा बन्धु-भाव विशाल हो जाता है।

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

जिस अवस्था अथवा परमेश्वर-स्वरूप में, ज्ञानी मनुष्य को सब भूत प्राणी आत्मा ही हो गये, ज्ञानी उपासक को सब भूतों में आत्मतत्त्व ही प्रतीत होने लगा, उस ब्राह्मी अवस्था में, एकत्व को—अखण्ड परमात्मा को—देखने वाले का कौन मोह है और कौन शोक है। प्रिय वस्तु में ममता-जन्य मोह और वियोग-जन्य शोक हुआ करता है। आत्मवेत्ता को जब सब देहों में आत्मभाव दीखने लगे तो उस अवस्था में उस को बन्धु-बान्धव में मोह नहीं रहता और न ही इष्ट वियोग में शोक ही होता है। आत्मज्ञानी मोह और शोक के सागर को पार कर जाता है। वह सब में समदृष्टि बना रहता है।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

सारे विश्व का आत्मा, सब भूत-प्राणियों का मूलाधार, परममौलिक सत्य और उपासकों का प्राप्यपद वह परमेश्वर, परि—सब ओर से—सर्वत्र, अगात्—प्राप्त है,

सर्वत्र विद्यमान है। वह दीप्तिमान् है, कायारहित है, व्रणरहित है और नाड़ियों से रहित है अर्थात् परम सूक्ष्म है। वह परम शुद्ध है, पाप से बीन्धा हुआ नहीं है—सर्वथा निर्दोष है। भगवान् सूक्ष्म, स्थूल और कारण इन तीनों शरीरों से रहित है, वह सर्वज्ञ, मन की जानने वाला, सर्वत्र प्रकट और स्वतंत्र सत्ता है। उस स्वयम्भू परम पुरुष ने, निरन्तर रहने वाले वर्षों के लिए, ठीक-ठीक वायु आदि पदार्थों को रचा। भगवान् ने सभी पदार्थ और लोक-लोकान्तर, जैसे चाहिएँ वैसे रचे; यथायोग्य परिमाण में, क्रम में, नियम में और देशादि में कल्पित किये।

अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाᳬ रताः ॥९॥

अन्ध—घोरतर अन्धकार में—गाढतर अज्ञान में, वे जन प्रवेश करते हैं जो जन उपासना-ज्ञानशून्य, विवेक-विचाररहित, कोरे, कर्मकाण्ड को आराधते रहते हैं; उनसे भी बढ़ कर ही वे जन अन्धकार में जाते हैं जो जन ही उपासना-भक्ति-शून्य, कर्तव्य-कर्महीन, विद्या में—कोरे ज्ञानवाद में रत रहा करते हैं। "न विद्या, अविद्या" उपासना-भक्तिवर्जित, विवेक-बुद्धिविहीन, निरे कर्मकलाप से आशय है और विद्या से, यहां पाठ में, तात्पर्य्य है कर्तव्य-कर्महीन, उपासना-आराधनारहित, कोरा अकर्मण्यतारूप ज्ञानवाद। परा-विद्यारहित विद्या भी अविद्या कही जाती है। परमार्थ-शून्य लौकिक ज्ञान जो अनर्थ का कारण हो जाय, वह भी अविद्या में परि-गणित है। वह क्रिया जो विनाशकारिणी हो, जिस से शुभ का, न्याय का, धर्म का और सत्य का हनन हो, अविद्या ही समझी जानी चाहिए।

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

विद्या से—लौकिक ज्ञान से, दूसरा ही फल ज्ञानी लोग कहते हैं। केवल ज्ञानवाद का फल, ऐहिक ज्ञान—भौतिक बोध ही तत्त्वदर्शियों ने बताया है। तत्त्वज्ञान-रहित कर्मकाण्ड का फल भी तत्त्वदर्शी जन भिन्न ही कहते हैं—वे कोरे कर्म का फल सांसारिक-सुखादि ही वर्णन करते हैं। ज्ञान, कर्म को एक साथ साधे विना, तत्त्व-वेत्ताओं के मत में परमार्थसिद्धि नहीं होती। कोरा कर्मकलाप और निरा ज्ञान-वाद मानव-जीवन को सर्वाङ्गपूर्ण नहीं बना सकता। ऐसा निर्णय, धीरों का—बुद्धिमानों का, हमने सुना, जिन्होंने हमें वह भेद बताया।

विद्यांचाविद्यांच यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥११॥

विद्या को और अविद्या को तथा जो उस युग्म को—उन दोनों को—एक साथ

जानता है, ज्ञान और कर्म को एक साथ साधना में लाता है, ज्ञानपूर्वक कर्म करता है और कर्तव्यकर्मयुक्त ज्ञान की वृद्धि करता रहता है वह कर्तव्य कर्म से मृत्यु को तर कर विद्या से अमृत—मोक्ष को प्राप्त होता है।

जैसे एक पथिक नेत्रों से देखता हुआ, पैरों से पथ पर चलता हुआ, इष्ट स्थान को पहुँच जाता है ऐसे ही ज्ञानसहित कर्म करता हुआ ही यात्री जीव, निज जीवन-यात्रा को, भलीभांति सफल बना सकता है। क्रियाशीलता तो चलता हुआ रथ अथवा यंत्र है। उस का संचालन चातुर्ययुक्त सुचारुतर ज्ञान के साथ हो तभी अभीष्ट सिद्धि हुआ करती है। अन्ध-पङ्गु-मिलापवत् ही कर्म-ज्ञान के मेल से जलते जगत्-जंगल की ज्वाला के दुःख से पार पाया जा सकता है और अमृतपद की प्राप्ति होती है।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳ रताः ॥१२॥

घोर अन्धकार में वे जन प्रवेश करते हैं जो जन असम्भूति को—प्राकृत-कार्य जगत् को, प्रकृति को ही आराधते हैं, आत्मा का विचार न कर केवल लोभ, मोह, ममतामय, मायिक व्यवहार में ही निमग्न रहते हैं। उस से अधिक ही अन्धकार में वे जन प्रवेश करते हैं जो जन ही सम्भूति में—केवल अकर्मण्य आत्मवाद में लगे रहते हैं। सद्व्यवहार-शून्य, अकर्मण्य आत्मवाद में, पराश्रित, निरुद्यम और निष्क्रिय आत्मवाद में रत रहने वाले जन अधिक अन्धेरे में ग्रस्त रहा करते हैं। निरे आत्मवाद की रट लगाना, और अपने व्यवहार को, स्वदैनिक जीवन-यात्रा को भी न चला सकना अधिक अज्ञानग्रस्त रखने के कारण कहे गये हैं।

ऊपर के मन्त्र-पाठ में, जो "स्वयं न सम्भवति, व्यक्तत्वं न प्राप्नोति, पराश्रिता, परमेश्वर-प्रेरणाऽपेक्षिता प्रकृतिः—साऽसम्भूतिः" आप ही आप विकसित न हो, प्रकट न होवे, परचेतनसत्ता-आश्रित हो और परमेश्वर की प्रेरणा की अपेक्षा रक्खे वह प्रकृति है असम्भूति है। और जो स्वसत्ता से—'स्वयमेव सम्भवति प्रकाशते, व्यक्तत्वं लभते, स्वाश्रितः, स्वतः प्रकाशमान आत्मा—सम्भूतिः—' आप ही आप अस्तित्व में स्थित है प्रकट होता है, अपने आश्रित है और अपने आप से प्रकाशमान है—वह सम्भूति—स्वयम्भू आत्मा है।

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥

आत्मज्ञान से अन्य ही फल ज्ञानी जन कहते हैं और प्रकृति के आराधन से भी अन्य फल बताते हैं। ऐसा निर्णय, धीरों का, हम ने सुना कि जिन्होंने हमारे लिए, वह भेद वर्णन किया।

सम्भूतिश्च विनाशश्च यस्तद्वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥१४॥

आत्मा को और कारण-कार्यरूपा प्रकृति को, जो उस युग्म को एक साथ जानता है—प्रकृति पुरुष का विवेक एक साथ प्राप्त कर लेता है, अर्थ-परमार्थ इकट्ठे सिद्ध करता है तथा आत्मज्ञान और व्यवहार, दोनों को मिला कर साधना साधता है, वह जन नाशधर्मिणी-परिवर्तनशीला-प्रकृति के विवेक से मृत्युं को पार कर के आत्मज्ञान से अमृत को प्राप्त करता है ।

जो आत्मतत्त्ववित् यह जानता है कि सब परिवर्तन, चयोपचय नव-पुरातन परिणाम प्रकृति में ही हैं, आत्मा में नहीं हैं; वह इस विवेक से, नदी पार करने के लिए नौकावत् प्रकृति का उचित भोग-उपयोग करता हुआ, मृत्यु-नद को पार करके, आत्मबोध से अमृतपद को प्राप्त कर लेता है। वह परमानन्द को भोगता है ।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५॥

सुवर्णमय—अत्यन्त लोभमय, पात्र से सत्य का—तत्त्वज्ञान का, मुख ढका हुआ है; महालोभ ने सत्य को आवरण कर रक्खा है । महालोभ यह विश्व भगवान् से सुवासित है और निष्काम कर्मयोग कल्याण का कारण है—इस तत्त्वज्ञान को दबाये हुए है। हे सब के पोषक परमेश्वर! तूं उस ढकन को उठा दे—सत्य को निरावरण कर दे । सत्यधर्म के लिए और दर्शन के लिए ।

उपासक प्रार्थना करता है कि हे विश्व पालक! महालोभ का आवरण तत्त्वज्ञान पर से हटा दे जिस से मैं सत्य धर्म को जान पाऊँ और आत्मदर्शन कर सकूं । मंत्र-पाठ में महालोभ को सुवर्णपात्र इस लिए कहा है कि धनसंग्रह तथा वस्तु-परिग्रह में अति लुभावनी वस्तु और मानव-मन को मोहित करने वाली माया, सुवर्ण ही है । इस मोहक मायिक पात्र के हटाने में भागवत कृपा की सहायता अत्यन्त आवश्यक है ।

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह ।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥१६॥

हे सब के पोषक प्रभो! हे एक—अद्वितीय—द्रष्टा सर्वज्ञ! हे सब के नियामक—अन्तर्यामी, हे आध्यात्मिक सूर्य्य! हे प्रजाओं के ईश्वर! किरणों को दूर कर—चकाचौन्ध लगाने वाली माया की रश्मियां दूर कर दे और स्वशुभ्र तेज को जो तीक्ष्ण किरणों के पीछे तेरा आदित्य स्वरूप है—एकत्र कर, मेरे आत्मनेत्रों पर केन्द्रित कर; जिस से

जो तेरी परम कल्याणस्वरूप रूप है उसे तेरे रूप को मैं देखूं, अथवा उस तेरे तेजोमय रूप को मैं देखता हूं। जो यह वह परम पुरुष है—परमेश्वर है, उसके परम साम्य में अब, वह मैं हूं। अथवा जो द्रष्टा, अपने आध्यात्मिक नेत्रों से परमेश्वर के आदित्यस्वरूप को देख रहा है, वह, दर्शन-शक्तिमान्, चैतन्य आत्मा मैं हूं।

अखिल जगत् में, भगवान् को निवासित समझने वाला, शरणागत, समर्पण-रूप त्याग-युक्त कर्मयोगी, परमेश्वर के आदित्यवर्ण स्वरूप को, अवलोकन कर लेता है और उसके परम साम्य को अनुभव करता है। परा भक्ति की यह महा-महिमा है।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्त ँ शरीरम् ।
ओं क्रतो स्मर कृत ँ स्मर क्रतो स्मर कृत ँ स्मर ॥१७॥

ज्ञान, क्रियावान् आत्मा—व्यष्टिरूप देहस्थ चेतन, अपार्थिव है—प्रकृति का विकार नहीं है और अमृत है, अविनाशी है। तथा (इसका) यह भौतिक स्थूल शरीर भस्मान्त है; जीवनान्त में आत्मा के निकल जाने पर, भस्म हो जाने वाला है। ऐसा निश्चय रख कर, हे कर्मशील जन! तू भगवान् को स्मरण कर -आत्मचिन्तन से जीवन सफल बना और अपने किये कर्म को स्मरण कर—अपने कृतकर्मों की आलोचना कर।

देहस्थ चेतन जन्मान्तर में जाने वाला है। वह प्रकृति का विकार भी नहीं है किन्तु अविनाशी वस्तु है। विनाश तो केवल देह का ही होता है वह भी अन्त में—जीवात्मा के निकल जाने पर। इसलिए, ऐसे देहात्म-विवेक से कर्मशील जन को परमेश्वराराधन करना चाहिए और स्वकृत शुभाशुभ कर्मों की आलोचना करनी चाहिए। ये दोनों साधन, मानव-जीवन को समुन्नत करने के लिए, बड़े उपयोगी हैं।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥१८॥

हे अग्नि—प्रकाशरूप ईश्वर! हमें ऐश्वर्य के लिए तू सुपथ से ले चल, सुमार्ग से हमारा नेतृत्व कर। हे देव! हमारे सब कर्मों को तू जानता है—हमारे सब पाप कर्मों का और हमारी सब दुर्बलताओं का तुझे ज्ञान है। इस कारण, हम से कुटिल पाप तू दूर कर—तू आप हमें पवित्र कर। हम तेरे उपासक तुझे बहुत बार नमस्कार-वचन समर्पण करते हैं।

ईशोपनिषत्समाप्ता।

ॐ

केनोपनिषद्

प्रथम खण्ड

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥१॥

शिष्य ने गुरु से पूछा कि यह मन इष्ट वस्तु के प्रति किससे प्रेरित होकर जाता है ? मुख्य प्राण किससे जोड़ा हुआ विशेषता से चलता है ? इस वाणी को किसकी प्रेरणा से जन बोलते हैं ? और आंख-कान को कौन देव कार्यों में जोड़ता है ?

इन्द्रियों का प्रेरक, संचालक और नियन्ता कौन देव है, यही ऊपर के प्रश्नों में पूछा गया है ।

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः ।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥२॥

गुरु ने उत्तर में कहा कि सब इन्द्रियों का प्रेरक आत्मा है । वह कान का कान है, मन का मन है, निश्चय से वाणी की वाणी है; और वह प्राण का प्राण है, आंखें की आंखें, बुद्धिमान् पुरुष ऐसा जानकर, इस लोक से मर कर अमृत हो जाते हैं ।

आत्मा ही सब इन्द्रियों का प्रेरक है। वही श्रोता, मन्ता और द्रष्टा है, इन्द्रियां केवल साधन हैं । देखने, सुनने और जानने वाला आत्मा है । प्राण भी उसी की प्रेरणा से आता जाता है । आत्मा चेतन—ज्ञानस्वरूप—है। उसी की चेतन-सत्ता का प्रकाश इन्द्रियों में होता है । जो बुद्धिमान् पुरुष आत्मा के ऊपर कहे स्वरूप को समझ जाते हैं, आत्म-सत्ता के पूरे विश्वासी हो जाते हैं, वे मृत्युलोक से छूट कर अमर-पद पा लेते हैं ।

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात् ।
अन्यदेव तद् विदितादथो अविदितादधि, इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे॥३॥

आत्मा का वर्णन करने के अनन्तर ब्रह्म का निरूपण करते समय गुरु ने शिष्य को कहा कि उस ब्रह्म में आंख नहीं जाती, न वाणी जाती है और न मन जाता है। कोई किस प्रकार इसका उपदेश करे हम नहीं जानते, नहीं समझते हैं; क्योंकि वह जाने हुए से निराला ही है; और अज्ञात से भी ऊपर—भिन्न—है। ऐसा पूर्वजों से हमने सुना है जो

हमारे लिए उसका वर्णन कर गये हैं। ब्रह्म इन्द्रियों से जाना नहीं जाता। वाणी के व्यापार से भी बाहर है। उसका स्वरूप इन्द्रियों से अगोचर तथा अगम्य है! ऐसे अरूप और अवर्णनीय ब्रह्म का कोई कैसे वर्णन कर सकता है यह हम नहीं जानते, न ही यह बात हमारी समझ में आती है। यह ब्रह्म तो जाने हुए स्वरूप तथा न जाने हुए भेद से भिन्न है। वास्तव में वह अगम्य है। ऐसा ही पूर्वज ऋषिजनों से हम सुनते आये हैं।

यद् वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥४॥

जो ब्रह्म वाणी से प्रकाशित नहीं होता, अपितु जिससे वाणी प्रकट होती है, उसी को तू ब्रह्म जान। जो यह स्वरूप उपासते—कहते हैं—यह ब्रह्म नहीं है।

ब्रह्म का वर्णन वाणी की सीमा से परे है। उसकी महिमा अनन्त है। उसे वाणी में बाँध नहीं सकते। वाणी केवल संकेत करती है। इस कारण वह अनन्त लीलामय ब्रह्म वाणी-मात्र से प्रकाशित नहीं होता। उसका स्वरूप वर्णनातीत है। यह सत्य है कि उससे वाणी प्रकाशित होती है। उसकी शक्ति तथा नियम-मर्यादा से वाणी बोली जाती है। क्योंकि वह सृष्टि का कर्ता है। उसकी इच्छा तथा शक्ति सृष्टि में ओत-प्रोत है। गुरु ने शिष्य को कहा कि तू ब्रह्म को वाणी से अवर्णनीय और वाणी के नियम का निर्माता जान। तार्किक जन, जिस ब्रह्म का वर्णन युक्तिजाल से करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है। ब्रह्म तो तर्क से अगम्य है।

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥५॥

जो मन से नहीं चिन्तन करता किन्तु जिससे मन संकल्प विकल्प—करता है, ऐसा कहते हैं। तू उसी को ब्रह्म जान। जो यह ब्रह्म का वर्णन कल्पना करनेवाले करते हैं, यह ब्रह्म नहीं है। परमेश्वर मन की दौड़ से अपार है क्योंकि वह मनोवृत्ति के अधीन नहीं है; किन्तु मनोवृत्ति के नियम का वह निर्माता है। उसका ज्ञान वृत्ति के घेरे से ऊपर है; वह सारे जगत् का साक्षी है और ज्ञानस्वरूप है। गुरु ने शिष्य को कहा कि तू उसी ज्ञानमय हरि को ब्रह्म जान। जिस ब्रह्म का निरूपण दार्शनिक जन कल्पना से करते हैं वह ब्रह्म नहीं है। कल्पना तो मानसिक जगत् है, मनोरचना है, विचारमाला है। उसका सर्वांश में पूर्ण होना कठिन है। मनुष्य अपूर्ण पुरुष है। इसकी तर्कना तथा कल्पना में परब्रह्म को बाँध देना भारी भूल है। परमेश्वर तो मन से अचिन्त्य है।

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यन्ति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥६॥

जो आंख से नहीं देखता किन्तु जिससे नेत्र देखते हैं, तू उसी को ब्रह्म जान। ब्रह्म का जैसा वर्णन साकारवादी करते हैं, वैसा ब्रह्म नहीं है।

परमेश्वर निराकार है, अशरीर है और बन्धन से रहित है। इसी कारण वह आंख से नहीं देखता किन्तु ज्ञानस्वरूप है। आंखें उसी के नियत किये नियम में देखती हैं गुरु ने शिष्य को कहा कि तू उसी अरूप और निराकार परमेश्वर को ब्रह्म जान। ब्रह्म का जैसा वर्णन साकारवादी करते हैं, वैसा ब्रह्म नहीं है।

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥७॥

जो कान से नहीं सुनता किन्तु जिससे यह कान सुना गया है अर्थात् जो कर्णेन्द्रिय का कर्ता है, तू उसी को ब्रह्म जान। ब्रह्म का जैसा वर्णन शब्दमात्र से करते हैं, वैसा ब्रह्म नहीं है।

परमेश्वर कान से नहीं सुनता है किन्तु आत्मसत्ता से सब कुछ जानता है। कानों के नियम को नियत करनेवाला वही है। गुरु ने शिष्य को कहा कि तू उसी को ब्रह्म जान। ब्रह्म का जैसा वर्णन शब्दमात्र से करते हैं, वैसा ब्रह्म नहीं ह।

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥८॥

जो सांस से नहीं जीता, जिससे सांस आता जाता है, तू उसी को ब्रह्म जान। यह ब्रह्म का जैसा वर्णन प्राणोपासना वाले करते हैं, वैसा ब्रह्म नहीं है।

प्राण-वायु परमेश्वर नहीं है। वह प्राण-अपान के नियम का नियत करनेवाला है। गुरु ने शिष्य को कहा कि तू उसी को ब्रह्म जान। प्राण-अपानरूप पवन की उपासना करनेवाले ब्रह्म का जैसा वर्णन करते हैं वैसा ब्रह्म नहीं है।

दूसरा खण्ड

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम् ।
यदस्य त्वं यदस्य च देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥१॥

यदि तू ऐसा मानता है कि मैं ब्रह्म का पूरा स्वरूप जानता हूं, तो निश्चय तू अल्प ही जानता है। जो इस ब्रह्म का स्वरूप तू जानता है और जो इसका स्वरूप देवों में जाना जाता है वह भी स्वल्प ही है। इस कारण जो तू ने जाना है वह तुझे मनन ही करना चाहिए; यह मैं मानता हूँ।

ब्रह्म का स्वरूप अनन्त है। उसकी लीला अपार है। उसके जानने का अभिमान नहीं करना चाहिए। गुरु ने शिष्य को कहा कि यदि ब्रह्म-ज्ञान का तू अभिमान करता है तो तू बहुत थोड़ा जानता है। क्योंकि अनन्त स्वरूप ईश्वर मानुषी मति की सीमा में बँध नहीं सकता। उसका जो प्रकाश तेरे में है और जो देवों में पाया जाता है वह भी अल्प ही है। इस कारण, मेरी मति में तुझे ब्रह्म का चिन्तन ही करना चाहिए। तू विश्वासी बन, परन्तु ब्रह्म-ज्ञान का अहंकार न कर।

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद् वेद तद् वेद नो न वेदेति वेद च ॥२॥

गुरु के कथन को सुन कर शिष्य ने कहा—मैं ऐसा नहीं मानता कि मैं ब्रह्म के स्वरूप को भली प्रकार जानता हूँ और न ही कि नहीं जानता किन्तु जानता हूँ। जो हममें से उसे को जानता है वह जानता है; वह यही जानता है कि मैं नहीं नहीं जानता हूँ किन्तु जानता हूँ।

ब्रह्म-ज्ञान का अभिमान करना तो निरा अहंकार है। परन्तु ब्रह्म नहीं है यह भी विश्वासी नहीं मानता। अनन्त शक्तिमय ब्रह्म है, इतना स्वीकार ही समीचीन है। शिष्य गुरु को यह दर्शाता है कि अनन्त का होना मैं स्वीकार करता हूँ, परन्तु उसके ज्ञान का अभिमान मैं नहीं करता।

यस्यामतं तस्य मतं, मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥३॥

जिसका वह ब्रह्म अमत है—नहीं जाना हुआ है—उसका जाना हुआ है। जिसका जाना हुआ है वह नहीं जानता। ज्ञानियों से वह अविज्ञात है और न जानने वालों से जाना हुआ है।

मनन, चिन्तन और वर्णन में, अनन्त तथा अगम्य ब्रह्म का पूर्ण स्वरूप नहीं आता। इस कारण जो जन उसे अनन्त, परम सूक्ष्म और अलक्ष्य जानते हैं, वे ही उसे मानते हैं। ज्ञानाभिमानी मनुष्य उसे नहीं जानते।

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ॥४॥

बार बार के मनन करने से जाना हुआ समझ में आ जाता है—ऐसा जानने वाला निश्चय अमृतपद को पाता है। मनुष्य आत्मा से शक्ति को लाभ करता है और ब्रह्मविद्या से—परा विद्या से अमृत को प्राप्त करता है।

बार बार जानने और मनन करने को प्रतिबोध कहते हैं। प्रतिबोध से—मनन से—जानने पर ही ब्रह्म जाना जाता है। प्रतिबोध से समझनेवाला निश्चय मोक्षपद पा लेता है। ज्ञान की शक्ति आत्मा से मिलती है और परमात्म-विद्या से मोक्षपद प्राप्त होता है। आत्मा ज्ञान-स्वरूप है। उस में जो जानने का सामर्थ्य है उसी का नाम यहाँ शक्ति है।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥५॥

यहाँ इसी जन्म में, यदि ब्रह्म को जान लिया तो सत्य है, सफलता है। यदि यहाँ न जाना तो महाहानि है, जन्म निष्फल है। सब भूत प्राणियों में प्रभु की सत्ता को चिन्तन करके धीरजन इस लोक से मरकर अमृत—मुक्त—हो जाते हैं।

मनन—चिन्तन द्वारा इसी जन्म में भगवान् को जाना जाय तो ठीक है। यदि मानवजन्म में भगवान् को न आराधा तो बड़ी हानि है, महानाश है। फिर ऐसा अवसर पाना कठिन है। सारे संसार में परमेश्वर की सत्ता को, नियम को, चिन्तन करके बुद्धिमान् मनुष्य इस लोक से मरकर मुक्त हो जाते हैं। आत्मा परमात्मा को मनन—चिन्तन करना ही परमामृत पद की प्राप्ति का पथ है।

तीसरा खण्ड

तीसरे खण्ड में भगवान् की शक्ति की महिमा का वर्णन है और वह वर्णन सुन्दर अलंकार में दर्शाया गया है।

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये, तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त।
त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति ॥१॥

निश्चय से परमेश्वर देवों के लिए विजेता हुआ; उसने सृष्टि रची। निश्चय से उस भगवान् की विजय में देव महिमायुक्त हुए; शक्तिमान् हो गये। वे देव विचारने लगे कि हमारी ही यह विजय है और हमारी ही यह महिमा है।

अनन्त शक्तिमय भगवान् ने सृष्टि को रचा और अग्नि आदि देवों में उसने शक्ति स्थापित की। वह शक्ति देवों ने अपनी समझी अर्थात् यह माना गया कि जगत् रचना देवों की महिमा है। इन से भिन्न कोई भगवान् नहीं है।

तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव।
तन्न व्यजानन्त किमिदं यक्षमिति ॥२॥

वह ब्रह्म इन देवों को, इनके अभिमान को जान गया। निश्चय से वह उन देवों पर प्रकट हुआ। परन्तु उन्होंने उसे नहीं जाना कि यह यक्ष—पूज्यतम—कौन है।

तेऽग्निमब्रुवन् जातवेद एतद् विजानीहि किमेतद् यक्षमिति । तथेति ॥३॥

वे देव आश्चर्य में आकर अग्नि को बोले—हे, जातवेद ! यह तू जान कि यह यक्ष कौन है ? उसने कहा, बहुत अच्छा ।

तदभ्यद्रवत् तमभ्यवदत् कोऽसीत्यग्निर्वा–
अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ॥४॥

तब अग्नि दौड़ कर उसके पास गया । यक्ष उसे बोला, तू कौन है ? उसने कहा, मैं अग्नि हूं । मैं जातवेदा हूँ ।

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदं सर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति ॥५॥

यक्ष ने अग्नि से पूछा कि उस तुझ में क्या शक्ति है ? अग्नि ने कहा, जो यह पृथिवी पर है इस सभी को जला दूँ, यह शक्ति है ।

तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति, तदुपप्रेयाय सर्वजवेन, तन्न शशाक दग्धुम् ।
स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ॥६॥

यक्ष ने उसके लिए आगे तिनका रक्खा और कहा, इसे जला । अग्नि सारे वेग से उसके पास गया, परन्तु उसको न जला सका । वह अग्नि वहीं से लौटा और बोला मैं इस को नहीं जान सका, जो यह यक्ष है ।

अथ वायुमब्रुवन्, वायवेतद् विजानीहि किमेतद् यक्षमिति । तथेति ॥७॥

देव तब वायु को बोले, हे वायु ! यह जान कि यह यक्ष कौन है ? उसने कहा बहुत अच्छा ।

तदभ्यद्रवत्, तमभ्यवदत् कोऽसीति ।
वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति ॥८॥

वायु उसके पास दौड़ कर गया । यक्ष उसे बोला, तू कौन है ? उसने कहा, मैं वायु हूँ, मैं मातरिश्वा हूँ—सूत्रात्मा वायु—हूँ ।

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदं सर्वं आददीय यदिदं पृथिव्यामिति ॥९॥

यक्ष ने पूछा, उस तुझ में क्या शक्ति है? वायु ने कहा, जो कुछ यह भूमि पर है इस सब ही को उड़ा दूँ ।

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति, तदुपप्रेयाय सर्वजवेन, तन्न शशाकादातुम् ।
स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद् यक्षमिति ॥१०॥

उसने उसके लिए आगे तिनका रक्खा और कहा, इसको उड़ा। वह सारे वेग से उसके पास गया, परन्तु उसे न उड़ा सका। वह वायु वहीं से लौटा और देवों को बोला, मैं इसको नहीं जान सका, जो यह यक्ष है।

अथेन्द्रमब्रुवन्, मघवन्नेतद् विजानीहि किमेतद् यक्षमिति ।
तथेति । तदभ्यद्रवत् तस्मात् तिरोदधे ॥११॥

देव तब इन्द्र को बोले, हे मघवन्—धनपते! तू यह जान कि यह यक्ष कौन है? वह बहुत अच्छा कहकर उसके पास दौड़ कर गया। परन्तु यक्ष उससे छिप गया।

इस अलंकार में अग्नि तथा वायुदेव से दो तात्पर्य हैं। एक तो यह है कि अग्नि और वायु दो ही प्रबल तत्त्व हैं, परन्तु इन में जो शक्ति है वह ईश्वर की है उसके बिना ये आकिंचित्कर हैं। दूसरा तात्पर्य अग्नि और वायु से, मुख्य इन्द्रिय आंख तथा कान से है। आंख से प्रभु प्रकाशित नहीं होता क्योंकि वह प्रकृति के रूप से ऊपर है। वह कान से भी नहीं जाना जाता। परमात्म-स्वरूप पांचों इन्द्रियों की पहुँच से पार है। इन्द्र से तात्पर्य विद्युत् और मनोवृत्ति है, बिजली की चमक और मानस-कल्पना भगवान् के स्वरूप को प्रकट करने और जानने में, असमर्थ हैं। यह रूपक अधिदैवत और अध्यात्म दोनों भावों को प्रकट करता है।

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम, बहुशोभमाना-
मुमां हैमवतीं, तां होवाच किमेतद् यक्षमिति ॥१२॥

वह इन्द्र उसी आकाश में बहुत शोभावाली, सुवर्ण-भूषिता, उमा नाम की स्त्री को मिला। और उसको बोला—यह यक्ष कौन है?

यहां उमा से, अधिदैवत में जगमगाती सूर्य्य की ज्योति से तात्पर्य है। अध्यात्म में शुद्ध बुद्धि समझी गई है।

चौथा खण्ड

सा ब्रह्मेति होवाच, ब्रह्मणो वा एतद् विजये महीयध्वमिति ।
ततो हैव विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥१॥

वह उमा इन्द्र को बोली, यह ब्रह्म है। और ब्रह्म की इस विजय में—शक्ति में—तुम महिमा वाले बनो। उससे—उमा के कथन से—ही इन्द्र ने जाना कि यह ब्रह्म है।

बुद्धि से ब्रह्म का बोध होता है। इन्द्रियां और मानस कल्पनाएँ उसे नहीं जान सकतीं। बुद्धि में भी जो श्रद्धा और विश्वास का अंश है वही अनन्त शक्तिमय भगवान् का परिचायक है।

> तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान् देवान् यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते ।
> ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्शुस्ते ह्येनत् प्रथमो विदांश्चकार ब्रह्मेति ॥२॥

इसलिए जो अग्नि, वायु, इन्द्र ये देव हैं, वे अन्य देवों से बरतर हैं। निश्चय से वे ही इसे पास से छू पाये। निश्चय से वे ही इसे पहले जान गये कि यह ब्रह्म है।

> तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान् देवान् ।
> स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श, स ह्येनत् प्रथमो विदाश्चकार ब्रह्मेति ॥३॥

और इसलिए अन्य देवों से इन्द्र ही बढ़कर है। वही इस ब्रह्म को अतिसमीप से छू पाया। वही इसको पहले जान गया कि यह ब्रह्म है।

आँख, कान और मनोवृत्ति रूप देव अन्य देवों से श्रेष्ठतर हैं क्योंकि इनसे हरि-लीला का स्पर्श होता है। इन्हीं तीन साधनों से भगवान् की विभूति जानी जाती है। आँख कान से भी मनोवृत्ति श्रेष्ठतम है। आस्तिक्य बुद्धि के सहारे से मनोवृत्ति भगवान् की महिमा को लख लेती है। शुद्ध बुद्धि से ही मनोगत विचारों में आस्तिक-भाव, श्रद्धा तथा भक्ति जगती है। इस कारण हरि-लीला जानने में आस्तिक्य-भावना-युक्त मनोवृत्ति सब से उत्तम है।

> तस्यैष आदेशो यदेतद् विद्युतो व्यद्युतदा ।
> इतीति न्यमीमिषदा । इत्यधिदैवतम् ॥४॥

जो यह बिजली का चमकना सा है और ठीक जो आँख का झपकना सा है, उस ब्रह्म का यह आदेश है, चिह्न है। और यही अधिदैवत है।

देवों में ब्रह्म की सत्ता का चिह्न तो बिजली की चमक के समान है और आँख के झपकने के सदृश है। तत्त्वों के ज्ञान से ब्रह्म-ज्ञान की धारणा पूर्ण नहीं होती। वे भगवान् की सत्ता का संकेतमात्र करते हैं। सृष्टि की रचना उसकी सत्ता का परिचय देती है।

> अथाध्यात्मं, यदेतद् गच्छतीव च मनोऽनेन ।
> चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णं संकल्पः ॥५॥

यह अध्यात्म है कि जो यह मन चलता सा है वह इससे इस ब्रह्म को स्मरण करे। बार बार हरिनाम का चिन्तन करे।

भावः—अध्यात्म यह है कि चंचल मन को भगवान् के नाम में ठहराये, एकाग्र भाव से चिन्तन तथा ध्यान किया जाय। आत्मज्ञान का मार्ग, ब्रह्मज्ञान का पथस्मरण और बार बार ध्यान करना है।

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यम् ।
स य एतदेवं वेदाभि हैनं सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति ॥६॥

वह ब्रह्म निश्चय उसका—उपासक का प्यारा—नाम है, इस कारण उसको प्रियरूप जान कर आराधित करना चाहिये। वह जो इसे प्रियरूप को इसे प्रकार जानता है उसको सब प्राणी प्यार करते हैं, उसे सब जन चाहते हैं।

भगवान् प्रियस्वरूप है, वननीय—भजनीय है इस से उस का नाम वन है। वह स्वभाव से आत्मा को प्यारा है। उसका नाम-स्मरण मन को प्रिय लगता है। नाम-स्मरण में आत्मा को प्रियता प्राप्त होती है। इस कारण, प्रभु को प्रियस्वरूप जान कर उसकी उपासना करनी चाहिए। जो जन जगदीश्वर को प्रेममय जान कर आराधता है उसको सभी जन चाहते हैं। वह उपासक जनता में प्यारा हो जाता है।

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद् ।
ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति ॥७॥

शिष्य ने कहा, हे गुरुदेव! उपनिषद् मुझे कहिए। गुरुने कहा, तुझे उपनिषद् कह दी है; निश्चय से तुझे ब्राह्मी उपनिषद् कह दी है।

उपनिषद् का अर्थ है आत्म-ज्ञान की समीपता, उपासना, ब्रह्मविद्या का रहस्य और आत्मा-परमात्मा का भेद! शिष्य के पूछने पर गुरु ने उत्तर दिया कि तुझे उपनिषद् कह दी है। ब्रह्मसत्ता और ज्ञान का भेद तुझे बता दिया है। प्रियस्वरूप परमात्मा की उपासना, नाम-स्मरण और ध्यान से होनी चाहिये, यह तुझे बता दिया है। यही उपनिषद् है।

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा, वेदाः सर्वाङ्गानि, सत्यमायतनम् ॥८॥

उपनिषद् की तप, इन्द्रिय-संयम और कर्म करना प्रतिष्ठा है। वेद उस के सब अंग हैं। सत्य उसका स्थान है।

तप, सहनशीलता और सादा जीवन का नाम है। दम, इन्द्रिय-संयम मनोवृत्ति-वशीकार और भावों की शुद्धि को कहते हैं, नित्य-नैमित्तिक कर्तव्य-पालन का नाम कर्म है। ये तीनों उपनिषद् की प्रतिष्ठा हैं। इन्हीं साधनों से साधक ब्रह्मोपासना का अधिकारी बनता है। वैदिक ज्ञान ब्रह्मविद्या का अङ्ग है। सत्य में ब्रह्मविद्या रहती है। ब्रह्म सत्य है इस कारण सत्यस्नेही साधक ही ब्रह्मविद्या उपलब्ध कर सकता है।

यो वा एतामेवं वेद, अपहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके
ज्येये प्रतितिष्ठिति प्रतितिष्ठिति ॥९॥

निश्चय से, जो मनुष्य इस प्रकार इस ब्रह्मविद्या को जानता है, वह पाप को दूर करके अन्तरहित, श्रेष्ठ, स्वर्ग लोक में स्थिति पाता है।

ब्रह्मोपासना का फल वर्णन करता हुआ गुरु शिष्य को कहता है कि जो उपासक इस प्रकार ब्रह्म की उपासना करता है वह पाप से पार पा जाता है और मोक्षपद प्राप्त कर लेता है।

केनोपनिषत्समाप्ता।

यजुर्वेदीया

अध्याय १ वल्ली १

उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥१॥

निश्चय से ऐतिहासिक कथा है कि मोक्ष की कामना करने वाला वाजश्रवस था। उसने दान में सर्वस्व दे दिया और उसका नचिकेता नामक पुत्र भी था।

अन्नदान से जिसकी कीर्त्ति विशाल थी उस वाजश्रवा ऋषि के पुत्र वाजश्रवस ने ऐसा दान दिया कि सर्वस्व समर्पण कर दिया। परन्तु उसका नचिकेता पुत्र था। उसको उसने किसी को न सौंपा। वह तो जन्म-सिद्ध-समाधि तथा प्रतिभा-प्राप्त था।

तं ह कुमारं सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाऽऽविवेश सोऽमन्यत ॥२॥

उस समय उस कुमार 'ही को पुरोहितों को दक्षिणा ले' जाते देख कर श्रद्धा—आत्मकल्याण-भावना उत्पन्न हुई। वह विचारने लगा—

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः ।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत् ॥३॥

जिन्होंने पानी पी लिया है; तृण खा लिये हैं, जो दूध दे चुकी हैं और सामर्थ्य-हीन हैं। उन गौओं को देता हुआ, सुखरहित जो लोक हैं, उनको वह यजमान जाता है।

सर्वस्व-दान में वाजश्रवस ने सामर्थ्यहीन गौएँ भी दान कर दीं। यह देख कर नचिकेता ने विचारा कि ऐसे दान से मनुष्य को आनन्दमय लोक प्राप्त नहीं होते। मैं उपयोग की वस्तु हूं। पिता को चाहिए कि मुझे भी प्रदान कर दे।

स होवाच पितरं, "तत कस्मै मां दास्यसीति" । द्वितीयं तृतीयम् ।
तं होवाच "मृत्यवे त्वा ददामीति" ॥४॥

ऐसा सोचकर, वह पिता को बोला, प्यारे ! मुझे किसको दोगे ? उसने ऐसा दुबारा तिबारा कहा। वाजश्रवस उसको बोला—तुझे मृत्यु को—यमराज को देता हूँ।

पुत्र की बात सुन कर पिता ने कहा कि मैं तुझे यम की शरण में समर्पण करता हूं। पिता का ऐसा कथन सुनकर नचिकेता वैवस्वत के पास चला गया, तुरन्त समाहित हो गया। उस समय वैवस्वत घर पर नहीं था। नचिकेता का यम के पास जाना और यम का उसको उपदेश देना आदि सब समाहित अवस्था में देवभाव में, घटी घटना है। दैवी दशा में बहिरंग चेतना से काम नहीं होता, बाह्य जगत् से सम्बन्ध नहीं रहता, इन्द्रियां काम नहीं करतीं और न ही मन, बुद्धि का व्यवहार होता है। वह केवल आन्तरिक सूक्ष्मतल की अतीन्द्रिय अवस्था है। वहां दिव्य करण और देवभाव ही काम किया करते हैं। उस अवस्था का स्वप्न से भेद इतना ही होता है कि उसमें सत्य ही सत्य प्रकट हुआ करता है। इस लोकोत्तर अवस्था को दिव्य तथा देव-समाधि कहा जा सकता है। उस अवस्था में देशकालादि की प्रतीति भी पूरी हुआ करती है। उसी देवयोग में, नचिकेता को, यम के गृह, यम के स्वरूप तथा यम के उपदेश का भान हुआ।

नचिकेता को वह देव-समाधि की अवस्था, वाजश्रवस के शाब्दिक बल से, तत्काल प्राप्त हो गई थी।

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः।
किं स्विद् यमस्य कर्तव्यं यन्मयाऽद्य करिष्यति ॥५॥

बहुतों में मैं प्रथम हूं–श्रेष्ठ हूं; बहुतों में मध्यम हूं। यम का क्या काम है जो आज मुझ से वह साधित करेगा।

नचिकेता ने सोचा कि मैं अनेक मनुष्यों में अच्छा हूं और बहुतों में मैं मध्यम कोटि का हूं। मैं यम के पास गया तो यम मुझ से क्या काम लेगा। यम तो ईश्वर का शासनस्वरूप है। पाप के अभाव में वह स्वरूप मुझे क्या करेगा?

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥६॥

नचिकेता ने अपने आत्मा को कहा, जैसे पूर्वज कालवश गये, उसको भली प्रकार देख और वैसे ही दूसरे—वर्तमान जनों को जान। मनुष्य धान्य की भांति पकता है और फिर धान्य की भांति ही जन्म लेता है।

यम के नियम—न्याय में जैसे पूर्वकाल के मनुष्य मरते रहे ऐसे ही वर्तमान काल के मरते हैं। कर्मवश मनुष्य धान्य की भांति पकता है, मरता है और धान्य की भांति ही फिर जन्म धारण करता है। इस नियम से कोई भी मनुष्य नहीं बच सकता। ऐसी विचार-परम्परा में मग्न नचिकेता वैवस्वत के घर में तीन दिन तक रहा। चौथे दिन के आरम्भ में जब वैवस्वत स्वगृह में आया तो उसे अपने घर में तीन दिन का निराहार, अतिथि नचिकेता दीख पड़ा।

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान् ।
तस्यैतां शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥७॥

वैवस्वत ने अपने आप को कहा, जो ब्रह्मवेत्ता अतिथि घरों में प्रवेश करता है वह अग्नि समान पूज्य होता है। गृही जन उसकी पूजारूप यह शान्ति किया करते हैं। हे वैवस्वत! तू अर्घ्य दे—पानी ला।

आशाप्रतीक्षे संगतं सूनृतां चेष्टापूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान् ।
एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ॥८॥

जिस अल्पबुद्धि पुरुष के घर में न खाता हुआ ब्रह्मवेत्ता बसता है, उसकी आशा और प्रतीक्षा को, संगत को, सच्ची वाणी को, इष्ट और पूर्त्त को, पुत्र और पशु इन सबको वह नष्ट कर देता है।

अप्राप्त पदार्थ की प्राप्ति की इच्छा तथा सम्भावना को 'आशा' कहा जाता है। वस्तु तथा जन के मिलाप की कामना को 'प्रतीक्षा' कहते हैं। सत्संगति, भले जनों का समागम 'संगत' कहा गया है। सत्य-वचन और सत्य-धारण को 'सूनृता' कहा है। जप, सिमरन, स्वाध्याय, पूजन, आराधन तथा ध्यान आदि आत्मिक कर्मों का नाम 'इष्ट' है। दान-दक्षिणा देना, कूप-तालाब लगाना तथा आश्रम आदि निर्माण करना, लोकोपकार की संस्थाएँ स्थापित करना और जनहित में भाग लेना ये कर्म 'पूर्त्त' कहे जाते हैं। इत्यादि सभी शुभ कर्म उस मनुष्य के नष्ट हो जाते हैं जिस के घर में निराहार निरन्न अतिथि रहे।

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः ।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् ! स्वस्ति मेऽस्तु, तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व॥९॥

इस प्रकार सोचता हुआ धर्मभीरु वैवस्वत नचिकेता के पास जाकर बोला—हे ब्रह्मवित् ! तू अतिथि पूजनीय है। जो मेरे घर में तू न खाता हुआ तीन रात रहा है उस के बदले में तीन वर मांगो। ब्रह्मवित् ! तुझे नमस्कार हो। मेरा कल्याण हो।

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माऽभि मृत्यो ।
त्वत्प्रसृष्टं माभि वदेत् प्रतीत एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥१०॥

वैवस्वत के आदर को पाकर नचिकेता ने कहा—हे वैवस्वत ! मेरा पिता गौतम शांतसंकल्प और प्रसन्नमन जैसे होवे ऐसा आशीर्वाद दीजिए। मेरे प्रति मेरा पिता क्रोधरहित हो। तेरे भेजने पर मुझ को जाने और मुझ से संलाप करे। तीनों वरों में यह पहला वर मैं मांगता हूँ।

यथा पुरस्ताद् भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः ।
सुखं रात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां ददृशिवान् मृत्युमुखात् प्रमुक्तम् ॥११॥

वैवस्वत ने कहा, तुझे मेरे द्वारा भेजने पर औद्दालकि आरुणि जैसे पहले था वैसा प्रसन्न होगा । सुख से रात को सोयेगा । क्रोधरहित हो जायगा । मृत्यु के मुख से मुक्त तुझ को वह देख चुका है ।

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति, न तत्र त्वं न जरया बिभेति ।
उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥१२॥

यम का आशीर्वाद पाकर नचिकेता ने कहा, स्वर्ग लोक में भय कुछ भी नहीं है । न वहां तू है और न बुढ़ापे से मनुष्य डरता है । भूख-प्यास दोनों से पार हो और शोक को लांघ कर मनुष्य स्वर्गलोक में सुख भोगता है ।

स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तं श्रद्दधानाय मह्यम् ।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण ॥१३॥

हे मृत्यु ! वह तू स्वर्गसाधक अग्नि—यज्ञ—को जानता है । वह यज्ञ श्रद्धावान् मुझ को बता । स्वर्ग के जन जिस प्रकार आनन्द भोगते हैं वह भी कहो । यह दूसरे वर से मैं वरता हूँ ।

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध, स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन् ।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम् ॥१४॥

वैवस्वत ने कहा, हे नचिकेता ! स्वर्ग की साधनारूप अग्नि—यज्ञ को जानकर तुझे मैं कहता हूँ । वह यज्ञ तू मुझ से समझ । नाशरहित लोक की प्राप्ति तथा प्रतिष्ठा—स्थिति—यह यज्ञ है । इसको तू हृदय में स्थित जान । वह श्रद्धा विश्वास का काम है ।

स्वर्ग से तात्पर्य यहां मुक्ति है । स्वर्ग के साधक कर्म को अग्नि कहा है । ऐसे शुभ कर्म की भावना मनुष्य के हृदय में रहती है । हृदय को ही गुहा कहा गया है ।

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा ।
स चापि तत् प्रत्यवदत् यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः ॥१५॥

उस समय वैवस्वत ने लोक के आदिकारण अग्नि—यज्ञ—को उसे कहा—बताया उस अग्नि के लिए जो, जितनी और जैसी ईंटें वा समिधाएं चाहिएँ यह भी बताया । नचिकेता ने भी जैसा उसे कहा गया था दुहरा दिया । और उसको वैवस्वत भी प्रसन्न होकर फिर बोला ।

तमब्रवीत् प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः ।
तवैव नाम्ना भवितायमग्निः सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण ॥१६॥

महात्मा वैवस्वत प्रसन्न होकर उसे बोला, यहां आज मैं तुझे फिर वर प्रदान करता हूं। यह अग्नि—यज्ञ तेरे ही नाम का होगा। अनेकरूप वाली यह पुष्पमाला तू ले"।

नचिकेता के उच्चभावों को जान कर वैवस्वत ने उसे मालादान से सम्मानित करके कहा कि आज से यह यज्ञ तेरे नाम से प्रख्यात होगा।

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत् तरति जन्ममृत्यू ।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥१७॥

जिसने तीन बार नाचिकेत यज्ञ किया है, माता, पिता और गुरु इन तीन से जिसने मेल किया है, जो देवपूजन, अतिथिकर्म और दानरूप तीन कर्मों को करने वाला है वह जन्म-मृत्यु को तैर जाता है। वेदप्रतिपादित, भक्तवन्दित ईश्वर को जान तथा निश्चय करके मनुष्य, इस ब्रह्मसमाधि की परम शान्ति को प्राप्त करता है।

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद् विदित्वा य एवं विद्वान् चिनुते नाचिकेतम् ।
स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥१८॥

तीन नचिकेत यज्ञों का कर्ता, इस ऊपर कहे तीन को जानकर, जो ऐसा जानता हुआ नाचिकेत यज्ञ को करता है। वह मृत्यु के फंदों को परे फैंक कर और शोक से पार हो स्वर्ग-लोक में प्रसन्नता पाता है।

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण ।
एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥१९॥

हे नचिकेता! यह तेरी स्वर्गसाधक अग्नि है जिस को दूसरे वर से तूने वरा है। लोग इस अग्नि को तेरे नाम से कहा करेंगे। हे नचिकेतो! अब तीसरे वर को मांग।

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥२०॥

वह बोला मरे मनुष्य के सम्बन्ध में जो यह संशय है कि—'एक यह कहते हैं आत्मा है'; और यह आत्मा नहीं है, यह दूसरे कहते हैं। तुझ से उपदिष्ट मैं इस भेद को जान जाऊं। वरों में यह तीसरा वर है जो मैं वरता हूं।

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा नहि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः ।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥२१॥

यम ने कहा, इस विषय में पूर्वकाल में देवों ने भी संशय किया है। इस का जानना सुगम नहीं है। यह विषय सूक्ष्मतम है। हे नचिकेता! तू दूसरा वर माँग। मुझे विवश न कर। यह मुझ पर छोड़ दे। यह वर मुझ से न मांग।

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वं च मृत्यो यन्न सुज्ञेयमात्थ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥२२॥

नचिकेता ने कहा, हे वैवस्वत! निश्चय से यदि देवों ने भी इस में संशय किया है और जिसको तू भी सुगमता से जानने योग्य नहीं कहता, तो इसका वक्ता तेरे जैसा दूसरा नहीं मिल सकता। और न ही इसके समान कोई दूसरा वर ही है।

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥२३॥

यम ने आत्मज्ञान का अधिकारी जानने के लिए, प्रलोभन-पूर्ण वाक्य नचिकेता को कहे। हे नचिकेता! तू सौ वर्ष पर्यन्त जीने वाले पुत्र-पोते मांग। बहुत से पशु वर में मांग। हाथी, सोना और घोड़े वर में ले। भूमि का बड़ा भारी भोग मांग। और जितने वर्ष चाहता है आप भी जी।

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि ॥२४॥

तू इसके समान यदि कोई वर मानता है तो वह वर ले। धन और आजीविका मांग। हे नचिकेता! तू विशाल भूमि पर राजा बन जा। तुझे मैं कामनाओं का उपभोग करने वाला बनाता हूँ।

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामांश्छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो! मरणं मानुप्राक्षीः ॥२५॥

जो जो कामनाएं मनुष्यलोक में दुर्लभ हैं उन सब कामनाओं को अपनी इच्छा से मांग ले। ये स्त्रियां, रथ और बाजों सहित मांग। मनुष्यों को ऐसी स्त्रियां नहीं मिल सकतीं। इन मेरी दी हुइयों से विचर। परन्तु हे नचिकेता! मरने के अनन्तर की बात तू मत पूछ।

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥२६॥

वैवस्वत के वरदान को सुनकर नचिकेता ने कहा, मनुष्य के सुख भोग कल होने

वाले हैं—एक दिन के हैं। हे वैवस्वत! जो ये भोग हैं वे सब इन्द्रियों के तेज को नष्ट करते हैं। निश्चय से सारा जीवन अल्प ही है। इस कारण वाहन—घोड़े तेरे पास ही रहें और नृत्य-गीत भी तेरे ही हों। मुझे नाशवान् पदार्थों की इच्छा नहीं है।

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत् त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥२७॥

हे वैवस्वत! मनुष्य धन से तृप्त नहीं होता। यदि तुझे देखँ लेंगे तो धन पा ही लेंगे। जब तक तू राज्य करता है हम जीते रहेंगे। मेरे वरने योग्य वर तो वही है।

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधस्थः प्रजानन्।
अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥२८॥

जरारहित अमर लोकों को पाकर—जीवन्मुक्त होकर, जरायुक्त मनुष्य पृथिवी पर है—नाशवान् देह में है, यह जानता हुआ तथा रूप, रमण और विलास के परिणामों को चिन्तन करता हुआ अति लम्बे जीवन में कौन प्रसन्नता माने। ऐसे मुक्त आत्मा और विवेकी मनुष्य को लम्बी आयु की इच्छा नहीं होती।

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो! यत्सांपराये महति ब्रूहि नस्तत्।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥२९॥

हे वैवस्वत! जिस आत्मतत्त्व में लोग यह सन्देह करते हैं, और जो महान् परलोक में है, अर्थात् जो परलोक में रहने वाली वस्तु है, वह ही हमें बता। जो यह वर गूढ है तथा भीतर प्रविष्ट है—आत्मा सम्बन्धी है वह बताइए। उससे अन्य वर नचिकेता नहीं मांगता। उसे प्राकृत पदार्थों की प्राप्ति की प्यास नहीं है।

दूसरी वल्ली

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥१॥

नचिकेता के वैराग्य और आत्म अनुराग को जान कर वैवस्वत बोला—श्रेय-मार्ग अन्य है और प्रेय-मार्ग अन्य है। वे दोनों मार्ग नाना प्रयोजन—उद्देश्य वाले हैं और पुरुष—आत्मा को बांधते हैं। उन दोनों में से श्रेयस् ग्रहण करने वाले का कल्याण हो जाता है। और जो प्रेयस् अंगीकार करता है वह उद्देश्य से गिर जाता है।

संसार में दो ही मार्ग हैं। एक तो श्रेयस् है अर्थात् आत्मकल्याण का मोक्ष-मार्ग, जो जप, संयम, आराधन, ध्यान भक्तिभाव तथा आत्मज्ञान रूप है। इसी का नाम देवयान है। दूसरा प्रेयस् मार्ग है, जो इस लोक के सुख-भोग का है। फलकामना से कर्म करने वालों का मार्ग प्रेयस् है। यही पितृयान कहा गया है। ये दोनों मार्ग

आत्मा को पकड़ते हैं। श्रेयस् तो भक्ति, उपासना, उपकार, सेवा तथा ज्ञान में दृढ करता है और प्रेयस् कामना, विषय-वासना आदि में ग्रस्त कर लेता है।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥२॥

श्रेयस् और प्रेयस् दोनों मनुष्य को प्राप्त होते हैं। उन दोनों को धीर पुरुष सम्यक् विचार से पृथक् करता है। निश्चय से धीर पुरुष प्रेय-मार्ग को छोड़कर श्रेय को ग्रहण करता है। और मन्दमति मनुष्य योगक्षेम के विचार से प्रेय को अंगीकार करता है।

श्रेय तथा प्रेय दोनों मार्गों को विवेकी मनुष्य ही जानता है। बुद्धिमान् कल्याण के मार्ग पर चलता है और मन्द मनुष्य प्रेय-मार्ग को अवलम्बन करता है। मन्द मनुष्य वह है जो योगक्षेम को ही जीवनोद्देश्य माने। अप्राप्त की प्राप्ति का नाम योग है और प्राप्त की रक्षा का नाम क्षेम है।

स त्वं प्रियान् प्रियरूपांश्च कामानभिध्यायन् नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः।
नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥३॥

हे नचिकेता! उस तूने प्यारे और प्यारेरूप वाले मनोरथों को प्रेय चिन्तन करके छोड़ दिया है। तू इस धनमय सांकल में नहीं फंसा, जिसमें कि अनेक मनुष्य डूब जाते हैं—बन्ध जाते हैं।

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
विद्याऽभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ॥४॥

ये दोनों एक दूसरे से अत्यन्त पृथक् हैं, भिन्न मार्ग को ले जाने वाले हैं, जो अविद्या तथा विद्या के नाम से जाने गये हैं। मैं नचिकेता को विद्या अभिलाषी मानता हूं। क्योंकि बहुत सी कामनाएं तुझे नहीं लुभा सकीं। तू प्रलोभन-पाश में नहीं फंसा। यहां अविद्या से प्रेय-मार्ग जानना चाहिए और विद्या से श्रेय।

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥५॥

अविद्या में ग्रस्त रहने वाले, अपने को धीर तथा पण्डित माननेवाले मूढजन, जैसे अंधे से अंधे ले जाये जायें इस प्रकार भटकते चक्कर लगाते फिरते हैं।

न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥६॥

जो प्रमादी—विषय-विलास में आसक्त है, धन के मोह से मूढ है, अर्थात् धन-कामना में आत्मा को भी भुला बैठा है, ऐसे मूर्ख को परलोक—मुक्ति नहीं भाँसती, नहीं जान पड़ती। यही लोक है, परलोक नहीं है ऐसा माननेवाला बार बार मेरे वश में पड़ता है। आत्मविश्वास-हीन जन काल-चक्र में ही पड़ा रहता है।

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥७॥

वह—आत्मा है जिसका सुनना भी बहुत मनुष्यों को नहीं मिलता। बहुत लोग सुनते हुए भी जिसको नहीं जानते। ऐसे आत्मा का वर्णन करने वाला कोई आश्चर्य-रूप ही है। इसको प्राप्त करने वाला कुशल पुरुष है। कुशल—ज्ञानी गुरु द्वारा सुशिक्षित इसका ज्ञाता भी आश्चर्यरूप है।

प्रमाद और धन-लालसा में फँसे हुए मूढ़ मनुष्य आत्मा को नहीं जानते। उन्हें मोह वश आत्म-कथा का सुनना भी प्राप्त नहीं होता। कुसंस्कार से ग्रस्त जन आत्म-वर्णन सुनकर भी नहीं समझते कि आत्मा क्या है। इस कारण आत्मा का वर्णन करने वाला आश्चर्य्य है। जो आत्मा को पा लेता है वह चतुर है और सद्गुरु-संग से जो आत्मा को जानता है वह आश्चर्य्यरूप है।

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥८॥

यह आत्मा अपर—आत्मज्ञानी से भिन्न—पुरुष के बताने पर सुगमता से जाना नहीं जाता। बार बार चिन्तन किया हुआ भी सुगमता से नहीं जाना जाता। अनन्य पुरुष के बताने पर यहां गति नहीं रहती—स्थिरता तथा धारणा हो जाती है यह सूक्ष्म है और अणुप्रमाण से भी अतर्क्य है।

जो मनुष्य आत्मज्ञानी नहीं, जिसने हरिकृपा का प्रसाद नहीं पाया, जो आत्मा का साक्षात् नहीं कर सका वह यहां अवर अर्थात् दूसरा पुरुष कहा है। ऐसे पुरुष के उपदेश से आत्मज्ञान का होना कठिन है। गुरुकृपा बिना बहुत ध्यान चिन्तन करने पर भी आत्मप्रकाश नहीं होता। आत्मज्ञानी को यहां अनन्य पुरुष कहा है। ऐसे आत्मदर्शी के उपदेश से आत्मविषय में सन्देह—भ्रम की गति नहीं रहती। मन स्थिर हो जाता है। आत्मा अणु से भी अचिन्त्य है इस कारण तर्क का विषय नहीं है। वह केवल अनुभव-गम्य ही है और आन्तरिक साधन से जाना जाता है।

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥९॥

यह मति—सच्ची धारणा तर्क से—युक्तिवाद से नहीं नाश करनी चाहिए। हे प्रियतम! अनन्यपुरुष—आत्मानुभवी पुरुष के ही उपदेश से श्रेष्ठज्ञान के लिए यह

धारणा होती है। उस धारणा को तूने पा लिया है। तू सच्ची धारणा वाला है। तेरा निश्चय सच्चा है। हे नचिकेता! हमें तेरे जैसा पूछने वाला मिले।

आत्मा अनुभव से ही जाना जाता है। वह अनुभव सद्गुरु-उपदेश से होता है। इस कारण इस सच्चे निश्चय को कोरे तर्क से दूर नहीं करना चाहिए। आत्मानुभव सद्गुरु-कृपा से सुगमता से हो जाता है। सद्गुरु वही है जो अनन्य हो—आत्म-ज्ञाता हो।

जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।
ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम्॥१०॥

नचिकेता नें कहा कि मैं जानता हूँ धन-निधि अनित्य है। निश्चयपूर्वक अध्रुव-नाशवान्—धनादिकों से वह अचल आत्मपद नहीं प्राप्त किया जा सकता। इस कारण मैंने नाचिकेत अग्नि प्रज्वलित की, आत्मिकयज्ञ रचाया। अनित्य द्रव्यों से—कर्मों से मैं नित्य आत्मा को पा गया हूँ। कर्म से मैंने विवेक-बुद्धि प्राप्त की है।

यम ने नचिकेता को जो प्रलोभन दिखाया था उसको लक्ष्य में रखकर नचिकेता ने कहा कि अनित्य धन-सम्पत्ति से आत्मा नहीं प्राप्त होता। धनादि पदार्थ इसी लोक में रह जाते हैं। परलोक को—मोक्ष को सिद्ध करना धन से असम्भव है। मैं तो कर्मों से आत्मपद पर आरूढ हुआ हूँ।

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम्।
स्तोमं महदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः॥११॥

वैवस्वत ने कहा, हे नचिकेता! तूने सारी इच्छाओं की पूर्त्ति को, जगत् की स्थिति को, कर्म के अनन्त फल को, निर्भयता के परले पार को, स्तुति की महत्ता को और बड़े ऊँचे लोक को, विवेक से जान कर, धैर्य से धीर होकर धनकामना को त्याग दिया है।

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥१२॥

उस कठिनता से दर्शनीय, अत्यन्त गुप्त, सबके अन्तर्यामी, हृदय-गुफा में रहने वाले, सब के साक्षी और अनादि देव को, अध्यात्मयोग अर्थात् भक्ति भाव से मनन करके बुद्धिमान् मनुष्य हर्ष-शोक को छोड़ देता है। अनुकूल-प्राप्ति से हर्ष और इष्ट के वियोग से शोक होता है। अध्यात्मयोगी भक्त उन दोनों से ऊपर हो जाता है।

एतच्छ्रुत्वा संपरिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य।
स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा विवृतं सद्म नचिकेतसं मन्ये॥१३॥

मनुष्य इस आत्म-वर्णन को सुनकर, भली प्रकार धारण कर तथा पांच भूतों से पृथक् करके इस सूक्ष्मतम धर्म-भाव को उपलब्ध कर, निश्चय से आनन्दमय परमात्मा को पाकर वह प्रसन्न होता है। नचिकेता के मानस धाम को मैं खुला हुआ मानता हूं।

मैं यह मानता हूँ कि नचिकेता का मन आत्मज्ञान और भक्ति का अधिकारी है सत्य के लिए खुला हुआ है, परमार्थ का पूरा पात्र है।

अन्यत्र धर्म्मादन्यत्राधर्म्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात् ।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥१४॥

वैवस्वत का अनुग्रह देख कर नचिकेता ने कहा, गुरुदेव! जो वह आत्मतत्त्व तू धर्म से पृथक्, अधर्म से पृथक्, इस किये कर्म से और न किये कर्म से पृथक् तथा भूत भविष्यत् से पृथक् देखता है वह मुझे बता।

अध्यात्मयोग धर्माधर्म के और कर्मकाण्ड के गोरखधन्धे से पार है। वह गुरुकृपा से और हरिनाम के आराधन से प्राप्त होता है। वही प्रसाद पाने की इच्छा नचिकेता प्रकट करता है।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥१५॥

वैवस्वत ने कहा, हे नचिकेता! सब वेद जिस पद की व्याख्या करते हैं और सब तप जिसका वर्णन करते हैं तथा यति लोग जिस पद को चाहते हुए ब्रह्मचर्य्य को धारण करते हैं, वह पद मैं तुझे संक्षेप से कहता हूं "ओम्" ऐसा यह है।

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥१६॥

निश्चय यह ही अक्षर—हरिनाम ब्रह्म है। शब्दब्रह्म कहा है। यह ही हरिनाम परम पद है। इसी ही हरिनाम को जान कर जो जन जो कुछ चाहता है उसको वह हो जाता है। हरिभक्त की कामना पूर्ण हो जाती है।

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥१७॥

यह नाम का सहारा उत्तम है। यह नाम का आश्रय परम है। इस नाममय सहारे को जान कर तथा धारण करके ब्रह्मलोक में महिमा को पाता है।

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥१८॥

नाम की दीक्षा प्रदान करके वैवस्वत ने नचिकेता के आत्मा को प्रबुद्ध कर दिया और फिर उसको बताया कि यह चेतन आत्मा नहीं उत्पन्न होता और न मरता है। यह स्वतः-सिद्ध सत्ता है। इसकी उत्पत्ति और नाश दोनों नहीं है। यह स्वतन्त्र सत्ता है। न ही यह कहीं से अथवा किसी से हुआ—बना है। इसका कारण कोई भी नहीं है। इस कारण यह आत्मा अजन्मा, नित्य, अविनाशी और अनादि है। शरीर के हनन होने पर यह नहीं हनन होता।

गुरु ने आत्मा को जगा कर उपदेश दिया कि देहस्थ आत्मा चेतन है। इसका स्वरूप जन्म-मरण से रहित है। इसके स्वरूप में परिवर्त्तन, नव-पुरातनपन नहीं होता। यह कहीं से किसी ने नहीं बनाया। यह कारण-कार्य्य-भाव की सीमा से पार है। यह अजर, अमर, अविनाशी और अनादि है। देह के हनन होने पर आत्मा नहीं कटता। यह परम सूक्ष्म चेतन वस्तु है।

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

यदि देह को मारनेवाला समझता है कि मैं आत्मा को मारता हूँ और यदि मार खाने वाला समझता है कि मैं मर रहा हूं—मेरा आत्मा हनन हो रहा है, वे दोनों आत्मा को नहीं जानते, क्योंकि न यह आत्मा मारता है और न मारा जाता है।

आत्मज्ञानी की क्रिया कर्त्तव्यबुद्धि से होती है। अज्ञानी की क्रिया रागद्वेष से हुआ करती है। रागद्वेष से क्रिया करने वाला देह ही को आत्मा जाना करता है। इस कारण देह के सुख-दुःख को आत्मा में आरोपित कर लिया करता है। आत्मज्ञानी, वीतरागभाव से कार्य्य करता हुआ केवल निर्लेप रहता है और आत्मा की अमर-सत्ता को कदापि नहीं भूलता। क्षात्रकर्म में भी स्वकर्तव्य ही पालता है।

अणोरणीयान् महतो महीयानात्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥२०॥

इस देहधारी मनुष्य के भीतर हृदय में सूक्ष्म से सूक्ष्मतम और महान् से महान् आत्मा छिपा हुआ है। उस आत्मा को और आत्मा की महिमा को हरिकृपा से आत्मज्ञानी और शोकरहित भक्त देखता है।

आत्मसत्ता अनादि काल से प्रसुप्त पड़ी रहती है। ईश्वर कृपा से जाप, सिमरन तथा ध्यान से उस दैवीस्वरूप का दर्शन होता है। आत्मा की जागृति हरिकृपा का प्रसाद ही मानना चाहिए। उसका कारण हरिकृपा ही है।

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥२१॥

वह आत्मा बैठा हुआ जाग्रत् अवस्था में दूर जाता है, अनेक विचारों में विचरता है। और सोता हुआ सर्व ओर भ्रमण करता है। उस मदसे अमद अर्थात् निरहंकार आत्मा को आत्मदेव को, मुझ से अन्य कौन जानने को समर्थ है।

मेरे सदृश सन्त ही उसे जानते हैं। वाचिक ज्ञानियों की अभिमानभरी मति उसे नहीं समझ सकती। प्रकृतिवादी उस पद को नहीं पहुंच पाते।

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥२२॥

परमात्मदेव का वर्णन करते हुए वैवस्वत ने कहा, वह ईश्वर शरीरों में अशरीर है। अस्थिरों में स्थिर है—अपरिवर्तनशील है। ऐसे सबसे महान् सर्वशक्तिमान् आत्मा को, धीर जन जान कर फिर नहीं चिन्ता करता।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥२३॥

यह आत्मा-परमात्मदेव वाक्यजाल से-प्रमाण वचनों से नहीं मिल सकता। न बुद्धि से प्राप्त होता है और न ही बहुत शास्त्रपाठ से पाया जा सकता है। जिस भक्त को निश्चय यह स्वीकार करता है-वर लेता है उसीसे पाया जाता है। उस भक्त पर यह आत्मा—ईश्वर अपना स्वरूप प्रकाशित करता है।

हरिदर्शन भक्त की भक्ति स्वीकार होने पर ही होते हैं। प्रभु की प्राप्ति ईश्वर कृपा का प्रसाद ही समझना चाहिए।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥२४॥

जो मनुष्य दुराचार से नहीं हटा, अशान्त है, स्थिर-बुद्धि नहीं है और अशान्त-मन—चंचलचित्त है, वह प्रज्ञान से—बुद्धिवाद से—इस ईश्वर को नहीं पा सकता।

परमात्मदेव दार्शनिकज्ञान से अगम्य है। तर्क से जाना नहीं जाता। उसकी प्राप्ति के साधन सदाचार, शान्ति, निश्चय और हरिनाम तथा हरिविश्वास में मन की स्थिरता है।

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥२५॥

जिसे सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के समीप ब्रह्म—ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों ओदन-भात अर्थात् नाशवान् हैं। मृत्यु जिसका व्यंजन है। जहां जो वह है उसकी इत्था अर्थात् इस प्रकार का है, उसको कौन जान सकता है। ईश्वर ज्ञानियों और

शक्तिशालियों की पहुंच से परे है। काल उसे नहीं घेरता। ऐसे अनन्त महिमावान् ईश्वर को सीमा में कोई नहीं बान्ध सकता। वह केवल भक्तों पर प्रकाशित होता है।

तीसरी वल्ली

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥१॥

आत्मा और परमात्मा सुकृत के लोक में—मोक्ष धाम में—सत्यस्वरूप को पान करते हैं अर्थात् स्वस्वरूप में लीन आनन्दमय होते हैं। परम उत्कृष्ट स्थान में, आत्मभाव में लीन रहते हैं। उनकी स्थिति स्वस्वरूप में कही गई है। जो ब्रह्मवेत्ता हैं, जो गृहस्थ हैं और जो उपासक हैं वे आत्मा परमात्मा को छाया और प्रकाश समान कहते हैं।

ब्रह्मज्ञानियों, सद्गृहस्थों और उपासकों का कथन है कि मोक्षधाम में, परमपद में आत्मा परमात्मा सत्यस्वरूप में आनन्दमय होते हैं। उनकी स्थिति अपने स्वरूप में होती है। छाया और प्रकाश के सदृश उनका मिलाप है। जैसे प्रकाश में छाया का अभाव हो जाता है इसी प्रकार उनमें अन्धकार, असाम्य नहीं रहता।

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतं शकेमहि ॥२॥

नचिकेता द्वारा उपास्य परमेश्वर को हम जान सकें। जो यजन-याजन करने वालों के लिए भव-पार पाने का पुल है, जो परमेश्वर का नाम है, जो ब्रह्म और परम पद है, जो अभय है और संसार-सागर तरनी चाहने वालों का परला पार है।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥३॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥४॥

नचिकेता को नामदान करके वैवस्वत ने उसे आत्मज्ञान कराया। फिर उसको सारे स्वरूप का तथा हरिकृपा का उपदेश दे कर बताया कि तू आत्मा को रथ का स्वामी जान और देह को रथ ही समझ। तथा बुद्धि को सारथि जान और मन को लगाम समझ। इन्द्रियों को घोड़े कहते हैं और उनके आगे विषय मार्ग हैं। इन्द्रियमनयुक्त आत्मा को बुद्धिमन्त भोक्ता कहते हैं।

शरीर रथ है जिस में बैठकर आत्मा हरिलीला देखता है। बुद्धि से यह रथ चलाया जाता है। इस रथ के आगे इन्द्रियों के घोड़े जुते हुए हैं। वे घोड़े विषयों के मार्ग पर चलते हैं। उनके मुँह में मन की लगाम पड़ी हुई है। इन्द्रियों और मन के

साथ मिल कर आत्मा भोक्ता कहा गया है। सुख-दुःख भोग है। उनका भोक्ता आत्मा है। पर तब, जब वह देह में बद्ध हो, इन्द्रिय मन से संयुक्त हो।

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥५॥

परन्तु जो विज्ञानवान्—बुद्धिमान् नहीं है, सदा अस्थिर मन वाला है, उसकी इन्द्रियां उसके वश में नहीं होतीं, जैसे दुष्ट घोड़े सारथि के वश में नहीं होते।

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥६॥

जो मनुष्य बुद्धिमान् होता है और सदा स्थिर मन वाला होता है, उसकी इन्द्रियां उसके वश में होती हैं। जैसे उत्तम घोड़े सारथि के अधीन होते हैं।

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥७॥

जो मनुष्य बुद्धिमान् नहीं होता, जिसका मन वश में नहीं और जो सदा अपवित्र रहता है, वह उस पद—परम धाम को नहीं पाता, किन्तु संसार में ही रहता है। जन्म-मरण के चक्र में ही घूमता फिरता है।

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥८॥

जो मनुष्य विज्ञानवान् है, अच्छे मन वाला है और सदा से पवित्र है, वह ही उस परमपद—ईश्वर धाम को प्राप्त करता है, जहां से फिर नहीं जन्म लेता।

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥९॥

और जिस मनुष्य की बुद्धि सारथि है और मन लगाम है, वह अपने मार्ग का पार पा जाता है। वह पार भगवान् का परम धाम है।

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥१०॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥११॥

रथ का अलंकार दिखा कर ऋषि ने बताया कि इनमें प्रधान तथा प्रबल कौन है।

निश्चय से इन्द्रियों से अर्थ—विषय प्रबल हैं और विषयों से मन प्रधान तथा प्रबल है। मन से बुद्धि प्रधान है। बुद्धि से महान्—शुद्ध आत्मा प्रबल तथा प्रधान है। महान् आत्मा से अव्यक्त अर्थात् निर्विकल्प मुक्त आत्मा प्रधान है और निर्विकल्प मुक्त आत्मा से पुरुष—ईश्वर प्रधान है। उस परम पुरुष से अन्य कुछ भी प्रधान तथा प्रबल नहीं है। परम पुरुष ही वह सीमा है और वह परम गति है।

इन्द्रियों से विषय इस लिए प्रबल हैं कि वे इन्द्रियों का आकर्षण करते हैं। परन्तु इन्द्रियों को खींचने वाले विषय मन से जीते जाते हैं। वे मन से वश में किये जा सकते हैं। इस कारण विषयों से मन प्रधान तथा बली है। मन से बुद्धि बलवती है। शुद्ध बुद्धि से मनोवृत्तियां वशीभूत हो जाती हैं। बुद्धि से शुद्ध आत्मा—महान् आत्मा प्रधान है। जो परमेश्वर भक्त हरिभजन से जग गया हो वही महान् आत्मा है और वही सच्चा रथी है। जीवन्मुक्त भक्त से, शरीर और कर्मबन्ध से मुक्त आत्मा प्रधान है। वह निर्विकल्प हो गया है। सशरीर आत्मा व्यक्त कहा जाता है और शरीरमुक्त आत्मा अव्यक्त कहा गया है। यहां अव्यक्त से तात्पर्य्य अदृश्य अगोचर से है। मुक्त आत्मा से प्रधान पुरुष—ईश्वर है। ईश्वर ही प्रधानता की सीमा है। वह ही परम गति है। उसी को पहुँच कर मनुष्य का परम कल्याण होता है। यहां भगवान् को पुरुष कहा है। यहां पुरुष का अर्थ सविशेषण तथा सच्चिदानन्द-स्वरूप और सृष्टि का कर्ता है, तथा सर्वशक्तिमान्, एक अद्वितीय परमेश्वर है।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥१२॥

यह ऊपर वर्णित परमात्मा सब प्राणियों में छिपा हुआ है, प्रकाशित नहीं होता, जाना नहीं जाता। परन्तु सूक्ष्मदर्शियों से तीव्र और सूक्ष्म बुद्धि से देखा जाता है।

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥१३॥

उस परम पुरुष के ध्यान की विधि प्रदर्शित करते हुए वैवस्वत ने कहा, बुद्धिमान् मनुष्य मन-वाणी को भगवान् के नाम में रोके। फिर उस मन-वाणी को अपनी बुद्धि में रोके। अपनी बुद्धि को महान् आत्मा में स्थित करे और उस महान् आत्मा को शान्त परमात्मा में जोड़े। परम पुरुष को अपने समीप चिन्तन करे।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति ॥१४॥

उस आत्मा को जानने के लिये उठो, जागो और श्रेष्ठ जनों को पा कर उनके सत्संग से परमात्मभक्ति को समझो। जैसी उस्तरे की लाँघने में कठिन, तीखी

धारा होती है, वैसा वह कठिन मार्ग ज्ञानी लोग कहते हैं। पुरुषार्थ, विवेक, सत्संग से यह सुगम है।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥१५॥

वह भगवान् शब्द का विषय नहीं है, स्पर्श वाला नहीं है, अरूप है, विकाररहित और रसरहित है नित्य है, और जो गन्धवान् नहीं है। अनादि और अनन्त है सूक्ष्मप्रकृति से भी परम है और निश्चल है। उसको जान कर मनुष्य मृत्यु के मुख से छूट जाता है। मोक्षपद प्राप्त कर लेता है। यह इस ज्ञान का फल है।

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम् ।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥१६॥

वैवस्वत से कही गई नचिकेता की सनातन कथा को मेधावान् मनुष्य वर्णन करके और श्रवण करके ब्रह्मधाम में महिमा को पाता है—मुक्त हो जाता है। यह इसका माहात्म्य है।

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि ।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते तदानन्त्याय कल्पत इति ॥१७॥

जो इस परम रहस्य—भेद को ब्रह्मसभा में सुनाए, वा पवित्र होकर श्राद्ध—आतिथ्य—त्यौहार के समय सुनाए, तब यह कथा अनन्त फल के लिए हो जाती है तब इसका फल अनन्त हो जाता है। ऐसी इस कथा की महिमा है।

दूसरा अध्याय, चौथी वल्ली

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥१॥

स्वयम्भू—भगवान् ने इन्द्रियों को परे—विषयों में जाने वाली रचा है। इस कारण मनुष्य विषयों को देखता जानता है। और आत्मा को नहीं देखता। कोई विरला धीर पुरुष अमृत को—मोक्ष को चाहता हुआ आँखों अर्थात् इन्द्रियों को मूंद कर अन्तरात्मा को देखता है तथा आत्मचिन्तन करता है।

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् ।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥२॥

जो जन मूढ हैं वे बाहर के विषयों में रहते हैं; विषयवासना में ही फँसे रहते हैं। वे लोग काल के विशाल जाल में फँस जाते हैं। और धीर जन परमधाम—मोक्ष

को जान कर इस अनित्य नाशवान् जगत् में, अनिश्चल पदार्थों में निश्चल—हरिधाम की इच्छा तथा कामना नहीं करते।

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान्।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते। एतद्वै तत् ॥३॥

जिससे मनुष्य रूप को, रस को, गन्ध को, शब्दों को, कोमल, परुष आदि स्पर्शों को और इष्टमित्र के मिलापों को जानता है, सो इसी आत्मा से ही जानता है। आत्मा ही सब विषयों का ज्ञाता है। ऐसा समझ लेने पर यहां आत्मसम्बन्ध में जानने योग्य क्या रह जाता है अर्थात् कुछ भी नहीं रहता। निश्चय से यही ज्ञान-स्वरूप वह आत्मा है जिसके सम्बन्ध में तूने पूछा था।

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥४॥

जिस से मनुष्य स्वप्न के अन्त को—स्वप्न के जगत् को तथा जाग्रत् काल की लीला को, दोनों अवस्थाओं को देखता है। उस महान् समर्थ आत्मा को जानकर धीर पुरुष नहीं शोक करता।

आत्मा को ज्ञानस्वरूप, सब अवस्थाओं का साक्षी, महान् और समर्थ समझ कर मनुष्य शोकरहित हो जाता है।

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते। एतद्वैतत् ॥५॥

जो इस अमृतभोगी जीवित—भावनाभक्तियुक्त आत्मा को समीप से—स्वरूप से जानता है और भूत-भविष्यत् के ईश्वर को जानता है वह उस आत्मपद से नहीं हटता। उसका पतन नहीं होता अथवा वह उस ज्ञान से आस्तिक होकर फिर आत्मा की निन्दा नहीं करता। उसकी सारी शंकाएं दूर हो जाती हैं। निश्चय से यह वह आत्मा है जिस की जिज्ञासा तूने की थी।

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत। एतद्वै तत् ॥६॥

परमात्मा का वर्णन करते हुए ऋषि कहता है, जो परमेश्वर तप से अर्थात् संकल्प से भी प्रथम प्रकट था और जो वायुमय वा वाष्पमय जगत् से भी पहले प्रकाशित था। उस गुहा में प्रविष्ट होकर रहने वाले प्रभु को, जो सारे भूत-प्राणियों का पालक देखता है, निश्चय से यह आत्मा वह है।

यो प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत । एतद्वैतत् ॥७॥

जो देवतामयी पूज्यतमा अदिति—अखण्डनीया शक्ति है, जो प्राण से—जगत् के जीवन से जानी जाती है और जो भूतों से—चराचर जगत् से प्रकट होती है अर्थात् समझ में आती है। उस गुप्त होकर रहने वाली शक्ति को—ईश्वर को जो जानता है, निश्चय से यह आत्मा वह है।

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः ।
दिवेदिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः । एतद्वैतत् ॥८॥

जो परमेश्वर जगत् में ऐसे गुप्त है जैसे दो अरणियों में आग गुप्त होती है और गर्भिणियों से भली भांति धारण किया हुआ गर्भ जैसे गुप्त होता है। वह तेजोमय ब्रह्मज्ञानियों से, याजकों से और सर्वसाधारण मनुष्यों से सदा स्तुति करने योग्य है। निश्चय से यह वह परमात्मा है।

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति ।
तं देवाः सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन । एतद्वैतत् ॥९॥

जिस परमेश्वर के प्रताप से सूर्य उदय होता और जिस में अन्त में अस्त हो जाता है, सर्व देव उसी में समर्पित हैं; उसकी शक्ति में ओत-प्रोत हैं। उसको कोई भी देव नहीं लाँघ सकता। उसका नियम अटल है। यह वही परमेश्वर है जिसकी स्तुति भक्तजन करते हैं।

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह !
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥१०॥

जो परमेश्वर यहां है वह ही वहां सूर्यादि में है। जो सूर्यादि में विद्यमान है वही इस लोक में स्थित है। वह मनुष्य मरण से मरण को पाता है जो इस विश्व में नाना परमेश्वर मानता है।

निराकार, सर्वान्तर्यामी और सर्वशक्तिमान् भगवान् स्वसत्ता से सर्वत्र विद्यमान है। उसकी इच्छा सब लोकलोकान्तरों का नियन्त्रण कर रही है। उसका होना देश-काल से अबाध्य है। वह लीलामय भगवान् अखण्ड और एक है। वह अज्ञानी जन जन्म-मरण के चक्र पर चढ़ा रहता है जो यह मानता है कि ईश्वर अनेक हैं।

मनसैवेदमवाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन ।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥११॥

यह मन ही से–आत्मा ही से जानना चाहिए कि परमेश्वर में नानापन कुछ भी नहीं है। वह एक अखण्ड परमात्मा है। वह मरण से मरण को पाता है जो जन भगवान् में नानापन देखता अर्थात् मानता है।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते । एतद्वैतत् ॥१२॥

अङ्गुष्ठमात्र अर्थात् अनन्त आत्माओं में साक्षीरूप से रहने वाला पुरुष अपने मध्य अर्थात् स्वस्वरूप में रहता है। वह भूत भविष्यत् का ईश्वर है। उससे—उसे जानकर मनुष्य शंकारहित हो जाता है। फिर नहीं सन्देह करता। यह वही परमपुरुष है।

यहां अंगुष्ठ से तात्पर्य अंगस्थ है। विराट् पुरुष के सभी लोक-लोकान्तर अंग हैं। वह अनन्त महिमायुक्त भगवान् साक्षीरूप से सारे चराचर जगत् में रहता है। वास्तव में परमपुरुष स्वस्वरूप में ही कूटस्थ है। वही तीनों कालों का ईश्वर है। उसके दर्शन से, जाप, सिमरन तथा ध्यान से संशय-समूह का सर्वथा नाश हो जाता है।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः । एतद्वैतत् ॥१३॥

अंगमात्र में रहने वाला परमपुरुष ज्योति की भांति प्रकाशमान है; निर्धूम ज्योतिवत् प्रदीप्त है। वह प्रभु भूत-भविष्यत् का ईश्वर है। वह ही आज—वर्त्तमान में ईश्वर है और वह ही कल तथा आगे ईश्वर रहेगा। उसकी सत्ता त्रिकाल में सर्वोपरि विराजमान है। यह वही ईश्वर है जिसकी जिज्ञासा तूने की थी।

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति ।
एवं धर्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानु विधावति ॥१४॥

जैसे पानी पर्वतशिखर पर बरसा हुआ पर्वतों में चहुँ ओर दौड़ता–बह निकलता है, ऐसे ही धर्मों को—कर्मों को ईश्वर से पृथक् अर्थात् ईश्वरभाव से रहित देखता हुआ मनुष्य उन कर्मों के पीछे दौड़ता रहता है। भक्ति-धर्म में नहीं लगता।

जो मनुष्य भक्ति-धर्म को नहीं मानता, आस्तिकभाव से रहित है और केवल कर्म ही धर्म मानता है वह धर्मों को ईश्वर से पृथक् देखता है। वह मुक्ति के लिए हरिभक्ति की आवश्यकता नहीं समझता। वह केवल कर्मकाण्ड और उसके फलों में ही घूमता रहता है। वह परमधाम को ऐसे नहीं पाता जैसे पर्वत-शिखर से गिरा हुआ वर्षाजल फिर शिखर को नहीं जाता किन्तु नीचे के स्थानों की ओर ही बहता है।

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥१५॥

जैसे शुद्ध पानी शुद्ध जलाशय में डाला हुआ उसके समान ही हो जाता है, ऐसे

ही हे गौतम ! ज्ञानी मुनि का आत्मा परमधाम में परमात्मा के सदृश पवित्र हो जाता है। उसमें न मलिनता रहती है और न फिर वह मलिन होता है।

पांचवीं वल्ली

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः ।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते । एतद्वैतत् ॥१॥

सरल शुद्ध चित्त वाले, अजन्मा आत्मा का ग्यारह द्वार वाला पुर—धाम है। आत्मा उस पुर को अधिकार में लाकर नहीं शोक करता। उस से छूट कर मुक्त हो जाता है। यह आत्मा वही है।

जिस आत्मा के अन्तःकरण से मल, विक्षेप और दोष दूर हो गये हैं वह सरल तथा शुद्ध आत्मा है। बन्ध-अवस्था में उसका पुर शरीर है। कान के दो, नाक के दो, आंख के दो, अधोद्वार दो, मुख, रोम और मनोवृत्तियां ये देह के ग्यारह द्वार हैं। जिस आत्मा का इस ग्यारह द्वार वाले देह पर पूरा अधिकार हो जाय वह शोक दुःख से पार हो जाता है। और वह देह छोड़ने पर मुक्ति पा लेता है।

हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।
नृषद्वरसदृतसद् व्योमसद् अब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥२॥

वह देहपुरी में रहने और मुक्त होने वाला आत्मा हंस है विवेकी और ज्ञानमय है। पवित्र अवस्था में रहने वाला है। वह आकाश में रहने वाला वसु है। वेदि पर बैठने वाला होता है। वह गृहस्थों के "दुरोण" घरों में बैठने योग्य अतिथि है। वरों में और श्रेष्ठों में बैठने वाला है। वह सत्य में रहने वाला है। आकाशविहारी है। जलों में और पृथिवी में उत्पन्न होने वाला है। वही पांच भूतमयी काया धारण करता है सत्य में—ज्ञान में वही प्रकट होता है। पर्वतों पर वही प्रकट होता है। वह महान् सत्य है।

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥३॥

वह आत्मा जब देह में आता है तो प्राणवायु को ऊपर को उठाता—खींचता है और अपानवायु को भीतर से नीचे को फेंकता है अर्थात् बाहर निकालता है। सारी इन्द्रियाँ उस मध्य - भीतर में बैठे हुए पूजनीय को उपासती हैं। उस के वश में रह कर कार्य करती हैं।

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः ।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते । एतद्वैतत् ॥४॥

इस पूजनीय, देह में रहने वाले, देही—आत्मा का, जब वह देह से फिसलता वा छूटता है, तब देह में क्या शेष रहता है ? अर्थात् कुछ भी पीछे नहीं रहता। यह वही आत्मा है।

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥५॥

कोई भी मनुष्य न प्राण से जीता है न अपान से किन्तु सभी मनुष्य दूसरे से—आत्मा से 'जीते हैं कि जिसमें वे'—प्राणापान दोनों आश्रित हैं।

प्राण-अपान—श्वास-प्रश्वास वास्तव में जीवन का सारा साधन नहीं है। मनुष्य का जीवन आत्मा के आश्रित है। श्वास-प्रश्वास भी आत्मा के आश्रित हैं। आत्मा जब देह में होता है तभी ये आते जाते हैं।

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥६॥

अच्छा अब, हे गौतम नचिकेता ! मैं तुझे यह रहस्य बताऊंगा। एक तो सनातन ब्रह्म है और दूसरे जैसे मर कर आत्मा होता है।

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥७॥

प्रथम जैसे मर कर आत्मा होता है यह कहते हुए वैवस्वत ने बताया कि बहुत से देहधारी जो मोक्ष नहीं पा जाते, वे देहधारण करने के लिए मनुष्यादि जन्मों को ग्रहण करते हैं। कई एक स्थावरों में प्रवेश करते हैं; स्थावरों में रहते हैं। जन्म-जन्मान्तरों में जाना जैसा कर्म हो वैसा ही सुना गया है।

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन । एतद्वैतत् ॥८॥

सनातन ब्रह्म का वर्णन करते हुए वैवस्वत ने कहा, जो यह परम पुरुष, प्रत्येक कामना की रचना करता हुआ, सोए हुओं—अज्ञानियों में जागता है। सब का ज्ञाता और साक्षी है। वह ही तेजोमय है। वह ब्रह्म है। उस ही को अमृत कहा जाता है, उस में सब लोक आश्रित हैं। उसको कोई नहीं लांघ सकता। यह वही परमात्मा है।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥९॥

जैसे भुवन में प्रविष्ट एक ही अग्नि, रूप-रूप—पदार्थ-पदार्थ के प्रति तद्रूप हो रहा है; तदाकार दीखता है, ऐसे ही एक और सब का अन्तरात्मा—ईश्वर वस्तु-वस्तु में साक्षीरूप से विद्यमान है और उनसे बाहर भी है।

अग्नि से यहां तात्पर्य्य तेज से है। वह पदार्थों में रम जाता है। परन्तु फिर पृथक् भी होता है। ऐसे ही सब का अन्तर्यामी सब का साक्षी है। परन्तु सब से पृथक् भी है। ईश्वर की विद्यमानता का यह वर्णन है।

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥१०॥

जैसे भुवन में प्रविष्ट एक ही वायु पदार्थ-पदार्थ के प्रति तद्रूप हो रहा है, ऐसे एक ही सर्वान्तर्यामी ईश्वर वस्तु-वस्तु में साक्षीरूप से विद्यमान है और उन से पृथक् भी है। वह सर्वान्तर्यामी परमेश्वर है।

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥११॥

जैसे सब लोकों का नेत्र—प्रकाशक सूर्य्य नेत्रसम्बन्धी बाहर के दोषों से नहीं लिप्त होता, ऐसे एक ही सब का साक्षी ईश्वर, बाहर के लोकदुःख से नहीं लिप्त होता।

साक्षी परमेश्वर सब का अन्तर्यामी है। सूर्य जैसे सब लोकों को प्रकाशित करता है परन्तु लोकों से निर्लेप रहता है, ऐसे ही ईश्वर सब का साक्षी होने पर भी स्वस्वरूप ही में सदा रहता है। उसे परिवर्त्तन और पाप स्पर्श नहीं करता।

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥१२॥

जो परमेश्वर, एक, सब का नियन्ता और सब भूतों का साक्षी है, वही एक वस्तु—प्रकृति को बहुत प्रकार में रचता है। उसकी स्वाभाविकी इच्छा से प्रकृति में अनेक परिणाम होते हैं। जो बुद्धिमान् भक्त उस परमेश्वर को अपने भीतर देखते हैं—ध्यान से आराधते हैं उनहीं को अविनाशी सुख मिलता है, दूसरों को नहीं।

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥१३॥

जो भगवान् अनित्य पदार्थों में नित्य है, चेतनों—ज्ञानियों का ज्ञानी है और जो एक अखण्ड भगवान् अनन्त जीवों के कामों-फलों को रचता है, उस परमेश्वर को जो धीर जन आत्मा में रहने वाला देखते हैं उनको सदा रहने वाली शान्ति मिलती है, दूसरों को नहीं।

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम् ।
कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥१४॥

शिष्य भगवान् का स्वरूप सुन कर पूछता है कि ब्रह्मवेत्ता लोग, उसको 'यह ऐसा है' इस प्रकार अनिर्देश्य—अनिर्वचनीय और परम सुख मानते हैं। मैं उसको कैसे जानूं? वह क्यों है? चमकता है अथवा अनेक प्रकार से चमकता है?

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१५॥

गुरु ने उत्तर दिया, उस परमेश्वर में सूर्य नहीं चमकता: उस को सूर्य नहीं प्रकाशित करता। न उस को चन्द्र-तारे प्रकाशित कर सकते हैं और न ही ये बिजलियां उसको प्रकाशित कर सकती हैं। यह अग्नि तो कहां से प्रकाशित करेगी। वास्तव में उसी के ही चमकने पर—दीप्यमान होने पर सारा विश्व चमक रहा है। उसकी ज्योति से यह सारा जगत् अनेक प्रकार से चमकता है। भगवान् तो प्रकाशधाम, ज्योतिस्वरूप है। सब को ज्योति देने वाला ईश्वर है। उसकी सत्ता के आश्रित यह विश्व है।

छठी वल्ली

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।
तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन । एतद्वै तत् ॥१॥

यह सनातन पीपल ऊपर मूलवाला और नीचे शाखावाला है। अर्थात् प्रकृति एक वृक्ष है जो सनातन है; अनादि है। इसका मूल ऊपर है, यह भगवान् के आश्रित है। इसकी शाखाएँ नीचे हैं; नाना विकार और परिणाम ही अधोमुखी शाखाएँ हैं। ये शाखाएँ नाश की ओर जाती हैं। जिस भगवान् में इस वृक्ष का मूल है वही दीप्तिमान् है। वह ब्रह्म है। वही ब्रह्म अमृत—आनन्दमय कहा जाता है। उसमें सब लोक आश्रित हैं। उसको कोई नहीं लांघ सकता। उस की नियति अखण्ड है। यह वही भगवान् है जो जानने योग्य है।

यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥२॥

जो कुछ यह सारा फैला हुआ जगत् है वह प्राणस्वरूप—जीवन तथा सर्वाधार ब्रह्म में क्रियावान् हो रहा है। वह ब्रह्म महान् भय है, अटल नियम है और उठा हुआ

वज्र है—न्यायशील है। जो जन ब्रह्म को सबका जीवन, नियन्ता और न्यायकारी जानते हैं, वे अमृत—आनन्दमय हो जाते हैं।

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥३॥

परमेश्वर का नियम – न्याय अटल है, शासन प्रबल है यह दर्शाते हुए ऋषि ने कहा—इस ब्रह्म के भय—नियम से अग्नि जलती है, इसके नियम से सूर्य उदय होता है, इसके नियम से इन्द्र—मेघ, वायु और पांचवां मृत्यु दौड़ते हैं। भगवान् का नियम सारे जगत् में काम कर रहा है, उसकी नियति अटल है।

य इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः ।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥४॥

सर्वनियन्ता को जानने की महत्ता में मुनि ने कहा—मनुष्य यदि इस जन्म में शरीर छूटने से पहले ब्रह्म को जान सका तो ठीक है, नहीं तो वह कल्प-कल्पान्तरों पर्यन्त लोकों में शरीर धारण करता रहेगा। ईश्वरज्ञान और भगवान् की भक्ति ही मुक्ति का मार्ग है। इसी से प्राणी पाप-ताप से परित्राण पाता है।

यथाऽऽदर्शे तथाऽऽत्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके ।
यथाऽप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥५॥

उपासकों को भगवान् का दर्शन कहां कैसा होता है यह बताते समय सन्त ने कहा—जैसे दर्पण में मुख दीखता है ऐसे ही अपने आप में परमात्मा दीखता है। आत्मज्ञानी अपने हृदय में हरिदर्शन करते हैं। जैसे स्वप्न में सुरूप दीखते हैं ऐसे पितृलोक में भगवान् दीखता है, जैसे पानी में पदार्थ दीखते हैं ऐसे गन्धर्वलोक में प्रभु दीखता है। छाया और प्रकाश की भान्ति ब्रह्मलोक में भगवान् देखा जाता है।

ऊपर के पाठ में पितृलोक से तात्पर्य पुण्यमय जन्म है। ऐसे शुभजन्म में स्वप्न-सुरूप की भांति हरिकृपा के तरंग आप ही आप सम्मुख आने लग जाते हैं। गन्धर्वलोक से तात्पर्य उस जन्म से है जिसमें गीत से, स्तोत्रपाठ से और भजनगायन से भगवान् आराधा जाय। ऐसे जन्म में, जैसे निर्मल जल में पदार्थ दीखते हैं ऐसे भगवान् का ज्ञान होता है। ब्रह्मलोक में अर्थात् ध्यान में, जैसे छाया से प्रकाश पृथक् दीखता है ऐसे परमात्मा का प्रकाश प्रतीत होने लग जाता है। भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में उपासक जन भगवान् की विभूतियों और भेदों को जान कर अमर हो जाते हैं।

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत् ।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ॥६॥

आत्मा से पृथक् अपने कारणों से उत्पन्न होने वाली इन्द्रियों के होने को आत्मा से भिन्न और उत्पत्ति नाशवान् जान कर धीर पुरुष नहीं चिन्ता करता ।

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥७॥
अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च ।
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥८॥

आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है यह कह कर ऋषि आत्मा की महत्ता दर्शाता है—इन्द्रियों से मन प्रबल है । मन से बुद्धि उत्तम है । बुद्धि से महान् आत्मा ऊपर है । महान् आत्मा से मुक्त आत्मा प्रबल तथा उत्तम है, और मुक्तात्मा से परम पुरुष परमात्मा उत्तम है जो व्यापक—साक्षी है और शरीररहित ही है । जिसे को जान कर—भज कर जीव बन्ध से मुक्त हो जाता है और अमृत को तथा आनन्द को प्राप्त करता है ।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥९॥

इस इन्द्रियों से उत्तम महान् आत्मा का रूप सामने नहीं आता । इसे कोई आंख से नहीं देख सकता । यह महान् आत्मा हृदय से, बुद्धि से तथा मन से विचारा जाता है जो इस आत्मा को जानते हैं वे मुक्त हो जाते हैं ।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥१०॥

देहधारी को आत्मा का ज्ञान समाधि में होता है । उस समाधि का चिह्न यह है—जब पांचों ज्ञान इन्द्रियां मन के साथ निश्चल हो जायें और बुद्धि भी न चेष्टा करे उसे सन्त जन परम गति—समाधि कहते हैं ।

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥११॥

वह समाधि ही योग है यह दर्शाते हुए ऋषि ने कहा—उस स्थिर इन्द्रियों की धारणा—एकाग्रता को मुनि जन योग ही मानते हैं । इस योग को पाकर मनुष्य तब प्रमाद से, पापवासना तथा विकार से रहित हो जाता है । निश्चय से उत्पत्ति और लय यह योग है । योग में ज्ञान की उत्पत्ति, वृद्धि और कर्म का नाश हो जाता है ।

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥१२॥

जो समाधि से जाना जाता है वह आत्मा निश्चय से न वाणी से, न मन से और न आँख से प्राप्त किया जा सकता है। आत्मा 'है' ऐसा कहने वाले से दूसरे मनुष्य से वह कैसे प्राप्त किया जा सकता है।

आत्मा का अनुभव आस्तिक को होता है, नास्तिक को नहीं। आत्मा वचन तथा चिन्तन का विषय नहीं है और न ही नेत्र का विषय है। वह आस्तिक भाव से, श्रद्धा और विश्वास से जाना जाता है। आत्मविश्वास से आत्मा व्यक्त होता है।

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥१३॥

आत्मा है ऐसे तत्त्वभाव से—यथार्थज्ञान से जानना चाहिए। अथवा विश्वास और ज्ञान दोनों से जानना चाहिए। परन्तु जिसने आत्मा को 'है' ऐसे विश्वास से साक्षात् किया है उसका ज्ञान खिल जाता है। विश्वासी पर आत्म-प्रकाश होता है।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥१४॥

मोक्षपद का वर्णन करते हुए मुनि ने कहा—जब सब कामनाएं, जो मनुष्य के हृदय में रहती है, इस से छूट जाती हैं, तब यह मरने वाला मनुष्य अमृत तथा मुक्त हो जाता है। इस मोक्ष अवस्था में वह ब्रह्म को अनुभव करता है।

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ॥१५॥

जब इसी जन्म में काम, क्रोध, द्वेष तथा अविद्या आदि हृदय की सब गांठें भेदन हो जाती हैं, तब यह मरणधर्मा मनुष्य मुक्त हो जाता है। निश्चय से इतना ही उपदेश है। यही बात कहने योग्य है। यही सार तथा मर्म है।

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥१६॥

एक सौ एक हृदय की नाड़ियां हैं। उन में से एक ऊपर को—सिर को गई है। उस ऊपर जाने वाली नाड़ी से ऊपर जाता हुआ आत्मा अमृतपद को पाता है। अन्य नाड़ियां मरण समय में नाना फल देने का साधन बन जाती हैं।

एक सौ नाड़ियां मुख्य मानी गई हैं। वे हृदय से निकल कर सारे शरीर में फैल रही हैं। वे मस्तक से भी निकलती हैं। उनमें से एक जो सुषुम्णा नाड़ी है, आत्मा उस द्वारा ऊपर सहस्रदल कमल को जाता हुआ मुक्त हो जाता है। दूसरी नाड़ियों में उलझा रहे तो बन्ध में ही पड़ा रहता है।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।
तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण ।
तं विद्याच्छुक्रममृतं, तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥१७॥

अन्तरात्मा पुरुष अंगों में निवास करता है और सदा मनुष्यों के हृदय में रहता है। उस अन्तरात्मा को विवेकी मनुष्य अपने शरीर से धैर्य से ऐसे निकाले जैसे मुंजे के पूले में से तिनका खींच कर निकाला जाता है। उस आत्मा को तेजोमय और अमृत जाने। उसे प्रकाशस्वरूप और अविनाशी समझे।

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नाम् ।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ॥१८॥

मृत्यु द्वारा कही गई इस आत्मविद्या को और सारी योगविधि को नचिकेता पाकर ब्रह्मधाम को पा गया। पाप-रजरहित हो गया और अमर बन गया। दूसरा कोई भी जो आत्मविद्या को इस प्रकार जाने वह ब्रह्मलीन, पापरहित और अमर हो जायगा।

सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु, सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु, मा विद्विषावहै ॥१९॥

साथ ही हम गुरु शिष्य को ब्रह्म पाले। साथ हमें दोनों को इकट्ठे कर्मफल भुगाए। हम गुरु शिष्य मिल कर बल बढ़ायें। हम दोनों का पढ़ा हुआ ज्ञान तेजवाला हो। परस्पर हम द्वेष न करें।

यजुर्वेदीया कठोपनिषत्समाप्ता ।

अथर्ववेदीया

अथ प्रश्नोपनिषद्

ओ३म् भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः । भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । स्थिरैरङ्गै-स्तुष्टुवांसस्तनूभिः । व्यशेमहि देव हितं यदायुः ॥ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः । स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः । स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः । स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हम सब देव कानों से सदा भद्र—मंगल शब्द सुनें । हम यजन याजन करने वाले भक्त आंखों से भद्र रूप देखें। स्थिर अङ्गों और तनों से भगवान् की स्तुति करते हुए जो हितकर आयु है उसको हे देव ! हम पायें ।

महामहिमावान्— कीर्तिमान् ईश्वर हमें कल्याण दें । सबका ज्ञाता पोषक हमें कल्याण दे । मंगलगति वाला दर्शक हमें कल्याण दे । महान् स्वामी हमें कल्याण दें ।

प्रथम प्रश्न

ओं सुकेशा च भारद्वाजः शैब्यश्च सत्यकामः । सौर्यायणी च गार्ग्यः कौसल्यश्चाश्वलायनो भार्गवो वैदर्भिः कबन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः ।।१।।

एक काल में भरद्वाज का पुत्र सुकेश, शिबि का पुत्र सत्यकाम, गर्गगोत्री सौर्यायणी—सूर्य का पोता, अश्वल का पुत्र कौसल्य, भृगु का पुत्र वैदर्भि—विदर्भ-देशवासी, कत का पोता कबन्धी वे ये ईश्वरपरायण ब्रह्मविश्वासी भक्तजन परब्रह्म को खोजते हुए, हाथों में समिधाएं लिये, भगवान् पिप्पलाद के समीप गये; यह सोच कर कि निश्चय से यह मुनि वह सब बता देगा जो वे पूछना चाहते हैं।

यहां परब्रह्म से तात्पर्य भगवान् के उस स्वरूप से है जो माया से ऊपर है; जो परमान्दमय है। समिधा के संकेत से यहां बताया है कि वे भक्त बड़े समादर से भेंट लेकर सद्गुरु के समीप गये ।

तान् ह स ऋषिरुवाच "भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ, यथाकामं प्रश्नान्पृच्छथ, यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम:" इति ॥२॥

वह ऋषि पिप्पलाद उनको बोला, "आप और भी अधिक तप, ब्रह्मचर्य्य और श्रद्धा के साथ एकवर्ष पर्य्यन्त मेरे पास रहो। सत्संग में जैसे चाहो प्रश्न पूछो। यदि हम उनके उत्तर जान जायेंगे तो तुम को सब बता देंगे"।

अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ "भगवन्! कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्ते" इति ॥३॥

साधन सोधने के अनन्तर, पास आकर कबन्धी कात्यायन ने पूछा "भगवन्! किस से ये प्रजाएं उत्पन्न होती हैं" इस नानाविध सृष्टि का रचयिता कौन है?

तस्मै स होवाच "प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते। रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यतः" इति ॥४॥

वह पिप्पलाद उसको बोला—निश्चय से उस प्रजापति ने प्रजा की इच्छा से तप तपा—सृष्टि रचने का संकल्प किया। उसने तप तपकर जोड़ा उत्पन्न किया। वह जोड़ा रयि—प्रकृति—अमूर्त मूर्तरूप विकृत जगत् और प्राण—जीवनशक्ति रूप में सृजा। इस कारण कि ये दोनों मेरे लिए नाना प्रकार की प्रजाएं कर देंगे।

यहां रयि से तात्पर्य अभिव्यक्त, स्फुरित, उत्पादनक्षेत्र, विकासक्रमगत प्रकृति से है। रयि ही विश्व-वृक्ष के उत्पन्न होने की भूमि है। रयि वह धन है, वह माया है जिससे गुणत्रयी का सर्वव्यापार चलता रहता है। और प्राण जीवन को, शक्ति को, बीज को, उत्पादन बल को और चेतन को समझना चाहिए। रयि तथा प्राणरूप युग्म से ही सृष्टि की रचना हुई और हो रही है।

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमाः।
रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च, तस्मान्मूर्तिरेव रयिः ॥५॥

फिर पिप्पलाद ने कहा—निश्चय से सूर्य ही प्राण—जीवन है। चन्द्रमा रयि ही है। और यह सब जो दृश्य तथा अदृश्य है वह रयि है। जो जगत् नहीं दीखता वह भी रयि है। इस कारण मूर्ति ही रयि है। रयि मूर्तिमान् जगत् को कहते हैं।

अथादित्य उदयन् यत्प्राचीं दिशं प्रविशति, तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते। यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं, यदधो, यदूर्ध्वं, यदन्तरा दिशो, यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान्प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते ॥६॥

जब उदय होता हुआ सूर्य जो पूर्व दिशा में प्रवेश करता है उससे पूर्व दिशा के

प्राणों को अपनी किरणों में धारण करता है, पूर्व दिशा के पदार्थों को स्वकिरणों से जीवन दान देता है। जो दक्षिण, पश्चिम, नीची, ऊपर की, अन्तराल की दिशा को और सब को प्रकाशित करता है। उस से सब प्राणों को किरणों में धारण कर लेता है; सब को प्राणशक्ति प्रदान करता है। जहां जहां सूर्य्य किरण जाती है वहीं प्राण संचरित हो जाता है। जीवन-शक्ति का स्रोत और केन्द्र सूर्य है।

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते। तदेतदृचाऽभ्युक्तम् ॥७॥

वह प्राणरूप यह सूर्य विश्वरूप—सब का प्रकाशक जीवन और तेज है जो उदय होता है। वह यह ऋचा ने भी कहा है। यहां सूर्य से विश्व-प्राण अभिप्रेत है।

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्।
सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥८॥

ज्ञानियों ने जाना है कि सब का प्रकाशक, किरणों वाला, तेजोमय, सब का उत्तम आश्रय, ज्योतिरूप, एक और उष्ण करने वाला सूर्य है। सैकड़ों प्रकार से रहता हुआ, सहस्रकिरणवान यह सूर्य प्रजाओं का प्राण होकर उदय होता है।

संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणं चोत्तरं च।
तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते। ते चान्द्रमसमेव लोकमभि-
जयन्ते। त एव पुनरावर्तन्ते। तस्मादेत ऋषयः प्रजाकामा
दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते। एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः ॥९॥

प्रजापति परमेश्वर को प्राण और रयि का रचयिता बता कर पिप्पलाद ने कहा—वर्ष अर्थात् काल भी प्रजापति है। उसके दक्षिण और उत्तर दो मार्ग हैं। तब जो अग्नि होत्रादि यज्ञ और दान-पुण्य कर्म करते हैं वे चन्द्रलोक में ही जाते हैं। वे ही पीछे लौट आते हैं। इस लिए सन्तति की कामना वाले ये ऋषि दक्षिण-मार्ग को प्राप्त होते हैं। ऐसा दक्षिण-मार्ग जो पितृयाण है यह ही रयि है। उत्पत्ति का स्थान तथा कारण है। कर्मफल तथा जन्म जन्मान्तर का मार्ग रयि है।

पितृयाण का अर्थ पितरों का मार्ग है। जिन कर्मों को करके मनुष्य का आत्मा ऐसे लोक में जन्म ले, जहां माता-पिता आदि के दर्शन हों, सन्तान की उपलब्धि हो तथा सुख-समृद्धि से सम्पन्न हो जाय यह पितृयाण है। दान, पुण्य, यजन, याजन आदि सकाम कर्मों से ऐसा लोक मिलता है। जिन लोकों में पुण्यमय कर्मों के फल मिलते हैं वे चन्द्रलोक कहे जाते हैं। उनका अयन—स्थान दक्षिण को है अर्थात् वे दक्षिणा-दान आदि पुण्यकर्मों से मिलते हैं।

अथोत्तरेण, तपसा, ब्रह्मचर्येण, श्रद्धया, विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते, एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोधः । तदेष श्लोकः ॥१०॥

जो उत्तर से—ज्ञान से, तप से, ब्रह्मचर्य से, श्रद्धा से, विद्या से आत्मा को जान कर यहां से जाते हैं वे सूर्यलोक को प्राप्त होते हैं, तेजोमय धाम को प्राप्त करते हैं। निश्चय से यह आदित्यलोक प्राणों का घर है; वहीं से जीवनशक्ति का अवतरण होता है। यह धाम अमृत—आनन्दमय निर्भय है। यह धाम परम आश्रय है। इस धाम से आत्मा फिर नहीं लौट कर आते। यह जन्म-मरण की रोक है। इस पर यह श्लोक है।

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम् ।
अथेमे अन्य उ परे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितमिति ॥११॥

आत्मदर्शी भक्त जन सबके पिता को पांच पाद वाला—पांच ज्ञानेन्द्रियां जिसके पद—विधान नियम हैं और बारह मास की आकृति वाला कहते हैं। बारह मास का विधाता बताते हैं। तथा सब से ऊंचे स्थान में, आकाश में, जलों वाला कहते हैं। और ये दूसरे अपर जन—व्यवहार दृष्टि से देखने वाले सात किरणों के चक्र में और छः ऋतुरूप अरों के रथ में बैठा हुआ द्रष्टा बताते हैं।

मासो वै प्रजापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एव रयिः शुक्लः प्राणस्तस्मादेत ऋषयः शुक्ल इष्टिं कुर्वन्तीतर इतरस्मिन् ॥१२॥

मास भी प्रजापति है। प्रजाओं में शुभकर्म का साधन है। उस का अन्धेरा पक्ष ही रयि है; शून्य है, अभाव है, विकार है। शुक्लपक्ष प्राण है भाव है, जीवनप्रद है। इसीलिए ये ऋषिजन शुक्ल में इष्टि करते हैं। चांदने पक्ष में तथा ज्ञान में कर्म करते हैं। दूसरे साधारण तथा अबोध जन अन्धेरे पक्ष में वा अज्ञान में कर्म करते रहते हैं।

अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः, प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते। ब्रह्मचर्यमेव तद्, यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते ॥१३॥

दिनरात भी प्रजापति है, प्रजा के उत्पन्न तथा पालन का साधन है। उसका दिन ही प्राण है। रात्रि रयि है। ये जो दिन में, कार्य के समय भोगविलास में जुड़ जाते हैं वे प्राण—जीवन को ही बहाते हैं। शक्ति का विलास में नाश करते हैं। जो रात में रति से संयुक्त होते हैं, उनका वह कर्म ब्रह्मचर्य ही है।

अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥१४॥

अन्न भी प्रजापति है। उस से यह वीर्य बनता है। उस से ये प्रजाएं उत्पन्न होती हैं।

परमेश्वर को प्रजापति कह कर, फिर पिप्पलाद ने उन सबको प्रजापति कहा जिनसे प्रजा का पालन तथा उत्पादन होता है। उसने प्राण, उन वस्तुओं को बताया जो शक्ति, भाव, बीज तथा सद्रूप हैं। रयि, उसने उनको कहा जिनमें शक्ति का, जीवन का, चेतन और उत्पादन बल का संचार होता है।

सृष्टि की प्रथम अभिव्यक्ति प्राण जीवन, नियम, चेतन, शक्ति, भाव तथा सद्रूप उत्पादक बल है और रयि प्रकृति, मूर्त्त, उत्पादन-क्षेत्र, जड़ तथा अभाव है। प्राण क्रियाशील, चेतनत्व, भावरूप तथा पुरुष—पुंस्त्व-नियम है और रयि निष्क्रिय, शून्य, अभाव, जननक्षेत्र एवं स्त्रीभाव-नियम है। इन दोनों के संमिलन से सृष्टि-रचना और जगत्-वैचित्र्य दिखाई देता है। प्राण आदित्य है, दिन है, सूर्य है, प्रकाश है, अमूर्त्त है, जीवन है, आत्मा है, पुरुष है, उत्तरायण है और अदृश्य है। रयि चन्द्रमा है, रात्रि है, मूर्त है, प्रकृति है, रूप—आकृति है, अन्धकार है, अभावरूप है, दक्षिणायन है, बीज-क्षेत्र है और दृश्य है। प्राण और रयिरूप युग्म ही विश्व-विकास के कारण हैं।

तद्ये ह वै तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुनमुत्पादयन्ते। तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥१५॥ तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति ॥१६॥

और वे जो वह प्रजापति का व्रत पालते हैं, विलासी नहीं हैं वे पुत्र-पुत्री को उत्पन्न करते हैं; सन्तानवान् होते हैं। उनका ही वह ब्रह्मलोक है—सूर्य धाम है जिनका व्रत तप और ब्रह्मचर्य है तथा जिन में सत्य स्थिर हो गया है, जो सत्य में आरूढ हो गये हैं। उन्हीं का यह रज—पाप रहित ब्रह्मलोक है, जिन में न कुटिलता है, न झूठ है और न माया छल है। रहस्यवाद में सूर्य, सर्वोत्तम आत्मिक पद है, शक्ति-स्थान है।

दूसरा प्रश्न

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ "भगवन्! कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते, कतर एतत्प्रकाशयन्ते; कः पुनरेषां वरिष्ठः?" इति ॥१॥

कबन्धी के प्रश्न के अनन्तर इसको—पिप्पलाद को भार्गव वैदर्भि ने पूछा—भगवन्! कितने देव प्रजा को धारण तथा अवलम्बन करते हैं? कितने इसको प्रकाशित करते रहते हैं? और इन में कौन श्रेष्ठ है?

तस्मै स होवाच आकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ् मनश्चक्षुः श्रोत्रं च। ते प्रकाश्याभिवदन्ति, वयमेतद् बाणमवष्टभ्य विधारयामः ॥२॥

वैदर्भि को पिप्पलाद ने कहा—आकाश यह देव है और वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, वाणी, मन, नेत्र तथा श्रोत्र देव हैं। ये ही प्रजा को थामते हैं। वे देव देह को धारण तथा प्रकाशित करके, एक दूसरे से झगड़ पड़े और कहने लगे, हम इस देह को थाम कर धारण कर रहे हैं।

यहां देवों से तात्पर्य दिव्य शक्तियों से है। ऊपर कही शक्तियों में कौन श्रेष्ठ है यही प्रकट करने के लिए देवों के विवाद का अलंकार पिप्पलाद ने रचा। इस अलंकार में देह को "बाण" इस कारण कहा गया है कि यह तीर की भांति सरकने वाली तथा नाशवान् है और जैसे तीर तीरवाले की प्रेरणा के आश्रित है ऐसे ही शरीर प्रारब्ध के आश्रित है।

तान् वरिष्ठः प्राण उवाच। "मा मोहमापद्यथ। अहमेवैतत्पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्यैतद् बाणमवष्टभ्य विधारयामि" इति ते ऽश्रद्दधाना बभूवुः ॥३॥

तब सब से उत्तम प्राण—जीवनशक्ति उनको बोला, तुम भूल में न पड़ो। मैं सब से उत्तम हूँ। मैं ही अपने आप को पांच प्रकार से बांट कर इस शरीर को थाम कर धारण कर रहा हूँ। वे देव इसके विश्वासी न हुए।

सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव, तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते, तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते। तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते, तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त एवं वाङ् मनश्चक्षुः श्रोत्रं च। ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति ॥४॥

उन देवों को अविश्वासी देख कर वह प्राण अभिमान से, मानो ऊपर को बाहर निकला। उसके बाहर निकलने पर दूसरे सब ही देव बाहर निकल आये। और शरीर में, लौट कर उसके ठहर जाने पर सब ही देव लौट कर तन में ठहर गये। जैसे मधु छत्ते से, मधुमक्खियों के राजा के निकल जाने पर सब ही मक्खियां उड़ जाती हैं और उसके बैठ जाने से सब बैठ जाती हैं, ऐसे ही वाणी मन, नेत्र और श्रोत्रादि देव, प्राण के साथ निकले और बैठ गये। वे देव प्रसन्न होकर प्राण की स्तुति करने लगे। इसमें प्राण—जीवन शक्ति, जीवनतत्त्व, चेतनभाव को कहा है। गौणरूप से प्राण-पवन भी प्राण है।

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेषः।
वायुरेष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत् ॥५॥

यह प्राण ही अग्नि होकर तप रहा है। यह सूर्य है। यह मेघ है, यह इन्द्र है, यह वायु है, पृथिवी है और यह देव ही रयि है। और जो दृश्य तथा अदृश्य और अमृत है वह भी प्राण ही है। यहां प्राण से विश्व-जीवन अभिप्रेत है। रयि—अभाव, भावाश्रित होने से प्राण है।

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं च ब्रह्म च ॥६॥

जैसे रथ की नाभि में अरे लगे हुए होते हैं ऐसे ही सब कुछ दृश्यादृश्य पदार्थ प्राण में प्रतिष्ठित हैं। यहां तक कि ऋचाएं यजु, साम के मंत्र, यज्ञकर्म, क्षात्रधर्म और ब्रह्मकर्म भी प्राण में प्रतिष्ठित हैं। प्राणशक्ति के विकास तथा प्रकाश से ही सारे कर्म सिद्ध होते हैं। यहां प्राण ज्ञान और स्मृति को कहा है।

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे।
तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥७॥

प्राण की स्तुति में जीव को भी सम्मिलित करके कहा—तू ही प्रजा का पालक बन कर गर्भ में विचरता है और तू ही जन्म लेता है। हे प्राण! ये प्रजाएं तेरे लिए ही भेंट लाती हैं। तू वह है जो प्राणों के साथ रहता है। यहां प्राण आत्मा को भी कहा गया है।

देवानामसि वह्नितमः पितॄणां प्रथमा स्वधा।
ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि ॥८॥

हे प्राण! तू देवों का हवि ले जाने वाला है। पितरों की पहली स्वधा है—अन्न-भाग है। अथर्वाङ्गिरस ऋषियों का तू सच्चा आचार है। इसमें दानादि शुभ कर्मों की शक्तियों और नियमों को प्राण निर्देश किया है।

इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः ॥९॥

हे प्राण! तू अपने तेज से—प्रताप से इन्द्र है, ईश्वर है। रक्षाकर्ता रुद्र है। तू आकाश में विचरता है और तू ज्योतियों का पति सूर्य है। इसमें प्राण को ब्रह्माण्ड की शक्ति दर्शाया है।

यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः।
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति ॥१०॥

हे प्राण! जब तू भली भांति बरसता है तो तेरी ये प्रजाएं आनन्दरूप होकर

रहती हैं और प्रसन्नता में मनोरथ मनाती हैं कि अब मन-चाहा अन्न होगा। इस मंत्र में ईश्वरकृपा को प्राण प्रदर्शित किया है।

व्रात्यस्त्वं प्राणैक ऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः।
वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्वनः ॥११॥

हे प्राण! तू व्रात्य—शुद्ध है। तुझे संस्कार से शुद्ध होने की आवश्यकता नहीं। तू एक ऋषि—साक्षी है। तू जगत् का भोक्ता अर्थात् संहारकर्ता है। तू विश्व का सच्चा पालक है। हम जो भोज्य पदार्थों के देने वाले यजमान हैं उनका तू पिता है और सूक्ष्म सृष्टि का भी तू ही पिता है। इस मंत्र में भगवान् को प्राण कहा गया है।

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि।
या च मनसि सन्तता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः ॥१२॥

हे प्राण! जो तेरा स्वरूप वाणी में—जीभ में स्थित है और जो कान में, जो नेत्र में, जो मन में फैला हुआ है उसे कल्याणकारक कर। तन से बाहर न निकल। तू ही सर्वश्रेष्ठ है। इस मंत्र में प्राण जीवन-शक्ति को वर्णन किया है।

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि नः ॥१३॥

उपसंहार में देव प्राण की स्तुति करते हुए कहते हैं—जो कुछ त्रिलोकी में प्रतिष्ठित है वह यह सब प्राण के वश में है। सारा जगत् प्राण से जीता है। हे प्राण! तू हम पुत्रों की माता की भांति रक्षा कर। हमें अपनी स्थिरता से शोभा और सुमति दान दे। विश्व में जो जीवनशक्ति, चेतना तथा सामर्थ्य है वह प्राण है।

तीसरा प्रश्न

अथ हैनं कौसल्यश्चाश्वलायनः पप्रच्छ। भगवन्!
कुत एष प्राणो जायते। कथमायात्यस्मिञ्छरीरे?
आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रातिष्ठते? केनोत्क्रमते?
कथं बाह्यमभिधत्ते? कथमध्यात्ममिति? ॥१॥

उसके अनन्तर पिप्पलाद से कौसल्य आश्वलायन ने पूछा—भगवन्! किससे यह प्राण उत्पन्न होता है? इस शरीर में कैसे आता है? अपने आपको बांट कर, शरीर में कैसे रहता है? किस द्वार से बाहर निकल जाता है? कैसे बाहर के स्वरूप को धारण करता है और कैसे अध्यात्म को?

तस्मै स होवाच "अतिप्रश्नान् पृच्छसि; ब्रह्मिष्ठोऽसि" इति । तस्मात् तेऽहं ब्रवीमि ।२।।

उसको उसने कहा, "तू अतिसूक्ष्म प्रश्नों को पूछता है, इनका उत्तर देना उचित नहीं परन्तु तू ब्रह्मविश्वासी भक्त है", इस कारण मैं तुझे उत्तर देता हूँ।

आत्मन एष प्राणो जायते । यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततम् ।
मनोऽधिकृतेनायात्यस्मिञ्छरीरे ।।३।।

आत्मा से यह प्राण उत्पन्न होता है। जैसे पुरुष के साथ यह देह की छाया फैली होती है, ऐसे ही, यह इस आत्मा—देह में फैली हुआ है। मानसवृत्तियों से इस शरीर में प्राण आता है। मनोवृत्तियों के साथ ही गमनागमन करता है। इस में चेतनाश्रित जीवन-प्राण से तात्पर्य है।

यथा सम्राडेवाधिकृतान् विनियुङ्क्ते, एतान् ग्रामानेतान् ग्रामानधितिष्ठस्वेति, एवमेवैष प्राण इतरान् प्राणान् पृथक् पृथगेव संनिधत्ते ।।४।।

जैसे कोई महाराजा अपने अधिकारियों को काम में लगाता है और कहता है कि इन ग्रामों को, इन ग्रामों को तू शासन कर ऐसे ही यह प्राण दूसरे प्राणों को पृथक् पृथक् स्थान तथा काम पर लगाता है। आत्मा की स्वाभाविकी शक्ति से यह काम करता है।

पायूपस्थेऽपानं, चक्षुःश्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते, मध्ये तु समानः । एष ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति, तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति ।।५।।

मलमूत्र त्याग के अवयवों में अपानवृत्ति को जोड़ता है। आंख कान और मुख नासिका में प्राण आप रहता है। देह के मध्य में अर्थात् कण्ठ से नाभि तक समान रहता है। यह ही इस खाये हुए अन्न को पचाता है। इस लिए ये सात ज्योतियां हैं। समान से पचाये हुए अन्न से ज्वालाएं जगती हैं—दो कानों की, दो नाक की, दो नेत्रों और एक मुख की।

हृदि ह्येष आत्मा । अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति ।।६।।

यह देह में रहने वाला आत्मा हृदय में है। यहां हृदय में ये एक सौ एक नाड़ियां हैं। उन १०१ मुख्य नाड़ियों की सौ सौ शाखानाड़ियां हैं। उन शाखानाड़ियों में से प्रत्येक की बहत्तर बहत्तर सहस्र प्रतिशाखा नाड़ियां हैं। उनमें व्यान विचरता है। नाड़ियों में रहने वाली जीवनशक्ति का नाम व्यान है।

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति, पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥७॥

जो ऊपर को है—नाभि से मस्तक को जाता है वह उदान है। वह एक सुषुम्णा नाड़ी द्वार उठा हुआ, पुण्य संस्कार से पुण्य लोक को ले जाता है। नहीं तो पापरत रहने से पापमय लोक को ले जाता है। पुण्य-पाप बराबर हों तो मनुष्य लोक प्राप्त करता है। इसमें किस से बाहर जाता है यह कह कर ऋषि बाह्य और अध्यात्म का वर्णन करता है।

आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः। पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्याऽन्तरा यदाकाशः स समानो वायुर्व्यानः ॥८॥

निश्चयपूर्वक सूर्य ही बाह्य प्राण होकर, इस नेत्र के तेज को प्रदान करता हुआ, यह उदय होता है। भूमि में जो देवताशक्ति है वह यह शक्ति पुरुष के अपान को पुष्ट करती है। वह अपानरूप है। जो सूर्य्य और पृथिवी के मध्य में आकाश है वह समान है। और जो वायु है वह व्यान है। यह विश्व का, सारे सौरलोक का प्राण है।

तेजो ह वै उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः ॥९॥

निश्चय से तेज उदान है इस कारण, जिन का तेज शान्त हो गया हो वे लोग मन में इन्द्रियों की शक्ति लीन होने पर पुनर्जन्म को प्राप्त करते हैं।

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति, प्राणस्तेजसा युक्तः। सहाऽऽत्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति ॥१०॥

जैसा चित्त हो, वासना तथा भाव हो उसके साथ यह उदान प्राण को मरण समय मिलता है। प्राण उदान से युक्त आत्मा के साथ सूक्ष्म देह को यथासंकल्पित लोक को ले जाता है। मानसवृत्तियों के अनुसार मनुष्य का पुनर्जन्म होता है। सूक्ष्म-शरीर, वासना तथा संकल्पमय शरीर को कहा गया है। यहां प्राणमय शरीर से तात्पर्य है।

य एवं विद्वान् प्राणं वेद, न हास्य प्रजा हीयतेऽमृतो भवति। तदेष श्लोकः ॥११॥

वह जो उक्त प्रकार के प्राणभेदों को जानता हुआ प्राण को समझता है उसकी प्रजा नष्ट नहीं होती। वह मर कर अमृत—मुक्त हो जाता है। इस पर यह श्लोक है।

उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वं चैव पञ्चधा।
अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते, विज्ञायामृतमश्नुत इति ॥१२॥

प्राण की उत्पत्ति, देह में प्राण का आना, उसका श्रोत्रादि स्थान, उसका फैलाव,

पांचें प्रकार के बाह्य तथा अध्यात्म प्राण को जानकर मनुष्य अमृत को—मोक्षमय आनन्द को अनुभव करता है। वह प्राणमय शरीर से मुक्त हो जाता है।

चौथा प्रश्न

अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ, भगवन्! एतस्मिन्पुरुषे कानि स्वपन्ति? कान्यस्मिन् जाग्रति? कतर एष देवः स्वप्नान् पश्यति? कस्यैतत्सुखं भवति? कस्मिन्नु सर्वे संप्रतिष्ठिता भवन्ति? इति ॥१॥

फिर पिप्पलाद को सौर्यायणी गार्ग्य ने पूछा—भगवन्! इस पुरुष में वे कौन हैं जो सो जाते हैं? कौन इस में जागते हैं? कौन वह देव है? जो सोते हुए स्वप्नों को देखता है, नींद में किस को यह सुख होता है? और किस में सारे आश्रय लेकर रहते हैं?।

तस्मै स होवाच, यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति। ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्ति। एवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति। तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति, न पश्यति, न जिघ्रति, न रसयते, न स्पृशते, नाभिवदते, नादत्ते, नानन्दयते, न विसृजते, नेयायते, स्वपितीत्याचक्षते ॥२॥

उसको उसने कहा—हे गार्ग्य! जैसे अस्त होने पर सूर्य की सब किरणें, इस तेज के पुञ्ज में एक हो जाती हैं; और फिर सूर्योदय होने पर वे फैल जाती हैं इसी प्रकार सारा इन्द्रियमण्डल और वृत्ति सुषुप्ति में, परम देव आत्मा में एक हो जाता है। उस से तब यह आत्मा नहीं सुनता, नहीं देखता, नहीं सूंघता, नहीं रस लेता, नहीं छूता, नहीं बोलता, नहीं ग्रहण करता, नहीं आनन्द भोगता, नहीं मलमूत्र त्यागता और नहीं चलता फिरता है। उस समय उस को "सोता है" यही लोग कहते हैं।

प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति। गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद्गार्हपत्यात् प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः ॥३॥

कौन सोते हैं इसका उत्तर देकर ऋषि ने कहा—प्राणों की अग्नियां ही इस देह-नगर में जागती हैं अर्थात् प्राण ही सुषुप्ति में भी जागते रहते हैं। अग्निहोत्र के लिए जो अग्नि रखी जाती है उसका नाम गार्हपत्य है। देह में यह अपान ही गार्हपत्य है। यज्ञ के लिए जिस अग्नि से भात आदि पकाया जाय उसका नाम अन्वाहार्यपचन तथा दक्षिणाग्नि है। देह में दक्षिणाग्नि व्यान है। और जो अग्नि गार्हपत्य अग्नि से हवन के लिए हवनकुण्ड में लाई जाती है वह आहवनीय है। सो भीतर लाये जाने के कारण आहवनीय प्राण है। प्राणपञ्चक की साधना ही अध्यात्म में पञ्चाग्नि-व्रत है।

यदुच्छ्वासनिःश्वासावेतावाहुती समं नयतीति स समानो मनो ह वाव यजमान इष्टफलमेवोदानः, स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति ॥४॥

जो ये श्वास प्रश्वास हैं—सांस का भीतर-बाहर आना-जाना है, ये दो आहुतियां हैं। सांस का गमनागमन देह को सम करता है, अन्न को पचाता है। इस कारण वह समान है। और प्राणायाम में मन यजमान है। उसकी स्थिरता से यह यज्ञ सिद्ध होता है। प्राणायाम तथा ध्यान का इष्टफल समाधि ही उदान है। वह समाधि इस यजमान को प्रतिदिन ब्रह्म में ले जाती है। समाधि में मन ब्राह्मी अवस्था को प्राप्त हो जाया करता है। मन यहां आत्मा ही को कहा गया है। यह अध्यात्म यज्ञ है।

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति। यद् दृष्टं-दृष्टमनुपश्यति श्रुतं-श्रुतमेवार्थमनुशृणोति। देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनःपुनः प्रत्यनुभवति; दृष्टं चादृष्टं च, श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च, सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति ॥५॥

कौन देव स्वप्न देखता है इसका उत्तर देते हुए मुनि ने कहा—यहां स्वप्न अवस्था में यह मननशील देव अपनी महत्ता को देखता है। जो देखे हुए हैं उनको देखे हुओं की भांति देखता है। सुने हुए शब्दों को सुने हुओं की भांति ही सुनता है। देशों और दिशाओं प्रति-दिशाओं में अनुभव किए—जाने हुए पदार्थों को फिर फिर अनुभव करता है। देखे हुए और न देखे हुए, सुने हुए और न सुने हुए, अनुभव किये हुए और न जाने हुए और जो विद्यमान है और जो विद्यमान नहीं है उस सबको देखता है। सारा देखता है। उस समय आत्मा सारे आत्मभाव से देखता है।

स्वप्न अवस्था में आत्मा अपनी आत्म-शक्ति से देखता, सुनता और जानता है। स्वप्न में देखे, सुने और अनुभव किए पदार्थों का तो ज्ञान होता ही है परन्तु जो पदार्थ नहीं देखे, सुने और जाने उनका भी ज्ञान, कभी कभी, द्रष्टा को हो जाया करता है। कोई कोई आत्मा आकाश-तरंग के दूरस्थ प्रतिबिम्बों को भी स्वप्न में जान लेता है। आत्मा की अवस्था यदि शुद्ध हो तो स्वप्न में दूर देश के संस्कार भी जाने जाते हैं।

स यदा तेजसाऽभिभूतो भवति, अत्रैष देवः स्वप्नान्न
पश्यत्यथ तदैतस्मिञ्छरीरे एतत्सुखं भवति ॥६॥

जब वह स्वप्न देखने वाला आत्मसत्ता से दब जाता है अर्थात् तन्द्रा पर वशीकार पा लेता है, तब इस गाढ निद्रा में, यह आत्मदेव स्वप्नों को नहीं देखता। और तब इसी शरीर में यह निद्रा का सुख संचरित हो जाता है। सुषुप्ति में आत्मा अपनी शुद्ध सत्ता में अबोधपन से होता है। तब उसे स्वसत्ता में स्थिति का सुख हुआ करता है।

स यथा सोम्य! वयांसि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते ।
एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥७॥

पिप्पलाद ने कहा—हे प्यारे! जैसे पक्षी इधर उधर उड़ फिर कर, सायं समय बसने के वृक्ष का आश्रय लेते हैं; उस पर चुपचाप बैठ जाते हैं; ठीक इसी प्रकार वह सब स्वप्न के खेल, सुषुप्ति में साक्षी आत्मा में लीन हो जाते हैं।

देखने सुनने आदि की वृत्तियां सिकुड़ कर साक्षी आत्मा में स्थिरता लाभ करती हैं। साक्षी उस समय अपने स्वरूप में स्थित होता है।

पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यं च त्वक् च स्पर्शयितव्यं च वाक् च वक्तव्यं च हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं चाहङ्कारश्चाहङ्कर्तव्यं च चित्तं च चेतयितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च ॥८॥

और कौन पर-आत्मा में लीन होते हैं यह दर्शाते हुए मुनि ने कहा—स्थूल पृथिवी और उसकी मात्रा, जल और जल की मात्रा, अग्नि और अग्नि की मात्रा, वायु और वायु की मात्रा, आकाश और आकाश की मात्रा। मात्रा तन्मात्रा को कहा गया है। तन्मात्रा उसे कहते हैं जो स्थूल तत्त्वों की कारणावस्था होती है। ये सब सुषुप्ति में साक्षी आत्मा में शान्त हो जाते हैं। ऐसे ही नेत्र और देखने योग्य पदार्थ, कान और सुनने योग्य शब्द, नाक और सूंघने योग्य द्रव्य, जीभ और चखने योग्य पदार्थ, त्वचा और छूने योग्य वस्तुएं, वाणी और कथनीय, हाथ और ग्रहण करने योग्य पदार्थ, मूत्रेन्द्रिय और आनन्द लेने योग्य द्रव्य, गुद इन्द्रिय और छोड़ने योग्य मलमूत्र आदि, पैर और जाने का मार्ग, मन और मनन करने योग्य, बुद्धि और समझने योग्य विषय, अहंकार और अहंकार करने योग्य भाव, चित्त और चिन्तन करने योग्य, प्रकाश और प्रकाशित करने योग्य पदार्थ, प्राण और धारण करने योग्य, हृदय आदि सभी अंग, सुषुप्ति में साक्षी आत्मा में शान्त होकर स्थिर रहते हैं। आत्मा का ज्ञातृत्व तथा कर्तृत्व उसी में शान्त होता है।

एष हि द्रष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता, बोद्धा, कर्त्ता, विज्ञानात्मा पुरुषः । स परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥९॥

और यह ही आंख से देखने, त्वचा से छूने, कान से सुनने, नाक से सूंघने, जीभ से चखने, मन से मनन करने, बुद्धि से समझने तथा कर्मेन्द्रियों से कर्म करने वाला विज्ञानस्थ, व्यवहार में रहने वाला आत्मा पुरुष है। वह भी सुषुप्ति तथा समाधि में साक्षी अविनाशी आत्मा में—अपनी शुद्ध सत्ता में स्थिर हो जाता है।

बुद्धि द्वारा व्यावहारिक कर्मों में रत रहने की अवस्था में पुरुष को विज्ञानात्मा कहा है। पर आत्मा से यहां साक्षी आत्मा समझना चाहिए। आत्मा शुद्धावस्था में साक्षी माना गया है।

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स, यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते। यस्तु सोम्य! स सर्वज्ञः सर्वो भवति। तदेष श्लोकः ॥१०॥

निश्चय से जो मनुष्य उस छायारहित, अशरीर-कायारहित, रंगरहित, ज्योतिर्मय, अक्षर, साक्षी आत्मा को जानता है; वह मनुष्य परम ही साक्षी—शुद्ध आत्मा को प्राप्त होता है। और हे सोम्य! वह सर्वज्ञ और सर्व—अखण्ड हो जाता है—पूर्ण ज्ञानी और अमर बन जाता है। इस पर यह श्लोक है।

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ते यत्र।
तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य! स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति ॥११॥

जिस अवस्था में, शुद्ध साक्षी में सब देवों—इन्द्रियों के साथ बुद्धिगत आत्मा शान्त हो जाता है और जहां सब प्राण तथा पांचों भूत शान्त हो जाते हैं, हे प्यारे! जो मनुष्य उस अविनाशी आत्मा को जानता है वह सर्वज्ञ है। वह सब में, सब भेदों में, प्रवेश कर लेता है। उस में अपूर्णता नहीं रहती। व्यवहार के शान्त होने पर आत्मा की जो अवस्था होती है उसी का नाम परात्मा अथवा साक्षी है।

पांचवां प्रश्न

अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ। स यो ह वै तद्भगवन्! मनुष्येषु प्रायणान्तमोंकारमभिध्यायीत, कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति ॥१॥

उसके अनन्तर मुक्ति का साधन जानने की इच्छा से पिप्पलाद को शैब्य सत्यकाम ने पूछा—भगवन्! जो कोई मनुष्यों में से भक्त प्राणान्त तक ओंकार का ध्यान करे, भगवान् के नाम का सिमरन करता रहे तो वह उस नामाराधन से किस लोक को जीत लेता है? किस लोक को प्राप्त होता है?

तस्मै स होवाच। एतद्वै सत्यकाम! परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः।
तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ॥२॥

उस को वह बोला। हे सत्यकाम! निश्चय से यह जो ओंकार है यह ही पर और अपर ब्रह्म है। इस लिए विद्वान्—तत्त्वदर्शी भक्त इसी सहारे से पर अपर ब्रह्म में से एक को पा लेता है।

ऊपर के पाठ में भगवान् के नाम को ही पर और अपर ब्रह्म कहा है। नाम और नामी दोनों वाच्य और वाचक के नाम से कहे गये हैं। भक्ति-मार्ग में नाम-आराधन ही मुक्ति का परम साधन है। हरिनाम का आराधन करने वाला अपर ब्रह्म—नाम को और पर ब्रह्म—नामी को प्राप्त करता है। जब तक श्रद्धावान् का कर्मसंस्कार तथा बन्ध बना रहता है तब तक वह अपरब्रह्म में रहता है और मुक्त हो जाने पर परब्रह्म में आनन्द लाभ करता है।

स यद्येकमात्रमभिध्यायीत, स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसम्पद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते; स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति ॥३॥

वह नामोपासक यदि एकमात्रा का ध्यान करे, नाम को केवल वाणी द्वारा जपे तो वह भक्त उसी वाचिक सिमरन से प्रबुद्ध होकर तुरन्त पृथिवी पर आता—जन्म लेता है। उसको स्तुतियां मनुष्यजन्म में ले जाती हैं। भगवान् के भजन से ऐसे भक्त का मनुष्यजन्म होता है। वह उपासक वहां मनुष्यजन्म में तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा से सम्पन्न होकर नाम-सिमरन की महिमा को अनुभव कर लेता है।

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते, सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते स सोमलोकं; स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्त्तते ॥४॥

और यदि कोई उपासक द्विमात्रा से नाम का ध्यान करे, वाचिक तथा मानस दोनों मात्राओं से नाम जपे तो वह उपासक मन में लीन होने लग जाता है। उसका मन स्थिर हो जाता है। ऐसी एकाग्रता से वह आकाशस्थ सोमलोक को यजुर्मन्त्रों द्वारा ले जाया जाता है। वह कर्मकाण्डी सूक्ष्मलोक में वास करता है। वह सोम-लोक में नाम-जाप की विभूति—ऐश्वर्य को अनुभव करके फिर मनुष्यजन्म में लौट आता है।

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत, स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते, एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः, स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्। स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते। तदेतौ श्लोकौ भवतः ॥५॥

फिर जो इस नाम को त्रिमात्रा से, मनसा, वाचा और भाव से ओम् इस अक्षर से परब्रह्म पुरुष को चिंतन करे, तो वह उपासक प्रकाश तथा सूर्य में संप्राप्त होता है। उसका आत्मा आत्मिक प्रकाश तथा सूर्य में मग्न हो जाता है। जैसे साँप केंचुली से छूट जाता है, निश्चय से ऐसे ही वह उपासक पाप से मुक्त हो जाता है। उस

अवस्था में वह साममन्त्रों द्वारा—हरिकीर्तन से ब्रह्मलोक को ले जाया जाता है। तब वह इस जीवमयलोक से ऊपर, पर से पर अर्थात् परम, ब्रह्माण्डपति पुरुष को देखता है। ऐसा ध्यानी उपासक, परमेश्वर के परस्वरूप—वाचक के वाच्य को प्राप्त करता है। इस पर ये दो श्लोक हैं।

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ॥६॥

तीन मात्राएं—ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत वा उदात्त, अनुदात्त, स्वरित ये उच्चारणमात्र में मृत्युवाली हैं। केवल स्वर में गाना नष्ट हो जाता है। ये मात्राएं एक दूसरी से मिली हुई हैं, पृथक् नहीं हैं। स्वर की किसी मात्रा में नाम गायें वह गाना ही है। उसका अमरफल नहीं मिलता। परन्तु बाह्य—वाचिक, आभ्यन्तर—मानस तथा मध्यम भावना इन तीन क्रियाओं में—अध्यात्म-मात्राओं में भली भांति ध्यान हो तो चैतन्य आत्मा नहीं चलायमान होता।

अध्यात्मवाद में नाम की तीन मात्राएं वाचिक, मानस और भावमय जाप हैं। भावमय जाप का नाम ही एकाग्रता है। नाम में एकाकार वृत्ति का हो जाना एकाग्रता है। ध्याता, ध्येय और ध्यान की समता ही भावमय जाप है। इस जाप में आत्मा स्थिर हो जाता है और अपर ब्रह्म-नाम से परब्रह्म-नामी को प्राप्त कर लेता है।

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं स सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते।
तमोंकारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्। यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति ॥७॥

उपासक ऋक् के मन्त्रों से मानवलोक को प्राप्त करता है। यजुमन्त्रों से सूक्ष्म-लोक को जाता है और साममन्त्रों से वह लोक पाता है जिसे ज्ञानीजन जानते हैं। परन्तु उस लोक को—परमेश्वरधाम को ओंकार से ही, भगवद्-नाम के सहारे से ही विद्वान् जाता है। और उस धाम को जाता है जो शान्त, अजर, अमृत, अभय और परम है। ऊपर के पाठ में नाम-माहात्म्य दर्शाया गया है; भक्ति-धर्म का फल वर्णन किया गया है।

छठा प्रश्न

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ। भगवन्! हिरण्यनाभः कौसल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत्। षोडशकलं भारद्वाज! पुरुषं वेत्थ? तमहं कुमारमब्रुवं, नाहमिमं वेद। यद्यहमिममवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति। समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति। तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुम् स तूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज। तं त्वा पृच्छामि क्वासौ पुरुष इति ॥१॥

फिर पिप्पलाद को सुकेश भारद्वाज ने पूछा—हे भगवन्! कोसल—अयोध्या के राजपुत्र हिरण्यनाभ ने मेरे पास आकर यह प्रश्न पूछा, हे भारद्वाज! तू सोलह कला वाले पुरुष को जानता है? उस कुमार को मैंने कहा कि मैं इस पुरुष को नहीं जानता। यदि मैं इसे जानता होता तो तुझे कैसे न कह देता। वह समूल सूख जाता है जो झूठ बोलता है। इस कारण मैं झूठ नहीं बोल सकता। यह सुन कर, वह चुपचाप रथ पर चढ़ कर चला गया। अब वह प्रश्न, मैं तुझ से पूछता हूं कि सोलह कला वाला पुरुष कहां है?

तस्मै स होवाच, इहैवान्तः शरीरे, सोम्य! स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडश कलाः प्रभवन्तीति ॥२॥

उसको उसने उत्तर दिया—हे सोम्य! इसी मानवी शरीर में वह पुरुष है, जिसमें ये सोलह कलाएं प्रकट होती हैं। जिस पुरुष में सोलह कला का विकास होता है वह मानवदेह में ही जाना जाता है।

स ईक्षांचक्रे; कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि।
कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति ॥३॥

उसने चिन्तन किया कि किसके निकलने—प्रकट होने पर मैं अभिव्यक्त हो जाऊंगा। और किसके स्थिर होने पर मैं स्थिरता में रहूंगा।

ईश्वर-इच्छा का नाम ही यहां ईक्षण है। हरीच्छा से जगत् का प्रादुर्भाव हुआ यह ही मुनि के कथन का तात्पर्य है।

स प्राणमसृजत; प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियम्।
मनोऽन्नम्, अन्नाद्वीर्यं, तपो, मन्त्राः, कर्म, लोकाः, लोकेषु च नाम च ॥४॥

उस सर्वशक्तिमान् भगवान् ने अपनी इच्छा से प्राण—जगत् के नियम को, जगत् की जीवनशक्ति को स्फुरित किया। उस प्राण से सत्य धारण करने के भाव को रचा। उसके अनन्तर आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी और इन्द्रियां उसने रचीं। तदनन्तर मन रचा। फिर अन्न सृजा। अन्न से शक्ति रची। फिर तप—ज्ञान रचा। तत्पश्चात् मन्त्र अर्थात् श्रुतियां प्रकट कीं। उसके पश्चात् कर्म, लोक और लोकों में नाम रचा गया।

ऊपर के पाठ का आशय यह है कि भगवदिच्छा से सब से प्रथम प्राण-शक्ति—भाव तथा सद्रूपत्व रचा गया, प्रकट हुआ। फिर सत्य को धारण करने का भाव, सत्य के ज्ञान का आधार चेतनत्व, सजीवत्व अभिव्यक्तता में आया। तत्पश्चात् ईश्वर की इच्छा से रयिरूप जड़प्रकृति—विकारमय जगत् व्यक्त हो गया। प्राण-प्रकृति, चेतनजड़ तथा भावाभावरूप सोलह कलाओं का यह अखिल विश्व है। इन सोलह कलाओं

में परम पुरुष का संकल्प स्फुरित है, विकासबीज है। अत एव वह परमेश्वर सोलह-कलावान् है। समष्टि देह का आत्मा-पुरुष, विराट्स्वरूप और व्यष्टिदेह का पुरुष दोनों सोलह कलाओं में अभिव्यक्त होते हैं।

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे; समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे; पुरुष इत्येवं प्रोच्यते। स एषोऽकलोऽमृतो भवति। तदेष श्लोकः ॥५॥

इस पर वह दृष्टान्त है कि जैसे ये नदियां बहती हुई समुद्र की ओर जाती हैं; समुद्र को पहुंच कर उस में लीन हो जाती हैं। उस समय उनके नाम-रूप भेदने हो जाते हैं। उनको समुद्र ही कहा जाता है। इसी प्रकार इस सर्वसाक्षी की, ये ऊपर कही गई सोलह कलाएँ उसी साक्षी से उत्क्रान्त होकर उसी की ओर गमन करती हैं। लयकाल में उसी पुरुष को पहुँचे कर लीन हो जाती हैं। उनके नाम-रूप नहीं रहते। उस समय केवल पुरुष ही अव्यक्त अवस्था में कहा जाता है और कलाएँ कारण में लीन हो जाती हैं। अव्यक्त अवस्था में वह यह पुरुष अकल और अमृत होता है। इस पर यह श्लोक है।

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन् प्रतिष्ठिताः।
तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति ॥६॥

रथ की धुरी में अरों की भांति, जिस ईश्वर में सब कलाएँ ठहरी हुई हैं, उस जानने योग्य पुरुष को तुम जानो; जिससे तुमको मृत्यु न पीड़ित करे।

तान् होवाच, एतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद। नातः परमस्तीति ॥७॥

महात्मा पिप्पलाद उन शिष्यों को बोला—मैं इतना ही इस पर ब्रह्म परमेश्वर को जानता हूं। इससे ऊपर जानने योग्य कुछ भी नहीं है। परमेश्वर ही जानने योग्य है।

ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति। नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥८॥

उस पिप्पलाद को पूजते हुए वे विनीत शिष्य बोले—तू ही हमारा पिता है जो हमें अविद्या से परले पार—ज्ञान के किनारे पर तार कर ले जा रहा है। परम ऋषियों को नमस्कार हो।

अथर्ववेदीया प्रश्नोपनिषत् समाप्ता।

अथर्ववेदीया

मुण्डकोपनिषद् अथर्ववेद की उपनिषद् है। इसका नाम मुण्डक इस लिए पड़ा कि इसमें सिर की—उत्तम कोटि की परा विद्या का वर्णन है। यह शीर्षस्थानीय शिक्षा है। अथवा इस उपनिषद् की विद्या पाप-ताप को मूण्डने वाली है; जन्म-बन्ध की नाशिका है। इसका उपदेष्टा अंगिरा है। इसका जानने, समझने तथा पूछने वाला शौनक है, जो ब्रह्मविद्या में पारंगत गृहस्थी था। उसने सद्गुरुकृपा से भगवान् का नाम-आराधन करके ब्रह्म तथा आत्मतत्त्व को जाना था। इस उपनिषद् के छः खण्ड हैं।

पहला मुण्डक। पहला खण्ड

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव, विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥१॥

देवों में मुख्य देव ब्रह्मा है। वह सारे जगत् का कर्ता और भुवनों का रक्षक है। उसने सब विद्याओं में प्रधान ब्रह्मविद्या ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को कही।

परमेश्वर के सभी मनुष्य पुत्र हैं परन्तु जो भजन, भक्ति, भावना तथा आराधना में आगे बढ़ा हुआ हो वह भक्तों में ज्येष्ठ माना जाता है। अथर्वा ऋषि ऐसा ही गुणवान् सन्त था।

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्मा, अथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्।
स भारद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह, भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥२॥

ब्रह्मा ने जो ब्रह्मविद्या अथर्वा को कही थी वह ब्रह्मविद्या अथर्वा ने पूर्वकाल में अंगिरस को बताई। उसने भरद्वाजगोत्री सत्यवाह को बताई। भारद्वाज ने परावरा—परमश्रेष्ठ ब्रह्मविद्या अंगिरा को कही।

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ।
कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ॥३॥

प्राचीन काल में बड़े धन-धान्य वाले कुटुम्बी शौनक ने विधिपूर्वक-विनयप्रदर्शन

तथा नम्र नमस्कारपूर्वक, अंगिरों के पास जाकर पूँछा। भगवन ! किस वस्तु के जानने पर यह सारा विश्व जाना जाता है।

तस्मै स होवाच द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति, परा चैवापरा च ॥४॥

उसने उसे कहा, ब्रह्म के जानने वाले कहते हैं कि दो विद्याएं जानने योग्य हैं। वे परा और अपरा हैं।

तत्रापरा, ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः, शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा, यया तदक्षरमधिगम्यते ॥५॥

उन में अपरा विद्या—लौकिक विद्या, ऋग्वेद, यजुर्वेद, साम और अथर्ववेद हैं। ऐसे ही शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष शास्त्र भी अपरा विद्या हैं। और परा वह विद्या है, जिस से वह अविनाशी आत्मा—ब्रह्म जाना जाता है।

यहां अपरा से न परा तात्पर्य है। व्यावहारिक ज्ञान का नाम अपरा विद्या है। और पारमार्थिक ज्ञान परा विद्या कहा है। परा का अर्थ है सर्वश्रेष्ठ विद्या। वह भगवान् की भक्ति तथा आराधना है। इसी से अक्षर—अविनाशी पद की प्राप्ति होती है।

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥६॥

वह जो अक्षर है उसको अदृश्य, ग्रहण न होने वाला, अजन्मा, रंगरूपरहित, आंख-कानरहित तथा हाथ-पांव से हीन, नित्य, समर्थ, सर्वत्र विद्यमान, अत्यन्त सूक्ष्म तथा अपरिवर्त्तनशील और सारे जगत् का कारण धीर जन जानते हैं। यह परब्रह्म का वर्णन है।

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि, तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् ॥७॥

अविनाशी पुरुष से सृष्टि का प्रकाश कैसे होता है यह दर्शाते हुए अंगिरा ने कहा—जैसे मकड़ी जाले को रचती और निगल जाती है, जैसे भूमि में वनस्पतियां उत्पन्न होती हैं और जैसे जीवित पुरुष से सिर तथा शरीर के बाल निकलते हैं, ऐसे ही अक्षर हरि से यह विश्व प्रकट होता है।

जैसे मकड़ी में जाले की सामग्री सूक्ष्मरूप में होती है उस से वह जाला रचती है और फिर उसे निगल भी लेती है, इसी प्रकार परमपुरुष में प्रकृति कल्पनातीत प्रकार से रहती है। उसी से भगवान् सृष्टि का सर्जन तथा संहार करता है। जैसे भूमि में

वनस्पतियां अंकुरित हो जाती हैं ऐसे ही भगवान् की विद्यमानता में लोक-लोकान्तर का विकास हो जाता है। और जैसे जीवित मनुष्य की देह में केश तथा लोम निकलते हैं इसी प्रकार अविनाशी प्रभु से इस ब्रह्माण्ड का उदय होता है। हरि की इच्छा प्रकृति में प्रवेश करके उसमें क्रिया उत्पन्न करती है। उसी आदि-संकल्प से संचालित प्रकृति, नाना रूप-रंग, आकार-प्रकार आदि को जन्म दे रही है। वास्तव में, इस में भगवान् की इच्छा बीज बनी हुई है।

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते ।
अन्नात् प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥८॥

परमेश्वर अपने ज्ञान—इच्छा से प्रकृति में प्रकट हुआ। उसी—हरि-इच्छा से भोग्यरूप प्राकृत जगत् उत्पन्न हुआ। अन्न से जीवन फिर मनोवृत्तियां, बुद्धि, कर्मफल भोगने के लोक और फिर सत्कर्मों में अमृत—मोक्षपद का विकास हो गया।

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते ॥९॥

जो भगवान् सर्वज्ञाता तथा सर्वसाक्षी है और जिस परमेश्वर का ज्ञान ही तप है, उस से यह महान्, नामरूपवाला भोग्य जगत् प्रकट होता है। जो खाया जाय उस का नाम अन्न है। विकाररूप जगत् काल तथा जीवसमूह से खाया जाता है इस कारण इसे अन्न कहा गया है।

दूसरा खण्ड

तदेतत् सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि ।
तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके ॥१॥

सो यह सत्य है कि वैदिक मन्त्रों में जो कर्म—यज्ञ-योग आदि ज्ञानी जन देखते हैं। वे कर्म तीनों वेदों में बहुत प्रकार से वर्णित हैं। उन कर्मों को नियम से करो। सत्य की कामना करने वालो! पुण्य के लोक में तुम्हारा यह ही मार्ग है।

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने ।
तदाज्यभागावन्तरेणाहुतीः प्रतिपादयेत् ॥२॥

अग्निहोत्र कर्म का वर्णन करते हुए अंगिरा ने कहा—जब प्रदीप्त अग्नि में अग्नि-शिखा खेलने लग जाय, तब तपे हुए घी की दो आहुतियों के बीच में अन्य आहुतियां उसमें डाले।

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितं च ।
अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुतमश्रद्धया हुतमासप्तमांस्तस्य लोकान् हिनस्ति ॥३॥

जिस जन का अग्निहोत्र दर्श, पौर्णमास और चातुर्मास्य में नहीं होता; नवान्न के समय नहीं होता और अतिथियों से रहित है, निरन्तर नहीं किया जाता, वैश्वदेव से रहित है, अविधि से किया जाता है, अश्रद्धा से किया जाता है, उसके सातों लोक वह अग्निहोत्र नष्ट कर देता है । उसको कर्मफल प्राप्त नहीं होता ।

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा ।
विस्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥४॥

अग्निहोत्र की अग्नि सात जीभों वाली है । उसकी एक जीभ काली है, दूसरी भयंकर, तीसरी मन की भान्ति चंचल, चौथी लाल, पांचवीं जो धूएं के रंग की है, छठी चिनगारियों वाली और सातवीं नाना शोभा वाली है। ऐसी देवी अग्निहोत्र में लपटें मारती हुई, इस प्रकार, सात जीभों वाली दीखती है ।

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन् ।
तं नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो, यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ॥५॥

इन चमकती हुई शिखाओं में ठीक समय पर, आहुतियां देता हुआ जो कर्म करता है, उस यजमान को ये शिखाएं सूर्य की किरणें बन कर वहां ले जाती हैं जहां देवों का स्वामी एक ईश्वर रहता है ।

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति ।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥६॥

वे आहुतियां, आओ आओ कहती हुई, तेजस्वी सूर्य की किरणों द्वारा उस यजमान को उठा कर ले जाती हैं। प्यारी वाणी बोलती हुई और पूजती हुई उसको कहती हैं—यह तुम्हारा पवित्र, शुभकर्मों से उपार्जित ब्रह्मलोक है, जिसको तुम ने पा लिया है।

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म ।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति ॥७॥

ये यज्ञरूप नौकाएं, जिन में अठारह दूसरे कर्म कहे हैं, अदृढ हैं। संसार-सागर तारने में असमर्थ हैं । यह कोरा यज्ञ ही कल्याण का कारण है, ऐसी जो मूढ प्रशंसा करते हैं, भक्तिधर्म की अवज्ञा के कारण, वे बुढ़ापे तथा मृत्यु को फिर फिर पाते हैं।

यज्ञ-याजन ब्रह्मलोक का दाता तब है जब उसके साथ भगवान् की भक्ति हो।

केवल यज्ञकर्म मुक्ति का दाता नहीं है उस का फल नाशवान् तथा शुभजन्ममात्र होता है।

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयंधीराः पण्डितंमन्यमानाः ।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥८॥

वे मूढ कर्मकलाप के भीतर रहते हुए, अपने आप को धीर तथा पण्डित मानते हुए, अभिमानी हो जाते हैं। ऐसे मूढ नाना कर्मों में हनन होते हुए भटकते रहते हैं कल्याण का पथ नहीं पाते। ऐसे भटकते हैं, अन्धे मनुष्य से चलाए हुए जैसे अन्धे भटका करते हैं।

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः ।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥९॥

मूढजन भक्तिहीन कर्मकाण्ड में नाना प्रकार से लगे रहते हैं। मिथ्या अभिमान-वश हम कृतार्थ हो गये हैं ऐसा मानने लग जाते हैं। जिस कारण राग से—कर्मफल आसक्ति से कर्म करने वाले परमात्म-महिमा को नहीं जानते। उसी कर्मानुराग से दुःखी होकर पुण्यफल के लोक को भोग कर गिर जाते हैं।

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं, नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥१०॥

यज्ञ-याजन को इष्ट कहा है और कूप-आराम आदि कर्मों को पूर्त्त कहा है। जो भक्तिहीन इष्टापूर्त्त को ही सर्वोत्तम मानते हैं, अन्य कल्याण का मार्ग नहीं है ऐसा जो मूढ जन जानते हैं, स्वर्ग के ऊपर वे पुण्यफल भोग कर इस हीनतर—दुःखमय लोक को प्राप्त होते हैं। कोरे यजन-कर्म को इस में अल्पफलप्रद कहा है।

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः ।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥११॥

जो मुनिजन तप और श्रद्धा धारण करके वन में वास करते हैं, जो शान्त विद्वान् गृहस्थ हैं तथा जो भिक्षुजन भिक्षाव्रत धारण करके रहते हैं, वे सभी भगवद्भक्त निष्पाप मर कर सूर्यद्वार से वहां जाते हैं जहां वह अमृत अविनाशी आत्मा परमपुरुष है।

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥१२॥

यज्ञादि कर्मों से प्राप्त लोकों को अनित्य जान कर, ज्ञानी उन लोकों से वैराग्य प्राप्त करे; उनकी इच्छा न करे। और यह निश्चित जाने कि अविनाशी आत्मा किये हुए यज्ञ से नहीं प्राप्त होता, वह तो भक्ति से प्राप्य है। उस अविनाशी के जानने के लिए वह जिज्ञासु हाथ में भेंट ले कर, किसी ऐसे गुरु के पास जाय जो वेदज्ञाता और ब्रह्म में रहने वाला हो।

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय ।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥१३॥

वह विद्वान् गुरु, उस पास आये हुए, भली भांति स्थिर चित्तवाले शान्तियुक्त शिष्य को रहस्यसहित वह ब्रह्मविद्या बताये, जिससे शिष्य सत्य, अविनाशी पुरुष को जान जाय। जिससे उसे सत्य धाम की उपलब्धि हो जाय।

दूसरा मुण्डक । पहला खण्ड

तदेतत्सत्यं, यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाक्षराद् द्विविधाः सोम्य ! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥१॥

अनन्त ईश्वर से ही सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा लीनता दर्शाते हुए अंगिरा ने कहा—सो यह सत्य है। जैसे प्रचण्ड अग्नि से, सहस्रों समानरूप वाली चिंनगारियां उत्पन्न होती हैं, ऐसे ही हे प्यारे ! अविनाशी भगवान् से नाना पदार्थ प्रकट होते हैं और उसी में लय हो जाते हैं।

दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥२॥

वह अविनाशी भगवान् दिव्य, अमूर्त्त, पुरुष है। वह संसार के बाहर भीतर विद्यमान अजन्मा है। वह प्राण और मनोवृत्ति से रहित है, शुद्ध है, उत्कृष्ट पद से भी ऊपर है।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥३॥

उसी भगवान् से प्राण—जीवन उत्पन्न होता है। मनोवृत्ति और सब इन्द्रियां भी उसी से उत्पन्न होती हैं। आकाश, वायु; अग्नि, जल और सबको धारण करने वाली पृथिवी भी।

अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥४॥

पुरुष का विराट् स्वरूप वर्णन करते मुनि ने कहा—द्युलोक इस पुरुष का सिर है। चन्द्र-सूर्य नेत्र हैं। दिशाएं कान और वाणी विस्तृत वेद हैं। वायु इसका प्राण है और इसका हृदय विश्व है। दोनों पैर भूमि है। यह पुरुष सब भूतों का अन्तरात्मा है।

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः सोमात्पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम् ।
पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात्संप्रसूताः ॥५॥

जिसकी समिधा सूर्य है, वह अग्नि उससे हुई। सोम से बादल बने और भूमि में वनस्पतियां उससे हुई। स्त्री में पुरुष वीर्य सींचता है। इस प्रकार बहुत सी प्रजाएँ उस पुरुष से उत्पन्न हुई।

तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च ।
संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः ॥६॥

उस पुरुष से ऋग्वेद के मन्त्र, साम-यजु के मन्त्र, दीक्षा, नानायज्ञ, सब कर्म और दक्षिणाएँ हुई। उससे काल हुआ, यजमान हुआ और वे लोक हुए जिनें में चांद पावन करता है और जिनें में सूर्य चमकता है।

तस्माच्च देवा बहुधा संप्रसूताः, साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि ।
प्राणापानौ व्रीहियवौ, तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥७॥

उस पुरुष से अनेक प्रकार के देव उत्पन्न हुए। उसी से साधनशील देव, मनुष्य, पशु और पक्षी उत्पन्न हुए। उसी से श्वांस-प्रश्वास चांवल तथा जौ आदि अन्न उपजे। उसी से तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य और कर्तव्य विधि का विस्तार हुआ।

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्, सप्तार्चिषः सप्त समिधः सप्त होमाः ।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥८॥

उस पुरुष से दो श्रोत्र, दो नासिका के छिद्र, दो नेत्र और एक वाणी ये सात प्राण प्रकट हुए। उससे सात ज्वालाएं—प्राणों का प्रकाश हुआ। सात विषय और सात प्रकार का विषय-भोग हुआ। उससे सात ये लोक प्राणों के स्थान हुए कि जिनें में सात इन्द्रियों में रहने वाले सात सात प्राण विचरते हैं।

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः ।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसाश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥९॥

इस पुरुष से समुद्र और सारे पर्वत प्रकट हुए। इससे सारे रूपों वाली नदियां बहती हैं। इससे सारे अन्न और रस उत्पन्न हुए जिसे रस और सूक्ष्म पांचें भूतों से घिरा हुआ यह स्थूलदेहस्थ आत्मा रहता है।

पुरुष एवेदं विश्वं, कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् ।
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थि विकिरतीह सोम्य! ॥१०॥

पुरुष ही यह सब है। कर्म, तप, वेद और परम अमृत—मुक्ति भी भगवान् के आश्रित है। जो ज्ञानी इस अन्तःकरण—बुद्धि में छुपे भेद को जानता है। हे प्यारे! वह इस लोक में अविद्या की गांठ को काट देता है। उस ज्ञानी का कर्मबन्ध नष्ट हो जाता है।

दूसरा खण्ड

आविः संनिहितं गुहाचरं नाम, महत्पदमत्रैतत् समर्पितम् ।
एजत्प्राणन्निमिषच्च, यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं, परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम् ॥१॥

इस खण्ड में भगवान् का वर्णन करते हुए मुनि ने कहा—वह ईश्वर अपने किए हुए आकृतिमान् जगत् में प्रकट है, अत्यन्त ही समीप है, सबका साक्षी और प्रसिद्ध है। वह परम धाम है। इस में यह गतिमान् जगत् प्राण लेने वाला तथा आंख झपकने वाला संसार पिरोया हुआ है। सो यह भगवान् जानो, वह मूर्त और अमूर्त पदार्थों से ऊपर है, इन्द्रियजन्य ज्ञान से श्रेष्ठ है, जो भगवान् प्रजाओं में सर्वोत्तम है।

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु च यस्मिल्लोका निहिता लोकिनश्च ।
तदेतदक्षरं ब्रह्म, स प्राणस्तदु वाङ् मनः, तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि ।२।

वह ईश्वर प्रकाशमय है। वह सूक्ष्म पदार्थों से सूक्ष्म है उसमें सब लोक और लोकवासी निवास करते हैं। वह यह अविनाशी महान् है। वह प्राण, वही वाणी और मन है। वह यह सत्य है, वह अमृत है वह बीन्धने योग्य है, उसी में ध्यान लगाना चाहिए। हे प्यारे! उसी में ध्यान लगा।

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं संदधीत ।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य! विद्धि ॥३॥

ध्यान की विधि बताते हुए ऋषि ने कहा—उपनिषद् द्वारा वर्णित ब्रह्मविद्या, महा-अस्त्ररूप धनुष को पकड़ कर, उसमें उपासनारूप तीखा तीर लगा। परमेश्वर में तन्मय चित्त से धनुष को खींच कर, हे प्यारे! उसी अविनाशी लक्ष्य को बींध। उसी भगवान् में ध्यान लगा।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥४॥

उसी ध्यान विषय को दुहराते हुए अंगिरा बोला—भगवान् का नाम धनुष है। अभ्यासी भक्त का आत्मा बाण है और ब्रह्म वह लक्ष्य कहा है। दुष्ट कर्मरूप प्रसाद को त्याग कर सावधानी से उसे बींधना चाहिए। लक्ष्य में बाण की भांति अभ्यासी नाम-ध्यान में तन्मय हो जावे। नाम-ध्वनि में वृत्ति को जोड़े।

यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः ॥५॥

जिस परमेश्वर में सौरलोक, पृथिवी और आकाश पिरोया हुआ है, तथा जिसमें मन सब इन्द्रियों के साथ पिरोया हुआ है, उसी एक अन्तर्यामी आत्मा को जानो। दूसरी वाणियां, जो भगवान का वर्णन नहीं करतीं, छोड़ दो। यह परमेश्वर अमृत का पुल है।

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः। स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः।
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ॥६॥

रथनाभि में अरों की भांति जहां नाड़ियां जुड़ी हुई हैं वहां हृदय में, वह यह आत्मा, अनेक विकासों से भीतर प्रकट होता है। ओम् ऐसे उस आत्मा का सिमरन करो। अज्ञानान्धकार से परे, पार उतरने के लिए तुम्हारा कल्याण हो।

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः। मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं संनिधाय। तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद् विभाति ॥७॥

जो सबको जानता और सबका साक्षी है, जिसकी यह महिमा, भूमि पर और दिव्य ब्रह्मपुर में—मुक्ति में है, वह यह आत्मा हृदयाकाश में विराजमान है। वह मनकी भांति इन्द्रियों और देहों का संचालक है। वह प्रकृति में निवास करता है। उस भगवान् को, हृदय में धारण करके धीर जन अपने आत्मा से देखते हैं। वह आनन्द-रूप और अमृत है। वह प्रकाशरूप है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥८॥

परमात्म-ज्ञान का लाभ दर्शाते हुए अंगिरा ने कहा—उस पर-अपर—वाच्य-वाचक को जान लेने पर, हृदय की अविद्या की गांठ भेदन हो जाती है; सब संशय छेदन हो जाते हैं, और भक्त के कर्म क्षय हो जाया करते हैं।

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ॥९॥

प्रकाशमय परम कोश—हृदयाकाश में निर्मल और निष्कल ब्रह्म विराजमान है। वह शुद्ध है, ज्योतियों की ज्योति है। उसको जो आत्मज्ञानी हैं वे जानते हैं।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ १० ॥

उस ब्रह्म को न सूर्य प्रकाशित करता है, न चांद-तारागण, न ये बिजलियां उसे प्रकाशित करती हैं तो यह आग कहां से प्रकाश दे। वास्तव में उसी के प्रकाशमान होने से सब प्रकाशित होते हैं। उसकी ही ज्योति इस सारे जगत् को प्रकाशित करती है।

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥११॥

भगवान् को प्रकाशमान जानने वाला ऐसी धारणा करे कि यह अविनाशी ब्रह्म ही है। मेरे आगे ब्रह्म है, पीछे ब्रह्म है, दक्षिण को और उत्तर को ब्रह्म है, मेरे नीचे तथा ऊपर फैला हुआ ब्रह्म ही है, यह विश्व ब्रह्म से ओत-प्रोत है और यह जो कुछ श्रेष्ठतम है वह ब्रह्म का प्रकाश है। सर्वत्र ब्रह्म-भावना करे।

तीसरा मुण्डक। पहला खण्ड।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥१॥

अंगिरा ने उपासना का वर्णन करने के अनन्तर उपास्य-उपासक का संबन्ध बताया कि दो सुपर्ण—पक्षी हैं। वे परस्पर घनिष्ठ प्रेम से मिले हुए सखा हैं और एक ही समान वृक्ष को आलिंगन किये हुए हैं। उनमें एक उस प्रकृतिरूप पेड़ के स्वादु फल को खाता है और दूसरा न खाता हुआ केवल देखता है।

प्रकृति महावृक्ष है। इस पर भगवान् और जीवात्मा दोनों आरूढ हैं। आत्मा परमात्मा का सम्बन्ध स्वाभाविक और सनातन है तथा सखापन का है। भेद उनमें इतना है कि जीवात्मा प्रकृति के अनुकूल फलों को भोगता है जिससे वह दुःखी हो जाता है और परमेश्वर केवल साक्षी बना रहता है।

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥२॥

उसी एक पेड़ पर पुरुष — जीवात्मा भोगों में निमग्न—कर्म में बन्धा जाकर, अपनी असमर्थता से मोह में पड़ा शोक करता है। जब दूसरे—अपने से भिन्न ईश्वर को अपना सखा देखता है और उसकी अपार दयादि महिमा को जानता है तो शोकरहित हो जाता है। दोनों में अल्पज्ञ और सर्वज्ञ होने का भेद है।

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥३॥

जब देखने वाला आत्मा, ज्योतिस्वरूप, कर्त्ता ईश्वर को, परमपुरुष को और ज्ञान के स्रोत को देखता है। तब वह विद्वान् पुण्य-पाप के बन्ध को छोड़ कर निर्मल हो भगवान् की परम समता को प्राप्त करता है। ईश्वरज्ञान को पाकर आत्मा निर्मल हो जाता है और ब्राह्मी स्थिति को लाभ कर लेता है।

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति, विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी ।
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥४॥

यह जो परमेश्वर सब भूतों—कार्यमय जगत् से कर्त्तारूप प्रकट हो रहा है वह प्राण है; सारे विश्व की स्थिति तथा सत्ता है। यह जानता हुआ ज्ञानी अधिक नहीं बोलता। वह आत्मा में क्रीडा करने वाला, आत्मा में प्रसन्नता मनाने वाला, कर्तव्य-शील भक्त, ब्रह्मज्ञानियों में उत्तम है।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥५॥

यह भगवान् सदा सत्य से, यथार्थज्ञान से, तप से तथा ब्रह्मचर्य से प्राप्त किया जाता है। वह परमेश्वर शरीर के भीतर प्रकाशमय और शुद्ध है; अर्थात् सब के भीतर पवित्र साक्षी है। उस ईश्वर को निर्दोष यतिजन देखते हैं।

सत्यमेव जयते नानृतं, सत्येन पन्था विततो देवयानः ।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥६॥

सत्य की ही जय होती है, झूंठ की नहीं। देवों का स्वर्गीय मार्ग भी सत्य से ही फैला है, सत्य ही से धर्म का विस्तार हुआ है। जिस मार्ग से पूर्णकाम ऋषिजन चलते हैं वह सत्य है। जहां वे पहुँचते हैं वह सत्य का परम निधि ब्रह्मधाम है।

बृहच्च तद् दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति ।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥७॥

वह सत्य का निधान भगवान् महान् है। वह दिव्य है। वह अचिन्त्यस्वरूप और सूक्ष्म से वह सूक्ष्मतम है तथा प्रकाशमान है। दूर से अतिदूर और वह यहां ही समीप है। देखने वालों के लिए वह यहां ही अन्तःकरण में विराजमान है। परमेश्वर ज्ञानियों और भक्तों में ही विद्यमान रहता है।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥८॥

अन्तःकरण में दीखने वाला वह ईश्वर आंख से नहीं ग्रहण होता, न ही वाणी से ग्रहण किया जाता है। वह न अन्य इन्द्रियों से जाना जाता है, न ही तप से और न कर्मों से। परन्तु यथार्थज्ञान की निर्मलता से, पवित्रबुद्धियुक्त होकर मनुष्य तदनन्तर भगवान् का ध्यान करता हुआ, उस निराकार को देखता है।

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश ।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥९॥

यह निरवयव सूक्ष्म परमात्मा उस चित्त से जानना चाहिए, जिस में पांच प्रकार से प्राण प्रवेश किये हुए है। प्राणों से प्रजाओं का वह सारा चित्त ओत-प्रोत है जिसके विशुद्ध हो जाने पर यह परमात्मा अपने स्वरूप को प्रकाशित करता है।

यं यं लोकं मनसा संविभाति, विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान् ।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः ॥१०॥

शुद्ध अन्तःकरण वाला भक्त जिस जिस लोकप्राप्ति को मन से चिन्तन करता है, और जिन मनोरथों की कामना करता है, वह उस उस लोक को और उन अभिवाञ्छित पदार्थों को जीत लेता है। उसे वे सब मिल जाते हैं। इस लिए ऐश्वर्य चाहने वाला—मोक्षाभिलाषी जन आत्मज्ञाता की पूजा करे। सत्संग से सकल-मनोरथ-सिद्धि समझे।

दूसरा खण्ड

स वेदैतत्परमं ब्रह्मधाम, यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् ।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्त्तन्ति धीराः ॥१॥

इस परम ब्रह्मधाम को वह सत्संगी आत्मा का ज्ञाता ही जानता है, जिस ब्रह्म धाम में सारा विश्व रहता है और जो शुद्ध प्रकाश से प्रकाशित हो रहा है । जो निष्काम भक्त जन उस परम पुरुष को भजते हैं, वे धीर इस जन्म के बीज को लांघ जाते हैं वे जन्म-मरण से पार पा जाते हैं ।

कामान् यः कामयते मन्यमानः, स कामभिर्जायते तत्र तत्र ।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु, इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥२॥

जो मनुष्य सांसारिक सुखों को चिन्तन करता हुआ विषय-जन्य काम्य पदार्थों की कामना करता है, वह उन कामनाओं से घिर कर वहीं वहीं जन्म लेता है । वह संसारचक्र में ही पड़ा फिरा करता है । परन्तु पूर्णकाम और आत्मज्ञानी के सब विषय मनोरथ, इसी जन्म में ही लय हो जाते हैं ।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥३॥

यह पूर्ववर्णित भगवान् ग्रन्थों के पाठ से नहीं मिलता; न बुद्धि से और न बहुत सुनने—पढ़ने से मिलता है । जिस भक्त को यह हरि वरता है, जिस पर भगवान् अनुग्रह करता है वही उसे पाता है, ऐसे कृपापात्र पुरुष पर यह परमात्मा अपने आप को प्रकट करता है । भक्त को भगवान् अपना तेजोमय स्वरूप दिखाता है ।

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात् ।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥४॥

यह परमात्मा बलहीन जन से नहीं जाना जाता और न प्रमाद से—कर्म त्याग से, न तप से और न चिह्नत्याग—संन्यास से मिलता है । जो विद्वान इन बल, कर्म, नियम और कर्तव्यपालन आदि उपायों से भजन अभ्यास करता है, उसका यह स्वात्मा ब्रह्म-धाम में प्रवेश करता है । साधनशील पर हरिकृपा का प्रकाश होता है ।

संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः ।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ॥५॥

ऋषिजन इस भगवान् को पाकर ज्ञान से तृप्त, आत्मज्ञाता, वीतराग और सर्वप्रकार से शान्त हो जाते हैं। वे आत्मदर्शी धीर ऋषिजन सर्वत्र विद्यमान भगवान् को सब ओर से पा कर उसके सारे स्वरूप में प्रवेश कर लेते हैं। वे प्रभु के सारे स्वरूप को जान लेते हैं।

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः, संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥६॥

यति जन, वेदान्त के रहस्य में निश्चित अर्थ वाले, संन्यासयोग से—भक्तिमय धर्म से शुद्ध अन्तःकरण वाले वे सब ही परम अमृत होकर परम अन्तकाल में—अन्तिम मरण के समय ब्रह्मलोकों में मुक्त हो जाते हैं। ईश्वर के धाम में मुक्त होकर रहते हैं।

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥७॥

उन मुक्त जीवों की, आत्मा से भिन्न पन्द्रह कलाएं अपने कारण में जा कर प्रतिष्ठा—स्थिति पाती हैं; सारी इन्द्रियां सूर्यादि में लय हो जाती हैं; कर्म और विज्ञानमय आत्मा परम अविनाशी परमेश्वर में सब एक हो जाते हैं। आत्मा के संस्कार तथा चेतना अनन्त भगवान् में शान्त भाव को लाभ करते हैं।

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥८॥

जैसे बहती हुई नदियां समुद्र में पहुँच कर, नाम-रूप त्याग कर उसमें लीन हो जाती हैं, ऐसे ही ज्ञानी मनुष्य मुक्त दशा में नाम-रूप से रहित होकर अत्यन्त उत्तम और दिव्य परमेश्वर को प्राप्त होता है।

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति, नास्याब्रह्मवित् कुले भवति।
तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥९॥

वह जो उस परम ब्रह्म को जानता है, ब्रह्म ही हो जाता है। ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। इसके कुल में कोई ब्रह्म को न जानने वाला नहीं होता। वह शोक को तर जाता है और पाप को पार कर जाता है वह हृदय की अज्ञान आदि ग्रन्थियों से छूट कर अमृत हो जाता है।

तदेतदृचाऽभ्युक्तम्—क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः।
तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत, शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ॥१०॥

सो यह ऋचा ने कहा है—कि उन्हीं को गुरु यह ब्रह्मविद्या कहे, जो कर्म करने वाले हैं, वेदज्ञ हैं, ब्रह्म में दृढ़धारणायुक्त हैं। और श्रद्धा करते हुए जो आप एक साक्षी ईश्वर को पूजते हैं। तथा जिन्होंने विधिपूर्वक—विनय, सेवा तथा आज्ञापालनादि तप-पूर्वक नम्रता का व्रत पालन किया है। गुरु के संमुख सर्वभाव से सिर झुकाया है।

तदेतत् सत्यमृषिरङ्गिराः पुरोवाच, नैतदचीर्णव्रतोऽधीते।
नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥११॥

सो यह ब्रह्मविद्यारूप सत्य ऋषि अङ्गिरा ने पहले कहा। अङ्गिरा ने पहले इस भारी भेद को प्रकाशित किया। इस रहस्य को व्रतहीन मनुष्य नहीं पढ़ा करता। साधनशील साधक को ही यह सत्य सिखाना चाहिए। परम ऋषियों को नमस्कार, परम ऋषियों को नमस्कार।

अथर्ववेदीया मुण्डकोपनिषत् समाप्ता ॥

अथर्ववेदीया

इस उपनिषद् का निर्माता माण्डूक्य ऋषि है। यह अथर्ववेद की उपनिषद् है। इस उपनिषद् में वाच्य-वाचक की एकता प्रदर्शित की है और यह भी बताया है कि ईश्वर ही जगत् का कर्ता, पालक और संहारक है।

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं, भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोंकार एव, यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव ॥१॥

जो दीख रहा है यह सब, यह ओम् अविनाशी है। उसका व्याख्यान किया है। भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् सब ओंकार ही है। जो कुछ और तीनों कालों से ऊपर है वह भी ओंकार ही है।

सारा विश्व भगवान् का शरीर है। इस में हरि विद्यमान है। उसी की इच्छा से आकार-प्रकार तथा नामरूपमय जगत् की रचना हुई, अत एव भगवान् की सत्ता में ही सारा संसार है। एक प्रकार से भगवान् विश्वशरीर का शरीरी है। शरीर और शरीरी एक है।

सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म, सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥२॥

यह सब ही ब्रह्म है। यह आत्मा, जो विश्व में है, ब्रह्म है। वह यह आत्मा चार पाद वाला है; उसकी चार अवस्थाएं हैं।

ओम् नाम के वाच्य को सर्वमय दिखाते हुए उसके चार पाद की कल्पना अति-मात्रा को पहुंची हुई दीखती है। विकारमय मायिक जगत् को भी भगवान् कहना और सब विकारों का उसी में दिखाना भगवान् के स्वरूप के सर्वथा असंगत है इस कारण यह अलंकार ही जानना चाहिए।

जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग् वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥३॥

जैसे देहधारी आत्मा की जागरित, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएं होती हैं और उन अवस्थाओं में आत्मा स्थूल में तथा स्थूल सूक्ष्म में और सूक्ष्म शरीर में काम करता है, उसकी चेतना का इनमें प्रकाश होता है, माण्डूक्य महात्मा ने वैसा ही अलंकार ब्रह्म में बान्धा है।

जिसका स्थान जागरित है—जिसकी अवस्था जागने की है, जो बाहर चेतना वाला है, सात अंगों वाला है, जो उन्नीस मुखों वाला और स्थूल का भोक्ता है वह वैश्वानर पहला पाद है।

जागरित अवस्था में व्यष्टि आत्मा की चेतना जैसे बाहर के विषयों में काम करती है ऐसे ही समष्टि आत्मा का ज्ञान सृष्टिकाल में सृष्टि में होता है। समष्टि के सात अंग—द्युलोक उसका मूर्धा है, सूर्य चान्द नेत्र हैं, अन्तरिक्ष उदर है, दिशाएं भुजाएं हैं, मध्यलोक वक्षस्थल है, पृथिवी पांव हैं और लोकातीत आकाश उसका विस्तार है। ब्रह्माण्ड के आत्मा के उन्नीस मुख ये हैं—पांच तन्मात्राएं, दश दिशाएं, तीन काल और मूल प्रकृति। उक्त उन्नीस मुखों से वह जगत् की रचना और जगत् का संहार करता है। वह स्थूल जगत् का भोक्ता—पालक सब नरों का आश्रय नारायण वैश्वानर है।

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः ॥४॥

जैसे देहधारी आत्मा स्वप्नावस्था में अन्तर्मुख होता है; उसकी चेतना सूक्ष्म शरीर में होती है, ऐसे ब्रह्माण्ड का आत्मा स्वप्नस्थान में—सृष्टिरचना के संकल्पकाल में भीतर चेतना वाला होता है। उसके सात अंग और उन्नीस मुख हैं। वह सूक्ष्म तत्त्वों का भोक्ता—पालक तेजोमय है। यह दूसरा पाद है।

यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते, न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥५॥

जिस अवस्था में सोया हुआ मनुष्य किसी भी काम्य—वाञ्छित पदार्थ की कामना नहीं करता, न कोई स्वप्न देखता है वह अवस्था सुषुप्त है। सृष्टि के उपसंहार में—प्रलयकाल में ब्रह्माण्ड का आत्मा सुषुप्ति अवस्था में होता है। वह एक ही चैतन्य-स्वरूप, आनन्दमय, आनन्द का भोक्ता, चेतना वाला और प्राज्ञ है। यह तीसरा पाद है। तीसरे पाद में भगवान् को प्राज्ञ—ज्ञानस्वरूप कहा है।

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥६॥

यह सुप्त स्थानीय आत्मा सब का ईश्वर है, यह सर्वज्ञ है, यह अन्तर्यामी है, यह सारे संसार का कारण है और सारे प्राणियों का उत्पत्ति तथा लय का स्थान है।

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं, प्रपञ्चोपशमं, शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते; स आत्मा स विज्ञेयः ॥७॥

चौथी अवस्था का वर्णन करता हुआ मुनि कहता है कि—तुरीया में ब्रह्म न भीतर चेतनावान् है, न बाहर चेतना वाला है, न भीतर बाहर दोनों ओर से प्रज्ञा वाला है, न ज्ञानमय है, न प्रज्ञा वाला है और न अप्रज्ञा वाला है, वह देखा नहीं जाता, व्यवहार में नहीं आता, ग्रहण नहीं हो सकता, लक्षणों से रहित है, चिन्तन नहीं किया जा सकता, बताने में नहीं आता और वह एक आत्मप्रतीतिमात्र सार है। वह आत्मा है ऐसा जानना ही सार है। वह प्रपञ्च से रहित है, शान्त, शिव और अद्वैत है। ऐसा चौथे पाद को ब्रह्मवादी मानते हैं। वह आत्मा है और वह जानने योग्य है।

अजर, अमर, अविनाशी, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव भगवान् तो एकरस और प्रशान्त है। वह कल्पना से अगम्य है। केवल भक्ति से ग्राह्य है। उस निरञ्जन नारायण में अवस्थाएं केवल कविकल्पना मात्र ही हैं।

सोयमात्मा अध्यक्षरमोंकारोऽधिमात्रं, पादा मात्रा, मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥८॥

सो यह आत्मा—चार पादों में वर्णन किया गया ब्रह्म अक्षर के अधिकार में है। नाम—वाचक में है। ओंकार नाम मात्रा में आश्रित है। इस कारण पूर्ववर्णित पाद मात्राएं हैं और मात्राएं पाद हैं। मात्राएं अकार उकार और मकार ये तीन हैं।

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राऽऽप्तेरादिमत्त्वाद्वाऽऽप्नोति ह वै सर्वान् कामानादिश्च भवति य एवं वेद ॥९॥

जागरित-स्थान वाला वैश्वानर प्रथम पाद है, वह आकार प्रथम मात्रा है। अकार का अर्थ है सर्वत्र प्राप्त और सबका आदि। निश्चय से वह भक्त सारे वाञ्छित पदार्थों को प्राप्त कर लेता है और मुख्य बन जाता है जो नाम की महिमा को इस प्रकार जानता है।

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसंततिं समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद ॥१०॥

स्वप्न-स्थानवाला तैजस दूसरा पाद है। नाम की दूसरी मात्रा उकार है। उकार इस मात्रा को, उत्कर्ष—ऊंचे से वा उभय —दोनों ओर होने से कहा है। उकार अकार के साथ और मकार के साथ भी है। मध्य में होने से उभयपक्षी है। निश्चय वह भक्त ज्ञान-विस्तार को ऊंचा करता है, सब में समान—मिलने वाला हो जाता है और इस के कुल में कोई भगवद्भक्तिहीन नहीं होता, जो नाम के महत्त्व को इस प्रकार जान जाता है।

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा, मितेरपीतेर्वा, मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥११॥

सुषुप्त-स्थान वाला प्राज्ञ तीसरा पाद है। नाम की तीसरी मात्रा मकार है। मकार इस मात्रा को मिनने—जानने वा लयता से कहा है। निश्चय से वह भक्त इस सारे जगत् को जान जाता है और अन्त में भगवान् में लीन हो जाता है जो नाम की महत्ता को इस प्रकार जानता है।

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोंकार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद, य एवं वेद ॥१२॥

अमात्र चौथा पाद है—तुरीया अवस्था है। वह चौथा पाद वर्णन नहीं किया जा सकता। वह प्रपञ्च-रहित, शिव और अद्वैत है। इस प्रकार ओंकार परमेश्वर ही है। भगवान् का नाम भगवान् ही है। जो भगवद्-भक्त वाच्य-वाचक की एकता को ऐसे जानता है वह भक्तिधर्म की आराधना से अपने आत्मा से परमात्मा में प्रवेश कर जाता है। वह ज्ञानी अपने आप ही परमेश्वर को प्राप्त कर लेता है।

अथर्ववेदीया माण्डूक्योपनिषत् समाप्ता ॥

यजुर्वेदीया

यह तैत्तिरीय-उपनिषद् तैत्तिरीय-आरण्यक का एक भाग है। वह आरण्यक कृष्ण-यजुर्वेदीय तैत्तिरीय शाखा का है। उसके दस प्रपाठक हैं। पहले छः तो कर्मकाण्ड के हैं और सातवां, आठवां और नवां प्रपाठक तैत्तिरीय-उपनिषद् हैं। दसवां प्रपाठक महानारायण-उपनिषद् है।

शिक्षा-वल्ली। पहला अनुवाक।

ओम् शंन्नो मित्रः शं वरुणः। शंन्नो भवत्वर्यमा। शं नं इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्। ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

मित्रस्वरूप भगवान् हमारे लिए सुखरूप हो। वरुण कल्याणकारी हो। अर्यमा हमारे लिए सुखरूप हो। इन्द्र और बृहस्पति हमारे लिए सुखकारी हों। बड़ी शक्तिवाला विष्णु हमारे लिए कल्याणकारी हो। ब्रह्म को नमस्कार। हे वायु! तुझे नमस्कार। तू ही प्रत्यक्ष ब्रह्म है। हे परमेश्वर! मैं तुझ को ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूंगा। यथार्थ कहूंगा। सत्य कहूंगा। वह भगवान् मेरी रक्षा करे, बोलने वाले की रक्षा करे। मुझे बचावे। बोलने वाले को बचावे।

दूसरा अनुवाक।

ओं शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः मात्रा बलं साम सन्तानः। इत्युक्तः शीक्षाध्यायः ॥२॥

उपनिषत्कार कहता है कि अब हम शिक्षा का वर्णन करेंगे। शिक्षा में अकारादि वर्ण हैं उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ये स्वर हैं। ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत ये मात्राएं हैं। प्रयत्न है। अतिशीघ्र और अतिविलम्ब से उच्चारण न करना किन्तु समता से उच्चारण करना साम है। वर्णों के लिखने वा बोलने में अन्तर न डालना, यथाविधि वर्णविन्यास करना सन्तान है अथवा सन्धि सन्तान है। उक्त छः प्रकार से युक्त शिक्षा-अध्याय कहा गया।

तीसरा अनुवाक

सह नौ यशः । सह नौ ब्रह्मवर्चसम् । अथातः संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः । पञ्चस्वधिकरणेषु, अधिलोकमधिज्यौतिषमधिविद्यमधिप्रज-मध्यात्मम् । ता महासंहिता इत्याचक्षते ।

हम दोनों—गुरु शिष्य का एक यश हो । हम दोनों का साथ ब्रह्म-तेज हो । अब संहिता—परमसमीपता के रहस्य को कहेंगे । वह रहस्य पांच विषयों में है—लोक के सम्बन्ध में, ज्योतिष के सम्बन्ध में, विद्या के सम्बन्ध में, सन्तान के सम्बन्ध में और देह के सम्बन्ध में । उक्त पाँचों को महासंहिता कहते हैं ।

अथाधिलोकम् । पृथिवी पूर्वरूपम्, द्यौरुत्तररूपम् । आकाशः सन्धिः । वायुः सन्धानम् इत्यधिलोकम् ॥१॥

पहली महासंहिता लोकों के सम्बन्ध में है । पृथिवी पूर्वरूप है, उपासना में पार्थिवशरीर—अन्नमय-कोश का ठीक होना आवश्यक है । द्यौ उत्तररूप है । सौर-लोक में तब आत्मा का प्रवेश होता है जब स्थूल-देह में आत्मा का जागरण हो जाय । वह सौर-लोक सूक्ष्म और तेजोमय है । आकाश, स्थूल और सूक्ष्म की सन्धि—जोड़ है । वायु दोनों को मिलाने वाली है । आकाश में जब आत्मा प्रवेश करता है तो स्थूल और सूक्ष्म दोनों में होता है उस समय आत्मा स्थूलकाया में भी काम करता है और सूक्ष्मलोक में भी । प्राण-पवन ही प्रारब्धानुसार सन्धि का कारण जानना चाहिए । यह लोकों के सम्बन्ध में महासंहिता कही है ।

अथाधिज्यौतिषम् । अग्निः पूर्वरूपम् । आदित्य उत्तररूपम् ।
आपः सन्धिः । विद्युतः सन्धानम् । इत्याधिज्यौतिषम् ॥२॥

अब ज्योतियों के सम्बन्ध में कहते हैं । अग्नि प्रथम है । सूर्य उत्तर है—अग्नि के अनन्तर आकार धारण करता है । जल, अग्नि और सूर्य की सन्धि हैं । जलों से अग्नि और सूर्य का आकार एक होता है । बिजली मिलाने वाली है । विद्युत्-कण इन के मेल के कारण हैं ।

अथाधिविद्यम् । आचार्यः पूर्वरूपम् । अन्तेवास्युत्तररूपम् ।
विद्या सन्धिः । प्रवचनं सन्धानम् । इत्याधिविद्यम् ॥३॥

अब विद्या के सम्बन्ध में महासंहिता कही जाती है । आचार्य—विद्या-दाता पूर्वरूप है । शिष्य गुरु के अनन्तर है । गुरु शिष्य का मेल विद्या है । ग्रन्थपाठ गुरु शिष्य के मेल का कारण है ।

अथाधिप्रजम् । माता पूर्वरूपम् । पितोत्तररूपम् । प्रजा सन्धिः । प्रजननं सन्धानम् । इत्यधिप्रजम् ॥४॥

अब प्रजासम्बन्धी महासंहिता कही जाती है । माता पूर्वरूप – प्रथम साधन है । पिता सन्तानोत्पत्ति में उत्तररूप—माता के पश्चात् साधन है । प्रजा माता-पिता की सन्धि है । प्रजार्थ ही पति-पत्नी का मेल है । सन्तान का होना उनके मेल का स्वाभाविक कारण है ।

अथाध्यात्मम् । अधरा हनुः पूर्वरूपम् । उत्तरा हनुरुत्तररूपम् । वाक् सन्धिः । जिह्वा सन्धानम् । इत्यध्यात्मम् ॥५॥

अब आत्मासम्बन्धी महासंहिता कही जाती है । नीचे का जबड़ा पूर्वरूप है, आत्मभाव प्रकाश करने में प्रथम साधन है ऊपर का जबड़ा उत्तररूप है । वाणी दोनों जबड़ों का मिलाप है । जीभ उनके मेल का कारण है । मुख के ऊपर नीचे के दोनों भाग मिला कर, जीभ को ऊपर तालु और दान्तों के साथ सटा कर, मानस-जाप तथा ध्यान करने का यहां संकेत है । इस विधि से वृत्तियां शीघ्र शान्त हो जाती हैं और एकाग्रता सुगमता से लाभ होती है ।

इतीमा महासंहिताः । य एवमेता महासंहिता व्याख्याता वेद । सन्धीयते प्रजया पशुभिः ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन सुवर्ग्येण लोकेन ॥६॥

इस प्रकार ये पांच महासंहिता वर्णन की गई । जो उपासक इन वर्णन की गई महासंहिताओं को ऐसे ही जानता है वह प्रजा और पशुओं को प्राप्त करता है । ब्रह्म-तेज, भोग्यपदार्थ और स्वर्ग लोक को प्राप्त कर लेता है ।

चौथा अनुवाक

यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः । छन्दोभ्योऽध्यमृतात्संबभूव । स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु । अमृतस्य देव धारणो भूयासम् । शरीरं मे विचर्षणम् । जिह्वा मे मधुमत्तमा । कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम् । ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः । श्रुतं मे गोपाय ॥१॥

जो भगवान् श्रुतियों में श्रेष्ठ वर्णन किया है जो सर्वत्र विद्यमान है और जो श्रुतियों से तथा अमृत से प्रकाशित है वह ईश्वर मुझे बुद्धि से प्रबल बनावे । हे देव ! तेरी दया से मैं अमृत—मोक्ष को धारण करने वाला होऊं । मेरा शरीर रोग रहित हो । मेरी जीभ तथा वाणी परम मीठी हो । कानों से मैं बहुत सुनूं । हे भगवन् ! तू मेधा से आच्छादित ज्ञान का कोश है । मेरे सुने हुए ज्ञान की रक्षा कर ।

आवहन्ती वितन्वाना कुर्वाणाचीरमात्मनः । वासांसि मम गावश्च । अन्नपाने च सर्वदा । ततो मे श्रियमावह । लोमशां पशुभिः सह स्वाहा । आ मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । वि मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । प्र मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा ॥ २ ॥

हे देव ! ज्ञानदान के अनन्तर मुझे वह श्री—लक्ष्मी प्रदान कर जो मेरे अपने सर्वदा अन्न-जल को, मेरे वस्त्रों को, मेरी गौओं को प्राप्त कराती हुई, विस्तार करती हुई चिर काल तक मुझे सम्पत्तिशाली करती रहे । वह श्री मुझे लोम वाले—भेड़ बकरी आदि पशुओं के साथ बढ़ाये । तेरे अनुग्रह से सब ओर से ब्रह्मचारी मेरे पास आयें । विशेषता से ब्रह्मचारी मेरे पास आयें । प्रयत्नशील ब्रह्मचारी मेरे समीप आयें । दमनशील, जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी मेरे पास आयें । शान्तस्वभाव वाले ब्रह्मचारी मेरे पास आयें ।

यशो जनेऽसानि स्वाहा । श्रेयान् वस्यसोऽसानि स्वाहा । तं त्वा भग प्रविशानि स्वाहा । स मा भग प्रविश स्वाहा । तस्मिन् सहस्रशाखे नि भगाऽहं त्वयि मृजे स्वाहा ॥३॥

हे ईश्वर ! तेरी कृपा से मैं मनुष्यों में यशस्वी बन जाऊं । धनवानों में श्रेष्ठ होऊं । हे भगवन् ! उस ज्ञानस्वरूप तुझ में प्रवेश करूं; तेरे आनन्द में मग्न हो जाऊं । हे भगवन् ! वह भक्तवत्सल तू मुझ में प्रवेश कर, मुझ में प्रकट हो । हे भगवन् ! उस सहस्र शाखा वाले—अनन्त सामर्थ्य वाले तुझ में प्रविष्ट होकर मैं शुद्ध हो जाऊं । तेरी उपासना से मैं पवित्र बनूं । आत्मा को तथा इच्छाशक्ति को ऐसे उद्बोधनों से बली बनायें ।

यथाऽऽपः प्रवता यन्ति, यथा मासा अहर्जरं, एवं मां ब्रह्मचारिणः, धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा । प्रतिवेशोऽसि प्र मा भाहि, प्र मा पद्यस्व ॥४॥

जैसे पानी नीचे भूमिभाग को जाते हैं और जैसे वैशाख आदि मास वर्ष में लय होते हैं इस प्रकार, हे जगत् के रचयिता ! मेरे पास सब ओर से ब्रह्मचारी आयें । तू मेरे ईश्वर ! विश्राम-स्थान है । मुझे विद्या से चमका दे । मुझे स्व-शरण में ले ले । यह एक उत्तम प्रार्थना है ।

पांचवां अनुवाक

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः । तासामु ह स्मैतां चतुर्थीं माहाचमस्यः प्रवेदयते । मह इति । तद् ब्रह्म । स आत्मा । अङ्गान्यन्या देवताः ॥१॥

उपासना का माहात्म्य वर्णन करने के अनन्तर उपनिषत्कार व्याहृतियों का वर्णन करते हुए कहता है—भूः भुवः सुवः ये तीन व्याहृतियां हैं—तीन वाक्योच्चारण हैं। उनमें इस चौथी व्याहृति को महाचमस्य—महाचमस गोत्र वाले याजक ने जाना है। वह व्याहृति महः है। वह ब्रह्म है। वह आत्मा—ईश्वर है, अन्य सारे देवता उसके अंग हैं और वह मुख्य भाग है।

याजक ऋषिजन व्याहृतियों से यजन-याजन किया करते थे। व्याहृति, एक नियत वाक्य के उच्चारण को कहा करते हैं। उन वाक्यों में चौथा वाक्य महाचमस्य का जाना हुआ है। व्याहृतियों के अर्थों को उपनिषत्कार ने स्वयं वर्णन किया है।

भूरिति वा अयं लोकः। भुव इत्यन्तरिक्षम्। सुवरित्यसौ लोकः।
मह इत्यादित्यः। आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते ॥१॥

भूः यह पृथिवी लोक है, भुवः अन्तरिक्ष है और सुवः वह द्युलोक है। महः सूर्य-लोक है। सूर्य से ही सब लोक महिमावान् होते हैं।

भूरिति वा अग्निः। भुव इति वायुः। सुवरित्यादित्यः।
मह इति चन्द्रमाः। चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतींषि महीयन्ते ॥२॥

भूः अग्नि है, भुवः वायु है, सुवः सूर्य है और महः चन्द्रमा है। चन्द्रमा से ही सारी ज्योतियां—ग्रह-नक्षत्रादि महिमावन्त होती हैं। व्याहृतियों के उपासक की दृष्टि में सर्व पदार्थ व्याहृतिरूप हैं। वह महान् से महान् तक को तद्रूप ही देखता है।

भूरिति वा ऋचः। भुव इति सामानि। सुवरिति यजूंषि।
मह इति ब्रह्म। ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते ॥३॥

भूः ऋचाएं—ऋग्वेद है, भुवः साम-मन्त्र हैं, सुवः यजुर्वेद के स्तोत्र हैं और महः ब्रह्म है, मन्त्रों से आराध्य भगवान् हैं। भगवान् से ही सारे वेद महिमा को पाते हैं।

भूरिति वै प्राणः। भुव इत्यपानः। सुवरिति व्यानः।
मह इत्यन्नम्। अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते ॥४॥

भूः प्राण हैं, मुख-नासिका से देह में जाने वाली वायु है। भुवः अपान है, मुख-नासिका से बाहर निकलने वाली वायु है। सुवः व्यान है, देह में विचरने वाली वायु है। महः अन्न है, भोज्य तथा खाद्य पदार्थ है। अन्न से ही सारे प्राण महिमा वाले होते हैं।

ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्धा, चतस्रश्चतस्रो व्याहृतयः। ता यो वेद। स वेद ब्रह्म। सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति ॥५॥

वे पूर्ववर्णित ये चार व्याहृतियां चार प्रकार से हैं। चारों चार चार व्याहृतियां हैं। चारों व्याहृतियों को चार चार प्रकार से चिन्तन किया जाय तो ब्रह्म-उपासना सिद्ध हो जाती है। इससे ब्रह्मज्ञान हो जाता है। उन व्याहृतियों को जो उपासक जानता है वह ब्रह्म को जानता है। ऐसे भक्त के लिए सारे देव बलि तथा भेंट लाते हैं ऐसे उपासक का सभी देव पूजन करते हैं।

छठा अनुवाक

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः। अमृतो हिरण्मयः। अन्तरेण तालुके य एष स्तन इवावलम्बते सेन्द्रयोनिः। यत्रासौ केशान्तो विवर्तते। व्यपोह्य शीर्षकपाले। भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति। भुव इति वायौ ॥१॥

वह जो यह हृदय के भीतर आकाश है उसमें यह मननशील आत्मा निवास करता है वह आत्मा अमृत है और प्रकाशस्वरूप है। ऊपर नीचे का मुख भाग जो तालु कहा जाता है, उसके मध्य में जो यह स्तन की भांति मांस लटकता है वह आत्मा का मुख्य स्थान है। जहां यह केशों की जड़ है, जहां कपाल के दो भाग होते हैं वह भी आत्मा का निवास-धाम है। हृदय से सुषुम्णा नाड़ी में प्रविष्ट होकर आत्मा तालु और सहस्रदल-कमल को भेदन करके तथा सिर के दोनों कपाल-भागों को भेदन करके मुक्त हो जाता है उस समय भूः से अग्नि में ठहरता है; तेजोमय लोक को प्राप्त करता है। भुवः से वायुमय लोक को प्राप्त कर लेता है। यहां खेचरी-मुद्रा का संकेत है।

सुवरित्यादित्ये। मह इति ब्रह्मणि। आप्नोति स्वाराज्यम्। आप्नोति मनसस्पतिम्। वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः। श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः। एतत्ततो भवति। आकाशशरीरं ब्रह्म। सत्यात्म प्राणारामं मन आनन्दम्। शान्तिसमृद्धममृतम्। इति प्राचीनयोग्योपास्व ॥२॥

ऐसा मुक्त आत्मा सुवः से आदित्य-लोक प्राप्त करता है, महः से ब्रह्म में लीन होता है। ब्राह्मी अवस्था को पाकर वह स्वाराज्य—पूर्ण स्वतन्त्रता लाभ करता है। मन—आत्मा के पति भगवान् को प्राप्त होता है। तब यह मुक्त आत्मा वाणी का पति तथा नेत्र का पति हो जाता है। श्रोत्र तथा बुद्धि का पति बन जाता है। इन ऋद्धियों को पा कर मुक्त आत्मा आकाशवत् शरीरवाला हो जाता है; उसका शरीर नहीं रहता। वह ब्रह्म में होता है। सत्यस्वरूप जीवनमय सुख को भोगता है। अपना मन—आत्मा ही आनन्दरूप मानता है। शान्ति से भरपूर और अमृत हो जाता है। मुक्त आत्मा की अवस्था वर्णन करके महाचमस्य मुनि ने अपने शिष्य प्राचीनयोग्य को कहा—हे प्राचीनयोग्य! तू ऐसा योग तथा आत्मधाम चिन्तन कर।

ऊपर के पाठ में आत्मा के तीन स्थान वर्णन किये हैं—हृदय, कण्ठ तथा शीर्ष। जब उपासना द्वारा सुषुम्णा नाड़ी खुल जाती है तब हृदय से आत्मशक्ति जग कर मस्तक में जा विराजती है। इस प्रकार आत्मशक्ति को जगाने का उपाय उपासना है। महाचमस्य महर्षि महः—तेजोमय भगवान् की उपासना से आत्मशक्ति को जगाता था। उसके शिष्यसमुदाय में महः वाक्य से उपासना की जाती और महः ब्रह्म माना जाता है।

सातवां अनुवाक

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशः। अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि। आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा। इत्यधिभूतम्। अथाऽध्यात्मम्। प्राणो व्यानोऽपान उदानः समानः। चक्षुः श्रोत्रं मनो वाक् त्वक्। चर्म मांसं स्नावास्थि मज्जा। एतदधिविधाय ऋषिरवोचत्। पाङ्क्तं वा इदं सर्वम्। पाङ्क्तेनैव पाङ्क्तं स्पृणोतीति ॥१॥

व्याहृतियों की उपासना के व्याख्यान के पश्चात् उपनिषत्कार पाङ्क्त उपासना का वर्णन करता है। यह पाङ्क्त उपासना जड-चेतन तथा देह-आत्मा विवेकरूप है। पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, दिशाएं तथा अवान्तर दिशाएं लोक-पाङ्क्त हैं; यह लोकपञ्चक का समूह है। अग्नि वायु; आदित्य, चन्द्रमा और नक्षत्र यह देवतापञ्चक का समूह है। जल, ओषधियां, वनस्पतियां, आकाश और आत्मा यह भूतपञ्चक का समूह है। यह ऊपर के तीन पाङ्क्तसमूह भूतों के सम्बन्ध में हैं। अब अध्यात्म वर्णन किये जाते हैं। प्राण, व्यान, अपान, उदान और समान यह प्राण-पाङ्क्त है। आंख, कान, मन, वाणी तथा त्वचा यह इन्द्रिय-पाङ्क्त है। चर्म, मांस, नाड़ी, अस्थि तथा मज्जा यह धातु-पाङ्क्त है। यह पांच पांच की पंक्ति कह कर ऋषि ने कहा—यह सारा दृश्यमान जगत् पाङ्क्त है। पांच पांच में विभक्त है। पाङ्क्त से ही पाङ्क्त पुष्ट होता है। अधिभूत से अध्यात्म बलवान् बनता है।

पाङ्क्त उपासना में ऋषि ने भूत-पाङ्क्त में आत्मा गिना है। यहां आत्मा से तात्पर्य विश्व आत्मा जानना चाहिए। वही सबको सत्ता देता है। अध्यात्म-पाङ्क्त में इन्द्रियों में मन को गिना है, उसे जीवात्मा समझना समीचीन है। उक्त पांच पांच की पंक्तियों को विवेक-बुद्धि से जान कर मनुष्य आत्मज्ञान प्राप्त कर लेता है।

आठवां अनुवाक

ओमिति ब्रह्म। ओमितीदं सर्वम्। ओमित्येतदनुकृतिर्ह स्म वा अप्यो-श्रावयेत्याश्रावयन्ति। ओमिति सामानि गायन्ति। ओं शोमिति शस्त्राणि शंसन्ति। ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति। ओमिति ब्रह्मा प्रसौति।

ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति । ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति । ब्रह्मैवोपाप्नोति ॥१॥

पाङ्क्त-उपासना के अनन्तर उपनिषत्कार ओंकारोपासना कहता है। ओम् यह परमेश्वर है। यह सब ओम् है। ओम् यह अनुज्ञा है, अनुमति देना भी ओम् का अर्थ है। पूज्य को कहना हो कि शास्त्र सुनाओ तो ओम् सुनाओ कहने से सुनाते हैं; ओम् कह कर साम-मन्त्रों को गाते हैं। याजक लोक ओम् शोम्—सुखकर कह कर यज्ञ-उपकरणों की प्रशंसा करते हैं। ओम् उच्चारण करके अध्वर्यु मन्त्र-पाठ करता है। ओम् शब्द से ब्रह्मा कर्म करने की आज्ञा देता है। यहां आज्ञा अर्थ में ओम् है। ओम् उच्चारण करके अग्निहोत्र की आज्ञा देता है। ओम् उच्चारण करके ब्राह्मण वेद का व्याख्यान करता हुआ यह चाहता है कि मैं ब्रह्म को प्राप्त होऊं। इस प्रकार वह ब्रह्म ही को प्राप्त हो जाता है।

नवां अनुवाक

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च ।
तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च । दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च ।
शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च । अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च ।
अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च । अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च ।
मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च ।
प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च ।
सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः । तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः ।
स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः । तद्धि तपस्तद्धि तपः ॥१॥

ओंकारोपासना के पश्चात् ऋषि कर्मयोग-धर्म का उपदेश करता हुआ कहता है—सत्यज्ञान और स्वाध्यायप्रवचन होना चाहिए। मनुष्य में सत्यज्ञान हो और वह शास्त्र का स्वाध्याय करे और सत्सङ्ग में उसका प्रवचन—व्याख्यान करे। ये उत्तम कर्म हैं। सत्यपरायणता और स्वाध्यायप्रवचन हो। मनुष्य में तप—सहनशीलता और स्वाध्यायप्रवचन हो। मनुष्य में जितेन्द्रियता और स्वाध्यायप्रवचन हो। मनुष्य में मन की शान्ति और स्वाध्यायप्रवचन हो। मनुष्य अग्नियां स्थापन करें और स्वाध्यायप्रवचन में तत्पर रहे। अग्निहोत्र और स्वाध्यायप्रवचन हो। अतिथिसत्कार और स्वाध्याय-प्रवचन हो। मनुष्यसम्बन्धी उत्तमकर्म और स्वाध्यायप्रवचन हो। प्रजा—सन्तान का पालन-पोषण और स्वाध्यायप्रवचन हो। सन्तान उत्पन्न करना और स्वाध्यायप्रवचन हो। विशेषता से जाति-सेवा तथा स्वाध्यायप्रवचन हो। मनुष्य ज्ञान विचार आदि ऊपर कहे सारे कर्म करता हुआ, पढ़े हुए ग्रन्थों का पाठ तथा सत्सङ्गों में उनका व्याख्यान

करता रहे। सत्य ही परम धर्म है यह सत्यवादी रथीतर का पुत्र कहता है। तप ही उत्तम कर्म है, यह तपोनित्य नामी पुरुशिष्ट का पुत्र मानता है। स्वाध्याय करना और सद्ग्रन्थों का व्याख्यान करना ही सर्वोत्तम कर्म है ऐसा मुद्गल का पुत्र नाक मानता है यह ही स्वाध्यायप्रवचन तप है; यह ही तप है। शास्त्र का पाठ, प्रचार परम तप तथा उत्तम कर्म है।

दसवां अनुवाक

अहं वृक्षस्य रेरिवा । कीर्त्तिः पृष्ठं गिरेरिव । ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि द्रविणं सुवर्चसम् । सुमेधा अमृतोऽक्षितः । इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम् ॥१॥

कर्मयोग का वर्णन करके ऋषि आत्मसत्ता तथा आत्मशक्ति जगाने का वह मन्त्र वर्णन करता है जो मन्त्र त्रिशङ्कु मुनि ने सिखाया था। मैं संसार वा पापवृक्ष का कँपाने तथा छेदन करने वाला हूं। मेरी कीर्त्ति पर्वत की पीठ की भाँन्ति अचल है। मैं सूर्य की भाँन्ति ऊंचा पवित्र और सु-अमृत हूं। मैं धन हूं। उत्तम तेज हूं। मैं उत्तम बुद्धि हूं। अविनाशी और अखण्ड हूं। यह त्रिशङ्कु महात्मा का वेदोपदेश है; वेद का सारा मर्म है।

इस ऊपर के उपदेश में आत्मा के स्वरूप और शक्ति दोनों का वर्णन है। जागृत आत्मा का कैसा भाव होता है उसका पूर्ण चित्रण है। वैदिक सन्त आत्मसत्ता को कितना महान् मानते थे, यह ऊपर के वाक्यों में पूर्णतया प्रकट है।

ग्याहरवां अनुवाक

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति सत्यं वद धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः । आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः । सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् । कुशलान्न प्रमदितव्यम् । भूत्यै न प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् । देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥१॥

आत्मजागृति के उपदेश के अनन्तर उपनिषत्कार वह उपदेश वर्णन करता है जो आचार्य लोग अपने पण्डित शिष्यों को करते थे। आचार्य, वेद पढ़ा कर शिष्य को उपदेश देता है—तू सत्य ही बोल। मिथ्यावचन कभी न बोल। धर्म का आचरण कर। स्वाध्याय में न प्रमाद करना। आलस्य और कुव्यसन को प्रमाद कहा है। वह स्वाध्याय करने में रुकावट न बने। आचार्य के लिये प्यारा धन भेंट करके विनय से रहना

और सन्तान के सूत्र को न खण्डित करना। सत्य में प्रमाद न करना। धर्म में न प्रमाद करना। शरीर को नीरोग रखने के लिए स्नान-व्यायामादि में कभी न प्रमाद करना। ऐश्वर्यप्राप्ति में कभी न प्रमाद करना। स्वाध्याय और कथा-कीर्तन में कभी न प्रमाद करना। देवाराधन और पितृपूजन में कभी न प्रमाद करना।

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि, तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि, तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि ॥२॥

माता देवता वाला हो, माता को देव-तुल्य मान। पिता को देव समझ। आचार्य को देव जान। अतिथि को देव-तुल्य मान। जितने निर्दोष उत्तम कर्म हैं वे सेवन करने चाहिएँ। दूसरे पाप कर्म नहीं करने चाहिएँ। जितने हमारे शुभाचरण हैं तुझे वे धारण करने उचित हैं। दूसरे, हमारे दोष नहीं अनुकरण में लाने चाहिएँ।

ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः। तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम् ॥३॥

जो कोई हममें से श्रेष्ठतर ब्राह्मण हों उनका तूने आसन-दान, अभ्युत्थान से आश्वासन करना। उनको आसन पर बैठा कर सुख देना। तुझे श्रद्धा से अन्नादि-दान देना चाहिए। यदि किसी समय भावना ऊंची न हो तो अश्रद्धा से भी तुझे दान देना चाहिए। शोभा से देना चाहिए। लोकलाज से भी देना चाहिए। परलोक-भय से देना चाहिए। दान से कल्याण होता है; दान करना कर्त्तव्य है और दान देने से लोकोपकार होता है इस ज्ञान से भी देना उचित है।

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथाः ॥४॥

और यदि तुझे कभी नित्य—नैमित्तिक कर्म में सन्देह हो अथवा वृत्त—आचार में संशय हो तो, जो उस समय वहां ब्राह्मण विचारशील, कर्मकाण्ड में युक्त, विशेषता से आचारयुक्त, कोमल स्वभाव वाले तथा धर्म चाहने वाले हों, वे जैसे उसमें वर्तें—उसे करें वा जानें वैसे ही उसमें तूने वर्तना। शिष्टपद्धति का परित्याग न करना अपने संशय को श्रेष्ठों के संग से निवारण कर लेना।

अथाभ्याख्यातेषु ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तेषु वर्त्तेरन् । तथा तेषु वर्त्तेथाः ॥५॥

इसी प्रकार दूषित तथा पापी मनुष्यों में यदि तुझे सन्देह हो, इनके साथ खान-पान आदि व्यवहार करना चाहिए वा नहीं ऐसी शंका हो तो जो, वहां उस समय ब्राह्मण विचारशील, कर्मयुक्त, विशेषता से आचारयुक्त, कोमल स्वभाव वाले तथा धर्म चाहने वाले हों, वे जैसा उनके साथ व्यवहार करें, तूने वैसा ही व्यवहार उनके साथ करना । हठ, दुराग्रह, घृणा तथा परुष व्यवहार उनके साथ नहीं करना । श्रेष्ठ जनों का अनुकरण ही उत्तम समझना । शिष्टाचार का पूरा पालन करना ।

एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ॥६॥

यह, जो तुझे मैंने शिक्षा दी है यही मेरी आज्ञा है । यही मेरा उपदेश है । यही वेद का सार तथा रहस्य है । यह ही वेद-शास्त्र की आज्ञा है । ऐसा ही तुझे करना चाहिए । इसी प्रकार यह उपदेश तुझे आचरण में बसाना चाहिए ।

शान्तिपाठः

शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा । शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः । शन्नो विष्णुरुरुक्रमः । नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो ! त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम् । ऋतमवादिषम् । सत्यमवादिषम् । तन्मामावीत् । तद्वक्तारमावीत् । आवीन्माम् । आवीद्वक्तारम् ।

शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

पहला अनुवाक

ओं सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नाव-धीतमस्तु । मा विद्विषावहै ओं । शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ईश्वर हम दोनों की रक्षा करे । हम दोनों को पाले । हम दोनों को बली बनाये हमारा पढ़ा हुआ तेज वाला हो । हम कभी भी द्वेष न करें ।

ओं ब्रह्मविदाप्नोति परम् । तदेषाभ्युक्ता । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् । सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति ।

ब्रह्म को जानने वाला परब्रह्म भगवान् को प्राप्त करता है । इस पर यह ऋचा कही है । जो भक्त ब्रह्म को अविनाशी, ज्ञानस्वरूप और अनन्त जानता है तथा हृदय की गुफा के परम आकाश में छुपा हुआ जानता है, वह भक्त उस ज्ञानमय ब्रह्म के साथ सारे मनोरथों को भोगता है । वह सब इष्ट फलों को पा लेता है ।

ब्रह्मवल्ली के आरम्भ में ही ऋषि ब्रह्मप्राप्ति ब्रह्मज्ञान से बताता है । उस ब्रह्म का स्वरूप, इस में सत्य, ज्ञान और अनन्त वर्णन किया है । उसकी प्राप्ति परम शुद्ध हृदय में कही है । हृदय से यहां तात्पर्य अन्तर्मुख ध्यान से है । परमेश्वर के सच्चिदानन्द स्वरूप का जब ध्यान किया जाय तो अन्तर्मुख भक्त को भगवान् की प्राप्ति होती है । उस समय वह पूर्णकाम हो जाता है ।

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः । आकाशाद्वायुः वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी । पृथिव्या ओषधयः । ओषधीभ्योऽन्नम् । अन्नाद्रेतः । रेतसः पुरुषः । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः ।

उस इस आत्मा—परमेश्वर से आकाश प्रकट हुआ । ईश्वर की इच्छा से जगत् के कारण आकाश की अभिव्यक्ति हुई । आकाश से वायु उत्पन्न हुई । वायु से अग्नि उत्पन्न हुई । अग्नि से जलों की उत्पत्ति हुई । जलों से पृथिवी हुई । पृथिवी से ओष-धियां—वनस्पतियां उत्पन्न हुई । ओषधियों से अन्न उत्पन्न हुआ । अन्न से मनुष्य में

रेतस् बना। और रेतस् से पुरुष—मनुष्य देह बनी। इस कारण वह यह पुरुषशरीर अन्नरसमय है, अन्न के सार से बना है।

ऊपर क्रम में मनुष्यदेह की उत्पत्ति प्रधानता से वर्णन की है। इससे देहमात्र की उत्पत्ति समझनी चाहिए।

तस्येदमेव शिरः। अयं दक्षिणः पक्षः। अयमुत्तरः पक्षः।
अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति ॥१॥

उस अन्न के सार से बने मानवाकार का यह ही कमलाकार सिर है। यह दक्षिण भुजा दक्षिण पक्ष है। यह बांई भुजा, बांयां पक्ष है। यह धड़ आत्मा अर्थात् मूलशरीर है। यह नाभि से अधोभाग इसकी पूंछ है; यही इसका आश्रय है। इस पर यह श्लोक है।

मनुष्यदेह के मस्तक आदि मुख्य अङ्ग दिखा कर ऋषि ने प्रकट किया कि ये प्रधान भाग हैं जिनमें आत्मा का प्रकाश है। इन अङ्गों में आत्मशक्ति विशेषरूप से प्रकट होती है। सिर नाभि आदि अङ्ग आत्मशक्ति के कोश हैं।

दूसरा अनुवाक

अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। याः काश्च पृथिवीं श्रिताः। अथो अन्नेनैव जीवन्ति। अथैनदपि यन्त्यन्ततः। अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति। येऽन्नं ब्रह्मोपासते।

पहले अनुवाक में ब्रह्म का रूप तथा उस की प्राप्ति का साधन तथा उपासक की काया की महत्ता वर्णन की है। दूसरे अनुवाक में, ऋषि अन्न का वर्णन करता है जिससे अन्नमय कोश—काया की रचना होती है।

जो कोई पृथिवी पर रहने वाली प्रजाएं हैं वे अन्न ही से उत्पन्न होती हैं। और अन्न से ही जीती हैं तथा अन्त में इस अन्न में ही जाती हैं। देहनाश होने पर प्रजाओं के शरीर भोग्यरूपा प्रकृति में ही लीन हो जाते हैं। अन्न ही प्राणियों में बड़ा है, जीवनाधार है इस कारण, यह अन्न सब प्राणियों की औषध कहा गया है। जो जन अन्न-ब्रह्म की उपासना करते हैं, अन्न को भजन का—ध्यान का तथा उपकार का साधन समझते हैं, वे सारे ही अन्न को पा जाते हैं। उनको सकल भोग्य पदार्थ प्राप्त होते हैं।

इस पाठ में अन्न को ब्रह्म इसलिए कहा गया है कि एक तो अन्न, भक्तिधर्म में ब्रह्मप्राप्ति का साधन है, क्योंकि अन्न से काया पुष्ट होती है जिस से सुगमतापूर्वक ब्रह्माराधन, चिन्तन किया जा सकता है। दूसरे, उपनिषदों की शैली है कि स्थूल को सूक्ष्म से, अल्प को महान् से जोड़ना। अन्न में जीवनांश है जीवनतत्त्व है, स्थिति है

तथा अस्तित्व है वह महान् है अथवा महान् से ही है। इस कारण अन्न भी ब्रह्म है। सारा विकसित विकासवृक्ष काल का तथा प्राण का अन्न है। इसमें ब्रह्मसत्ता ही अभिव्यक्त है इस कारण भी अन्न ब्रह्म है। इस प्रकरण में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय, आत्मा के पांच कोश वर्णित किये हैं। इन कोशों में चेतनसत्ता रमी हुई है। व्यष्टि-आत्मा का अन्नमय कोश—शरीर स्थूल देह है, प्राणमय जीवनरूप है, मनोमय चेतनभाव की संकल्पविकल्पात्मक मनन-वृत्ति है, विज्ञानमय बुद्धि है और आनन्दमय आत्मस्वरूप-स्थिति में सुखरूपता है। आनन्दमयकोश शरीर तो कहा है परन्तु इस में स्थित और जाग्रत आत्मा प्रकृति पर वशीकार प्राप्त कर लेता है। अप्रबुद्ध आत्मा अन्य अन्नमयादिकों में प्रकृतिरूप बना हुआ होता है।

अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम् । तस्मात्सर्वौषधमुच्यते । अन्नाद् भूतानि जायन्ते ।
जातान्यन्नेन वर्द्धन्ते । अद्यतेऽत्ति च भूतानि । तस्मादन्नं तदुच्यत इति ।

निश्चय से अन्न जीवों में बड़ा है जीवनाधार है। इस कारण सर्व-औषध कहा जाता है। अन्न से जीव उत्पन्न होते हैं, जन्म लेते हैं। उत्पन्न हुए जीव अन्न से बढ़ते हैं। जो खाया जाता है और जो भूतों को खाता है इसलिये वह अन्न कहा जाता है।

जीव जिन पदार्थों को खाते हैं उन सब का नाम अन्न है। तथा जो काल सारे जगत् को खाता है वह भी अन्न है। सारे जगत् को खाने वाला काल भी आत्मा द्वारा खाया जाता है। ऊपर का वर्णन अन्नमयकोश का है।

तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात् । अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः । तेनैष पूर्णः ।
स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधताम् । अन्वयं पुरुषविधः ॥

उस इस अन्नरसमय—स्थूल देह से भिन्न, भीतर एक आत्मा है जो प्राणमय है। उस प्राणमय से यह स्थूल शरीर परिपूर्ण है। वह यह प्राणमय, स्थूलशरीरवत् पुरुषाकार ही है। उस स्थूल शरीर की पुरुषाकारता के अनुसार ही यह प्राणमय पुरुषविध है; ठीक उसके अनुरूप है। यहां प्राणमय से सूक्ष्मशरीर समझना चाहिए।

उसे आत्मा इस कारण कहा है कि आत्मसत्ता उसमें परिपूर्ण है। वह सूक्ष्म-शरीर सारे स्थूलशरीर में विद्युत् कोश में विद्युत्वत् परिपूर्ण होता है। सूक्ष्मशरीर भी स्थूलशरीर की आकृति का ही होता है। यह आत्मशक्तिरूप ही है।

तस्य प्राण एव शिरः । व्यानो दक्षिणः पक्षः । अपान उत्तरः पक्षः ।
आकाश आत्मा । पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति ॥२॥

उस प्राणमय शरीर का, नासिकामुखसंचारी प्राण ही शिर है। प्राणरूप पवन प्राणमय का शिरस्थान है। सब नाड़ियों में विचरने वाला व्यान उसका दक्षिण पक्ष है। उसका उत्तर पक्ष अपान है। आकाश अर्थात् समान उसका आत्मा

है। पृथिवी—उदान उसकी पूंछ और प्रतिष्ठा है। उसके साथ प्राणमय निकलता तथा देह में ठहरता है। इस पर यह श्लोक है।

प्राणमय शरीर, प्राण-अपानादि पवन से पृथक् हैं। वह प्राणपवन को आश्रित करके देह में प्रवेश करता है तथा प्राणपवन के साथ ही मरणकाल में स्थूलदेह से निकल जाता है। सांस के गमनागमन के साथ उसका बड़ा भारी सम्बन्ध है। उसके अङ्ग अलंकार रूप हैं।

तीसरा अनुवाक

प्राणं देवा अनुप्राणन्ति। मनुष्याः पशवश्च ये। प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात्सर्वायुषमुच्यते। सर्वमेव त आयुर्यन्ति। ये प्राणं ब्रह्मोपासते। प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात्सर्वायुषमुच्यत इति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य।

देवजन प्राणमय के सहारे से सांस लेते हैं और जो मनुष्य तथा पशु हैं वे भी प्राणमय के सहारे से सांस लेते हैं। वास्तव में सांस ही भूतों की आयु है। इस कारण सांस को सब प्राणियों की आयु कहा जाता है। आयु की अवधि, प्राणापान के साथ ही बन्धी हुई है। वे मनुष्य सारी ही आयु प्राप्त कर लेते हैं जो प्राण को ब्रह्मप्राप्ति का साधन समझ कर आराधते हैं। प्राण ही प्राणियों की आयु है। इस कारण इसको सब की आयु कहा जाता है। उस प्राणमय का, यह ही शरीर में होने वाला जीव आत्मा है। उसी के आश्रित प्राणमयकोश है। वह ही स्थूल देह का भी आत्मा है।

तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः।
तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्।
अन्वयं पुरुषविधः। तस्य यजुरेव शिरः। ऋग्दक्षिणः पक्षः।
सामोत्तरः पक्षः। आदेश आत्मा। अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा।
तदप्येष श्लोको भवति ॥३॥

उस इस प्राणमय से भिन्न भीतर आत्मा है, जो मनोमय है, मनोवृत्तियों का समुच्चय है, वह आत्मा से भरपूर होने से आत्मा है। उस मनोमय से यह सूक्ष्म-शरीर परिपूर्ण है। वह यह मनोमयकोश पुरुषाकार ही है। सूक्ष्मशरीर की पुरुषाकृति के सदृश ही यह मनोमय पुरुषविध है। उसका यजुर्वेद शिर है। ऋग्वेद दक्षिण पक्ष है। साम उत्तर पक्ष है। आदेश—आज्ञा आत्मा है। अथर्वाङ्गिरस उसकी पूंछ और सहारा है। इस पर यह श्लोक है।

सूक्ष्मशरीर में जो चेतना परिपूर्ण होती है उसका जो स्थूल-सूक्ष्म शरीर में व्यापार है, नाड़ीजाल में मज्जा में तथा अङ्ग-प्रत्यङ्ग में स्फूर्त्ति और कर्म है वह मनोमय

ही से हुआ करता है। नाना भावों की स्फूर्ति को वृत्ति कहा जाता है। ऐसे वृत्ति-जाल के ताने-बाने से, प्राणमय परिपूर्ण होता है। मनोमयकोश ही स्मृति और वेदादि शास्त्र का कोश है। इस कारण ऋगादि उस के अङ्ग वर्णन किये हैं।

चौथा अनुवाक

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कदाचनेति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य।

जिस ब्रह्म से वाणियां मन के साथ न पहुंच कर लौट आती हैं, उस ब्रह्म के आनन्द को जानता हुआ भक्त किसी काल में भी मरणादि के दुःखों से नहीं डरता। उस मनोमय का यह ही शरीर में रहने वाला जीव, आत्मा है। यह ही स्थूलादि शरीर का आत्मा है।

तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य श्रद्धैव शिरः। ऋतं दक्षिणः पक्षः। सत्यमुत्तरः पक्षः। योग आत्मा। महः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।

उस इस मनोमय से भिन्न दूसरा अन्तर आत्मा है, जो विज्ञानमय—बुद्धिमय है। उस विज्ञानमय से यह मनोमय परिपूर्ण है। वह यह विज्ञानमय पुरुषाकार ही है। उस मनोमय की पुरुषाकारता के सदृश ही यह विज्ञानमय पुरुषविध है। उसका श्रद्धा—सत्य में धारणा—आस्तिक भाव सिर है। विज्ञानमय में ही श्रद्धा, विश्वास तथा भक्तिभाव प्रधानता को प्राप्त होते हैं। ऋत—ज्ञान उसका दक्षिण अङ्ग है। सत्य उसका बांयां अङ्ग है। योग—वृत्तिनिरोध उसका आत्मा है। तेज—प्रकाश तथा नवीन उपज उसकी पूंछ सहारा और स्थान है।

ज्ञानमयकोश में, विमलबुद्धि में तथा शुद्धचैतन्य में ही श्रद्धा और ज्ञानादि की स्फूर्त्ति होती है, इस कारण ये विज्ञानमय के अङ्ग हैं।

पांचवां अनुवाक

विज्ञानं यज्ञं तनुते। कर्माणि तनुतेऽपि च। विज्ञानं देवाः सर्वे। ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते। विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद। तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति शरीरे पाप्मनो हित्वा। सर्वान् कामान् समश्नुत इति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य।

विज्ञान—बुद्धि तथा विचार ही यज्ञ—धर्म का विस्तार करता है। और

कर्मों का भी विस्तार करता है। बुद्धि से सब धर्म कर्म किये जाते हैं। बुद्धि को सारे देव—सारी इन्द्रियां ज्येष्ठ और महान् मानती हैं। यदि कोई भक्त, बुद्धि को ब्रह्म आराधन का साधन जानता है और उस ब्रह्मधारणा से यदि नहीं प्रमाद करता, तो वह मनुष्य शरीर में ही पापों को त्याग कर—भस्म करके सब सुखों को अनुभव करता है। ऐसे भगवद्-भक्त का परमकल्याण हो जाता है। उस विज्ञानमय का यह ही शरीर में रहने वाला जीव, आत्मा है। वह ही पूर्ववर्णित मनोमय का आत्मा है।

तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः। तेनैष पूर्णः स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।

उस इस विज्ञानमय से भिन्न दूसरा अन्तर आत्मा—आत्मसत्ता है, जो आनन्दमय है, आनन्दरूप है। उस आनन्दमय से यह विज्ञानमय परिपूर्ण है। वह यह आनन्दमय, पुरुषशरीर में पुरुषाकार ही है। उस विज्ञानमय की पुरुषाकारता के सदृश यह आनन्दमय पुरुषविध है। उस आनन्दमय का प्रेम ही सिर है। प्रियरूपता उसका मुख्य भाव है। प्रसन्नता उसका दायां अङ्ग है। विशेष प्रसन्नता उसका बायां अङ्ग है। आनन्द—परमशान्ति उसका स्वरूप है। उसको समभाव में रखने वाली पूंछ ब्रह्म है; वह ही उसकी प्रतिष्ठा—स्थान है। यह अवस्था शान्तवृत्ति, स्वस्वरूपस्थ की है।

आनन्दमय को आत्मा ही माना गया है। उसका स्वरूप प्रियतादि शब्दों से प्रियरूप तथा आनन्दरूप ही दर्शाया है। आनन्दमय को समभाव में रखने वाला ब्रह्म है। आनन्दमय की स्थिति ब्रह्म में होती है।

छठा अनुवाक

असन्नेव स भवति। असद् ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुरिति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य। अथातोऽनुप्रश्नाः। उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य। कश्चन गच्छती३। आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य। कश्चित् समश्नुता३इ।

वह असत्—नष्ट ही हो जाता है जो यदि ब्रह्म नहीं है, ऐसा जानता है। ब्रह्म नहीं है ऐसा जानने से आत्मभाव में भी श्रद्धा नहीं रहती; इस कारण नास्तिक का नाश ही हो जाता है। यदि 'ब्रह्म है', ऐसा कोई जानता है तो उसको "है" ऐसा ज्ञानी लोग जानते हैं। जो अनन्त भगवान् का होना जानता है विद्वान् जन उसी जन के अस्तित्व को समझते हैं। नास्तिक को तो ज्ञानी नास्ति के समान

ही मानते हैं। उस आनन्दमय का यह ही शरीर में होने वाला जीव आत्मा है वह ही पूर्व का आत्मा है। अब इससे आगे प्रश्न हैं। क्या भगवान् को न जानता हुआ इस लोक से मर कर कोई मनुष्य ब्रह्म में जाता है? क्या ब्रह्म को जानता हुआ, मर कर, उस लोक—ब्रह्मलोक को कोई भोगता है? इनका उत्तर यह ही है कि नास्तिक मनुष्य परमात्मपद को नहीं पहुंचता और उसका नाश हो जाता है। नास्तिक जन्म-मरण में ही रहता है। आस्तिक मनुष्य ही ब्रह्मानन्द को भोगता है।

सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इदं सर्वमसृजत। यदिदं किञ्च। तत्सृष्ट्वा। तदेवानुप्राविशत्।

उसने इच्छा की, ब्रह्म में स्फुरणा हुई कि मैं बहुत हो जाऊं, उत्पन्न होऊं। तब उसने तप तपा, सृष्टि रचने का संकल्प किया। उसने तप तपे कर इस सब को रचा, जो यह कुछ है। उसको रचे कर वह उसी में प्रविष्ट हो गया।

भगवान् में सृष्टि रचने की जो इच्छा होती है वह ही तप है। हरि के संकल्प से ही प्रकृति में कम्प उत्पन्न हो जाता है। भगवान् उसी संकल्प तथा रचना में शक्तिरूप से प्रविष्ट हुआ रहता है।

तदनुप्रविश्य। सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च। सत्यमभवत्। यदिदं किञ्च। तत्सत्यमित्याचक्षते। तदप्येष श्लोको भवति।

उसमें प्रवेश करके वह भगवान् व्यक्त और अव्यक्त दोनों हो गया। उसकी इच्छा तो अभिव्यक्त हो गई परन्तु उसका स्वरूप कूटस्थ ही रहा। तदनन्तर, जो पदार्थ निर्वचन—वर्णन करने योग्य है और जो अनिर्वचनीय है, जो आधाररूप है और जो आधाररूप नहीं है जो विज्ञान है और जो विज्ञान नहीं है, जो अविनाशी है और जो नाशवान् है उस सब में भगवत्सत्ता प्रकट हो गई। तब जगत् हो गया इस कारण जो यह कुछ है वह सत्य है—ऐसा कहा जाता है। इस पर यह श्लोक है।

सातवां अनुवाक

असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत।
तदात्मानं स्वयमकुरुत। तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति।

यह दृश्यमान जगत् पहले अव्यक्त था; फिर ईश्वर इच्छा से निश्चय व्यक्त हो गया। उस भगवान् ने अपने आपको आप प्रकट किया, इस कारण वह स्वयंभू सुकृत—पुण्यरूप कहा जाता है।

यद्वै तत्सुकृतम् । रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति । को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात् । यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् । एष ह्येवानन्दयति । यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते । अथ सोऽभयं गतो भवति ॥६॥

निश्चय से, जो वह भगवान् पुण्यरूप है वह ही रस है। परम पवित्र परमात्मा ही सुख तथा सार स्वरूप है। यह उपासक सुखस्वरूप तथा सारस्वरूप भगवान् को पाकर ही आनन्दवान् हो जाता है। जो यह आकाश अर्थात् सर्वाधार ईश्वर, सुखस्वरूप न हो तो कौन अपान और कौन प्राण पवन ले सके। भगवान् की सत्ता के बिना जीना और प्राण लेना भी असम्भव है। यह ही हरि सबको सुखी करता है, आनन्दमय बनाता है। जब ही यह उपासक, इस अदृश्य—निराकार में शरीररहित में अनिर्वचनीय में ओर पराश्रयरहित परमेश्वर में, अभय प्रतिष्ठा को पा लेता है निर्भयपद प्राप्त कर लेता है, तब वह भगवद्भक्त अभयपद प्रतिपन्न हो जाता है।

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नु दरमन्तरं कुरुते । अथ तस्य भयं भवति । तत्त्वेव भयं विदुषो मन्वानस्य । तदप्येष श्लोको भवति ॥७॥

जब ही यह उपासक इस परमात्मस्वरूप में थोड़ासा भी अन्तर—संशय करता है, तब उसको भय प्राप्त होता है, उपासक की भावना भंग हो जाती है। वास्तव में यह ही भय, भावनाभंग से जन्म-मरण का भय अपने आपको ज्ञानी मानने वाले को होता है। जो मनुष्य अपने ज्ञानादि का अभिमान करता है वह संशयशील होकर मृत्यु के भय को प्राप्त होता है। इस पर यह श्लोक है।

आठवां अनुवाक

भीषाऽस्माद्वातः पवते । भीषोदेति सूर्यः ।
भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च । मृत्युर्धावति पञ्चम इति ॥

इस परमेश्वर के भय—नियम-नियति से वायु चलती है, इसके भय से सूर्य उदय होता है, इसके भय से अग्नि और मेघ काम करता है और इसके भय से पांचवां मृत्यु प्राणियों को मारने के लिए दौड़ता है। जगन्नियन्ता का नियति-नियम अटल है।

सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति । युवा स्यात् साधुयुवाऽध्यापकः । आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः । तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात् । स एको मानुष आनन्दः ॥१॥

वह यह आनन्द का विचार है —आनन्द का वर्णन है। मनुष्य युवा हो श्रेष्ठ युवा और पठित हो। पुरुषार्थी वा सुशिक्षित हो, सुदृढ और अतिशय बलवान् हो। उसकी यह सारी पृथिवी धन से पूर्ण हो जावे, उसको धन से पूर्ण सारी भूमि मिल जावे तो वह एक मानुष आनन्द है। वह एक मनुष्यसम्बन्धी सुख है।

ते ये शतं मानुषा आनन्दाः। स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥२॥

वे जो सौ मानुष आनन्द हैं, उनके बराबर वह एक मनुष्यगन्धर्वों का आनन्द है। युवा, श्रेष्ठ, पठित, उद्यमी, सुदृढांग, महाधनाढ्य मनुष्य का आनन्द सौ गुणा किया जाय तो उतना आनन्द संगीतनृत्यनिपुण मनुष्य को होता है। पर उस मनुष्यगन्धर्व को यह आनन्द होता है जो वेदों का विद्वान् हो और कामना के वशीभूत न हो।

ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः। स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥३॥

वे जो सौ मनुष्यगन्धर्वों के आनन्द हैं, उनके बराबर वह एक देवगन्धर्वों का आनन्द है, देवगायकों का सुख है। परन्तु वह देवगायक वेदों का विद्वान् और कामना-रहित हो।

ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः। स एकः पितॄणां चिरलोकानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥४॥

वे जो सौ देवगन्धर्वों के आनन्द हैं, उनके बराबर वह एक चिरलोकवासी पितरों का आनन्द है। पर वह पितर वेदों का विद्वान् और कामनारहित हो।

ते ये शतं पितॄणां चिरलोकानामानन्दाः। स एक आजानजानां देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥५॥

वे जो चिरलोकवासी पितरों के सौ आनन्द हैं, उनके बराबर वह एक आजानज—ज्ञानज देवों का आनन्द है। वह देव वेदों का विद्वान् और कामनारहित हो।

ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः। स एकः कर्मदेवानामानन्दः। ये कर्मणा देवानपियन्ति। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥६॥

वे जो आजानज देवों के सौ आनन्द हैं, उनके बराबर वह एक कर्मदेवों का आनन्द है। कर्मदेव वे हैं जो कर्म से देवों को—देवत्व को प्राप्त होते हैं। पर वह कर्मदेव वेदों का विद्वान् और कामनारहित हो।

ते ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः । स एको देवानामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकाम-हतस्य ॥७॥

वे जो कर्मदेवों के सौ आनन्द हैं, उनके बराबर वह एक देवों का आनन्द है। पर देव ज्ञानी हो और कामनारहित हो।

ते ये शतं देवानामानन्दाः । स एक इन्द्रस्यानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥८॥

वे जो देवों के सौ आनन्द हैं; उनके बराबर वह एक ईन्द्र का आनन्द है। वह इन्द्र ज्ञानी हो और कामनारहित हो।

ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः । स एको बृहस्पतेरानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥९॥

वे जो ईन्द्र के सौ आनन्द हैं, उनके बराबर वह एक बृहस्पति का आनन्द है। वह ज्ञानी हो और कामनारहित हो।

ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः । स एकः प्रजापतेरानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥१०॥

वे जो बृहस्पति के सौ आनन्द हैं, उनके बराबर वह एक प्रजापति का आनन्द है। पर वह ज्ञानी और कामनारहित हो।

ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः । स एको ब्रह्मण आनन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥११॥

वे जो प्रजापति के सौ आनन्द हैं, उनके बराबर वह एक ब्रह्मा का आनन्द है। वह ज्ञानी और कामनारहित हो।

ऊपर के पाठ में ब्रह्मा से तात्पर्य ब्रह्मवेत्ता तथा ब्रह्मलीन आत्मा से है। यह आनन्द की ऊँची कोटि है।

स यश्चायं पुरुषे । यश्चासावादित्ये । स एकः ।

वह आनन्द जो यह ब्रह्मसमाधिगत पुरुष में है और जो वह आनन्द आदित्यवर्ण भगवान् में है वह एक है। ब्रह्मज्ञानी की और ब्रह्म की आनन्दावस्था में समता है।

स य एवंवित् । अस्माल्लोकात्प्रेत्य । एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति । एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रामति । एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रामति । एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रामति । एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति । तदप्येष श्लोको भवति ॥१२॥

वह जो ज्ञानी आनन्दधाम ब्रह्म की महत्ता को इस उक्त प्रकार से जानता है, वह इस लोक से मुक्त होकर इस अन्नमय शरीर के आत्मा को पा लेता है। इस प्राणमय के आत्मा को पा लेता है। वह इस मनोमय के आत्मा को पा लेता है। वह इस विज्ञानमय के आत्मा को पा लेता है। वह इस आनन्दमय के आत्मा को पा लेता है। इस पर यह श्लोक है।

अन्नमयादि के आत्मा को पाना—उपसंक्रमण—अनुभव करना है। मुक्त आत्मा अन्नमयादि में पूर्ण अपने एक अखण्ड आत्मा को जान जाता है। उसका देहाध्यास नाश हो जाता है।

नवां अनुवाक

यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्, न बिभेति कुतश्चनेति। एतं ह वाव न तपति, किमहं साधु नाकरवं? किमहं पापमकरवमिति। स य एवं विद्वानेते आत्मानं स्पृणुते। उभे ह्येवैष एते आत्मानं स्पृणुते। य एवं वेद। इत्युपनिषत् ॥९॥

वाणियां मन के साथ, न पहुंच कर, जिस ब्रह्म से लौट आती हैं, उस ब्रह्म के आनन्द को जो जन जानता है वह किसी से नहीं डरता। ब्रह्मवेत्ता भय से पार पा जाता है। निश्चय से वह यह नहीं अनुताप करता कि क्या मैंने भला कर्म नहीं किया और क्या मैंने पापकर्म किया। क्योंकि वह ज्ञानी जीवन्मुक्त हो जाता है। उसे फिर पाप-पुण्य स्पर्श नहीं करते। वह जो ऐसा जानता है कि ये शुभाशुभ-कर्म आत्मा को स्पर्श करते हैं किन्तु बन्धक नहीं बनते, दोनों ही ये पाप-पुण्य आत्मा को स्पर्श करते हैं। उसके आत्मभाव से कर्म होते हैं। वह राग-द्वेष से प्रेरित होकर कोई भी कर्म नहीं करता। यह ही उपनिषत्—रहस्य है।

अथ भृगुवल्ली

पहला अनुवाक

ओम् सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु, मा विद्विषावहै । ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

भृगुर्वै वारुणिः, वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तस्मा एतत्प्रोवाच । अन्नं, प्राणं, चक्षुः, श्रोत्रं, मनो वाचमिति ॥

पुराकाल में वरुण ऋषि का पुत्र भृगु अपने पिता वरुण के पास गया । और विनयपूर्वक बोला—भगवन्! मुझे ब्रह्म बताइए । गुरु ने उसे यह कहा—अन्न है, प्राण है, आंखें हे, कान है, मन है और वाणी है । ये सब ब्रह्मप्राप्ति के साधन हैं । और ब्रह्मज्ञान के द्वार हैं ।

तं होवाच । यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व । तद् ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ॥१॥

साधन बता कर, भृगु को वरुण ने कहा—जिस आत्मसत्ता की प्रेरणा से ये प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिस से उत्पन्न हुए जीव जीते हैं—पालन पाते हैं; मरणकाल में. जिससे जन्मान्तर में जाते हैं, तथा जिसमें प्रवेश करते हैं, उसके जानने की जिज्ञासा कर । वह ब्रह्म है । उसने तप किया । उस भृगु ने तप तप कर ।

पिता ने अपने पुत्र को कहा कि परमेश्वर वह है जिससे प्राणियों के जन्म होते हैं, जिससे प्राणियों की पालना होती है और जिसके नियति-नियम में प्राणी हैं । वही जड़-जङ्गम जगत् का कारण ब्रह्म तू जान ।

दूसरा अनुवाक

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात् । अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । अन्नेन जातानि जीवन्ति । अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तं होवाच । तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ॥२॥

अन्न को ब्रह्म जाना। वह समझा कि निश्चयपूर्वक अन्न से 'ही ये' प्राणी उत्पन्न होते हैं, अन्न से उत्पन्न हुए प्राणी जीते हैं, और अन्न को ही जाते हैं तथा अन्न में ही प्रवेश करते हैं। जो खाया जाय वह अन्न है। ऐसा अन्न ही प्राणियों की उत्पत्ति, पालना तथा मरण का कारण है अथवा अन्नमय कोश आत्मा है। यह जान कर संशयशीलता से प्रेरित भृगु फिर वरुण पिता के पास गया और नम्रता से बोला—हे भगवन्! मुझे ब्रह्म बताइए। उसको वरुण ने कहा—तप से, साधन करके ब्रह्म जानने की इच्छा कर। तप ब्रह्म है। ऐसा आदेश पाकर भृगु ने तप किया। उस ने तप तप कर।

तीसरा अनुवाक

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तं होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा ॥३॥

प्राण—जगत् के जीवन को ब्रह्म जाना। वह यह समझा कि प्राण से ही ये जीव उत्पन्न होते हैं, प्राणद्वारा ही उत्पन्न हुए जीते हैं और अन्त में प्राण में जाते तथा प्रवेश करते हैं, प्राण ही आत्मा है। यह जान कर वह शंकावश फिर वरुण पिता के पास गया। उसे बोला—भगवन्! मुझे ब्रह्म बताइए। उसको वरुण ने कहा—तप से, साधनों से ब्रह्म को जानने की इच्छा कर। तप ब्रह्म है; तप से ही ब्रह्म जाना जाता है। यह आदेश पाकर उसने तप किया।

चौथा अनुवाक

मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। मनसा जातानि जीवन्ति। मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तं होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा ॥४॥

भृगु ने तप साधन करके मन को ब्रह्म जाना, मनोवृत्ति को ही आत्मा माना। उसने समझा कि निश्चय मन से ही ये जीव उत्पन्न होते हैं; मन से उत्पन्न हुए जीते हैं, अन्त में मर कर मन को जाते हैं तथा मन में प्रवेश करते हैं। मन को उत्पत्ति, वृद्धि तथा लय का कारण जान कर वह संशयवश फिर वरुण पिता के पास गया। उसे विनय से बोला—भगवन्! मुझे ब्रह्म बताइए। उसको वरुण ने कहा—तप—साधन से ब्रह्म जानने की इच्छा कर। तप—साधन ब्रह्म है। ऐसा आदेश पाकर उसने तप किया।

पांचवां अनुवाक

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् । विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । विज्ञानेन जातानि जीवन्ति । विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय । पुनरेव वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तं होवाच । तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ॥५॥

भृगु ने तप करके विज्ञान को ब्रह्म जाना, बुद्धि को ही आत्मा माना। वह यह समझा कि निश्चय विज्ञान से ही ये जीव उत्पन्न होते हैं; विज्ञान से उत्पन्न हुए जीते हैं, मर कर विज्ञान को जाते तथा विज्ञान में प्रवेश करते हैं। ऐसा जान कर, वह संशयवश फिर वरुण पिता के पास गया और विनय से बोला—भगवन्! मुझे ब्रह्म बताइए। उसको वरुण ने कहा—तप से ब्रह्म जानने की इच्छा कर। तप ब्रह्म है। ऐसा आदेश पाकर उसने तप किया।

छठा अनुवाक

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । सैषा भार्गवी वारुणी विद्या । परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता । य एवं वेद प्रतितिष्ठति । अन्नवानन्नादो भवति । महान् भवति, प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान् कीर्त्या ॥६॥

भृगु ने पिता के आदेशानुसार तप तप कर अन्त में, आनन्द—परमेश्वर को ब्रह्म जाना। वह समझ गया कि निश्चय आनन्द से ही ये जीव उत्पन्न होते हैं। आनन्द से उत्पन्न हुए जीते हैं। अन्त में मर कर आनन्द के नियम से जन्मान्तर को जाते हैं और मुक्त आत्मा आनन्द में प्रवेश करते हैं। वह यह ईश्वर की निष्ठा भृगु और वरुण की विद्या है। भृगु ने समझी और वरुण ने वर्णन की। यह ब्रह्मविद्या परम आकाश—परम परमेश्वर में प्रतिष्ठित है। अन्नादि में ब्रह्मभाव नहीं है। ब्रह्मभावना तो केवल परमानन्दमय परमेश्वर में ही प्रतिष्ठित है। जो जिज्ञासु इस प्रकार परमेश्वर को उत्पत्ति, पालना और प्रलय का कारण जानता है और परमेश्वर को कर्ता, भर्ता और हर्ता समझता है वह आत्मा में स्थिर हो जाता है। वह अन्नवान्—भोज्य-पदार्थवान् तथा भोज्यपदार्थों का भोक्ता हो जाता है। वह प्रजा से, पशुओं से और ब्रह्मतेज से महान् हो जाता है। और वह कीर्ति से भी महान् हो जाता है।

अन्नमयादि कोशों का जैसा विचार ब्रह्मवल्ली में, व्यष्टि आत्मा के सम्बन्ध में वर्णित हुआ है वैसा ही इस वारुणी विद्या में ब्रह्म के सम्बन्ध में समझना चाहिए। भेद केवल यह है कि अखिल विश्व, समष्टि आत्मा—ब्रह्म का अन्नमय

है, विश्वजीवन प्राणमय है, प्रकृति की परमाणु से भी सूक्ष्म अवस्था, महत्तत्त्व में परतम मननशक्ति, परतरात्परतम मन मनोमय है, परमशुद्धज्ञान विज्ञानमय है और परमानन्दावस्था आनन्दमय है। जगत् की उत्पत्ति, पालना तथा प्रलय का कारण यही परमपद परमेश्वर है।

व्यष्टि आत्मा का व्यावहारिक मन, अपरमन है। उसका आत्मस्वरूप में स्थिति का मनन, परमन है और मुक्तावस्था की मननशक्ति, परतर मन है। समष्टि आत्मा का मनन, परतरात्परतम मन है।

सातवां अनुवाक

अन्नं न निन्द्यात्। तद् व्रतं। प्राणो वा अन्नम्। शरीरमन्नादम्। प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्। शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या ॥७॥

परमेश्वर की धारणा तथा विद्या वर्णन करके ऋषि खाद्य-पदार्थ का उपदेश देता है। भोक्ता और भोग का वर्णन करता है। विवेकी जन अन्न—खाद्यवस्तु को कभी भी न निन्दे। यह व्रत जाने। इसको भङ्ग न करे।। केवल अप्राण को ही न अन्न माने क्योंकि प्राण—जीवन भी अन्न है। सप्राण वस्तु भी खाद्य है। शरीर अन्न को खाने वाला है। प्राण में शरीर ठहरा हुआ है। सप्राण खाद्य के आश्रित देह है। शरीर में प्राण ठहरा हुआ है। प्राण का भोक्ता शरीर है और शरीर का भोक्ता प्राण है। ये दोनों एक दूसरे के आश्रित हैं। सो यह अन्न अन्न में ठहरा हुआ है। खाद्य खाद्य में रहता है। प्राण भी खाद्य है और शरीर भी। भोक्ता भोग सापेक्ष हैं। वह जो यह अन्न, अन्न में आश्रित जानता है स्थिर हो जाता है। उसका निश्चय नहीं डोलता। वह अन्नवान् और अन्न का भोक्ता हो जाता है। वह सन्तति से, पशुओं से और उपासना के तेज से महान् हो जाता है। और वह कीर्ति से भी महान् हो जाता है। इस अन्नोपासना से भोक्ता अन्त में जीवन, शक्ति, ओज और तेज की भावना करे।

आठवां अनुवाक

अन्नं न परिचक्षीत। तद् व्रतम्। आपो वा अन्नम्। ज्योतिरन्नादम्। अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम्। ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या ॥८॥

अन्न को न छोड़े, न त्यागे। यह व्रत—नियम जाने। अन्न को फेंकना, उच्छिष्ट

छोड़ना अथवा अन्न का निरादर करना अच्छा न समझे। जल भी अन्न है। ज्योति—अग्नि अन्न को खाने वाली है। अग्नि जल को खा जाती है। जलों में ज्योति ठहरी हुई है और ज्योति में जल ठहरे हुए हैं। सो यह अन्न, अन्न में ठहरा हुआ है। वह जो यह अन्न अन्न में आश्रित जानता है वह स्थिर हो जाता है; खाद्यवस्तु में उसे भ्रम नहीं रहता। वह अन्नवान् और अन्न का भोक्ता हो जाता है। प्रजा से, पशुओं से और ब्रह्मतेज से वह महान् हो जाता है। वह कीर्ति से भी महान् हो जाता है। अन्न का व्रती जल को भी स्वच्छ रक्खे।

नवां अनुवाक

अन्नं बहु कुर्वीत। तद् व्रतम्। पृथिवी वा अन्नम्। आकाशोऽन्नादः। पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः। आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या ॥९॥

मनुष्य को चाहिए कि अन्न को बहुत बढ़ावे। खाद्य वस्तुओं में वृद्धि करे। यह व्रत है। खाद्य वस्तुएँ अधिक उत्पन्न करना धर्म कर्म है। पृथिवी भी अन्न है, आकाश अन्न को खाने वाला है। आकाश में पृथिवी लय हो जाती है। पृथिवी में आकाश विद्यमान है और आकाश में पृथिवी ठहरी हुई है। दोनों एक दूसरे के सहारे पर हैं। सो यह अन्न अन्न में ठहरा हुआ है। वह जो यह अन्न अन्न में ठहरा हुआ जानता है, स्थिर हो जाता है। सब वस्तुओं में भोक्ता-भोग्य-भाव धार कर भोजन के भेद में नहीं फंसता। वह अन्नवान् और अन्न का भोक्ता हो जाता है। वह प्रजा से, पशुओं से और ब्रह्मतेज से महान् हो जाता है और कीर्ति से भी महान् हो जाता है।

दसवां अनुवाक

न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत। तद् व्रतम्। तस्माद् यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात्। अराध्यस्मा अन्नमित्याचक्षते। एतद्वै मुखतोऽन्नं राद्धं; मुखतोऽस्मा अन्नं राध्यते। एतद्वै मध्यतोऽन्नं राद्धं, मध्यतोऽस्मा अन्नं राध्यते। एतद्वा अन्तोऽन्नं राद्धं, अन्ततोऽस्मा अन्नं राध्यते ॥१॥

गृहस्थी को चाहिए कि किसी अतिथि को भी घर से न हटाये। भोजन-समय पर आये का आदर-सम्मान करे। यह व्रत है; अतिथि-सेवा धर्म है। इस कारण जिस किसी भी विधि से बन सके, गृही बहुत अन्न प्राप्त करे, जिससे उसके घर में अतिथि आदरातिथ्य पाते रहें। इस अतिथि महाभाग के लिए अन्न पकाया है यह ज्ञानी जन कहा करते हैं। यहं जो मुख्य अतिथिभाग को मान कर अन्न पकाया गया है उसका फल यह

है कि इस दाता के लिए मुख्यता से फलरूप अन्न पकाया जाता है। ऐसे दाता को उत्तम तथा प्रधान भोग प्राप्त होता है। जो यह अतिथि को गौण मान कर अन्न पकाया गया है, उसका फल यह है कि इस दाता के लिए मध्यता—गौणता से अन्न पकाया जाता है। ऐसे दाता को उस दान का गौण फल मिलता है। यह जो अतिथि को न गिन कर—कुछ न समझ कर अन्न पकाया गया है, उसका फल यह होता है कि इस दाता के लिए अन्तता से अन्न पकाया जाता है। ऐसे भावनाहीन दाता को अतितुच्छ फल प्राप्त होता है। दान का दाता को भावानुसार फल मिलता है।

य एवं वेद। क्षेम इति वाचि। योगक्षेम इति प्राणापानयोः। कर्मेति हस्तयोः। गतिरिति पादयोः। विमुक्तिरिति पायौ। इति मानुषीः समाज्ञाः ॥२॥

जो दाता दान और अन्न के माहात्म्य को उक्त प्रकार से जानता है उसकी वाणी में शक्ति का क्षेम—रक्षण होता है। वह वाणी से शक्ति का नाश नहीं करता। उसकी वाणी संयम के कारण ओजस्विनी होती है। उसके श्वास-प्रश्वास में योगक्षेम होता है। अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति का नाम योग है और प्राप्त वस्तु की रक्षा का नाम क्षेम है। ये दोनों उसके श्वास-प्रश्वास में बने रहते हैं। उसके हाथों में कर्म—उद्योग होता है। उसके पाँओं में गति, चलने का वेग बना रहता है। उस के मलत्याग के चक्र में त्यागने की शक्ति बनी रहती है। यह मनुष्यसम्बन्धी समाज्ञाएं हैं; मनुष्य के कर्मधर्मों की उत्तम आज्ञाएं हैं। ऊपर के उपदेश मानवधर्म के उपदेश तथा आदेश हैं।

अथ दैवीः। तृप्तिरिति वृष्टौ। बलमिति विद्युति। यश इति पशुषु। ज्योतिरिति नक्षत्रेषु। प्रजापतिरमृतमानन्द इत्युपस्थे। सर्वमित्याकाशे ॥३॥

अब दैवी आज्ञाएं कही जाती हैं। वृष्टि में तृप्ति, बिजली में बल, पशुओं में यश, नक्षत्रों में ज्योति, गृहस्थधर्म में सन्तति, सुख और आनन्द और आकाश में सर्वरूप से भगवान् विद्यमान है; ये दैवी कर्म हैं। इन में दैवी शक्ति काम करती है और आकाश—सूक्ष्मलोक में भगवान् स्वयं सर्वरूप से विद्यमान है।

तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत। प्रतिष्ठावान् भवति। तन्मह इत्युपासीत।
महान् भवति। तन्मन इत्युपासीत। मानवान् भवति ॥४॥

जो भगवान् आकाश में सर्वरूप से विद्यमान है, उसे प्रतिष्ठा—सब की स्थिति तथा आश्रय जान कर, उसकी उपासना करे तो मनुष्य प्रतिष्ठावाला हो जाता है। उसको महान् जानकर उपासना करे तो मनुष्य महान् हो जाता है। उसे मन—ज्ञानस्वरूप

जान कर उपासना करे तो मनुष्य मननशील—ज्ञानी हो जाता है। भगवान् के गुणकीर्त्तन से तथा गुणचिन्तन से मनुष्य भी गुणी हो जाता है।

तन्नम इत्युपासीत । नम्यन्तेऽस्मै कामाः । तद् ब्रह्मेत्युपासीत । ब्रह्मवान् भवति । तद् ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत । पर्येणं म्रियन्ते द्विषन्तः सपत्नाः । परि येऽप्रिया भ्रातृव्याः ॥५॥

उस ब्रह्म को सब से नत—नमस्कार-कृत जान कर उपासे तो ऐसे, इस भक्त को सब मनोरथ झुकते हैं—प्राप्त होते हैं उसको ब्रह्म जान कर उपासे तो वह भक्त ब्रह्मवाला हो जाता है। वह ब्रह्म का परम अन्त है, अपनी पराकाष्ठा है यह जान कर उपासे तो उसके द्वेषी शत्रु विशेषता से मर जाते हैं। और वे मर जाते हैं जो अप्रिय शत्रु हैं। जिस एक भाव को चिन्तन करे तो वही दिव्य भाव उपासक में व्यक्त होने लगेगा।

यश्चायं पुरुषे, यश्चासावादित्ये, स एकः। य स एवंवित् । अस्माल्लोकात्प्रेत्य । एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतं मनोमय-मात्मानमुपसंक्रम्य । एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतमानन्दमयमात्मानमुप-संक्रम्य । इमाँल्लोकान् कामान्नीकामरूप्यनुसंचरन् । एतत् साम गायन्नास्ते ॥५॥

जो यह आनन्द इस ब्रह्मज्ञानी पुरुष में है और जो आनन्द उस आदित्यस्वरूप परमेश्वर में है वह एक है। आनन्द में भेद नहीं है। वह जो मुक्ति के आनन्द को इस प्रकार से जानता है, वह इस लोक से मर कर इस अन्नमय के आत्मा को प्राप्त करता है। वह इस प्राणमय के आत्मा को पा लेता है। वह इस मनोमय के आत्मा को पा लेता है। वह इस विज्ञानमय के आत्मा को पा लेता है। वह इस आनन्दमय के आत्मा को पा लेता है। वह इस स्थूल-सूक्ष्म में, एक अखण्ड आत्मा को अनुभव करके इन लोकों में यथेष्ट अन्नवाला—भोगवाला, स्वेच्छा से रूपवाला होकर विचरता हुआ, यह साम गाता हुआ रहता है। मुक्त जीव स्वतन्त्रता से ब्रह्मानन्द में लीन रहता है। और जीवन्मुक्त आत्मा स्वेच्छा से प्रारब्धानुसार विचरता हुआ भगवद्भजन तथा कीर्तन में मग्न हुआ करता है।

हा३वु हा३वु हा३वु। अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादो३ऽहमन्नादो३-ऽहमन्नादः।

कामना से विचरने वाला आत्मज्ञानी सार को जान कर कहता है—अहो आश्चर्य, मैं अन्न हूं। मैं अन्न हूं। मैं अन्न हूं। मैं ही अन्न को खाने वाला हूं। मैं ही अन्न को खाने वाला हूं। मैं ही अन्न को खाने वाला हूं; मै भोग्य और भोक्ता हूं।

अहं श्लोककृद् अहं श्लोककृद् अहं श्लोककृत्। अहमस्मि प्रथमजा ऋता३स्य। पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य ना३भायि। यो मा ददाति स इदेव मा३वाः। अहमन्न-मन्नमदन्तमा३द्मि। अहं विश्वं भुवनमभ्यभवा३म्। सुवर्णज्योतिः। य एवं वेद। इत्युपनिषत् ॥७॥

मैं कीर्त्तिकर हूं। मैं कीर्तिकर हूं। मैं कीर्तिकर हूं। ऋत—ज्ञान से पहले उत्पन्न हुआ, मैं हूँ। देवों से प्रथम मैं हूँ। मैं अमृत का केन्द्र हूं। जो मुझे अन्न देता है वह ही भगवान् मेरी रक्षा करता है। मैं अन्न, अन्न खाते हुए को खाता हूं। कर्महीन भोक्ता को खा जाता हूँ। मैं सारे प्राकृत जगत् को जीते रहा हूं। मैं सुवर्ण सदृश ज्योति हूं। जो ऐसा आत्मभाव जानता है उसके लिए यह रहस्य है।

अध्यात्मपक्ष में ऐसी भावनाएं तथा आत्मोद्बोधन बहुत लाभकारी कहे गये हैं। इस उपासना से उपासक में उपर्युक्त शक्तियों का विकास होने लग जाता है, वह ब्राह्मी अवस्था का अनुभव कर लेता है और इस महः-उपासना से स्वमहत्ता को जागृत कर पाता है।

ओम् सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु, सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीत-मस्तु, मा विद्विषावहै। ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

यजुर्वेदीया तैत्तिरीयोपनिषत्समाप्ता।

ऋग्वेदीया

अथ ऐतरेयोपनिषद्

अध्याय पहला । पहला खण्ड

ऐतरेय उपनिषद् ऐतरेय आरण्यक के अन्तर्गत है। ऐतरेय उपनिषद् महिदास ऐतरेय ऋषि-कृत है। इसके तीन अध्याय हैं। इनमें आत्मविद्या का वर्णन किया गया है।

ओ३म् । आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् । नान्यत् किंचन मिषत् । स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति ॥१॥

सृष्टि की रचना से पहले यह एक ही आत्मा—परमेश्वर था। वह भगवान् ही ज्ञान से ज्वलन्तरूप में विराजमान था। अन्य कुछ भी नहीं झंपकता—हिलता था। भगवान् से भिन्न सकल कारण-जगत् अकम्प, अज्ञात और अव्यक्त था। उस आत्मा ने इच्छा की कि लोकों को—कर्मफल-भोग के स्थानों को रचूं।

ऊपर के पाठ में आत्मा शब्द परमेश्वर का वाचक है। आत्मा शब्द का अर्थ है जो प्राप्त हो। विद्यमान हो; यह शब्द उन आत्माओं के लिए भी प्रयुक्त होता है जो कर्मफलों, जन्मजन्मातरों तथा कर्मानुसार लोकलोकान्तरों को पाते हैं। भगवान् स्वसत्ता से सदा सर्वत्र प्राप्त तथा विद्यमान है। चेतन पदार्थ को इस कारण भी आत्मा कहा है कि वह सदा स्वस्वरूप में प्राप्त रहता है। उस में विकार उत्पन्न नहीं होता। आत्मसत्ता स्वभाव से परिवर्त्तित नहीं होती; सर्वदा एकरस, अखण्ड बनी रहती है। आत्मसत्ता में बन्धन और भ्रान्ति संसर्गजन्य हुआ करते हैं, परन्तु परमात्मा में तो बन्धन और भ्रान्ति का सर्वथा अभाव है। वह परम आत्मा सदा शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप है। वह ईश्वर स्वसत्ता, शक्ति तथा स्वेच्छा से सर्वत्र विद्यमान है। उसकी शक्ति तथा इच्छा स्वाभाविकी है ऐसा परम पुरुष आत्मा सृष्टि से पहले एक अखण्ड स्वरूप से जागृत था। वही एक स्वसत्ता से साक्षी था। अन्य सारा कार्य-जगत् अपने कारण में प्रसुप्तवत् लीन था। उस एक अद्वितीय—असमान भगवान् के संकल्प से प्रसुप्त और अज्ञेय कारण में प्रकम्प उत्पन्न हो गया। जैसे बीज में उत्पादिनी शक्ति होती है ऐसे ही भगवान् का वह संकल्प कारण-जगत् में प्रविष्ट होकर नाना सृष्टियों, आकृतियों और विकासों का साधन बना।

स ईमांल्लोकानसृजत । अम्भो मरीचीर्मरमापः । अदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठा, अन्तरिक्षं मरीचयः, पृथिवी मरो, या अधस्तात्ता आपः ॥२॥

उस सर्वशक्तिमान् भगवान् ने इन आगे वर्णित लोकों को रचा। अम्भस्, मरीचि, मर और आपस्—जल उसने रचे। वह अम्भस्—बाष्प है जो ऊपर आकाश में है। उसकी स्थिति—आश्रय द्युलोक है। मरीचि अन्तरिक्ष है। अन्तरिक्ष—शून्य से किरणें आती हैं इस कारण उसका नाम भी मरीचि कहा गया। मर—मरने वाली पृथिवी है। जो नीचे भूमि पर हैं वे जल हैं। बाष्पमय का नाम अम्भः है और स्थूल जल का नाम आपः। पृथिवी को मारने वाली इस कारण कहा गया कि यह मर्त्यलोक है। जन्म-मरण इसी पर होता है। लोकरचना में चार प्रकार के लोक वर्णन हुए हैं—बाष्पमय लोक, प्रकाशरूप अन्तरिक्षलोक, पार्थिवलोक और जलमय लोक।

स ईक्षतेमे नु लोकाः, लोकपालान्नु सृजा इति । सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्छयत् ॥३॥

लोकों को रच कर परमेश्वर ने इच्छा की कि ये लोक हैं। अब मैं लोकपालों—लोकरक्षकों को रचूं। तब उसने जलों—सूक्ष्मतत्त्वों से ही पुरुष को निकाल कर मूर्छित किया; विराट् पुरुष को बनाया। विराट् की रचना पुरुषाकार होने से उसे पुरुष कहा है। विराट् स्वरूप में जो उत्पादक बीजत्व है वही सूक्ष्मतत्त्वों से निकला हुआ पुरुष-भाव। जीवन, शक्ति तथा प्राण है।

तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत । यथाऽण्डं । मुखाद्वाग्वाचोऽग्निः । नासिके निरभिद्येतां; नासिकाभ्यां प्राणः, प्राणाद्वायुः । अक्षिणी निरभिद्येताम्; अक्षीभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः। कर्णौ निरभिद्येतां, कर्णाभ्यां श्रोत्रं, श्रोत्राद्दिशः । त्वङ् निरभिद्यत; त्वचो लोमानि, लोमभ्य ओषधिवनस्पतयः। हृदयं निरभिद्यत; हृदयान्मनो, मनसश्चन्द्रमाः । नाभिर्निरभिद्यत, नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्युः । शिश्नं निरभिद्यत; शिश्नाद्रेतो रेतस आपः ॥४॥

भगवान् ने उस विराट् को तपाया। नियम-नियति में बांधा। उस ज्ञान से विचारित विराट् का मुख निर्भेदन हुआ। उस विराट् में मनुष्यादि देह बन गये और उनमें मुख खुल गया, जैसे अण्डा भेदन होता है। मुख से वाणी हुई और वाणी से उसका देवता अग्नि प्रकट हुआ। दोनों नासिकाएं खुलीं; दोनों नासिकाओं से प्राण भीतर प्रविष्ट हुआ और प्राण से उसके देवता वायु की सिद्धि हुई। दोनों आँखे खुलीं; आँखों से चक्षु—देखने की शक्ति प्रकट हुई और चक्षु से सूर्य देवता हुआ। दोनों

कान खुले; कानों से सुनने की शक्ति प्रकट हुई और श्रोत्रों से उसका देवता दिशाएं हुई। त्वचा बनी; त्वचा से लोमें—स्पर्शशक्ति के केन्द्र प्रकट हुए। फिर लोमों से अन्न और वनस्पतियां हुई। लोमसदृश ये वस्तुएं भूमि पर प्रकट हुई। हृदय खुला; हृदय से मन प्रकट हुआ और मन से चन्द्रमा हुआ। नाभि खुली; नाभि से अपान—अधोभाग प्रकट हुआ और अधोभाग के चक्र से मलत्याग हुआ। जनन इन्द्रिय खुली; उससे उत्पादन-शक्ति प्रकट हुई और उत्पादनशक्ति से जल हुए।

विराट् में मनुष्य की प्रधानता है। मानव देह में मुख बना, उससे तेजोमय वाणी प्रकट हुई तो समष्टि में वाणी का पालक देवता अग्नि उत्पन्न हो गई। इसी प्रकार इन्द्रियों के गोलक और इन्द्रियों की शक्ति मनुष्य में जैसी हुई, वैसा ही लोक-पाल समष्टि में नियत हो गया।

दूसरा खण्ड

ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन् महत्यर्णवे प्रापतन्। तमशनायापि-पासाभ्यामन्ववार्जत्। ता एनमब्रुवन्, आयतनं नः प्रजानीहि, यस्मिन् प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति ॥१॥

वे अग्नि आदि ये देवता रचे जाकर इस महा समुद्र—विराट् में गिरे। उस विराट् काया में भूख और प्यास आ गई। चयोपचय आदि भाव प्रकट हुए। वे देवता मानो रचयिता को बोले—हमारा घर हमें बताइए। जिसमें रह कर हम अन्न खायें।

ताभ्यो गामानयत्, ता अब्रुवन् न वै नोऽयमलमिति। ताभ्योऽश्वमानयत्, ता अब्रुवन् न वै नोऽयमलमिति ॥२॥

ताभ्यः पुरुषमानयत्, ता अब्रुवन्, सुकृतं बतेति पुरुषो वाव सुकृतम्। ता अब्रवीद्यथाऽऽयतनं प्रविशतेति ॥३॥

वह विधाता, तब उनके लिए गायें लाया। वे बोले—निश्चय यह हमारे लिए पर्याप्त नहीं है। फिर वह उनके लिए घोड़ा लाया। वे बोले—निश्चय यह हमारे लिए पर्याप्त नहीं है। उत्तम इन्द्रियों के लिए पशुशरीर उचित नहीं है। तब अन्त में परमेश्वर उनके लिए पुरुष लाया, उसने उनके लिए मानव-देह नियत किया। तब वे बोले—अहो, यह उत्तम है; पुण्यरूप है। पुरुष ही सुकृत है। इसी में सुकृत होता है। तब प्रभु ने उनको कहा—यथायोग्य घर में प्रवेश करो।

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्। वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्। आदित्यश्चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्। दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्।

ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन् । चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत् । मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत् । आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन् ॥४॥

भगवान् का आदेश पाकर, वाग्-इन्द्रिय-देवता अग्नि वाक् बन कर मुख में प्रविष्ट हो गया। वायु प्राण होकर नासिका में प्रविष्ट हो गया। सूर्य चक्षु होकर आंखों में प्रविष्ट हो गया। दिशाएं श्रोत्र होकर दोनों कानों में प्रविष्ट हुई। ओषधि-वनस्पतियां लोम होकर त्वचा में प्रविष्ट हो गई। चन्द्रमा मन होकर हृदय में प्रविष्ट हुआ। मृत्यु अपान होकर नाभि में प्रविष्ट हुआ। जल रेतस् होकर जननस्थान में प्रविष्ट हुए। समष्टि की शक्तियां व्यष्टि में आ गईं।

मानव देह में लोक, इन्द्रिय और लोकपाल देवता सफलता पाते हैं। यहां ही देवताओं को सार्थकता प्राप्त होती है। ऊपर के अलंकार में यही भाव निहित है।

तमशनायापिपासे अब्रूतामावाभ्यामभिप्रजानीहीति । ते अब्रवीदेतास्वेव वां देवतास्वाभजाम्येतासु भागिन्यौ करोमीति । तस्माद्यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते; भागिन्यावेवास्यामशनायापिपासे भवतः ॥५॥

तब उसको भूख-प्यास ने कहा—हमारे लिए कोई स्थान बताइए। उन दोनों को वह बोला—इन्हीं देवताओं में मैं तुमको स्थापित करता हूं। इनमें तुमको भागवाली बनाता हूं। इसी कारण जिस किसी देवता के लिए हवि दी जाती है। उसमें क्षुधा-तृषा दोनों भागवाली होती हैं।

तीसरा खण्ड

स ईक्षतेमे नु लोकाश्च लोकपालाश्चान्नमेभ्यः सृजा इति ॥१॥

उस भगवान् ने इच्छा की कि ये 'लोक और 'लोकपाल हैं जिनको मैंने रचा। अब मैं इनके लिए अन्न की रचना करूं।

सोऽपोऽभ्यतपत्, ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत ।
या वै सा मूर्तिरजायतान्नं वै तत् ॥२॥

तब उसने जलों को तपाया; उनको पृथिवी पर स्थूल अवस्था दान की। उन जलों के तपने पर उनमें से मूर्ति उत्पन्न हुई। स्थूल जगत् बना। जो वह मूर्ति उत्पन्न हुई वह ही अन्न है। भोग के योग्य पदार्थ मूर्तिमन्त ही हैं।

तदेनदभिसृष्टं पराङत्यजिघांसत् । तद्वाचाऽजिघृक्षत्; तन्नाशक्नोद् वाचा ग्रहीतुम् । स यद्धैनद्वाचाऽग्रहैष्यदभिव्याहृत्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥३॥

जब विधाता ने इस अन्न को रचा तो वह अन्न रचा हुआ देवों को देखकर दूर भाग गया। उस समय उसको देवदल ने वाणी से पकड़ना चाहा। परन्तु, वह उसे वाणी से पकड़ न सका। वह यदि इस अन्न को वाणी से ग्रहण कर लेता तो निश्चय अन्न को कह कर—अन्न का नाम लेकर ही वह तृप्त हो जाता।

तत्प्राणेनाजिघृक्षत्; तन्नाशक्नोत् प्राणेन ग्रहीतुम्।
स यद्धैनत् प्राणेनाग्रहैष्यदभिप्राण्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥४॥

तब उसने इसे प्राण से—सांस से ग्रहण करना चाहा। परन्तु वह इसे, प्राण से न ग्रहण कर सका। वह यदि इसे प्राण से ग्रहण कर लेता तो निश्चय अन्न को सूंघ कर ही तृप्त हो जाता।

तच्चक्षुषाऽजिघृक्षत्; तन्नाशक्नोच्चक्षुषा ग्रहीतुम्।
स यद्धैनच्चक्षुषाऽग्रहैष्यद् दृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥५॥

उसने इसे आंख से ग्रहण करना चाहा, पर वह इसे आंख से ग्रहण न कर सका। वह यदि इसे आंख से ग्रहण कर लेता तो निश्चय अन्न को देख कर ही तृप्त हो जाता।

तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत्; तन्नाशक्नोच्छ्रोत्रेण ग्रहीतुम्।
स यद्धैनच्छ्रोत्रेणाग्रहैष्यच्छ्रुत्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥६॥

उसने उसे श्रोत्र से ग्रहण करना चाहा, परन्तु वह उसे श्रोत्र से ग्रहण न कर सका। वह यदि इसे श्रोत्र से ग्रहण कर लेता तो निश्चय अन्न को सुन कर ही तृप्त हो जाता।

तत्त्वचाऽजिघृक्षत्; तन्नाशक्नोत्त्वचा ग्रहीतुम्।
स यद्धैनत्त्वचाऽग्रहैष्यत् स्पृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥७॥

उसने उसे त्वचा से ग्रहण करना चाहा। वह उसे त्वचा से ग्रहण न कर सका। वह यदि इसे त्वचा से ग्रहण कर लेता तो निश्चय अन्न को छूकर तृप्त हो जाता।

तन्मनसाऽजिघृक्षत्; तन्नाशक्नोन्मनसा ग्रहीतुम्।
स यद्धैनन्मनसाऽग्रहैष्यद् ध्यात्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥८॥

उसने इसे मन से ग्रहण करना चाहा, वह इसे मन से ग्रहण न कर सका। वह यदि इसे मन से ग्रहण कर लेता तो निश्चय अन्न का ध्यान करके ही तृप्त हो जाता।

तच्छिश्नेनाजिघृक्षत्; तन्नाशक्नोच्छिश्नेन ग्रहीतुम्।
स यद्धैनच्छिश्नेनाग्रहैष्यद्विसृज्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥९॥

उसने इसे जनमें इन्द्रिय से ग्रहण करना चाहा, वह इसे उससे ग्रहण न कर सका। वह यदि इसे उससे ग्रहण कर लेता तो निश्चय अन्न को त्याग कर ही तृप्त हो जाता।

तदपानेनाजिघृक्षत्; तदावयत्। सैषोऽन्नस्य ग्रहो यद्वायुः। अन्नायुर्वा एष यद्वायुः ॥१०॥

तब उसने इसे अपान से—मुखद्वार से—ग्रास आदि भीतर ले जाने वाली वायु से ग्रहण करना चाहा, तब उसने उसे पकड़ लिया—खा लिया। जो मुख में निगलने की पवन है वह यह अन्न का ग्रह है, अन्न को ग्रहण करने की वायु है; अथवा यह जो अन्न ग्रहण करने की वायु है वह अन्न कीं आयु है। अन्न की स्थिति है, भौतिक शरीर की आयु है। अन्न खाने की शक्ति के साथ ही आयु रहती है।

ऊपर के सारे अलंकार का सार यह है कि इन्द्रियों में, उनकी शक्तियों में तथा उनके भोगों के नियमों में नियन्ता की नियति काम करती है। सारी सृष्टि में नियति का हाथ है।

स ईक्षत कथं न्विदं मदृते स्यादिति। स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति। स ईक्षत यदि वाचाऽभिव्याहृतं, यदि प्राणेनाभिप्राणितं, यदि चक्षुषा दृष्टं, यदि श्रोत्रेण श्रुतं, यदि त्वचा स्पृष्टं, यदि मनसा ध्यातं, यद्यपानेनाभ्यपानितं, यदि शिश्नेन विसृष्टमथ कोऽहमिति ॥ ११ ॥

उस समय आत्मा ने विचारा यह भौतिक देह मेरे विना कैसे रहेगी। तब उस जन्म धारण करने वाले आत्मा ने विचारा कि मुखादि किस द्वार से मैं इसमें प्रविष्ट होऊँ। उसने विचारा यदि वाणी से वचन-व्यवहार हो जाता, यदि घ्राणेन्द्रियें से ही साँस लिया जाता, यदि आंख से ही देखा जाता, यदि कान से ही सुना जाता, यदि त्वचा से ही छूआ जाता, यदि मन से ही चिन्तन किया जाता, यदि भीतर अन्नादि ले जाने वाली वायु से ही खाया जाता, और यदि जननेन्द्रिय द्वारा ही विसर्जन होता तो फिर मैं कौन हूं? मेरा इस देह में क्या स्थान है?

स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत। सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनं; तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः। अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति ॥१२॥

वह, ऐसा विचार कर संस्कारानुसारी आत्मा इसी ही सीमा को—सिर के ऊपर के भाग कपाल को फोड़ कर इसी द्वार से देह में प्रविष्ट हुआ। नासिका से

मस्तक में जाकर स्थित हुआ। सो यह द्वार विदृति नाम से प्रसिद्ध है। वह यह स्थान परमानन्द का हेतु होने से नान्दन नाम से भी प्रसिद्ध है। उस मस्तक में ठहरने वाले आत्मा की तीन अवस्थाएं हैं, उसके रहने के तीन स्थान हैं। वे तीन निवास स्थान स्वप्न हैं; आत्मा के विश्राम के धाम हैं। उनमें एक यह मस्तक है। दूसरा यह कण्ठ स्थान है। तीसरा यह हृदय स्थान है। तीनों स्थानों में आत्मा रहता है।

स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत्; किमिहान्यं वावदिषदिति।
स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यदिदमदर्शमिती३ ॥१३॥

उसने जन्म लेकर भौतिक दृश्यों को देखा। सृष्टि के सौन्दर्य को अवलोकन किया। उसने नाना रचनाएं देख कर यहां क्या दूसरी बात कही; केवल उसने इसी ही पुरुष ब्रह्म को अत्यन्त फैला हुआ देखा। सारा विराट् स्वरूप भगवान् की ही लीला जाना। ऐसा जान कर वह बोला—यह मैंने देखं लिया; सृष्टि के सौन्दर्य का सार मैंने जान लिया। इसमें भगवान् की इच्छा का प्रकाश है; उसी नियन्ता का नियम रचनाओं में काम कर रहा है।

तस्मादिदन्द्रो नाम। इदंद्रो ह वै नाम, तमिदंद्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण, परोक्षप्रिया इव हि देवाः परोक्षप्रिया इव हि देवाः ॥१४॥

उसने भगवान् को देखा, इस कारण वह इदंद्र प्रसिद्ध है। इदंद्र ही प्रसिद्ध है। उस इदंद्र होने वाले को ही गुप्तता से इन्द्र कहा जाता है। क्योंकि देव गुप्त—रहस्य से प्यार करते हैं; देव रहस्य से प्यार करते हैं। देवजन, ऋषि महर्षि नाम को रहस्य से रखते हैं। भेद के वाक्य जिज्ञासु को ही कहते हैं।

दूसरा अध्याय। पहला खण्ड

अपक्रामन्तु गर्भिण्यः। पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति, यदेतद्रेतः। तदेतत् सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः सम्भूतम्। आत्मन्येवात्मानं बिभर्ति, तद्यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनज्जनयति, तदस्य प्रथमं जन्म ॥१॥

इस अध्याय में गर्भाधान आदि का वर्णन है, इस कारण मुनि कहता है कि इसके पठन-पाठन के समय, गर्भ धारण करने वाली स्त्रियां उठ कर चली जायें। निश्चय से पुरुष में ही आदि से यह गर्भ—जननबीज होता है। जो यह रेतस् है, वह यह पुरुष के सारे अङ्गों से तेज—सार प्रकट होता है। पुरुष अपने आत्मा में अपने तेज को धारण करता है। वह जब भार्या में सींचता है। तब उसको अपने से बाहर जन्म देता है। वह इस का पहला जन्म है; वह गर्भ की पहली अवस्था है।

तत् स्त्रिया आत्मभूयं गच्छति, यथा स्वमङ्गं तथा ।

तस्मादेनां न हिनस्ति । साऽस्यैतमात्मानमत्र गतं भावयति ॥२॥

वह रेतस् जब स्त्री में जाता है तब उसका अपना आप हो जाता है, जैसे अपना अङ्ग हो ऐसे। इसी कारण वह स्त्री को नहीं दुःख देता। वह स्त्री पुरुष के इस धारण किये रेतस् को, जो अपने यहां आगया है, पालती है। अपने आहार, विचार तथा पथ्यादि से स्त्री उसको बढ़ाती है।

सा भावयित्री भावयितव्या भवति । तं स्त्री गर्भं बिभर्ति । सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति । स यत्कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयत्यात्मानमेवैतद् भावयति, एषां लोकानां सन्तत्या, एवं सन्तता हीमे लोकाः । तदस्य द्वितीयं जन्म ॥३॥

वह माता गर्भ को पालने वाली है इस कारण पति तथा पुत्र से पालने योग्य है। उस गर्भ को स्त्री बड़े यत्न विवेक से नौ-दस मास तक पालती है। पिता जन्म के आगे भी जन्म के पश्चात् कुमार को पालता है और जन्म से पहले भी आचार सुव्यवहार से पालता है। वह पिता जो कुमार को जन्म से पहले तथा पीछे पालता है, आत्मा को ही वह पालता है और इन लोकों को सन्तति से पालता है। सन्तान के उत्पादन तथा पालन से जाति, देश तथा स्वर्ग को बढ़ाता है। क्योंकि "ये लोक इसी प्रकार बढ़े हैं। यह इसका दूसरा जन्म है। गर्भ से बाहर आना दूसरा जन्म है।

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते; अथास्यायमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते, तदस्य तृतीयं जन्म ॥४॥

वह इसका यह आत्मा—पुत्र पुण्य कर्म से गृहकर्म में पिता का प्रतिनिधि बनाया जाता है। तब इसका यह दूसरा आत्मा—पिता का अपना आत्मा, अपने कर्तव्यों को करके बूढ़ी आयु को प्राप्त हुआ शरीर छोड़ जाता है। वह इस लोक से जाते ही कर्मानुसार फिर जन्म लेता है। यह इसका तीसरा जन्म है।

तदुक्तमृषिणा—गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा । शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयमिति । गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच ॥५॥

यह वामदेव ऋषि ने मुक्त होते समय कहा—मैं गर्भ में होते समय ही इन देवों के सारे जन्मों को जान गया था। मैं बाल्यकाल ही में देवलोकों के सारे जन्मों को जान

गया था। मुझ को सैकड़ों शरीर लोहे के गढ़ बन कर घेरे रहे। मुझ को सैकड़ों निकृष्ट जन्मों में रहना पड़ा यह भी मैं जान गया। अब मैं बाजँ की भान्ति सब बन्धनों को तोड़ कर देह-पिंजरे से तुरन्त निकल गया हूं। गर्भ में ही रहते हुए वामदेव ने यह ऐसा कहा था।

स एवं विद्वानस्माच्छरीरभेदादूर्ध्व उत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत् समभवत् ॥६॥

यह वामदेव ऋषि इस प्रकार जन्मजन्मान्तरों को जानता हुआ इस मानव शरीर के त्यागने पर, ऊपर जाकर उस स्वर्ग लोक में—मोक्षधाम में सारे मनोरथों को पाकर अमृत हो गया, अमृत हो गया।

तीसरा अध्याय। पहला खण्ड

यथास्थानं तु गर्भिण्यः। कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे। कतरः स आत्मा येन वा रूपं पश्यति, येन वा शब्दं शृणोति, येन वा गन्धानाजिघ्रति, येन वा वाचं व्याकरोति, येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति ॥१॥

सन्तानोत्पत्ति आदि का वर्णन करने के अनन्तर ऋषि ने कहा—अब गर्भधारण करने वाली स्त्रियां अपने स्थान पर आ जायें। यह आत्मा कौन है जिसकी हम उपासना करते हैं; जिसको हम आत्मा कहते हैं। वह कौनसा आत्मा है? जिससे मनुष्य रूप को देखता है, जिससे शब्द को सुनता है, जिससे गन्धों को सूंघता है, जिससे वाणी बोलता है और जिससे स्वादु और अस्वादु रसों को जानता है।

यदेतद् हृदयं मनश्चैतत्संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति। सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ॥२॥

उत्तर में ऋषि ने कहा—वह आत्मा यह है जो हृदय—साक्षी है। जो मन—मनन शील है। वह आत्मा यह है जो सम्यक् ज्ञान है जो विस्तृत ज्ञान है, जो विशेष तत्त्व-ज्ञान है, जो पूर्ण ज्ञान है, जो धारणावती बुद्धि है, जो देखने की शक्ति है, जो धैर्य है, जो समझ है, जो स्वतन्त्रता है, जो चेतन क्रिया वेग है, जो स्मृति है, जो संकल्प है, जो दृढ निश्चय है, जो प्राण है, जो इच्छा है और वश—अपना संयम है। ये ऊपर कहे सारे पूर्णज्ञान चैतन्य-आत्मा के नाम हैं। आत्मा की ही ये संज्ञाएं हैं। इन्हीं गुणों से आत्मा जाना जाता है। इन्हीं गुणों वाला आत्मा है। ये सब चेतन सत्ता के परिचायक चिह्न हैं।

एष ब्रह्मैष इन्द्रः। एष प्रजापतिः । एते सर्वे देवा इमानि च पञ्च महाभूतानि, पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषीत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजानीतराणि, चेतराणि चाण्डजानि च, जारुजानि च, स्वेदजानि, चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः, पुरुषा हस्तिनो, यत्किञ्चेदं प्राणि जङ्गमं च, पतत्रि च, यच्च स्थावरं, सर्वं तत्प्रज्ञा-नेत्रं, प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम् । प्रज्ञानेत्रो लोकः, प्रज्ञा प्रतिष्ठा । प्रज्ञानं ब्रह्म ॥३॥

आत्मा का स्वरूप वर्णन करने के अन्तर ऋषि परमात्मा का स्वरूप वर्णन करता है—यह जो आगे वर्णन होगा ब्रह्म है। यह ही इन्द्र—ऐश्वर्यवान् है। यह ही प्रजाओं का पति—परमेश्वर है। ये सारे देव, ये पांच महाभूत, पृथिवी, वायु, आकाश, जल और ज्योतियां, यह ये दूसरे तुच्छ मिले जुले कीट पतंग तथा बीज और दूसरे अण्डों से उत्पन्न होने वाले, जरायु से जन्मने वाले, पसीने से होने वाले भूमि से निकलने वाले, और घोड़े, गौएँ, पुरुष, हाथी जो कुछ यह सांस लेने वाला, चलने फिरने वाला, उड़ने वाला, जगत् है तथा जो स्थावर है वह सब प्रज्ञानेत्र है, पूर्णज्ञान से चलाया जा रहा है। उसके सब नियम में प्रज्ञा है; चेतना काम कर रही है। सारा जगत् प्रज्ञान—पूर्णज्ञान में स्थिर है; इसकी स्थिति में भी पूर्णज्ञान का नियम है। सारा विश्व पूर्णज्ञान से चलाया जाता है; विश्व का नियन्ता पूर्णज्ञान है। पूर्णज्ञान ही विश्व की स्थिति है; आधार है। वही पूर्णज्ञान ब्रह्म है। परमेश्वर निर्भ्रान्त है। सर्वज्ञ है और विश्व का नियन्ता, संचालक तथा आश्रय है। उसी परम चेतन से विश्व चलाया जा रहा है।

स एतेन प्रज्ञेनात्मनाऽस्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत्, समभवत् ॥४॥

वह वामदेव ऋषि इसी सर्वज्ञ आत्मा से, इसी पूर्ण ज्ञानस्वरूप परमेश्वर के अनुग्रह से इस मर्त्यलोक से निकल कर उस स्वर्ग लोक—मोक्षधाम में सारे मनोरथों को पाकर मुक्त हो गया; मुक्त हो गया।

वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता । मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि । वेदस्य म आणीस्थ, श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाऽहोरात्रान्संदधामि । ऋतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि, तन्मामवतु, तद्वक्तारमवतु, अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् । ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

उपनिषद् समाप्त करके ऋषि प्रार्थना रूप शान्तिपाठ पढ़ता है। मेरी वाणी मन में प्रतिष्ठित हो, मन में रहे। सदा मैं सोच विचार कर बोलूँ। मेरा मन वाणी में प्रतिष्ठित

हो। जब मैं बोलूं मन से बोलूं। मेरा मन-वचन एक हो। भीतर-बाहर एक सा हो। हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन्! मुझ[१०] पर प्रकाशी[११] बढ़ा[१२]। मेरे[१३] मन-वचन वेद[१४] के लाने[१५] में समर्थ हों; मुझ पर वेदविद्या का प्रकाश हो। मेरा[१६] सुना[१७] हुआ शास्त्र न[१८] नष्ट[१९] हो, न विस्मृत हो। इस[२०] पढ़े[२१] हुए ज्ञान से मैं दिनरात[२२] को जोड़ता[२३] हूँ; दिनरात ग्रन्थ-पाठ में लगाता हूं। मैं सदा यथार्थ[२४] कहूंगा[२५], सत्य[२६] कहूंगा[२७]। वह[२८] प्रभु मेरी रक्षा[२९] करे, वह[३०] भगवान् सत्यवक्ता[३१] को पाले[३२], मुझे[३३] पाले[३४], वेदवक्ता[३५] को पाले[३६]। वेदवक्ता[३७] को पाले[३८]।

इति ऋग्वेदीया ऐतरेयोपनिषत्समाप्ता।

सामवेदीया

अथ छान्दोग्योपनिषद्

यह उपनिषद् ताण्ड्य-महाब्राह्मण का भाग है। इसमें उपासना का नाना भावों में वर्णन किया गया है। आत्मा और परमात्मा का भी इसमें अद्भुत प्रकार से वर्णन है। इसके वर्णन की शैली प्राचीनतम है और कहीं कहीं सांकेतिक है।

प्रपाठक पहला। खण्ड पहला

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्युद्गायति, तस्योपव्याख्यानम् ॥१॥

भगवद्भक्त उपासना के समय ओम् इस अक्षर, उद्गीथ को आराधे। उद्गाता ओम् कह कर ही गाया करता है। उस नाम का यह आगे व्याख्यान है।

उपासना में नाम-जाप, नाम-चिन्तन तथा नाम-ध्यान का बड़ा माहात्म्य है। प्राचीनकाल के सन्त नाम को गाया करते थे। इस कारण जब भगवान् का नाम ऊँचे स्वर से गाया जाय तो उसी को उद्गीथ कहा जाता है। ओम् का अर्थ है रक्षा करने वाला परमेश्वर। वही उद्गीथ है।

एषां भूतानां पृथिवी रसः, पृथिव्या आपो रसोऽपामोषधयो रसः, ओषधीनां पुरुषो रसः, पुरुषस्य वाग् रसो, वाच ऋग् रस ऋचः साम रसः, साम्न उद्गीथो रसः॥२॥

इन पांच महाभूतों का सार पृथिवी है। पृथिवी का सार जल है। जलों का सार अन्नादि ओषधियां हैं। ओषधियों का सार पुरुष है, मनुष्यदेह है। पुरुष का सार उसकी वाणी है। वाणी का सार ऋग् है— भगवान् की स्तुति है। ऋक् का सार साम है, स्तुति को स्वर में गाना है। साम का सार भगवान् का नाम गायन है। सब सारों का सार भगवान् का नाम है।

स एष रसानां रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः ॥३॥

वह यह जो आठवां सार, भगवान् का नाम है, यह सारों का सार है। परम सार है, परमानन्द है। परमधाम है, सबसे उत्कृष्ट स्थान है।

मनुष्य जन्म का सार भगवान् की स्तुति है। स्तुति का सार उसे संगीत में गाना है और सामसंगीत का सार भगवान् के नाम को जपना तथा गाना है। भगवान् का नाम परम सार है। परमेश्वर की प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन होने से यह परमानन्द है और परम स्थान है। उपासना में नामोपासना परमोपासना है।

कतमा कतमर्क्कतमत्कतमत्साम, कतमः कतम उद्गीथ इति विमृष्टं भवति ॥४॥

ऊपर वर्णन किये गये ऋक्, साम और उद्गीथ में से कौन कौन ऋक् है, कौन कौन साम है, और कौन कौन उद्गीथ है, यह विचारणीय है। अब इसका विचार होगा।

वागेवर्क् प्राणः सामोमित्येतदक्षरमुद्गीथस्तद्वा एतत् मिथुनम्। यद्वाक् च प्राणश्चर्क् च साम च ॥५॥

वाणी ही ऋक् है। साम प्राण है। वाणी से स्तुति होती है और प्राणशक्ति से वह स्तुति गाई जाती है, इस कारण वाणी ऋक् है और प्राण साम है। ओम् यह अक्षर—नाम उद्गीथ है। अथवा वह यह मिथुन है, जोड़ा है। जो वाक् और प्राण युगल है, ऋक् और साम युगल है। वाणी के ज्ञान से ऋक् का बोध होता है; प्राण से स्वर-साधन से साम बनता है।

तदेतन्मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे संसृज्यते। यदा वै मिथुनौ समागच्छत आपयतो वै तावन्योन्यस्य कामम् ॥६॥

वह यह मिथुन—वाक् और प्राण; ऋक् और साम, ओम् इस अक्षर में सम्बन्धित होता है; ओम् में भगवान् के नाम में जुड़ जाता है। अर्थात् जब भगवान् की स्तुति संगीत में वाणी द्वारा प्राणशक्ति से गाई जाय तो मनुष्य पूर्णकाम हो जाता है। इस पर दृष्टान्त है—जब दो परस्पर मिलते हैं तो वे दोनों एक दूसरे की कामना को पूर्ण करते हैं। इसी प्रकार जब संगीत के साथ भगवान् का नाम मिल जाय तो सकल मनोरथ की सिद्धि होती है।

आपयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ॥७॥

जो नामोपासक, नाम की महिमा को इस प्रकार जानता हुआ इस अक्षर उद्गीथ को उपासता है, भगवान् के नाम को जपता है, निश्चय वह कामनाओं का प्राप्त करने वाला वा प्राप्त कराने वाला हो जाता है।

तद् वा एतदनुज्ञाक्षरम्। यद्धि किं चानुजानात्योमित्येव तदाह। एषा एव समृद्धिर्यदनुज्ञा समर्द्धयिता वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षर-मुद्गीथमुपास्ते ॥८॥

वह यह ओम् अनुज्ञा-अक्षर है; इसका अर्थ अनुमति भी है। जब ही कोई कुछ अनुमति देता है तो ओम् ऐसा तब कहता है। यह जो अनुज्ञा—अनुमति है, निश्चय समृद्धि है; अनुग्रहरूप है। अनुमति देना अनुग्रह है। जो भगवद्भक्त इस प्रकार जानता हुआ इस अक्षर उद्गीथ को उपासता है, आराधता है, निश्चय वह कामानाओं का वर्धक हो जाता है। अनुज्ञा—अनुमति विनय है, सम्यक् ऋद्धि प्राप्त करने का साधन है।

तेनेयं त्रयी विद्या वर्तते: ओमित्याश्रावयत्योमिति शंसत्योमित्युद्गायत्येतस्यै-वाक्षरस्यापचित्यै महिम्ना रसेन ॥९॥

उसी अक्षर—नाम से यह त्रयी विद्या प्रवृत्त होती है। ओम् ऐसा कह कर अध्वर्यु ऋक् को सुनवाता है; होता को मन्त्रपाठ की अनुमति देता है। ओम् ऐसा कह कर होता स्तुति करता है; यजुमन्त्रों से हवन करवाता है। ओम् ऐसा कह कर उद्गाता साम को गाता है। इसी अक्षर की पूजा के लिए, इसी अक्षर की महिमा से तथा रस से, आनन्द से सारे कृत्य किये जाते हैं। ऋक् का पाठ, यजु का कर्म और साम-गान यही त्रयी विद्या है।

तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद, यश्च न वेद। नाना तु विद्या चाविद्या च। यदेव विद्यया करोति, श्रद्धयोपनिषदा; तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति। खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति ॥१०॥

जो मनुष्य यह नाम की महिमा इस प्रकार जानता है और जो नहीं जानता है, नामसिमरन से शून्य है; वे दोनों उसी ओम्-नाम के—वाच्य के आश्रय से काम करते हैं। ज्ञानी-अज्ञानी दोनों उसी प्रभु के नियम में काम करते हैं। किन्तु विद्या भिन्न फल वाली है और ऐसे ही अविद्या। पर जो ज्ञानी, जो कुछ ही कर्म विद्या से करता है; जान कर समझ कर करता है, श्रद्धा—सच्ची धारणा से करता है और उपनिषद् के ज्ञान से करता है उसका वही कर्म अतिबलवान् होता है। निश्चय से यह पूर्ववर्णित विषय इसी ही अक्षर का व्याख्यान है; भगवान् के नाम का ही वर्णन है।

भगवान् के नाम की महिमा को जान कर ज्ञान से, सच्ची धारणा से और उपनिषद् के परमार्थ से जो कर्म किया जाता है उसका संस्कार प्रबल होता है और फल भी अत्युत्तम होता है।

दूसरा खण्ड

देवासुरा ह वै यत्र संयेतिरे उभये प्राजापत्यास्तद्ध देवा उद्गीथमाजहुरनेनै-नानभिभविष्याम इति ॥१॥

दोनों प्रजापति के पुत्र देव और असुर, निश्चय से जिस समय युद्ध कर रहे थे,

परस्पर लड़ते थे; उस समय देव वहां उद्गीथ ले आये। इस लिए कि इस उद्गीथ से इन असुरों को हम जीत लेंगे।

ते ह नासिक्यं प्राणमुद्गीथमुपासांचक्रिरे। तं हासुराः पाप्मना विविधुः तस्मात्तेनोभयं जिघ्रति; सुरभि च दुर्गन्धि च, पाप्मना ह्येष विद्धः ॥२॥

वे देव नासिकागत प्राण को अवलम्बन करके भगवान् के नाम को आराधने लगे। तब उस प्राण को असुरों ने पाप से बीन्ध दिया। इसी कारण मनुष्य उस प्राण से दोनों को सूंघता है; सुगन्धि को भी और दुर्गन्धि को भी। यह प्राण निश्चय से पाप से विद्ध है, घायल है। घ्राणगत प्राण के अभ्यास से वे सफल न हुए।

अथ ह वाचमुद्गीथमुपासांचक्रिरे। तां हासुराः पाप्मना विविधुः। तस्मात्तयोभयं वदति, सत्यं चानृतं च। पाप्मना ह्येषा विद्धा ॥३॥ अथ ह चक्षुरुद्गीथमुपासांचक्रिरे। तद्धासुराः पाप्मना विविधुः। तस्मात्तेनोभयं पश्यति; दर्शनीयं चादर्शनीयं च। पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥४॥

उसके पश्चात् देवों ने वाणी को प्रधान बना कर उद्गीथ की उपासना की। उस वाणी को असुरों ने पाप से बीन्ध दिया। इसी कारण मनुष्य उस वाणी से दोनों को बोलता है, सत्य को भी और झूठ को भी। निश्चय से यह पाप से घायल है। तदनन्तर देवों ने नेत्र को प्रधान मान कर उद्गीथ की उपासना की। उस नेत्र को असुरों ने पाप से बीन्ध दिया इस कारण मनुष्य उस से दोनों को देखता है देखने योग्य को और अदर्शनीय को। निश्चय से यह नेत्र पाप से विद्ध है।

अथ ह श्रोत्रमुद्गीथमुपासांचक्रिरे। तद्धासुराः पाप्मना विविधुः। तस्मात्तेनोभयं शृणोति, श्रवणीयं चाश्रवणीयं च। पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥५॥

तब देवों ने श्रोत्र को प्रधान मान कर उद्गीथ की उपासना की। उसको असुरों ने पाप से बीन्ध दिया। इस कारण मनुष्य उससे दोनों को सुनता है, श्रवणयोग्य को और जिसे सुनना न चाहिए उसको भी। निश्चय यह पाप से विद्ध है।

अथ ह मन उद्गीथमुपासांचक्रिरे। तद्धासुराः पाप्मना विविधुः। तस्मात्तेनोभयं संकल्पयते, संकल्पनीयं चासंकल्पनीयं च, पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥६॥

तब देवों ने मन को प्रधान मान कर उद्गीथ की उपासना की। उसको असुरों ने पाप से बीन्ध दिया। इस कारण मनुष्य उससे दोनों को विचारता है, विचारने योग्य को और अविचारणीय को, निश्चय से यह पाप से विद्ध है।

अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे । तं हासुरा ऋत्वा विदध्वंसुः, यथाश्मानमाखणमृत्वा विध्वंसेत् ॥७॥

तदनन्तर जो यह ही मुख्य प्राण है—मुख में रहने वाला प्राण है, उसको प्रधान मान कर देवों ने उद्गीथ की उपासना की, साम-संगीत में भगवान् के नाम को गूंजाया। उस मुख्य प्राण को पहुंच कर असुर ऐसे नष्ट हो गये जैसे न खोद कर निकाले हुए पत्थर को लग कर मिट्टी का ढेला नष्ट हो जाता है।

नाक चक्षु आदि इन्द्रियों से यदि भगवान् की उपासना की जाय तो असुररूप अशुभ संस्कार मनुष्य का हनन कर देते हैं। इसका कारण यह है कि इन्द्रियों में शुभाशुभ वासना बनी ही रहती है। परन्तु यदि नाम को मुख्य प्राण द्वारा आराधा जाय, संगीत द्वारा गाया जाय वा मुख में जपा जाय तो सारे पाप-संस्कार भस्म हो जाते हैं। उद्गीथ नाम ही गाये हुए नाम का है। इस लिए नामोपासना में जप, सिमरन तथा कीर्तन, पापनाश का सर्वोत्तम साधन कहा है। इसी साधन से दैवी सम्पत्ति की विजय होती है। यह मुखगत प्राण से नामोपासना है।

एवं यथाश्मानमाखणमृत्वा विध्वंसत एवं हैव स विध्वंसते य एवंविदि पापं कामयते, यश्चैनमभिदासति । स एषोऽश्माखणः ॥८॥

इसी प्रकार जैसे अभेद्य शिला को लग कर मिट्टी का ढेला नष्ट हो जाता है, ऐसे ही वह नष्ट हो जाता है जो इस प्रकार नामोपासना जानने वाले में अनिष्ट कामना करता है; जो इस उपासक को हनन करता है। क्योंकि वह उपासक यह अभेद्य शिला है। नामोपासक के सर्व विरोध दूर हो जाते हैं।

नैवैतेन सुरभि न दुर्गन्धि विजानात्यपहतपाप्मा ह्येषः । तेन यदश्नाति, यत्पिबति, तेनेतरान् प्राणानवत्येतमु एवान्ततोऽविदित्वोत्क्रामति व्याददात्ये-वान्तत इति ॥९॥

मनुष्य, इस प्राण से—मुखस्थ प्राणशक्ति से न ही सुगन्धि को और न दुर्गन्धि को जानता है; यह प्राण निर्विषय है। इसी कारण निश्चय यह प्राण पापरहित है। मनुष्य इस प्राण से जो कुछ खाता है और जो कुछ पीता है, उस खान-पान से वह दूसरे प्राणों—इन्द्रियों को रक्षित करता है; दूसरे प्राणों को पालता है। और इसी को ही अन्त तक न जान कर, न समझ कर, जब कोई देह से बाहर निकलता है तो अन्त तक, मुख फाड़ कर ही दीर्घ सांस लेता है। मुख्य प्राण से नामोपासना न जानने वाला, जपपाठ न करने वाला जन अन्तकाल में मुंह फाड़ता है; मुंह फैला कर पश्चात्ताप के लम्बे सांस लेता है।

तं हाङ्गिरा उद्गीथमुपासांचक्रे । एतमु एवाङ्गिरसं मन्यन्तेऽङ्गानां यद्रसः ॥१०॥

इस उपासना पर उदाहरण देता हुआ मुनि कहता है—अङ्गिरा नाम महर्षि उसी प्राण को, मुखस्थ प्राण को साधन बना कर उद्गीथ की उपासना किया करता था। मुख से जप पाठ तथा सिमरन करता था। इससे उसका कल्याण हो गया। इस कारण तब से इस प्राण को ही ब्रह्मज्ञानी अङ्गिरा कहते हैं, क्योंकि यह अङ्गों का रस है, सब इन्द्रियों का सार, रस है।

तेन तं ह बृहस्पतिरुद्गीथमुपासांचक्रे । एतमु एव बृहस्पतिं मन्यन्ते; वाग् हि बृहती, तस्या एष पतिः ॥११॥

उसी साधन से, उस मुख्य प्राण द्वारा बृहस्पति महर्षि, नाम की उपासना करता था। तब से इस प्राण को ही, ब्रह्मज्ञानी बृहस्पति मानते हैं। क्योंकि वाणी ही बड़ी है, और उस मुखस्थ वाणी का यह प्राण, पति है। मुखस्थ प्राण द्वारा जपा और बोला जाता है। मुख द्वारा जाप उत्तम उपासना है।

तेन तं हायास्य उद्गीथमुपासांचक्रे ।

एतमु एवायास्यं मन्यन्ते, आस्याद्यदयते ॥१२॥

उसी साधन से, उस मुख्य प्राण द्वारा, आयास्य मुनि ने नाम की उपासना की तब से इस प्राण को ही, उपासक जन आयास्य मानते हैं; क्योंकि यह प्राण मुख से आता जाता है। मुख में वा मुख से सिमरन कीर्तन उच्चतम साधन है।

तेन तं ह बको दाल्भ्यो विदांचकार। स ह नैमिषीयानामुद्गाता बभूव । स ह स्मैभ्यः कामानागायति ॥१३॥

उसी साधन से जप, पाठ तथा सिमरन से, उस नामोपासना को दल्भमुनि के पुत्र बक महात्मा ने जाना; उसने नाम आराधना की। उसके प्रताप से, वह नैमिषारण्यनिवासी जनों का उद्गाता हो गया। सामगीतों द्वारा, वह उनके लिए मनोरथों को गाया करता था। मुखगत प्राणोपासना शीघ्रतर सिद्धिकारी है।

आगाता ह वै कामानां भवति, य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्त इत्यध्यात्मम् ॥१४॥

निश्चय से वह मनुष्य मनोरथों का गाने वाला, पूर्ण करने वाला होता है, जो उपासक इस अक्षर उद्गीथ को इस प्रकार से जानता हुआ उपासता है। यह अध्यात्म पक्ष कहा गया। इस प्राणोपासना से अपने आप सफलता हो जाती है। वाचिक, उपांशु और मानस ये तीनों प्रकार की नामोपासना सर्वसुखकरी है।

तीसरा खण्ड

अथाधिदैवतम् । य एवासौ तपति, तमुद्गीथमुपासीत । उद्यन्वा एष प्रजाभ्य उद्गायति; उद्यंस्तमो भयमपहन्त्यपहन्ता ह वै भयस्य तमसो भवति य, एवं वेद ॥१॥

अब भगवान् के नाम का अधिदैवत वर्णन किया जाता है। जो ही यह सूर्य तपता है; उष्णता छोड़ता है, उसको सम्मुख रख कर उद्गीथ को आराधे। तेजोमय सूर्य में भगवान् की सत्ता को समझे। यह सूर्य उदय होता हुआ प्रजाओं के लिए उनके मनोरथों को गाता है, पूर्ण करता है। उदय होता हुआ अन्धकार और भय को हनन करता है। निश्चय से, वह उपासक भय और अज्ञानान्धकार का नाशक हो जाता है, जो भगवान् की महिमा को ऐसे जानता है। मुखस्थ-प्राण से सूर्य में संयम का यह विधान है। नाम-जाप से सूर्यसाम हो जाता है। अथवा श्वास-प्रश्वास के साथ नाम जपना सूर्यसाम है।

समान उ एवायं चासौ चोष्णोऽयमुष्णोऽसौ, स्वर इतीममाचक्षते स्वर इति प्रत्यास्वर इत्यमुम् । तस्माद्वा एतमिममम् चोद्गीथमुपासीत ॥२॥

तथा यह मुखस्थ प्राण और वह सूर्य समान ही हैं। यह प्राण उष्ण है, जीवन ऊष्मा दान करता है और वह सूर्य भी उष्ण है। इस प्राण को स्वर—चलने वाला, ऐसा कहते हैं और उसको स्वर तथा प्रत्यास्वर—जाने और आने वाला कहते हैं। इस कारण, इस प्राण को और उस सूर्य को समान जान नाम की उपासना करे। प्राण मनुष्य देह को जीवन तथा उष्णता देता है और सूर्य सारे सौरलोक को।

अथ खलु व्यानमेवोद्गीथमुपासीत । यद्वै प्राणिति स प्राणो; यदपानिति सोऽपानः । अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानो, यो व्यानः सा वाक् । तस्मादप्राणन्ननपानन्वाचमभिव्याहरति ॥३॥

फिर, निश्चय से व्यान-शक्ति को ही ध्यान में रख कर नाम की उपासना करे। निश्चय, जो प्राण लिया जाता है वह प्राण है और जो मुख से बाहर निकाला जाता है वह अपान है। और जो प्राण-अपान की सन्धि है वह व्यान है। जो व्यान है वह ही वाणी है; बोलने की शक्ति है। इसी शक्ति से साम में नाम गाया जाता है। इसी कारण न प्राण लेते हुए और न अपान छोड़ते हुए मनुष्य वाणी को बोलता है। यहां व्यान से एकाग्रता समझी गई है। यह सहज कुम्भक के साथ नामोपासना है।

या वाक् सा ऋक् । तस्मादप्राणन्ननपानन्नृचमभिव्याहरति । या ऋक् तत्साम । तस्मादप्राणन्ननपानन्साम गायति । यत्साम स उद्गीथस्तस्मादप्राणन्ननपान-न्नुद्गायति ॥४॥

जो वाणी है वह ऋक् है। इस कारण न प्राण लेते हुए न अपान छोड़ते हुए मनुष्य ऋचा को बोलता है। जो ऋचा है वह साम है, वही गाई जाती है। इस कारण न प्राण लेते हुए और न अपान छोड़ते हुए मनुष्य साम गाता है; एकाग्रता से गाता है। जो साम है वह ही उद्गीथ है, नाम-गायन है। इस कारण मनुष्य न प्राण लेता हुआ और न अपान छोड़ता हुआ गाता है; कीर्तन श्वास-प्रश्वास की समता में होता है।

अतो यान्यन्यानि वीर्यवन्ति कर्माणि, यथाग्नेर्मन्थनमाजेः सरणं, दृढस्य धनुष आयमनम्; अप्राणन्ननपानंस्तानि करोत्येतस्य हेतोर्व्यानमेवोद्गीथमुपासीत ॥५॥

इसके अतिरिक्त, जो दूसरे बलवाले कर्म हैं; जैसे अग्नि का मथ कर निकालना, संग्राम में दौड़ कर जाना और दृढ़ धनुष को तानना; वे सब कर्म, मनुष्य प्राण न लेता हुआ और अपान न त्यागता हुआ करता है। वे कर्म व्यान—सांस की समता में किये जाते हैं। इस कारण से व्यान को ही लक्ष्य बना कर नाम उपासना करे।

अथ खलु उद्गीथाक्षराण्युपासीतोद्गीथ इति। प्राण एवोत्, प्राणेन ह्युत्तिष्ठति। वाग् गीर्वाचो ह गिर इत्याचक्षते। अन्नं थमन्ने हीदं सर्वं स्थितम् ॥६॥

अब निश्चय, उद्गीथ के अक्षरों को विचारे। वे उत्, गी और थ हैं। प्राण ही उत्—ऊपर उठना है। प्राण से ही मनुष्य उठता है। वाणी गी है। वाणी को गिर् कहते हैं। अन्न थ है। अन्न में ही यह सारा प्राणि-जगत् ठहरा हुआ है। उद्गीथ के अक्षरों का अर्थ समुद्यत होना, गाना और स्थिति वा समता है।

द्यौरेवोदन्तरिक्षं गीः, पृथिवी थम्। आदित्य एवोद्वायुर्गीरग्निस्थम्। सामवेद एवोद्यजुर्वेदो गीर्ऋग्वेदस्थम्। दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति, य एतान्येवं विद्वानुद्गीथाक्षराण्युपास्त उद्गीथ इति ॥७॥

द्युलोक ही उत् है। अन्तरिक्ष गी है; इस में वाणी बोली जाती है। पृथिवी थ—स्थिति है। सूर्य ही उत्—ऊपर है। वायु गी—वाणी है। अग्नि थ—स्थिति है, इसमें जगत् की स्थिति है। उष्णता के आश्रित जगत् है। सामवेद ही उत्—ऊपर है, ऊंचा गाया जाता है। यजुर्वेद गी—समान वाणी है। ऋग्वेद सब वेदों की थ—स्थिति है। ऐसे नामोपासक के लिए वाणी सार को दोहती है। जो वाणी का सार—मर्म है, वह नाम है। वह उपासक अन्नवान और अन्न का भोक्ता होता है। जो इन उत्तम भावों को इस प्रकार जानता हुआ उद्गीथ के अक्षरों को विचारता है। उद्गीथ नाम का यह माहात्म्य है।

अथ खल्वाशीः समृद्धिरुपसरणानीत्युपासीत; येन साम्ना स्तोष्यन् स्यात्तत्सामोपधावेत् ॥८॥

इसके अनन्तर निश्चय से आशीर्वाद को, समृद्धि—इच्छित ऐश्वर्य को और चिन्तित भोगों को विचारे। उद्गाता उनको भली भांति समझ ले। फिर जिस साम-गान से उनकी स्तुति करनी हो उसे साम को भी विचारे।

यस्यामृचि तामृचं, यदार्षेयं तमृषिं, यां देवतामभिष्टोष्यन् स्यात् तां देवतामुपधावेत् ॥९॥

जिस ऋचा में साम हो उस ऋचा को, जो उस का ऋषि हो उस ऋषि को और जिस देवता की स्तुति करनी हो उस देवता को विचारे।

येनच्छन्दसा स्तोष्यन्त्स्यात्तच्छन्द उपधावेद्येन स्तोमेन स्तोष्यमाणः स्यात्, तं स्तोममुपधावेत् ॥१०॥

यां दिशमभिष्टोष्यन्त्स्यात्तां दिशमुपधावेत् ॥११॥

जिस गायत्र्यादि छन्द से स्तुति करनी हो उस छन्द को विचारे। जिस स्तोम—स्तोत्र से स्तुति करनी हो उस स्तोत्र को विचारे। जिस दिशा में बैठ कर स्तुति करनी हो उस दिशा को विचारे। उपासक अपने मनोरथ को सुस्थिर करके उपासना करे।

आत्मानमन्तत उपसृत्य स्तुवीत। कामं ध्यायन्नप्रमत्तोऽभ्याशो ह यदस्मै स कामः समृध्येत। यत्कामः स्तुवीतेति, यत्कामः स्तुवीतेति ॥१२॥

इस प्रकार विधिपूर्वक सब साधन विचार कर अन्त में भावना से परमात्मा के पास जाकर, उसका ध्यान करके स्तुति करे, मनोरथ मांगे। प्रमादरहित होकर फल चिन्तन करता हुआ जो फल मांगता है, निश्चय शीघ्र ही इसके लिए वह फल—मनोरथ उपस्थित हो जाता है। अपने इष्ट को सम्मुख समझ कर उपासना करना उचित है।

चौथा खण्ड

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम् ॥१॥

ओम् इस अक्षर उद्गीथ को आराधे; ओम् ऐसे ही भक्त गाता है। साम में जो पद्य गाया जाय वह उद्गीथ है। उसका यह आगे व्याख्यान है।

देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशन्। ते छन्दोभिराच्छादयन्। यदेभिराच्छादयंस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् ॥२॥

निश्चय उपासक जन मृत्यु से डरते हुए, अमर पद के लिए ऋग्, यजुः, सामरूप त्रयी विद्या में प्रविष्ट हुए। उन्होंने अपने आपको छन्दों से आच्छादित कर लिया। जो उन्होंने इन छन्दों से अपने आपको आच्छादित किया, स्तोत्रों से स्वात्मा को सुरक्षित बनाया, वह ही छन्दों का छन्दपन है।

तान् उ तत्र मृत्युर्यथा मत्स्यमुदके परिपश्येद्, एवं पर्यपश्यदृचि साम्नि यजुषि। ते नु विदित्वोर्ध्वा ऋचः साम्नो यजुषः स्वरमेव प्राविशन् ॥३॥

जैसे मछलीमार मछली को जल में देख लेता है, इसी प्रकार वहां ऋग् में, साम में, यजुः में उन देवों को मृत्यु ने देख लिया। शब्दों में वे काल की ताक से न बचे। वे उपासक वहां भी मृत्यु को देखता जान कर अन्त में ऋक् से, साम से, यजुः से ऊपर स्वर में—भगवान् के नाम की धुन में ही प्रविष्ट हो गये।

यदा वा ऋचामाप्नोत्योमित्येवातिस्वरति। एवं सामैवं यजुः। एष उ स्वरो यदेतदक्षरमेतदमृतमभयम्। तत्प्रविश्य देवा अमृता अभया अभवन् ॥४॥

इसी कारण उपासक जब ऋग्वेद को पढ़ता है ओम् ही आदर से उच्चारण करता है। ओम् को स्वर में गूंजाता है; इसी प्रकार साम इसी प्रकार यजुः के पाठ के समय। जो यह स्वर है, यह अक्षर—नाम है। यह अमृत है, निर्भयपद है। उपासक जन उस नाम की ध्वनि में प्रविष्ट होकर, ध्यान करके अविनाशी और निर्भय हो गये। मृत्यु के भय से बचने का साधन भगवान् का नाम है। नामोपासना है तथा स्वर में नाम-स्तुति को गाना है। अथवा नाम के नाद में लीन होना है।

स य एतदेवं विद्वानक्षरं प्रणौति, एतदेवाक्षरं स्वरममृतमभयं प्रविशति तत्प्रविश्य यदमृता देवास्तदमृतो भवति ॥५॥

वह जो उपासक इस नाम की महिमा, ऐसे जानता हुआ नाम की स्तुति करता है, उसको स्वर में गाता है, तथा इसी ही नाम में, ध्वनि में, अमृत में और अभयपद में ध्यान द्वारा तन्मय होकर प्रवेश करता है, वह उपासक जैसे देव उस में लीन होकर अमर हो गये, वैसे ही अमर हो जाता है। नामोपासक ध्यान तथा नाम सिमरन गायन से ही मोक्षपद प्राप्त कर लेता है।

पांचवां खण्ड

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवः। यः प्रणवः स उद्गीथ इत्यसौ वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणव ओमिति ह्येष स्वरन्नेति ॥१॥

इसके अनन्तर, निश्चय जो साम में उद्गीथ है, स्तोमों में गाया गया है, वह प्रणव—भगवान् का नाम है। जो प्रणव है वह ही उद्गीथ है। यह सूर्य, उद्गीथ और

यह प्रणव ओम् ही है। क्यों कि यह सूर्य स्वर निकालता हुआ ही आता है, भगवान् के माहात्म्य को गाता हुआ ही उदय होता है।

एतमु एवाहमभ्यगासिषम्, तस्मान्मम त्वमेकोऽसीति ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच। रश्मींस्त्वं पर्यावर्तयाद्बहवो वै ते भविष्यन्तीत्यधिदैवतम् ॥२॥

पुराकाल में कौषीतकि ऋषि ने अपने पुत्र को कहा—इसी ही नाम को मैंने गाया था; जपा तथा आराधा था। इस कारण मेरा तू एक पुत्र है; नाम के प्रताप से मुझे तू प्राप्त हुआ है। तू अब किरणों को देख, सूर्य में भगवान् की लीला को जान। इससे निश्चय तेरे बहुत पुत्र हो जायेंगे, यह अधिदैवत है।

अथाध्यात्मम्। य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्येष स्वरन्नेति ॥३॥

अब अध्यात्म वर्णन होता है। जो ही यह मुखस्थ प्राण है उसको उद्गीथ जान कर उपासे; उसमें नाम की ध्वनि को गूंजाये। क्यों कि यह प्राण ओम् ही उच्चारण करता हुआ आता है। इसके आने में भगवान् की नियति ही काम करती है।

एतमु एवाहमभ्यगासिषम्, तस्मान्मम त्वमेकोऽसीति ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच। प्राणांस्त्वं भूमानमभिगायताद्बहवो वै मे भविष्यन्तीति ॥४॥

पुराकाल में कौषीतकि ने अपने पुत्र को कहा—इसी ही नाम को मैंने प्राण के साथ गाया था। उसके आराधन से मेरा तू एक सुयोग्य पुत्र है। अब तू प्राणों को वश करके महान्—भगवान् को गा, और यह कामना कर कि निश्चय मेरे बहुत पुत्र हो जायेंगे। श्रद्धा से और पूर्ण निश्चय से कामना पूरी हो जाती है।

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इति। होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीतमनुसमाहरतीत्यनुसमाहरतीति ॥५॥

तब निश्चय जो उद्गीथ है वह प्रणव है। जो प्रणव है वह उद्गीथ है। जो सामस्तोमों के गायन को भगवान् का नाम वर्णन ही जानता है वह होता के स्थान से निश्चय पूर्वक अशुद्ध गीत को हटा लेता है। वह जो उचित है वही बात कहता है।

परमेश्वर के उद्गीथ नाम के संकेत से यह नामोपासना वर्णन की गई है। उपासनाओं में सर्वमुख्य नामोपासना ही है। ध्यानपूर्वक नाम-जाप चाहे वाचिक ही हो आत्मशक्ति को जगा देता है। यदि मानस-चिन्तन हो अथवा सांस के साथ जपा जाय वा वृत्ति लगा कर नाम की ध्वनि में ध्यान जमाया जावे तो सूक्ष्मस्वर—अनाहत नाद आप ही आप प्रकट हो आता है। इस प्रकार सूर्य से साम हो जाता

है—अध्यात्म-सूर्य के प्रकाश का प्रकटीकरण तथा सौर-लोक के रहस्यरूप रोचक नादों का स्फुरित होना स्वयमेव हो जाया करता है, ऐसे गहरे रहस्यवाद के संकेत इस उपासना में पाये जाते हैं जो नामोपासकों पर सहज से प्रकट हो जाया करते हैं।

छठा खण्ड

इयमेवर्गग्निः साम; तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम, तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते। इयमेव सा, अग्निरमस्तत्साम ॥१॥

इस पृथिवी के समान ऋग्वेद है, अग्नि साम है; साम की अग्निसदृश ऊर्ध्वगति है। सो इस ऋचा के अन्तर्गत साम है। साम और ऋग्वेद एक है। इस कारण ऋचा में अधिरूढ साम गाया जाता है। यह पृथिवी ही सा है, अग्नि अम है। सा और अम की सन्धि साम शब्द है। ऋक् और साम पृथिवी और अग्निवत् मिले हुए हैं।

अन्तरिक्षमेवर्ग् वायुः साम; तदेतदेस्यामृच्यध्यूढं साम, तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते। अन्तरिक्षमेव सा, वायुरमस्तत्साम ॥२॥ द्यौरेवर्गादित्यः साम। तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम, तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते। द्यौरेव सा, आदित्योऽमस्तत्साम ॥३॥ नक्षत्राण्येवर्क् चन्द्रमा साम। तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम; तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते। नक्षत्राण्येव सा, चन्द्रमा अमस्तत्साम ॥४॥

दूसरे प्रवाक में अन्तरिक्ष को ऋक और वायु को साम कहा है। इसका आशय यह है कि ऋक् आकाशवत् विशाल है, और साम वायुवत् वेग वा उतराव चढ़ाव से गाया जाता है। तीसरे प्रवाक में ऋक को द्युलोक कहा है और साम को सूर्य। ऋग्वेद द्यौ—ऊर्ध्वलोकवत् अनेक प्रकाशों से सुशोभित है। और साम सात स्वरों से सप्त किरणों वाले सूर्य के सदृश है। चौथे प्रवाक में ऋक् को नक्षत्र कहा है और साम को चन्द्रमा। ऋग्वेद नक्षत्रवत् अनेक दीप्तियों वाला है और साम सर्वकलासम्पूर्ण चन्द्रमा के समान सुन्दर है; मनुष्यों को संगीत-सुधा से सींचने वाला है।

अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैवर्ग् अथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम। तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम, तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते ॥५॥ अथ यदेवैतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैव सा, अथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्साम। अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते, हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः ॥६॥

और जो यह सूर्य की श्वेत शुभ्र दीप्ति है वह ही ऋक है और 'जो नीलवर्ण तथा परम कृष्णवर्ण तेज है वह साम है। इस पंचम प्रवाक में जो अध्यात्म सूर्य

अभ्यासियों को दीखा करता है उसका संकेत है। समाधि में ऐसे प्रकाशों से युक्त आदित्य प्रकट हुआ करता है। और जो यह सूर्य के भीतर सुवर्णमय पुरुष दीखता है वह सुवर्णमयी दाढ़ी वाला है और सुवर्ण के केशों वाला है तथा नख से ऊपर तक सारा ही सुवर्णमय है। वह पुरुष पूर्णप्रकाश रूप है।

अन्तर्मुख होकर नामोपासक को जो आदित्यवर्ण धाम पुरुषोत्तम दीखता है वह ईश्वरीय प्रकाश है, वह तेजोमय है, वह सर्वथा शुभ्र ज्योतिस्वरूप है। और अलौकिक प्रकाश है। यह सब स्वरमयी आदित्योपासना है।

तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी, तस्योदिति नाम। स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः। उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद ॥७॥

जैसे कपिल रंग का कमल हो ऐसी उसकी आंखें हैं; अर्थात् उसके नेत्र श्यामल हैं। उसका नाम उत्—ऊपर वा उत्कृष्ट है उसे परमपुरुष कहते हैं। सो यह भगवान् सब पापों से ऊपर है इस कारण उसका नाम उत् है निश्चय से नामोपासक सब पापों से ऊपर चला जाता है; निष्पाप हो जाता है। जो भगवान् के ऐसे शुभ्र ज्योतिस्वरूप को जानता है। वह स्वरूप महिमाप्रदर्शक है। उस का नाम उत् है।

तस्यर्क् च साम च गेष्णौ, तस्मादुद्गीथस्तस्मात्त्वेवोद्गाता, एतस्य हि गाता, स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां चेत्यधिदैवतम् ॥८॥

उस आदित्यधामस्थ पुरुष के, ऋक् और साम दोनों, गाने वाले हैं। इनमें उसका वर्णन है। इस कारण उसका नाम उद्गीथ है। उद्गीथ का अर्थ है साम में गाया "उत्"। इस कारण ही गाने वाले का नाम उद्गाता है। वह इस—उत् का ही गाने वाला है सो यह उद्गीथनामी भगवान्, जो इस सौरलोक से ऊपर के भी लोक हैं उनका शासक तथा नियन्ता है, वह ही परमेश्वर देवों की कामनाओं का भी शासन करता है। वह भगवान् सारे लोकों का शासन करता है और देवों के मनोरथों को पूर्ण करता है। यह देवतासम्बन्धी वर्णन हुआ। यहां भगवान् का रहस्ययुक्त नाम 'उत्' है।

सातवां खण्ड

अथाध्यात्मम्; वागेवर्क् प्राणः साम। तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम, तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते। वागेव सा, प्राणोऽमस्तत्साम ॥१॥

अब अध्यात्म का वर्णन होता है। वाणी ही ऋक् है प्राण साम है। अन्य पूर्ववत्।

चक्षुरेवर्गात्मा साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम, तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते।

चक्षुरेव सा, आत्माऽमस्तत्साम ॥२॥ श्रोत्रमेवर्ग्, मनः साम। तदेतदेतस्यामृ-च्यध्यूढं साम, तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते। श्रोत्रमेव सा, मनोऽमस्तत्साम ॥३॥

दूसरे प्रवाक में आंख को ऋक् कहा है और आत्मा को साम ऋग्वेद का पाठ आंख से पढ़ कर किया जाता है परन्तु सामगायन आत्मा से—गहरी भावना से होता है। तीसरे प्रवाक में कान को ऋक् की उपमा दी है और मान को साम बताया है। ऋग्वेद का श्रवण श्रोत्र से होता है और सामगायन मनोभावना से। इन्द्रियों की समता मन में होती है। निश्चलचित्त से अध्ययन करना, एकमन होकर स्तोत्र गाना उत्तम जीवन है।

अथ यदेतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैवर्ग्, अथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम। तदे-तदेतस्यामृच्यध्यूढं साम, तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते। अथ यदेवैतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैव सा, अथ यन्नीलं परःकृष्णं तदमस्तत्साम ॥४॥

तथा जो यह आंख की शुक्ल ज्योति है वह ही ऋक् है, और जो नीलवर्ण परम कृष्ण तेज है वह साम है, यह वर्णन भी अध्यात्मज्योति का है। ऐसे प्रकाश ध्यानियों को परमपद से प्राप्त हुआ करते हैं। वे प्रकाश, नामोपासना के फल ही जानने चाहिएँ।

अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते सैवर्क् तत्साम, तदुक्थं तद्यजुस्तद्ब्रह्म। तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं; यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ। यन्नाम तन्नाम ॥५॥

और जो यह आँख के भीतर पुरुष दीखता है, ध्यान में जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, वह ही ऋक् है, वह साम है, वह साम का स्तोत्र है, वह यजुर्वेद है और वह ही सर्ववेद में वर्णित ब्रह्म—परमेश्वर है। उस इसका वह ही रूप है जो उस सूर्यान्तर्गत पुरुष का रूप है। जो उसे सूर्यगत स्वरूप के गाने वाले ऋक् तथा साम हैं, वे ही इसके गाने वाले हैं। जो उसका 'उत्' नाम है वह ही इसका नाम है।

इस त्रिकुटीचक्र में भगवान् के नाम—'उत्' की उपासना में नाना रंगों की ज्योतियों के दर्शन का संकेत है, जो परम पुरुष की अभिव्यक्ति का परिचायक चिह्न है। जो पुरुष-दर्शन का वर्णन है वह परम पुरुष के रहस्यमय दर्शन का संकेत है। वह अमानव पुरुष भक्त की भावना के भवन में स्वशक्ति से स्वसत्ता का परिचय नाना प्रकार से दिया करता है। इस उपासना में 'वही ऋक्, वही साम' वाक्य है, उसका यह तात्पर्य है कि ज्योति, बिन्दु, ऋक् और नाद स्वर, साम वही परम पुरुष है। बिन्दु तथा नादरूप का परिचय; परम पुरुष का ही परिचय है।

स एष ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे; मनुष्यकामानां चेति। तद्य इमे वीणायां गायन्त्येतं ते गायन्ति; तस्मात्ते धनसनयः ॥६॥

वह यह भीतरी आंख में दीखने वाला पुरुष, जो इस भूमि से नीचे रहने वाले लोक हैं उनका शासन करता है; उनका नियन्ता है। और पृथिवी पर रहने वाले मनुष्यों का भी शासक है, ईश्वर है। [11]वे [12]जो [13]ये उपासक, वीणा में स्वरताल सहित, प्रेमरससने गीत गाते हैं [18]वे इसी ईश्वर को गाते हैं। इसी कारण [20]वे धनवन्त हैं, भाग्यवन्त तथा पुण्यवन्त हैं। यहां नेत्रगत पुरुष से त्रिकुटीस्थ पुरुष से तात्पर्य है।

अथ य एतदेवं विद्वान् गायत्युभौ स गायति। सोऽमुनैव स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तांश्चाप्नोति देवकामांश्च ॥७॥

अब इस उपासना का फल कहा जाता है। जो उपासक इस पुरुष को इस प्रकार जानता हुआ साम गायन करता है वह ध्यान में भीतर दृष्ट वा सूर्य में अवलोकित, दोनों स्वरूपों को गाता है, क्योंकि दोनों एक हैं। वह भक्त उस सूर्यान्तर्गत पुरुष की उपासना से और वह जो यह भीतरी अध्यात्मनेत्र से जाना जाता है उसकी आराधना से [18]जो उस सौर लोक से ऊपर के लोक हैं उनको प्राप्त करता और देवों[21] के मनोरथों को सिद्ध कर लेता है। ऐसे उपासक का परममोक्ष हो जाता है।

अथानेनैव, ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तांश्चाप्नोति, मनुष्यकामांश्च। तस्मादु हैवंविदुद्गाता ब्रूयात् ॥८॥

और जो उपासक इसी आंख से देखे अर्थात् भीतरी नेत्र से देखे हुए पुरुष से ही फलकामना करता है, वह सकामकर्मी, जो इस पृथिवी से नीचे के लोक हैं उनको पाता है और मनुष्य के मनोरथों को उपलब्ध करता है। इस कारण ऐसा भेद जानने वाला उद्गाता यजमान को बोले[16]।

कं ते काममागायानीति। एष ह्येव कामागानस्येष्टे।
यं एवंविद्वान् साम गायति, साम गायति ॥९॥

मैं तेरे[1] लिए कौन सी कामना गाऊँ, कौन मनोरथ मांगूं। क्योंकि यह ही मनोरथ मांगने वाले का ईश्वर है। यही कामनापूर्ण करने में समर्थ है। जो इस प्रकार जानता हुआ साम गाता है वह साम गाता है। यह त्रिकुटी में धारणा की उपासना है।

आठवां खण्ड

त्रयो होद्गीथे कुशला बभूवुः, शिलकः शालावत्यश्चैकितायनो दाल्भ्यः प्रवाहणो जैवलिरिति। ते होचुरुद्गीथे वै कुशलाः स्मो हन्तोद्गीथे कथां वदाम इति ॥१॥

पुराकाल में तीन ऋषि उद्गीथ में निपुण हुए। शालावान् का पुत्र शिलक, चिकितायन का पुत्र दाल्भ्य और जीवल का पुत्र प्रवाहण। वे[12] मिल कर परस्पर [1]बोले—निश्चय से हम उद्गीथ में कुशल हैं। यदि चाहो तो उद्गीथविषय में कथा कहें।

तथेति ह समुपविविशुः । स ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच ।
भगवन्तावग्रे वदतां, ब्राह्मणयोर्वदतोर्वाचं श्रोष्यामीति ॥२॥

वे बहुत अच्छा कह कर बैठ गये। वह उस समय जीवल का पुत्र प्रवाहण राजा बोला—पूजनीयो! आप आगे बोलें। मैं आप बोलते हुए ब्राह्मणों की वाणी सुनूंगा।

स ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाच ।
हन्त त्वा पृच्छानीति, पृच्छेति होवाच ॥३॥

उस शालावत्य शिलक ने चैकितायन दाल्भ्य को कहा—अच्छा, मैं आपसे पूछूं ? वह बोला पूछ।

का साम्नो गतिरिति ? स्वर इति होवाच । स्वरस्य का गतिरिति ? प्राण इति होवाच । प्राणस्य का गतिरिति ? अन्नमिति होवाच । अन्नस्य का गतिरिति ? आप इति होवाच ॥४॥

उसने पूछा—साम का कौन आश्रय है ? दाल्भ्य ने कहा—स्वर है; स्वर में साम है। फिर उसने पूछा—स्वर की कौन स्थिति है ? दाल्भ्य ने कहा—प्राण है; मुखस्थ प्राणशक्ति से स्वर निकलता है। उसने पूछा—प्राण का कौन आश्रय है ? वह बोला—अन्न है, अन्न के आश्रित प्राण है। उसने पूछा—अन्न की कौन गति है ? वह बोला—जल हैं; जलों से अन्न होते हैं।

अपां का गतिरिति ? असौ लोक इति होवाच। अमुष्य लोकस्य का गतिरिति ? न स्वर्गं लोकमतिनयेदिति होवाच। स्वर्गं वयं लोकं सामाभिसंस्थापयामः; स्वर्गसंस्तावं हि सामेति ॥५॥

शिलक ने पूछा—जलों की कौन गति है? वह बोला—वह लोक है, सूर्यलोक है; स्वर्ग है। उसने पूछा—उस लोक की कौन गति है? वह बोला—न स्वर्गलोक को लांघना चाहिए। हम स्वर्गलोक की साम से स्थापना करते हैं, उद्गीथ उपासना का फल स्वर्ग-प्राप्ति बताते हैं, क्योंकि स्वर्ग की स्तुति करने वाला ही साम है।

तं ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाच। अप्रतिष्ठितं वै किल ते दाल्भ्य ! साम। यस्त्वेतर्हि ब्रूयात्मूर्धा ते विपतिष्यतीति, मूर्धा ते विपतेदिति ॥६॥

यह सुन कर उस चैकितायन दाल्भ्य को शालावत्य शिलक बोला—दाल्भ्य ! निश्चय तेरा साम आश्रयरहित है; तुच्छफल वाला है। यदि कोई[11] उपासना में प्रवीण

इस समय तुझे कहे कि तेरा सिर गिर जायगा तो इस मिथ्या कथन से तेरा सिर गिर पड़े। तेरा घमण्ड खण्ड खण्ड हो जाय।

हन्ताहमेतद् भगवतो वेदानीति; विद्धीति होवाच। अमुष्य लोकस्य का गतिरिति ! अयं लोक इति होवाच। अस्य लोकस्य का गतिरिति ! न प्रतिष्ठां लोकमतिनयेदिति होवाच। प्रतिष्ठां वयं लोकं सामाभिसंस्थापयामः, प्रतिष्ठा संस्तावं हि सामेति ॥७॥

दाल्भ्य ने निरुत्तर होकर विनय से कहा—अच्छा, मैं यह आप से जानना चाहता हूं। तब शिलक ने कहा—जानिए। उसने पूछा—उस स्वर्गलोक का कौन आश्रय है! वह बोला—यह पृथिवीलोक। फिर उसने पूछा—इस लोक का कौन आश्रय है! वह बोला—प्रतिष्ठा-लोक को नहीं लांघना चाहिए। हम प्रतिष्ठा-लोक का साम से स्थापन करते हैं। साम का फल हम उत्तम मानुष जन्म बताते हैं। क्योंकि प्रतिष्ठा-लोक की स्तुति करने वाला ही साम है। इसी लोक के कर्मों से स्वर्गप्राप्ति होती है।

तं ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच। अन्तवद्वै किल ते शालावत्य! साम। यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा ते विपतिष्यतीति, मूर्धा ते विपतेदिति। हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानीति, विद्धीति; होवाच।

उस शालावत्य को प्रवाहण जैवलि ने कहा—शालावत्य! निश्चय तेरा सामफल अन्तवाला है; नाशवान् है। यदि कोई सामोपासना में पारंगत तेरे मिथ्या कथन से अप्रसन्न होकर, इस समय कहे कि तेरा सिर गिर जायगा तो तेरा सिर गिर पड़े। यह सुन कर शालावत्य ने विनय से कहा—अच्छा मैं यह आप से जानना चाहता हूं। उसने उत्तर दिया—जानिए।

नवां खण्ड

अस्य लोकस्य का गतिरिति ! आकाश इति होवाच। सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति, आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायान्, आकाशः परायणम् ॥१॥

शालावत्य ने विनय से पूछा—इस लोक का कौन आश्रय है? उत्तर में प्रवाहण बोला—आकाश है; सब का प्रकाशक वा सर्वत्र प्रकाशित परमेश्वर है। निश्चय से ये सारे प्राणी परमेश्वर से ही उत्पन्न होते हैं, आकाश में ही मर कर जाते हैं, जन्म-मरण का नियन्ता भगवान् ही है। आकाश—परमेश्वर ही इन प्राणियों से महत्तम है; उससे ऊपर कोई भी नहीं है। आकाश—परमेश्वर सब का परायण—परम धाम है।

स एष परोवरीयानुद्गीथः। स एषोऽनन्तः। परोवरीयो हास्य भवति। परोवरीयसो ह लोकाञ्जयति, य एतदेवं विद्वान् परोवरीयांसमुद्गीथमुपास्ते ॥२॥

वह यह आकाश ब्रह्म, दूसरों से वरतम, सर्वश्रेष्ठ उद्गीथ है; वाचक-वाच्य ईश्वर है। वह यह अनन्त है; देश-काल के घेरे से पार है। इस उपासक का—नाम आराधन करने वाले का, जीवन भी सर्वश्रेष्ठ हो जाता है जो भगवद्भक्त भगवान् के नाम को ऐसा उत्तम जानता हुआ सर्वश्रेष्ठ उद्गीथ—परमेश्वर को आराधता है, वह निश्चय सर्वश्रेष्ठ लोकों को जीत लेता है। उसका धाम परमधाम हो जाता है।

तं हैतमतिधन्वा शौनक उदरशाण्डिल्यायोक्त्वोवाच। यावत्त एनं प्रजाया-मुद्गीथं वेदिष्यन्ते; परोवरीयो हैभ्यस्तावदस्मिंल्लोके जीवनं भविष्यति ॥३॥

शुनक ऋषि का पुत्र अतिधन्वा उदरशाण्डिल्य को वह यह उद्गीथ का भजन बता कर बोला—जब तक तेरी संतति में पुत्र-पुत्रियां इस उद्गीथ को जानते रहेंगे, तब तक इस लोक में, इन अन्य जनों से-भक्तिहीन मनुष्यों से उनका सर्वश्रेष्ठ जीवन होगा।

तथामुष्मिंल्लोके लोक इति। स य एतमेवं विद्वानुपास्ते परोवरीय एव हास्यास्मिंल्लोके जीवनं भवति; तथामुष्मिंल्लोके लोक इति, लोके लोक इति ॥४॥

वैसा ही उसकी सन्तति का उस स्वर्गलोक में उत्तम लोक होगा। वह जो इस नामाराधन को ऐसे जानता हुआ आराधता है, उसका भी इस लोक में उत्तम ही जीवन हो जाता है। वैसे ही उस ऊंचे धाम में उसका ऊंचा धाम होता है।

दसवां खण्ड

मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या सह जाययोषस्तिर्ह चाक्रायणः इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास ॥१॥

एक बार ऐसा हुआ कि चक्र नाम ऋषि का पोता उषस्ति, निर्धन अवस्था में प्राप्त, चलने में असमर्थ, अपनी युवति भार्या के साथ, मकड़ी से नष्ट कुरुदेश में एक हाथियों के ग्राम में जा बसा।

स हेभ्यं कुल्माषान्खादन्तं बिभिक्षे। तं होवाच। नेतोऽन्ये विद्यन्ते यच्च ये म इम उपनिहिता इति ॥२॥

उस उषस्ति ने वहां उबले हुए उड़द खाते हुए एक हाथीवान् से भिक्षा मांगी। वह उसे बोला—इस समय जो ये उड़द मेरे वस्त्र में रक्खे हुए हैं; जिनमें से मैं खा रहा हूं, इनसे अतिरिक्त मेरे पास नहीं हैं।

एतेषां मे देहीति होवाच । तानस्मै प्रददौ । हन्तानुपानमिति । उच्छिष्टं वै मे पीतं स्यादिति होवाच ॥३॥

उषस्ति ने कहा—इन्हीं में से मुझे दे दे। उस हस्तिवान् ने उसको वे उड़द दे दिये। फिर कहा—अच्छा जल लो। उषस्ति बोले—"मेरे लिए, पिया हुआ पानी उच्छिष्ट है" अर्थात् यह जल तेरा जूठा है।

न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति ? न वा अजीविष्यमिमानखादन्निति होवाच । कामो म उदपानमिति ॥४॥

ऋषि का वचन सुनकर हाथीवान् ने कहा—क्या ये उड़द जूंठ नहीं हैं ? उषस्ति ने उत्तर दिया—इन उड़दों को न खा कर मैं नहीं जी सकूंगा। परन्तु जलपान तो मुझे यथेच्छ है; जल तो सर्वत्र है।

स ह खादित्वातिशेषाञ्जायाया आजहार। साग्र एव सुभिक्षा बभूव; तान्प्रतिगृह्य निदधौ ॥५॥

उषस्ति उड़दों को खा कर बचे हुओं को भार्या के लिए ले आया। वह उसके आने से पहले ही अच्छी भिक्षा खा चुकी थी। उसने पति से "वे उड़द लेकर रख दिये।

स ह प्रातः संजिहान उवाच । यद्बतान्नस्य लभेमहि लभेमहि धनमात्राम् । राजासौ यक्ष्यते । स मा सर्वैरार्त्विज्यैर्वृणीतेति ॥६॥

वह उषस्ति सवेरे जाग कर भार्या को बोला—यदि कुछ भी अन्न का टुकड़ा पाऊं तो धनमात्रा भी पा सकूंगा। यह समीप का राजा यज्ञ करने वाला है। वह मुझको सारे ऋत्विक्-कर्मों के लिये वरेगा, मुझे मुख्य ऋत्विक् नियत करेगा।

तं जायोवाच । हन्त पत इम एव कुल्माषा इति । तान् खादित्वाऽमुं यज्ञं विततमेयाय ॥७॥

पति को क्षुधातुर देख कर उसे वह बोली—अच्छा पति ! और कुछ है नहीं ये ही वे उड़द हैं। इन्हें ग्रहण कीजिये। वह उनको खाकर उस विस्तृत महायज्ञ को गया।

तत्रोद्गातॄनास्तावे स्तोष्यमाणानुपोपविवेश, स ह प्रस्तोतारमुवाच ॥८॥

वहां उद्गाताओं के विशाल आस्ताव—स्तुति के स्थान में स्तुति करते हुओं के समीप वह बैठ गया। उस समय वह ऋत्विक् से बोला।

प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता, तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि, मूर्धा ते विपतिष्यतीति ॥९॥

हे प्रस्तोता! जो देवता स्तुति में प्राप्त है; जिसकी स्तुति हो रही है, यदि उसको न जान कर स्तुति करेगा तो तेरा सिर गिर जायगा। तेरी बुद्धि भ्रष्ट हो जायगी।

एवमेवोद्गातारमुवाचोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता, तां चेदविद्वानुद्गास्यसि, मूर्धा ते विपतिष्यतीति ॥१०॥ एवमेव प्रतिहर्तारमुवाच। प्रतिहर्तर्या देवता प्रतिहारमन्वायत्ता, तां चेदविद्वान्प्रतिहरिष्यसि, मूर्धा ते विपतिष्यतीति, ते ह समारतास्तूष्णीमासांचक्रिरे ॥११॥

इसी ही प्रकार यह उद्गाता को बोला—हे उद्गाता, जो देवता—भगवान् उद्गीथ में प्राप्त है, उसको यदि न जान कर स्तोम गायेगा तो तेरा सिर गिर जायगा। इसी प्रकार उषस्ति प्रतिहर्ता को बोला—हे विघ्नविनाशक! जो देवता प्रतिहार में प्राप्त है, उसे यदि न जान कर प्रतिहार करेगा तो तेरा सिर गिर जायगा। यह सुन कर वे अपने अपने कर्मों से हट गये और मौन हो कर बैठ गये।

ग्यारहवां खण्ड

अथ हैनं यजमान उवाच। भगवन्तं वा अहं विविदिषाणीति। उषस्तिरस्मि चाक्रायण इति होवाच ॥१॥

तब इसको यजमान ने कहा—मैं आपको जानना चाहता हूं। वह बोला—मैं उषस्ति चाक्रायण हूं।

स होवाच भगवन्तं वा अहमेभिः सर्वैरार्त्विज्यैः पर्यैषिषं, वा अहमवित्त्यान्यानवृषि ॥२॥ भगवांस्त्वेव मे सर्वैरार्त्विज्यैरिति। तथेत्यथ तर्ह्येत एव समतिसृष्टाः स्तुवतां; यावत्त्वेभ्यो धनं दद्यास्तावन्मम दद्या इति। तथेति ह यजमान उवाच ॥३॥

वह यजमान बोला—मैंने आपको इन सब ऋत्विक् कर्मों के लिए ढूंढा, परन्तु मैंने आपको न पाकर दूसरों को वरा। अब आप ही मेरे सारे ऋत्विक् कर्मों के लिए हैं। उषस्ति ने तथास्तु करके कहा—फिर तब ये ही ऋत्विक् मेरे चलाये हुए स्तुति करें। तू जितना धन उनको देवे उतना ही मुझे दे। यजमान ने कहा—तथास्तु।

अथ हैनं प्रस्तोतोपससाद। प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि, मूर्धा ते विपतिष्यतीति, मा भगवानवोचत्, कतमा सा देवतेति ॥४॥

तदनन्तर इस उषस्ति के पास प्रस्तोता आकर बैठा और बोला—आपने मुझे कहा था। हे प्रस्तोता! जो देवता स्तुति में प्राप्त है, यदि उसे न जान कर स्तुति करेगा तो तेरा सिर गिर जायगा। सो वह कौन सा देवता है?

प्राण इति होवाच। सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति, प्राणमभ्युज्जिहते। सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता, तां चेदविद्वान्प्रास्तोष्यो, मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति ॥५॥

उषस्ति ने कहा—वह स्तुति का देवता प्राण है, जगत् का जीवन भगवान् है। सारे ये प्राणी उसी महाप्राण में ही सर्वथा प्रवेश करते हैं। उसी महाप्राण से उत्पन्न होते हैं। वह यह भगवान्, स्तुति में प्राप्त है। उसको यदि न जान कर तू स्तुति करता, तो तेरा सिर गिर जाता; मेरे कहने का यही तात्पर्य था।

अथ हैनमुद्गातोपससाद। उद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता, तां चेदविद्वानु-द्गास्यसि, मूर्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्, कतमा सा देवतेति ॥६॥ आदित्य इति होवाच। सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यादित्यमुच्चैः सन्तं गायन्ति। सैषा देवतोद्गीथमन्वायत्ता। तां चेदविद्वानुदगास्यो, मूर्धा ते व्यपतिष्यत्। तथोक्तस्य मयेति ॥७॥

जब उषस्ति के पास उद्गाता ने आकर पूछा तो उसने कहा—उद्गीथ में प्राप्त देवता आदित्य है, भगवान् का परम प्रकाशमय धाम है। सारे ये प्राणी सब से ऊँचे रहने वाले आदित्य को गाते हैं। सब गाने वाले प्रकाशमय महान् का गायन करते हैं।

अथ हैनं प्रतिहर्तोपससाद। प्रतिहर्तर्या देवता प्रतिहारमन्वायत्ता, तां चेदविद्वान् प्रतिहरिष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति, मा भगवानवोचत्। कतमा सा देवतेति ॥८॥ अन्नमिति होवाच। सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यन्नमेव प्रतिहरमाणानि जीवन्ति। सैषा देवता प्रतिहारमन्वायत्ता। तां चेदविद्वान्प्रत्य-हरिष्यो, मूर्धा ते व्यपतिष्यत्। तथोक्तस्य मयेति; तथोक्तस्य मयेति ॥९॥

प्रतिहर्ता को उसने कहा—प्रतिहार का देवता अन्न है। सब ये प्राणी अन्न को लेते हुए ही जीते हैं। अन्न जीवन तथा यज्ञ का मुख्य साधन है।

बारहवां खण्ड

अथातः शौव उद्गीथस्तद्ध बको दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः स्वाध्यायमुद्व-व्राज ॥१॥

इसके आगे शौव उद्गीथ का वर्णन होगा। वह वक दाल्भ्य और मित्रयु का पुत्र ग्लाव स्वाध्याय के लिए एकान्त स्थान में गया।

तस्मै श्वा श्वेतः प्रादुर्बभूव। तमन्ये श्वान उपसमेत्योचुरन्नं नो भगवानागा-यत्वशनायाम वा इति ॥२॥

उसके समीप श्वेत श्व नामक गायक मनुष्य प्रकट हुआ। दूसरे गायक उसके पास आकर बोले—हमारे लिए आप अन्न की प्रार्थना करें। हम क्षुधातुर हैं।

तान्होवाचेहैव मा प्रातरुपसमीयातेति। तद्ध वको दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः प्रतिपालयांचकार ॥३॥ ते ह यथैवेदं वहिष्पवमानेन स्तोष्यमाणाः संरब्धाः सर्पन्तीति, एवमाससृपुस्ते ह समुपविश्य हिंचक्रुः ॥४॥

उनको वह श्वेत गायक बोला—यहां ही मेरे पास सवेरे आइए। तब वह वक दाल्भ्य अथवा ग्लाव मैत्रेय उनकी प्रतीक्षा करने लगा। वे गायक जैसे इस स्तुति-स्थान को, बहिष्पवमान स्तोत्र से स्तुति करते हुए, इकट्ठे उद्गाता आते हैं, ऐसे आये। वे बैठ कर हिंकार गान करने लगे।

ओ३ऽमदा३मों३पिबा३मों३देवो वरुणः प्रजापतिः सविता२ऽन्नमिहा२हरदन्न-पते ! ३ऽन्नमिहाहरा२हरो३मिति ॥५॥

परमेश्वर की कृपा से हम अन्न को खाते हैं, जल को पीते हैं। देव, वरुण, प्रजापति, सविता हमारे लिए अन्न यहां लायें। अन्न के स्वामिन् ! अन्न यहां लो।

तेरहवां खण्ड

अयं वाव लोको हाउकारो, वायुर्हाइकारश्चन्द्रमा अथकार आत्मेहकारोऽ-ग्निरीकारः ॥१॥

सामगान में, स्वरों को कोमल बनाने के लिए जो अक्षर स्तोभ—मन्त्र में मिला कर गाये जाते हैं उनकी सार्थकता वर्णन की जाती है। निश्चय, यह पृथिवी लोक हाउकार है; इस से पृथिवी लोक समझना चाहिए। वायु हाइकार से, चन्द्रमा अथकार से, आत्मा इहकार से और अग्नि ईकार से जानना चाहिए।

आदित्य ऊकारो निहव एकारो विश्वे देवा औहोयिकारः प्रजापतिर्हिंकारः प्राणः स्वरोऽन्नं या वाग्विराट् ॥२॥

सूर्य का ऊकार स्तोभ है, आह्वान का एकार, विश्वेदेवों का औहोयिकार, प्रजा-पति का हिंकार, प्राण का स्वर, अन्न का या वाणी का विराट् स्तोभ है।

अनिरुक्तस्त्रयोदशः स्तोभः संचरो हुंकारः ॥३॥

तेरहवां स्तोभ अनिर्वचनीय है; उसको किसी एक के साथ जोड़ा नहीं जाता। वह अन्य से सम्बन्ध रखने वाला है। विशेष सामगान में गाया जाता है। वह हुंकार है।

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति।
य एतामेवं साम्नामुपनिषदं वेद उपनिषदं वेदेति ॥४॥

जो वाणी का दूध—सार है उस दूध को वाणी स्वयं इस साम गाने वाले उपासक के लिए दोहती है। वह उपासक अन्नवान् और अन्न का भोक्ता हो जाता है। जो इस सामसम्बन्धी उपनिषद् को ऐसे जानता है।

ऊपर वर्णित हाउकार आदि स्तोभों को साम की उपनिषद् कहा गया है। इसका तात्पर्य है कि ये रहस्यसूचक अक्षर हैं। ये स्तोभ जहां साम-स्वरों को कोमल बनाते हैं वहां ये पृथिवी आदि पदार्थों के बीजाक्षर भी हैं, बीजाक्षर जिस पदार्थ का हो उस का बोधक भी होता है और मन्त्र को प्रबल भी बनाता है। बीजाक्षर मन्त्र के साथ जोड़ देने से मन्त्र-बल बढ़ जाता है। यही भेदवाद है, पृथिवी आदि लोकों में ऐसे बीजस्वर वा नाद गूंज रहे हैं। अथवा सब लोक-लोकान्तरों में स्वर साम निनादित हो रहा है, यह भी आशय निहित है। लोकान्तरों की गतियों से जो नाद-स्वर स्फुरित होते हैं वे सब सताल हैं, अत एव साम ही हैं। उन्हीं सताल स्वरों के ये स्तोभ बीजाक्षर हैं।

प्रपाठक दूसरा, पहला खण्ड

समस्तस्य खलु साम्न उपासनं साधु। यत्खलु साधु तत्सामेत्याचक्षते। यदसाधु तदसामेति ॥१॥

निश्चय से सारे साम का गाना—आराधना श्रेष्ठ है। निश्चय से जो उत्तम है वह साम, ऐसा कहा जाता है। और जो अश्रेष्ठ है वह असाम कहा जाता है। उत्तम उच्चारण और गान का नाम ही साम है। स्वर ताल की समता, सुन्दरता साम है।

तदुताप्याहुः। साम्नैनमुपागादिति; साधुनैनमुपागादित्येव तदाहुः। असाम्नैनमुपागादित्यसाधुनैनमुपागादित्येव तदाहुः ॥२॥

उस साधु-असाधु विचार में और लौकिकजन भी लोकव्यहार में ऐसा कहते हैं। वह साम से इस को प्राप्त हुआ, इसके पास आया; श्रेष्ठता से इसके पास आया; यह ही तब कहते हैं। असाम से इसके पास आया, असाधुता—असभ्यता से इसके पास आया; यह ही तब कहते हैं। लोकव्यवहार में भी साम-शब्द साधु के अर्थ में प्रयुक्त होता है। लोक में भद्र, सुन्दर को साम ही कहा जाता है।

अथोताप्याहुः । साम नो बतेति यत्साधु भवति, साधु बतेत्येव तदाहुः ।
असाम नो बतेति [illegible] भवति, असाधु बतेत्येव तदाहुः ॥३॥

तथा और भी जन व्यवहार में कहते हैं । जो किसी का साधु—शुभ होता है तो प्रसन्नता में हमारा [illegible] म हुआ है, साधु हुआ है, यह ही तब कहते हैं । जो असाधु—अशुभ होता है तो हमारा असाम हुआ है, असाधु हुआ है, यह ही तब कहते हैं । शुभकर्म तथा शुभप्राप्ति का नाम भी साम तथा साधु है ।

स य एतदेवं विद्वान्साधुं सामेत्युपास्तेऽभ्याशो ह यदेनं साधवो धर्मा आ च गच्छेयुरुप च नमेयुः ॥४॥

वह जो इस साम-महिमा को ऐसे जानता हुआ साधु साम एक है ऐसे आराधता है; साम को श्रेष्ठ, शुभ, मंगल मान कर उपासता है; उसको शीघ्र ही, जो साधु—श्रेष्ठ कर्म तथा धर्म हैं, प्राप्त होते हैं और सारे साधुभाव और धर्म उसके पास झुक जाते हैं । वह उत्तम बन जाता है ।

दूसरा खण्ड

लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत । पृथिवी हिंकारोऽग्निः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथ आदित्यः प्रतिहारो द्यौर्निधनमित्यूर्ध्वेषु ॥१॥

लोकों में पांच प्रकार का साम आराधे । पृथिवी में हिंकार, अग्नि में प्रस्ताव, अन्तरिक्ष में उद्गीथ, आदित्य में प्रतिहार और द्युलोक में निधन को आराधे । यह ऊपर के लोकों में विचारे । सब उद्गाता साम के जिस भाग को गाते हैं उसे हिंकार कहते हैं । प्रस्तोता जिसे गाता है उसे प्रस्ताव । उद्गाता जिसे गाता है उसे उद्गीथ । प्रतिहर्ता जिसे गाता है उसे प्रतिहार । और सब मिलकर जिस भाग को गाते हैं उसे निधन कहते हैं ।

अथावृत्तेषु । द्यौर्हिंकार आदित्यः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथोऽग्निः प्रतिहारः पृथिवी निधनम् ॥२॥

अब आवृत्तों में—ऊपर से नीचे तक लोकों में, पांच प्रकार का साम चिन्तन करे; साम्प्रदायिक कल्पनानुसार समझे । सब लोकों में साम गूंजता ही माने ।

कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च, य एतदेवं विद्वांल्लोकेषु पञ्चविधं सामोपास्ते ॥३॥

जो इस सामोपासना को इस प्रकार जानता हुआ, लोकों में पांच प्रकार का साम चिन्तन करता है, उसके लिए ऊपरमुखी और अधोमुखी सब लोक उपस्थित हो जाते हैं । सारे विश्व में, साम—मधुरनाद गूंज रहा है, यह सामोपासना है ।

तीसरा खण्ड

वृष्टौ पञ्चविधं सामोपासीत । पुरोवातो हिंकारो, मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो, विद्योतते स्तनयति स प्रतिहारः ॥१॥ उद्गृह्णाति तन्निधनम् । वर्षति हास्मै वर्षयति ह य एतदेवं विद्वान् वृष्टौ पञ्चविधं सामोपास्ते ॥२॥

वृष्टि में पांच प्रकार का साम चिन्तन करे । वर्षा से पहली पवन को हिंकार जाने । जो मेघ उत्पन्न हो जाता है उसे प्रस्ताव, जो बरसता है वह उद्गीथ, जो चमकता तथा गर्जता है वह प्रतिहार और जो पानी पड़ना बन्द होने लगता है वह निधन समझे, वर्षा में भगवान् की लीला जाने । उपासक यह समझे कि परमेश्वर की सृष्टि में, सर्वत्र साम गूंज रहा है । जो उपासक इस लीला को ऐसे जान कर वृष्टि में पांच प्रकार का साम चिन्तन करता है उसके लिए भक्ति-बादल बरसता है और भगवान् उस पर आनन्दवर्षा बरसाता है ।

चौथा खण्ड

सर्वास्वप्सु पञ्चविधं सामोपासीत । मेघो यत्संप्लवते स हिंकारो, यद्वर्षति स प्रस्तावो, याः प्राच्यः स्यन्दन्ते स उद्गीथो, याः प्रतीच्यः स प्रतिहारः, समुद्रो निधनम् ॥१॥

सारे जलों में पांच प्रकार का साम चिन्तन करे । मेघ का दौड़ना हिंकार, बरसना प्रस्ताव, जो पानी पूर्व को बहते हैं वह उद्गीथ, जो पश्चिम को बहते हैं वह प्रतिहार और समुद्र निधन जाने । इनको साम-स्वर से सने हुए समझे ।

न हाप्सु प्रैति, अप्सुमान् भवति, य एतदेवं विद्वान्सर्वास्वप्सु पञ्चविधं सामोपास्ते ॥२॥

जो उपासक सारे जलों में भगवान् की लीला जानता है वह जलों में नहीं मरता—नहीं डूबता और जलों वाला हो जाता है ।

पांचवां खण्ड

ऋतुषु पञ्चविधं सामोपासीत । वसन्तो हिंकारो, ग्रीष्मः प्रस्तावो, वर्षा उद्गीथः, शरत्प्रतिहारो, हेमन्तो निधनम् ॥१॥ कल्पन्ते हास्मा ऋतव ऋतुमान् भवति, य एतदेवं विद्वानृतुषु पञ्चविधं सामोपास्ते ॥२॥

ऋतुओं में भगवान् की लीला जाने । सब परिवर्तनों में सामगान—हरिकीर्त्तन होता हुआ समझे ।

छठा खण्ड

पशुषु पञ्चविधं सामोपासीत । अजा हिंकारोऽवयः प्रस्तावो, गाव उद्गीथोऽश्वाः प्रतिहारः, पुरुषो निधनम् ॥१॥ भवन्ति हाऽस्य पशवः पशुमान् भवति, य एतदेवं विद्वान्पशुषु पञ्चविधं सामोपास्ते ॥२॥

पशुओं में पांच प्रकार का साम विचारे । बकरियें हिंकार, भेड़ें प्रस्ताव, गौएं उद्गीथ, घोड़े प्रतिहार और पुरुष निधन समझे । सब जीवों में भगवान् की लीला होती देखे ।

सातवां खण्ड

प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपासीत । प्राणो हिंकारो, वाक् प्रस्ताव-श्चक्षुरुद्गीथः, श्रोत्रं प्रतिहारो, मनो निधनं, परोवरीयांसि वा एतानि ॥१॥

प्राणों—इन्द्रियों में पांच प्रकार का उत्तरोत्तर श्रेष्ठ साम विचारे । प्राण हिंकार है, वाणी प्रस्ताव है, नेत्र उद्गीथ है, श्रोत्र प्रतिहार है और मन निधन है । निश्चय ये प्राण एक दूसरे से श्रेष्ठ हैं ।

परोवरीयो हास्य भवति परोवरीयसो ह लोकाञ्जयति य एतदेवं विद्वान्प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपास्त इति तु पञ्चविधस्य ॥२॥

जो उपासक इस साम-उपासना को इस प्रकार जान कर प्राणों में पांच प्रकार का श्रेष्ठतम साम विचारता है, उसका जीवन श्रेष्ठतम हो जाता है । वह श्रेष्ठतम लोकों को पाता है । यह पांच प्रकार के साम का विचार है । इस सारे वर्णन का सार यह है कि सामोपासक सारी सृष्टि में साम की ध्वनि समझे । ऐसी भावना करे कि उसे सब वस्तुएँ हरिलीलामयी दिखाई दें ।

आठवां खण्ड

अथ सप्तविधस्य । वाचि सप्तविधं सामोपासीत । यत्किं च वाचो हुमिति स हिंकारो, यत्प्रेति स प्रस्तावो यदेति स आदिः ॥१॥ यदुदिति स उद्गीथो, यत्प्रतीति स प्रतिहारो, यदुपेति स उपद्रवो, यन्नीति तन्निधनम् ॥२॥

अब सात प्रकार की सामोपासना का वर्णन किया जाता है । वाणी में सात प्रकार का साम विचारे । जो कुछ वाणी का 'हुं' है वह हिंकार है । जो 'प्र' है वह प्रस्ताव और जो "आ" है वह आदि है । जो "उत्" है वह उद्गीथ है, जो "प्रति" है वह प्रतिहार है, जो "उप" है वह उपद्रव है और जो "नि" है वह निधन है ।

यह वाणी का साम साम की वाणीशक्ति का सूचक है । 'हुम्' आदि शब्दों से

ही वाणी प्रबल बनती है। इनमें साम लाये; कोमलता तथा रस भरे और भगवान् का नाम गाकर वाणी का साम सार्थक करे।

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति, य एतदेवं विद्वान्वाचि सप्तविधं सामोपास्ते ॥३॥

जो उपासक इस सामोपासना को ऐसे विचारता है उसके लिए वाणी अपने दूध—सार को आप दोहती है। वह अन्नवान् और अन्न का भोक्ता हो जाता है।

नवां खण्ड

अथ खल्वमुमादित्यं सप्तविधं सामोपासीत। सर्वदा समस्तेन साम; मां प्रति मां प्रतीति सर्वेण समस्तेन साम ॥१॥

अब निश्चय से इस सूर्यसम्बन्धी सात प्रकार के साम को विचारे। वह सूर्य सब प्राणियों में सर्वदा सम है, इस से साम है। प्रत्येक मनुष्य कहता है—"मेरे लिए मेरे लिए सब प्रकार से सम है; एकसा प्रकाश देता है। इस कारण सूर्य साम है।

तस्मिन्निमानि सर्वाणि भूतान्यन्वायत्तानीति विद्यात्तस्य यत्पुरोदयात्स हिंकारः। तदस्य पशवोऽन्वायत्तास्तस्मात्ते हिंकुर्वन्ति। हिंकारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥२॥

उस सूर्य में ये सब प्राणी अनुगत हैं, उसके आश्रय में जीवित हैं, ऐसा जाने। उस सूर्य का जो उदय से पहला प्रकाश है वह हिंकार है। सो इसके पशु अनुगत हैं; आश्रित हैं। इस कारण उषाकाल में वे हिंकार करते हैं, बोलने लग जाते हैं। पशु इस साम के हिंकार भजनशील हैं।

अथ यत्प्रथमोदिते स प्रस्तावः। तदस्य मनुष्या अन्वायत्ताः। तस्मात्ते प्रस्तुतिकामाः प्रशंसाकामाः। प्रस्तावभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥३॥

उसके अनन्तर जो सूर्य के प्रथम उदय का समय है वह प्रस्ताव—स्तुति है। उस के मनुष्य अनुगत हैं। इस कारण उस समय वे भगवान् की स्तुति की कामना वाले और उसकी प्रशंसा की कामना वाले होते हैं। इस साम के ये मनुष्य स्तुतिभजनशील हैं।

अथ यत्संगववेलायां स आदिः। तदस्य वयांस्यन्वायत्तानि। तस्मात्तान्यन्तरिक्षेऽनारम्भणान्यादायात्मानं परिपतन्ति। आदिभाजीनि ह्येतस्य साम्नः ॥४॥

और जो गौएं दुहने का समय है वह आदि है, दिन का प्रथम काल है। उसके अनुगत पक्षी हैं। इस कारण वे आकाश में अपने निराश्रय परों को ले कर अपने आपको उड़ाते हैं, वे इस साम के आदिभजनशील हैं।

अथ यत्संप्रति मध्यन्दिने स उद्गीथः । तदस्य देवा अन्वायत्ताः, तस्मात्ते सत्तमाः प्राजापत्यानाम् । उद्गीथभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥५॥

और जो अब दोपहर में मुहूर्त्त होता है वह उद्गीथ है, भगवान् का नाम-कीर्त्तन साम है। उसके अनुगत देव हैं। इस कारण वे, परमेश्वर के पुत्रों में—भक्तों में सर्वश्रेष्ठ हैं। वे इस साम के उद्गीथभक्ति वाले हैं।

अथ यदूर्ध्वं मध्यन्दिनात्प्रागपराह्णात्स प्रतिहारः। तदस्य गर्भा अन्वायत्ताः। तस्मात्ते प्रतिहृता नावपद्यन्ते । प्रतिहारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥६॥

अब जो दोपहर से ऊपर और पिछले पहर से पूर्व का समय है वह प्रतिहार साम है। इसके आश्रित गर्भ हैं। इसी कारण वे धारण किए हुए नहीं गिरते; प्रति-हार-सामगान से गर्भपात नहीं होते। वे इस साम के प्रतिहार-भक्तिशील हैं।

अथ यदूर्ध्वमपराह्णात्प्रागस्तमयात्स उपद्रवः । तदस्या रण्या अन्वायत्ताः । तस्मात्ते पुरुषं दृष्ट्वा कक्षं श्वभ्रमित्युपद्रवन्ति । उपद्रवभाजिनो ह्येतस्य साम्नः॥७॥

उसके अनन्तर जो दिन के पिछले पहर से ऊपर और सूर्यास्त से पहले का सूर्यप्रकाश है वह उपद्रव साम है। उसके अनुगत जंगली जीव हैं। इस कारण वे पुरुष को देखें कर, वन और बिल को दौड़ जाते हैं। वे इस साम के उपद्रव-भजन-शील हैं, वे भागने वाले जीव हैं।

अथ यत्प्रथमास्तमिते तन्निधनम् । तदस्य पितरोऽन्वायत्ताः, तस्मात्तान्नि-दधति । निधनभाजिनो ह्येतस्य साम्नः । एवं खल्वमुमादित्यं सप्तविधं सामोपास्ते ॥८॥

तत्पश्चात् जो प्रथम सूर्यास्त का प्रकाश है, सन्ध्याराग है वह निधन साम है। उसके आश्रित पितर हैं। इस कारण वह निधन गाया हुआ पितरों को धारण करता है। वे इस साम के निधन-भक्ति वाले हैं। इस प्रकार, निश्चय से इस आदित्यसम्बन्धी सात प्रकार के साम को विचारे। सूर्य के प्रकाशों में उपासक साम का आलाप होता ही समझे। यही जाने कि सूर्योदय से अस्तपर्यन्त सारे दिन में प्रकृति साम ही गा रही है; भगवान् की महिमा ही प्रदर्शित करती है।

दसवां खण्ड

अथ खल्वात्मसंमितमतिमृत्यु सप्तविधं सामोपासीत। हिंकार इति त्र्यक्षरं, प्रस्ताव इति त्र्यक्षरं, तत्समम् ॥१॥

अब निश्चय से आत्मा के अनुकूल—आत्मा से जाना हुआ और अपने में बराबर,

मृत्यु को लांघने वाला, सात प्रकार का साम विचारे। हिंकार यह तीन अक्षर हैं और प्रस्ताव यह भी तीन अक्षर हैं, वे दोनों सम हैं, तुल्य हैं।

आदिरिति द्व्यक्षरं; प्रतिहार इति चतुरक्षरं, तत इहैकं तत्समम् ॥२॥

आदि नामक साम यह दो अक्षर हैं, प्रतिहार यह चार अक्षर हैं। उन चार से यहां आदि में एक अक्षर मिला दें तो वे सम हैं।

उद्गीथ इति त्र्यक्षरमुपद्रव इति चतुरक्षरं, त्रिभिस्त्रिभिः समं भवत्यक्षर-मतिशिष्यते; त्र्यक्षरं तत्समम् ॥३॥

उद्गीथ यह तीन अक्षरवाला है, उपद्रव यह चार अक्षरों वाला है। तीन तीन अक्षरों से तो दोनों सम हैं। एक अक्षर रह जाता है। तीन अक्षर वह सम हैं।

निधनमिति त्र्यक्षरं, तत्सममेव भवति। तानि ह वा एतानि द्वाविंशतिरक्षराणि ॥४॥

निधन यह तीन अक्षर वाला है। वह सम ही है। हिंकार, प्रस्ताव, आदि, प्रतिहार, उद्गीथ, उपद्रव और निधन ये सात प्रकार के साम हैं। सातों के तीन तीन अक्षर हैं। एक अवशेष अक्षर मिलाकर वे ये बाईस अक्षर हैं।

एकविंशत्याऽऽदित्यमाप्नोति, एकविंशो वा इतोऽसावादित्यो, द्वाविंशेन परमादित्याज्जयति; तन्नाकं तद्विशोकम् ॥५॥

इक्कीस अक्षरों से आदित्य को उपासक प्राप्त करता है, तेजोमय धाम को प्राप्त होता है। निश्चय यहां से यह आदित्य इकीसवां है। इकीसवां धाम तथा लोक है। बाईसवें अक्षर से आदित्य से भी आगे परमप्रकाश को जीत लेता है। वह परमप्रकाश दुःखरहित है और वह शोकरहित है।

आप्नोतीहादित्यस्य जयं परो हास्यादित्यजयाज्जयो भवति य एतदेवं विद्वानात्मसंमितमतिमृत्यु सप्तविधं सामोपास्ते, सप्तविधं सामोपास्ते ॥६॥

जो उपासक इस उपासना को इस प्रकार जानता हुआ आत्मसंमित और मृत्यु को लांघने वाला सात प्रकार का साम उपासता है वह इस लोक में सूर्यलोक की उत्कृष्ट विजय प्राप्त करता है। उसकी आदित्यविजय से भी ऊँची जय हो जाती है। सर्वसृष्टि को सामस्वरूपा समझने वाला परमविजेता हो जाता है, परमपद प्राप्त कर लेता है।

ग्यारहवां खण्ड

मनो हिंकारो वाक्प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः, श्रोत्रं प्रतिहारः, प्राणो निधनमेत-द्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम् ॥१॥

मन हिंकार है, वाणी प्रस्ताव है, आंखें उद्गीथ है, श्रोत्र प्रतिहार है और प्राण निधन है। यह गायत्रनामक साम प्राणों—इन्द्रियों में पिरोया हुआ है।

स य एवमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतं वेद प्राणी भवति; सर्वमायुरेति ज्योग् जीवति, महान्प्रजया पशुभिर्भवति, महान्कीर्त्या, महामनाः स्यात्, तद् व्रतम् ॥२५॥

जो उपासक इस प्रकार इस गायत्र-साम को प्राणों में प्रोत जानता है, प्राणों से आराधता है वह भक्त प्राणों वाला—शक्तिशाली हो जाता है। वह पूर्ण आयु भोगता है, उज्ज्वल जीवन जीता है, प्रजा और पशुओं से बड़ा बन जाता है, कीर्त्ति से महान् होता है। ऐसा उपासक महामना—उदारचेता होवे। यह व्रत है।

बारहवां खण्ड

अभिमन्थति स हिंकारो, धूमो जायते स प्रस्तावो, ज्वलति स उद्गीथो-ऽङ्गारा भवन्ति स प्रतिहार उपशाम्यति तन्निधनं, संशाम्यति तन्निधनम्। एतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतम् ॥१॥

यज्ञ भी साम है यह दर्शाते हुए ऋषि कहता है—अरणी से जो अग्नि का मन्थन करना है वह हिंकार है, जो धुआं उत्पन्न होता है वह प्रस्ताव है, जो अग्नि जलती है वह उद्गीथ है, जो अंगारे हो जाते हैं वह प्रतिहार है. जो अग्नि का शान्त होना है वह निधन है जो विशेष शान्त होना है वह निधन है। यह रथन्तरसाम अग्नि में प्रोत है।

स य एवमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतं वेद ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति, सर्वमायुरेति ज्योग् जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति, महान्कीर्त्या। न प्रत्यङ्ङग्निमाचामेन्न निष्ठीवेत्, तद् व्रतम् ॥२॥

जो उपासक ऐसे इस रथन्तर-साम को अग्नि—यज्ञ में प्रोत जानता है; यज्ञ की विधि में भगवान् का ही ध्यान करता है, वह ब्रह्मतेज वाला और अन्न का भोक्ता हो जाता है। ऐसे उपासक का यह व्रत है कि अग्नि के सम्मुख न जूठा पानी फेंके और न थूके।

तेरहवां खण्ड

उपमन्त्रयते स हिंकारो, ज्ञपयते स प्रस्तावः, स्त्रिया सह शेते स उद्गीथः, प्रति स्त्रिया सह शेते स प्रतिहारः, कालं गच्छति तन्निधनं, पारं गच्छति तन्निधनम्, एतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतम् ॥१॥

ऊपर के वामदेव्य-साम का यह ही तात्पर्य जानना चाहिए कि स्त्रीपुरुष का संसर्ग भी साम ही है। पातिव्रत्य तथा पत्नीव्रत धर्म भी एक प्रकार का शुभ कर्म है।

स य एवमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतं वेद मिथुनीभवति; मिथुनान्मिथुनात्प्रजायते, सर्वमायुरेति, ज्योग् जीवति। महान् प्रजया पशुभिर्भवति, महान्कीर्त्या, न कांचन परिहरेत् तद् व्रतम् ॥२॥

जो सदाचारी गृहस्थी ऐसे इस वामदेव्य-साम को दम्पतिव्रत में पिरोया हुआ जानता है वह जोड़ीवाला होता है; उसका भार्या से वियोग नहीं होता। ऐसे व्रती स्त्री-पुरुष विधवा तथा विधुर नहीं होते। वह जन्मान्तर में विवाहित माता-पिता से ही उत्पन्न होता है। ऐसे श्रेष्ठजन का यह व्रत है कि किसी भी पर स्त्री को न अपहरण करे; वह कदापि व्यभिचारी न हो। सन्तति बढ़ाना एक साम-संलाप सम ही समझे। मर्यादायुक्त जीवन सामोपासनासम जाने।

चौदहवां खण्ड

उद्यन्हिंकार उदितः प्रस्तावो, मध्यन्दिन उद्गीथोऽपराह्णः प्रतिहारोऽस्तं यन्निधनम्। एतद् बृहदादित्ये प्रोतम् ॥१॥ स य एवमेतद् बृहदादित्ये प्रोतं वेद, तेजस्व्यन्नादो भवति; सर्वमायुरेति, ज्योग् जीवति, महान्प्रजया पशुभिर्भवति, महान्कीर्त्या, तपन्तं न निन्देत् तद् व्रतम् ॥२॥

उदय होता हुआ सूर्य हिंकार साम है, उदय होने पर प्रस्ताव, मध्याह्न में उद्गीथ, पिछले प्रहर प्रतिहार और अस्तकाल में निधन है। यह साम महान् आदित्य में प्रोत है। जो उपासक ऐसे इसको जानता है वह इस उपासना से तेजस्वी और अन्न का भोक्ता हो जाता है। ऐसे उपासक का यह व्रत है कि तपते हुए सूर्य की निन्दा न करे।

पन्द्रहवां खण्ड

अभ्राणि संप्लवते स हिंकारो, मेघो जायते स प्रस्तावो, वर्षति स उद्गीथो, विद्योतते स्तनयति स प्रतिहार उद्गृह्णाति तन्निधनम्, एतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतम् ॥१॥ स य एवमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतं वेद, विरूपांश्च पशूनवरुन्धे; सर्वमायुरेति, ज्योग् जीवति, महान्प्रजया पशुभिर्भवति, महान्कीर्त्या, वर्षन्तं न निन्देत्, तद् व्रतम् ॥१॥

वह वैरूप-साम पर्जन्य में प्रोत है। इसको जो जानता है वह अनेकरूप और सुरूप पशुओं को पाता है। ऐसे उपासक का यह व्रत है कि बरसते बादल की निन्दा न करे। मेघों में भी साम-नाद की ध्वनि चिन्तन करे।

सोलहवां खण्ड

वसन्तो हिंकारो, ग्रीष्मः प्रस्तावो, वर्षा उद्गीथः, शरत् प्रतिहारो, हेमन्तो निधनम् । एतद्वैराजमृतुषु प्रोतम् ॥१॥ स य एवमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतं वेद, विराजति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन, सर्वमायुरेति, ज्योग् जीवति । महान्प्रजया पशुभिर्भवति, महान्कीर्त्या । ऋतुं न निन्देत्, तद् व्रतम् ॥२॥

ऋतुओं में जो साम है वह वैराज है। जो इसे जानता है वह प्रजा से, पशुओं से और ब्रह्मतेज से सुशोभित रहता है। उपासक ऋतुकी निन्दा न करे, उनमें भगवान् की लीला समझे और देखे। प्रकृति के मुख्य विकासों में शुभ, साम, अनुकूल भावना करे।

सतरहवां खण्ड

पृथिवी हिंकारोऽन्तरिक्षं प्रस्तावो, द्यौरुद्गीथो, दिशः प्रतिहारः, समुद्रो निधनम्। एताः शक्वर्यो लोकेषु प्रोताः ॥१॥ स य एवमेताः शक्वर्यो लोकेषु प्रोता वेद लोकी भवति, सर्वमायुरेति, ज्योग् जीवति । महान्प्रजया पशुभिर्भवति, महान्कीर्त्या, लोकान्न निन्देत् , तद् व्रतम् ॥२॥

यह शक्वरीनामक साम लोकों में प्रोत है। जो इसे जानता है प्रकृति में साम-गीत गूंजता समझता है वह लोकवाला हो जाता है। उसका उत्तम जन्म होता है। ऐसा जन लोकों की निन्दा न करे।

अठारहवां खण्ड

अजा हिंकारोऽवयः प्रस्तावो, गाव उद्गीथोऽश्वा प्रतिहारः, पुरुषो निधनम् । एता रेवत्यः पशुषु प्रोताः ॥१॥ स य एवमेता रेवत्यः पशुषु प्रोता वेद, पशुमान् भवति, ज्योग् जीवति । महान्प्रजया पशूभिर्भवति, महान्कीर्त्या । पशून्न निन्देत् . तद् व्रतम् ॥२॥

यह रेवतीनामक साम पशुओं में प्रोत है। ऐसा जानने वाला पशुओं वाला हो जाता है। ऐसा उपासक पशुओं को न निन्दे। नाना योनियों में भगवान् की लीला देखे।

उन्नीसवां खण्ड

लोम हिंकारस्त्वक् प्रस्तावो, मांसमुद्गीथोऽस्थि प्रतिहारो, मज्जा निधनम् । एतद्यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतम् ॥१॥

लोम हिंकार है, त्वचा प्रस्ताव, मांस उद्गीथ, अस्थि प्रतिहार और मज्जा निधन है। यह यज्ञायज्ञीय-साम देह के अवयवों में प्रोत समझना चाहिए।

स य एवमेतद् यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतं वेद, अङ्गी भवति नाङ्गेन विहूर्च्छति। सर्वमायुरेति ज्योग् जीवति। महान्प्रजया पशुभिर्भवति, महान्कीर्त्या। संवत्सरं मज्ज्ञो नाश्नीयात्, तद् व्रतं, मज्ज्ञो नाश्नीयादिति वा ॥२॥

जो उपासक इस यज्ञायज्ञीय साम को अवयवों में प्रोत जानता है वह अंगों वाला हो जाता है। वह अंग से नहीं टेढा मेढा होता। ऐसा जन वर्ष भर मज्जा न खाय, वा मज्जा न खाए यह व्रत है।

बीसवां खण्ड

अग्निर्हिंकारो वायुः प्रस्ताव आदित्य उद्गीथो, नक्षत्राणि प्रतिहारश्चन्द्रमा निधनम्। एतद्राजनं देवतासु प्रोतम् ॥१॥ स य एवमेतद्राजनं देवतासु प्रोतं वेद, एतासामेव देवतानां सलोकतां सार्ष्टितां सायुज्यं गच्छति। सर्वमायुरेति ज्योग् जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या। ब्राह्मणान्न निन्देत्, तद् व्रतम् ॥२॥

जो उपासक इस राजननामक साम को जानता है वह इन्हीं देवताओं की समानलोकता, समान समृद्धि तथा संमिलाप को पाता है।

इक्कीसवां खण्ड

त्रयी विद्या हिंकारस्त्रय इमे लोकाः स प्रस्तावोऽग्निर्वायुरादित्यः स उद्गीथः, नक्षत्राणि वयांसि मरीचयः स प्रतिहारः। सर्पा गन्धर्वाः पितरस्तन्नि-धनम्। एतत्साम तत्सर्वस्मिन्प्रोतम् ॥१॥ स य एवमेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोतं वेद सर्वं ह भवति ॥२॥

तीनों वेदों की विद्या हिंकार है। ये तीन लोक वह प्रस्ताव है। अग्नि वायु सूर्य वह उद्गीथ है। नक्षत्र पक्षी और सूर्य की किरणें वह प्रतिहार है। सर्प, गन्धर्व और पितर वह निधन है। यह साम सब में प्रोत है। जो ऐसा जानता है, वह सब कुछ हो जाता है; उसकी कामना पूर्ण हो जाती है।

तदेष श्लोकः। यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि, तेभ्यो न ज्यायः परम-न्यदस्ति ॥३॥

उस विषय में यह श्लोक है। जो पांच प्रकार का—हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ,

प्रतिहार और निधन साम है तथा तीन प्रकार में वह कहा है उनसे बड़ा उत्कृष्ट दूसरा साम नहीं है । सामनादमयी रचना सर्वोत्कृष्ट है ।

यस्तद् वेद स वेद सर्वं; सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति । सर्वमस्मीत्युपासीत । तद् व्रतं तद् व्रतम् ॥४॥

जो उपासक पूर्वोक्त साम को जानता है, वह सब सामों को जानता है, उसे साम का मर्म ज्ञात हो जाता है । उसके लिए सर्व दिशाएँ बलि लाती हैं । उसको सर्वत्र सुख प्राप्त होता है । ऐसा उपासक, मैं पूर्ण हूं, ऐसी भावना करे । यह व्रत है, यह व्रत है । स्वर, संगीतमय साम का मनन करने वाला सृष्टि के सब विकासों को साम-स्वर संलापरूप समझता हुआ उनमें परमलीनता लाभ कर लेता है, यह इस सामोपासना का सारांश है ।

बाईसवां खण्ड

विनर्दि साम्नो वृणे, पशव्यमित्यग्नेरुद्गीथोऽनिरुक्तः, प्रजापतेर्निरुक्तः सोमस्य मृदु श्लक्ष्णम्, वायोः श्लक्ष्णं, बलवदिन्द्रस्य, क्रौञ्चं बृहस्पतेरपध्वान्तं वरुणस्य, तान् सर्वानेवोपसेवेत; वारुणं त्वेकं वर्जयेत् ॥१॥

मैं साम के नाद को अंगीकार करता हूं; वह पशुओं के स्वरों पर है । अग्नि का उद्गीथ साम है, वह स्पष्ट नहीं है । प्रजापति का स्पष्ट है । सोम का कोमल तथा स्वादु साम है । वायु का रसीला है । इन्द्र का साम बलाढ्य है । बृहस्पति का क्रौञ्च पक्षी के स्वर सदृश है । वरुण का कर्कश है । उन सारे ही सामों को गाये परन्तु एक वरुण देवता के मन्त्रों को न गाये । वे साम में ठीक नहीं गाये जाते । अग्नि आदि देवताओं के जो सूक्त हैं उन्हीं के सामों का यहां वर्णन है । स्वर पक्षियों की ध्वनि पर नियत हैं ।

अमृतत्वं देवेभ्य आगानीति । आगायेत्स्वधां पितृभ्य आशां मनुष्येभ्यस्तृणोदकं पशुभ्यः स्वर्गं लोकं यजमानायान्नमात्मने आगायानीति । एतानि मनसा ध्यायन्नप्रमत्त स्तुवति ॥२॥

साम को गाने वाला भक्त जब मांगने लगे तो यह विचारे कि देवों के लिए मैं मोक्ष की प्रार्थना करूं । वह उपासक पितरों के लिए स्वधा की प्रार्थना करे । मनुष्यों के लिए आशा की; पशुओं के लिए तृण-जल की और यजमान के लिए स्वर्ग लोक की प्रार्थना करे । अपने लिए अन्न ही मांगूं यह ही विचारे । ऊपर के सब फलों को मन से विचार कर प्रमादरहित होकर स्तुति करे ।

सर्वे स्वरा इन्द्रस्यात्मानः, सर्व ऊष्माणः प्रजापतेरात्मानः, सर्वे स्पर्शा मृत्योरात्मानः । तं यदि स्वरेषूपालभेत, इन्द्रं शरणं प्रपन्नोऽभूवं, स त्वा प्रतिवक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात् ॥३॥

सब अ, इ आदि स्वर इन्द्र के आत्मारूप हैं, भगवान् की प्रेरणा से मनुष्य को स्वरज्ञान हुआ है। सब श, ष स ह—ऊष्मा वर्ण परमेश्वर के आत्मा के समान हैं सब क, ख आदि स्पर्श वर्ण सबके नियन्ता के आत्मारूप हैं। जो साम गा रहा है उसे यदि कोई विदूषक स्वरों में उलाहना दे, तो वह अपने ज्ञान का मिथ्या अभिमान न करके उसे कहे, मैं तो इन्द्र की शरण में प्राप्त था। वह तुझे ठीक स्वरोच्चारण बतायेगा। पूर्ण ज्ञान भगवान् को है। मैं तो उसके कीर्तन में मग्न था।

अथ यद्येनमूष्मसूपालभेत, प्रजापतिं शरणं प्रपन्नोऽभूवं; स त्वा प्रतिपेक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात्। अथ यद्येनं स्पर्शेषूपालभेत, मृत्युं शरणं प्रपन्नोऽभूवं, स त्वा प्रतिधक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात् ॥४॥

और यदि कोई स्वरसंगीत का अभिमानी इसे ऊष्म वर्णों में उलाहना दे तो भक्त उसे कहे, मैं तो परमेश्वर की शरण में प्राप्त था; अर्पित था। वह प्रभु तुझे पीस देगा—तेरे अभिमान के स्वरूप को चूर्ण कर देगा। और यदि कोई इसे स्पर्श वर्णों में उलाहना दे तो वह उसे कहे, मैं तो यमराज की शरण में अर्पित था—उसके भजन में मग्न था, वह तुझे भस्म कर देगा; तेरे अहंकार को दग्ध कर डालेगा। भक्त उपासक को शुद्धाशुद्ध का सारा विचार छोड़ कर भावनासहित उपासना करनी चाहिए।

सर्वे स्वरा घोषवन्तो बलवन्तो वक्तव्या इन्द्रे बलं ददानीति। सर्व ऊष्माणो ऽग्रस्ता अनिरस्ता विवृता वक्तव्याः प्रजापतेरात्मानं परिददानीति। सर्वे स्पर्शा लेशेनानभिनिहिता वक्तव्या मृत्योरात्मानं परिहराणीति ॥२॥

सब स्वर ऊँची ध्वनि वाले और बलवन्त कहे जाने चाहिएं। मैं इनके शुद्धोच्चारण का अभिमान न करके इन्द्र में इनका बल भेंट करता हूँ। सब ऊष्म वर्ण दूसरे वर्णों से ग्रस्त नहीं हैं, स्पष्ट हैं, विवृत्त—खुले हैं ऐसा कहना चाहिए उनके ज्ञान को मैं प्रजापति के आत्मा को प्रदान करता हूं। सब स्पर्श वर्ण थोड़े से भी नहीं छुपे हुए कहे जाने चाहिएं। उनके उच्चारणज्ञान का श्रेय मैं यमराज के आत्मा को भेंट करूं, उपासक को अपने ज्ञान का अभिमान नहीं करना चाहिए।

तेईसवां खण्ड

त्रयो धर्मस्कन्धाः, यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः। तप एव द्वितीयो

ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन् सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति, ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति ॥१॥

धर्म के स्कन्ध—भाग तीन हैं। यज्ञ, अध्ययन, दान यह प्रथम भाग है। तप ही दूसरा भाग है। आचार्यकुल में अपने आपको अत्यन्त क्लेश देता हुआ, ब्रह्मचारी आचार्यकुलवासी तीसरा भाग है; ब्रह्मचर्य पालन तीसरा स्कन्ध है। सब ये स्कन्ध पुण्य-लोकप्रद हैं। परन्तु जो भक्त ब्रह्म में लीन रहता है वह अमृतत्व को पा लेता है।

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्, तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी विद्या संप्रास्रवत्। तामभ्यतपत्, तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि संप्रास्रवन्त, भूर्भुवः स्वरिति ॥२॥

परमेश्वर ने मनुष्यों को ज्ञान दिया, उन ज्ञानियों से वेद-विद्या प्रकट हुई। उस को ईश्वर ने मंथन किया। उस मंथन की गई विद्या से ये भूर्भुवः स्वः तीन अक्षर प्रकट हुए। ये अक्षर उस विद्या का साररूप हैं। ये व्याहृतियां बीजवाक्य हैं।

तान्यभ्यतपत्। तेभ्योऽभितप्तेभ्य ओङ्कारः संप्रास्रवत्। तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णानि, एवमोङ्कारेण सर्वा वाक् संतृण्णा। ओङ्कार एवेदं सर्वमोङ्कार एवेदं सर्वम् ॥२॥

फिर परमेश्वर ने उन तीन अक्षरों को तपाया—मथन किया। उन मंथन किये हुए अक्षरों से ओंकार प्रकट हुआ। सो जैसे पर्णनाल से सारे पत्ते बन्धे हुए होते हैं इसी प्रकार ओंकार से सारी वाणी बन्ध रही है। ओंकार ही यह सारा सार है।

चौबीसवां खण्ड

ब्रह्मवादिनो वदन्ति, यद्वसूनां प्रातःसवनम्, रुद्राणां मध्यंदिनं सवनमादित्यानां च विश्वेषां च देवानां तृतीयसवनम् ॥१॥

वेदवेत्ता ऋषि कहते हैं। जो प्रातःकाल का अग्निहोत्र है वह घरों का सुधारक है। जो मध्याह्न का यज्ञ है वह घोर तप करने वालों का भाग है। और जो दोपहर के अनन्तर का यज्ञ है वह तीसरा सवन ज्ञानियों का तथा सब देवों का भाग है।

क्व तर्हि यजमानस्य लोक इति। स यस्तं न विद्यात्कथं कुर्यादथ विद्वान्कुर्यात् ॥२॥

तब यज्ञकर्ता यजमान का लोक कहां है? उसे क्या फल मिलता है। वह यजमान का होता जो उसे न जाने तो कैसे यज्ञ करे। और यदि फल को जानता हो तो तभी यज्ञ करता है। ऐहिक ऐश्वर्य के लिए यजमान इस प्रकार अनुष्ठान करे।

पुरा प्रातरनुवाकस्योपाकरणाज्जघनेन गार्हपत्यस्योदङ्मुख उपविश्य स वासवं सामाभिगायति ॥३॥

यजमान प्रातःकाल के पाठ के आरम्भ से पूर्व, गार्हपत्य अग्नि के पीछे उत्तराभिमुख बैठ कर वह वासव साम गाता है।

लो३कद्वारमपावा३र्णू३३, पश्येम त्वा वयं रा३३३३३ हुम् ३ आ ३३ ज्या-३यो ३ आ ३१११ इति ॥४॥

लोक के द्वार को खोल दे। हम तुझे राज्य के लिए देखें। यह मन्त्र यजमान पृथिवी के राज्य के लिए जपे। इस लोक की समृद्धि तथा विजय का लक्ष्य रख कर यज्ञ करे।

अथ जुहोति। नमोऽग्नये पृथिवीक्षिते, लोकक्षिते, लोकं मे यजमानाय विन्द। एष वै यजमानस्य लोक एतास्मि ॥५॥ अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहा। अपजहि परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति। तस्मै वसवः प्रातःसवनं संप्रयच्छन्ति ॥६॥

भूमि के राज्य के लिए देशभक्त मन्त्र जप करने के अनन्तर अग्निहोत्र करता है। पृथिवी में रहने वाले और लोक में बसने वाले अर्थात् सर्वत्र विद्यमान परमेश्वर को नमस्कार। हे भगवन्! मुझ यजमान के लिए लोक प्राप्त कर। यह ही पृथिवी यजमान का लोक है जिसको मैं प्राप्त करता हूं। इस आयु के पीछे भी अगले जन्म में इसी पृथिवी में मैं यजमान होऊं। इन शब्दों के साथ स्वाहा कर कहे—सफलता के मार्ग की अर्गल को नाश कर। ऐसा कह कर खड़ा होवे। उस समय उसको वसु लोग प्रातःसवन का आशीर्वाद देते हैं।

पुरा माध्यन्दिनस्य सवनस्योपाकरणाज्जघनेनाग्नीध्रीयस्योदङ्मुख उपविश्य स रौद्रं सामाभिगायति ॥७॥ लो३कद्वारमपावा३र्णू३३, पश्येम त्वा वयं वैरा३३३३३ हुं ३ आ ३३ज्या ३ यो३आ ३२ १११ इति ॥८॥

मध्याह्न के यज्ञ कर्म के प्रारम्भ से पहले, दक्षिणाग्नि कुण्ड के पीछे, उत्तराभिमुख बैठ कर वह यजमान रौद्र साम को गावे। हे परमेश्वर! लोक के वैराज्य के द्वार को खोल दे। हम देशभक्त तुझे वैराज्य के लिए देखें। तेरी कृपा से हमें वैराज्य प्राप्त हो। देशभक्त भूमि के यज्ञ में यह मन्त्र जपे।

अथ जुहोति। नमो वायवेऽन्तरिक्षक्षिते लोकक्षिते, लोकं मे यजमानाय विन्द। एष वै यजमानस्य लोक एतास्मि ॥९॥

मन्त्रजाप के पश्चात् यज्ञ करे। हवन में यह पाठ पढ़े—अन्तरिक्ष में रहने वाली,

लोक में रहने वाली वेगवती शक्ति को नमस्कार। हे देव! मुझ यजमान के लिए लोक प्राप्त कर। यह ही यजमान का लोक है, जिसको मैं प्राप्त होता हूं।

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहा, अपजहि परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति। तस्मै रुद्रा माध्यन्दिनं सवनं संप्रयच्छन्ति ॥१०॥

आयु से पीछे अगले जन्म में भी यजमान इसी लोक में यज्ञ करे; यह कह कर आहुति डाले। ईश्वर! अर्गल को दूर कर; ऐसा कह कर खड़ा हो जावे। उस यजमान को उस समय रुद्र मध्याह्न सवन प्रदान करते हैं।

पुरा तृतीयसवनस्योपाकरणाज्जघनेनाहवनीयस्योदङ्मुख उपविश्य स आदित्यं स वैश्वदेवं सामाभिगायति ॥११॥ लो३कद्वारमपावा३र्णू३३, पश्येम त्वा वयं स्वारा ३३३३३ हु३म् आ३३ज्या३यो३आ३२१११ इति ॥१२॥

तीसरे सवन में आदित्यसम्बन्धी और वैश्वदेवसम्बन्धी साम गाये। मन्त्र में "स्वाराज्याय" वाक्य जोड़ कर उसका जप करे।

आदित्यम्, अथ वैश्वदेवं लो२कद्वारमपावा३र्णू३३, पश्येम त्वा वयं साम्रा३३३३३ हु३म् आ३३ज्या३यो३आ ३२१११ इति ॥१३॥

हे ईश्वर! लोक के द्वार को खोल दे। हम तुझ आदित्यस्वरूप सब के देव को साम्राज्य के लिए देखें। हमें साम्राज्य प्राप्त हो।

अथ जुहोति। नम आदित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च देवेभ्यो दिविक्षिद्भ्यो लोकक्षिद्भ्यो लोकं मे यजमानाय विन्दत ॥१४॥ एष वै यजमानस्य लोक एतास्मि। अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहा; अपहत परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति ॥१५॥ तस्मा आदित्याश्च विश्वे च देवास्तृतीयं सवनं संप्रयच्छन्ति। एष ह यज्ञस्य मात्रां वेद; य एवं वेद, य एवं वेद ॥१६॥

राज्य, वैराज्य, स्वाराज्य और साम्राज्य इन चार प्रकार के राज्यों की प्रार्थना के चार मन्त्र हैं। इन के जाप के साथ हवन का भी विधान है। शुद्ध होकर एक सहस्र मन्त्र प्रति प्रातः, दोपहर, सायं और अर्धरात्रि को जपे। साथ हवन भी करे। इस से अभ्यासी में वीरभाव तथा सफलता में कौशलभाव आ जाता है। यह ही इसका रहस्य है। यह ही यज्ञ की मात्रा—मर्यादा को जानता है जो इस प्रकार जानता है।

तृतीय प्रपाठक, पहला खण्ड

असौ वा आदित्यो देवमधु। तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवंशोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचयः पुत्राः ॥१॥

आदित्योपासना का वर्णन करता हुआ ऋषि कहता है—निश्चय से यह सूर्य देवों का मधु है; मोद की मधुर वस्तु है। उसका द्यौ—आदित्यलोक ही तिरछा वंश है, मधुछत्ता लगने का स्थान है। अन्तरिक्ष मधुकोश है और किरणें उसके पुत्र हैं। इन के द्वारा वह मधुसंचय करता है। सूर्यतेज में मधु—अमृत की भावना चाहिए।

'देव परोक्षप्रिय होते हैं' इस उपनिषद्वाक्यानुसार यहां प्रत्यक्ष में तो सूर्य कहा है परन्तु रहस्य में आदित्यवर्ण परमेश्वर से तात्पर्य है। इस सूर्य में भी उसी का तेज है। अत्यन्त शुभ्र तेजोमण्डल की धारणा करना आदित्योपासना है।

तस्य ये प्राञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्राच्यो मधुनाड्यः। ऋच एव मधुकृत ऋग्वेद एव पुष्पं; ता अमृता आपस्ता वा एता ऋचः ॥२॥

उस आदित्य की जो पूर्वदिशा की किरणे हैं वे ही इसकी पूर्वदिशा की मधु-नाड़ियां हैं। ऋचाएं ही मधुमक्खियां हैं, ऋग्वेद ही पुष्प है। वे अमृत जल हैं, वे ही ये ऋचाएं हैं। वेद क स्तोत्र ही अमृतरस है। ज्ञानपूर्वक बाह्य आदित्य भी अमृतरूप है।

एतमृग्वेदमभ्यतपन्। तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यं रसोऽजायत ॥३॥

उन मधुमक्खियों ने इस ऋग्वेदरूप पुष्प को तपाया चूसा। उस तपे हुए से यश, तेज, ऐश्वर्य, शक्ति और खाने योग्य अन्नरूप रस उत्पन्न हुआ। ऋग्वेद से ये सब पदार्थ, गुण, वस्तुएं प्राप्त होती हैं। ज्ञान से मनन करने पर सूर्यप्रकाश मधुमय हो जाता है।

तद् व्यक्षरत्। तदादित्यमभितोऽश्रयत्। तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य रोहितं रूपम् ॥४॥

वह रस भली भांति निकला। झर कर वह आदित्य को सब ओर से आश्रित करके रहा। वह ही यह रस है जो यह सूर्य का लाल रूप है। जो प्रकाश दिखाई देता है वह ही वह रस है और वह रस भगवान् से सूर्य में आया है।

दूसरा खण्ड

अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य दक्षिणा मधुनाड्यः।
यजूंष्येव मधुकृतो यजुर्वेद एव पुष्पं, ता अमृता आपः ॥१॥

अब जो इस आदित्य की दक्षिण की किरणे हैं वे ही इस की दक्षिण मधुना-ड़ियां है। यजुर्वेद के मन्त्र ही मधुमक्खियां हैं। यजुर्वेद ही पुष्प हैं। वे वेद की गीतियां अमृत जल हैं। वे रसमयी हैं, शान्तिकारिणी हैं।

तानि वा एतानि यजूंष्येतं यजुर्वेदमभ्यतपन् । तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यं रसोऽजायत ॥२॥ तद् व्यक्षरत् । तदादित्यमभितोऽश्रयत् । तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य शुक्लं रूपम् ॥३॥

वे 'ये मधुमक्खियां यजुर्वेद के स्तोत्र हैं; उन्होंने इस यजुर्वेद को तपाया। उस से यश, तेज आदि रस उत्पन्न हुआ। वह रस यह ही है जो सूर्य का शुक्ल रूप है।

तीसरा खण्ड

अथ येऽस्य प्रत्यञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्रतीच्यो मधुनाड्यः। सामान्येव मधुकृतः, सामवेद एव पुष्पं, ता अमृता आपः ॥१॥ तानि वा एतानि सामान्येतं सामवेदमभ्यतपन् । तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यं रसोऽजायत ॥२॥ तद् व्यक्षरत् । तदादित्यमभितोऽश्रयत् । तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य परं कृष्णं रूपम् ॥३॥

और जो सूर्य की पश्चिम ओर की किरणें हैं वे ही इसकी पश्चिम की मधुनाड़ियां हैं। साममन्त्र ही भ्रमरियां हैं और सामवेद पुष्प है। वे अमृत जल हैं।

चौथा खण्ड

अथ येऽस्योदञ्चो रश्मयस्ता एवास्योदीच्यो मधुनाड्यः। अथर्वाङ्गिरस एव मधुकृत इतिहासपुराणं पुष्पं, ता अमृता आपः ॥१॥ ते वा एतेऽथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणमभ्यतपन् । तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यं रसोऽजायत ॥२॥ तद् व्यक्षरत् । तदादित्यमभितोऽश्रयत् । तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य परं कृष्णं रूपम् ॥३॥

अब जो इसकी उत्तर की किरणें हैं वे ही इसकी उत्तर की मधुनाड़ियां हैं। अथर्ववेद के मन्त्र ही भ्रमरियां हैं। इतिहासपुराण पुष्प हैं। वे ही अमृतजल हैं। वे ये अथर्ववेद के मन्त्र इतिहासपुराण को भ्रमर बन कर चूसने लगे। उसके तपने से यश, तेज, ऐश्वर्य, शक्ति और खाने योग्य अन्नरूप रस उत्पन्न हुआ। वह झर कर सूर्य के सब ओर हो गया। वह रस यह है जो सूर्य का परम कृष्ण रूप है। सूर्योपासना में रहस्यरूप से उस स्वरूप का भी संकेत है जो अभ्यासियों को आदित्यवर्ण अनुभव हुआ करता है। वही रस है, अमृत है और परम मधु है।

पांचवां खण्ड

अथ येऽस्योर्ध्वा रश्मयस्ता एवास्योर्ध्वा मधुनाड्यः । गुह्या एवादेशा मधु-कृतो, ब्रह्म वै पुष्पं, ता अमृता आपः ॥१॥

अब जो इस आदित्य की ऊपर जाने वाली किरणें हैं वे ही इसकी ऊपर की मधुनाड़ियां हैं। गुप्त ही आदेश भ्रमरियां हैं; जो उपदेश गुरुजन गुप्तरूप से दिया करते हैं, वे ही मन्त्रोपदेश मधु बनाने वाले हैं। परमेश्वर ही पुष्प है। वह ही अमृत जल है। वही अमृत, आनन्दमय है।

ते वा एते गुह्या आदेशा एतद् ब्रह्माभ्यतपन् । तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यं रसोऽजायत ॥२॥ तद् व्यक्षरत् । तदादित्यमभितोऽश्रयत् । तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य मध्ये क्षोभत इव ॥३॥

उन्हीं गुप्त उपदेशों ने ब्रह्म को तपाया। उससे यश, तेज, ऐश्वर्य, शक्ति और खाद्य अन्न उत्पन्न हुआ। वह झर कर सूर्य के सब ओर हो गया। वह रस यह है जो सूर्य के मध्य में एक तेजोमय चक्र चलायमान सा है। इसमें भी रहस्य से अध्यात्म सूर्य का संकेत है। ब्रह्मोपासना से ऐसे स्वरूपों के दर्शन होते हैं।

ते वा एते रसानां रसाः, वेदा हि रसास्तेषामेते रसाः । तानि वा एतान्यमृतानाममृतानि; वेदा ह्यमृतास्तेषामेतान्यमृतानि ॥४॥

वे ही यश, तेज, ऐश्वर्य, शक्ति अन्न और शुक्रादि दिव्य स्वरूप ये रसों के रस हैं। वेद ही रस हैं; उनके ये रस हैं, इस कारण ये रसों के रस हैं। वे ही ये स्वरूप अमृतों के अमृत हैं। वेद ही अमृत हैं उनके ये स्वरूप अमृत हैं। वेद के मन्त्रों की आराधना से सविता के इन स्वरूपों के दर्शन होते हैं।

छठा खण्ड

तद्यत्प्रथमममृतं तद्वसव उपजीवन्त्यग्निना मुखेन । न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥१॥ त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद् रूपादुद्यन्ति ॥२॥

वह जो प्रथम अमृत है, भगवान् का लाल स्वरूप है; उसको वसुसंज्ञा वाले देव अपने अग्नि मुख से, ज्ञान से पान करते हैं। निश्चय से देव न खाते हैं न पीते हैं किंतु इसी ही अमृत स्वरूप को देख कर तृप्त हो जाते हैं। वे देव इसी ही स्वरूप में प्रवेश करते हैं, मग्न रहते हैं। और इसी स्वरूप से ऊपर जाते हैं। भगवान् के दर्शन से ही उनकी ऊर्ध्वगति होती है। ऐसे स्वरूपदर्शन से बन्धविनाश हो जाता है।

स य एतदेवममृतं वेद, वसूनामेवैको भूत्वाऽग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति । स य एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद् रूपादुदेति ॥३॥

वह जो इसी ही अमृत को जानता है वह वसुओं के साथ ही एक हो कर ज्ञान के ही मुख से इस अमृत को देख कर तृप्त हो जाता है। वह जो ऐसा ज्ञानी है, इसी स्वरूप में प्रवेश करता है । और इसी रूप से उदय पाता है ।

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता, पश्चादस्तमेता, वसूनामेव तावदाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता ॥४॥

वह आदित्य जब तक पूर्व से उदय होता रहेगा और पश्चिम को अस्त होता रहेगा, तब तक वसुओं के ही स्वामित्व और स्वाराज्य को पाकर वह उपासक आनन्द में विचरता रहेगा ।

सातवां खण्ड

अथ यद् द्वितीयममृतं, तद् रुद्रा उपजीवन्तीन्द्रेण मुखेन। न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥१॥ त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद् रूपादुद्यन्ति ॥२॥ स य एतदेवममृतं वेद, रुद्राणामेवैको भूत्वेन्द्रेणैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति । स य एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद् रूपादुदेति ॥३॥

अब जो दूसरा अमृत शुक्र स्वरूप है उसको रुद्रसंज्ञा वाले देव ऐश्वर्य के मुख से पान करते हैं । रुद्रदेव ऐश्वर्य वाले तथा समृद्धि वाले होते हैं ।

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता, द्विस्तावद्दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता । रुद्राणामेव तावदाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता ॥४॥

सूर्य जब तक पूर्व से उदय होता रहेगा और पश्चिम को अस्त होता रहेगा, उससे दुगने काल तक दक्षिण से उदय होता रहेगा और उत्तर को अस्त होता रहेगा। इतने काल तक वह रुद्रों के स्वामित्व और स्वाराज्य को प्राप्त करेगा ।

आठवां खण्ड

अथ यत्तृतीयममृतं, तदादित्या उपजीवन्ति वरुणेन मुखेन। न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥१॥ त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद् रूपादुद्यन्ति ॥२॥ स य एतदेवममृतं वेद, आदित्यानामेवैको भूत्वा वरुणेनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति । स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद् रूपादुदेति ॥३॥ स यावदादित्यो दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता, द्विस्तावत्पश्चादुदेता

पुरस्तादस्तमेता । आदित्यानामेव तावदाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता ॥४।

जो तीसरा अमृत, परमकृष्णस्वरूप है उसको वरुण मुख से आदित्य देव पान करते हैं। वह जो इसको जानता है, रुद्रों से दुगने काल तक आदित्यों के स्वाराज्य को भोगता है।

नवां खण्ड

अथ यच्चतुर्थममृतं, तन्मरुत उपजीवन्ति सोमेन मुखेन । न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥१॥ त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद् रूपादुद्यन्ति ॥२॥ स य एतदेवमृतं वेद, मरुतामेवैको भूत्वा सोमेनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति । स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद् रूपादुदेति ॥३॥ स यावदादित्यः पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेता, द्विस्तावदुत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता । मरुतामेव तावदाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता ॥४॥

जो चौथा अमृत है, उत्कृष्ट श्याम प्रकाश है उसको सोममुख से मरुत देव पान करते हैं। जो ऐसा जानता है वह आदित्यों से दुगने काल तक मरुतों के स्वाराज्य में रहता है।

दसवां खण्ड

अथ यत्पञ्चमममृतं, तत्साध्या उपजीवन्ति ब्रह्मणा मुखेन । न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥१॥ त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद् रूपादुद्यन्ति ॥२॥ स य एतदेवममृतं वेद, साध्यानामेवैको भूत्वा ब्रह्मणैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति । स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद् रूपादुदेति ॥३॥ स यावदादित्य उत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता। द्विस्तावदूर्ध्वमुदेतार्वागस्तमेता, साध्यानामेव तावदाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता ॥४॥

जो पांचवां अमृत है, वह ब्रह्मज्ञान है। उसको ब्रह्मज्ञान के मुख से साधनशील देव पान करते हैं। जो ऐसा जानता है, वह मरुतों से दुगने काल तक साध्यों के स्वाराज्य में रहता है। ऊपर का वर्णन ऊंचे जीवनों की ओर संकेत करता है। काल की मर्यादा कल्पनायुक्त है।

ग्यारहवां खण्ड

अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य नैवोदेता, नास्तमेता । एकल एव मध्ये स्थाता । तदेष श्लोकः ॥१॥

और उसके ऊपर जाकर फलभोग के लोकों को लांघ कर, आदित्योपासक जन नहीं उदय होता, नहीं जन्म लेता। नहीं अस्त होता है, नहीं मरता है। वह अमर आत्मा पापकर्म से मुक्त होकर अकेला ही भगवान् में रहता है। उस पर यह श्लोक है। आदित्योपासक की त्रिविधताप से अत्यन्तनिवृत्ति हो जाती है।

न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन।

देवास्तेनाहं सत्येन मा विराधिषि ब्रह्मणेति ॥२॥

निश्चय से उस मुक्तावस्था में बन्ध नहीं है। न वहां सूर्य अस्त होता है और न कभी भी उदय होता है। वह सदा प्रकाशमय लोक है। हे देवो! मैं इस वर्णन का कर्ता, उस सत्यस्वरूप ब्रह्म का न विरोधी होऊं। उसके विषय में मेरे मुख से असत्य वचन न निकले।

न ह वा अस्मा उदेति न निम्लोचति; सकृद्दिवा हैवास्मै भवति, य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद ॥३॥

जो आदित्यवर्ण भगवान् का उपासक इस ब्रह्मरहस्य को इस प्रकार जानता है, निश्चय से इसके लिए सूर्य नहीं उदय होता और न अस्त होता है। निश्चय से इस के लिए वह लोक होता है जहां सर्वदा दिन ही रहता है। ऐसा उपासक सदैव प्रकाशमय धाम में निमग्न रहता है। वह सदा ज्ञानस्वरूप में लीन रहता है।

तद्धैतद् ब्रह्मा प्रजापतय उवाच। प्रजापतिर्मनवे, मनुः प्रजाभ्यः; तद्धैतदुद्दालकायारुणये ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रोवाच ॥४॥

पहले समय में वह यह आदित्य-उपासना का रहस्य ब्रह्मा ने प्रजापति को बताया। प्रजापति ने मनु को और मनु ने प्रजाओं को बताया। कालान्तर में फिर वह यह ब्रह्म-रहस्य अरुणि पिता ने अपने बड़े पुत्र उद्दालक आरुणि को कहा।

इदं वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात्; प्राणाय्याय वाऽन्तेवासिने॥५॥

निश्चय से यह वह ब्रह्मज्ञान का रहस्य पिता अपने बड़े पुत्र को कहे; अथवा गुरु प्राणतुल्य प्यारे शिष्य को उपदेश दे। परम श्रद्धावान् मनुष्य ही आदित्य-उपासना का अधिकारी है।

नान्यस्मै कस्मैचन; यद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीताम्, धनस्य पूर्णां दद्यात्, एतदेव ततो भूय इत्येतदेव ततो भूय इति ॥६॥

यदि कोई चक्रवर्ती राजा इस आदित्य-उपासना के ज्ञाता को यह पृथिवी, जो समुद्रों से घिरी हुई है, धनसे परिपूर्ण देवे तो भी वह उपासक पुत्र और प्राणतुल्य

शिष्य से अतिरिक्त अन्य किसी को भी यह रहस्य न बतावे। उस धनपूर्णा पृथिवी से यह उपासना ही बहुत मूल्यवती है। आदित्योपासना का भेद मन्त्रों में वर्णन किया गया है। शेष उसकी महिमा है। आध्यात्मिक आदित्य में परम पुरुष की भावना करके आराधना करना आदित्योपासना है। इसकी विधि गुरुगम्य ही रही है।

बारहवां खण्ड

गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किंच। वाग्वै गायत्री वाग्वा इदं सर्वं भूतं गायति च त्रायते च ॥१॥

जो यह कुछ है निश्चय से यह सब गायत्री है। गायत्री ही सारे जगत् का सार है। वाणी ही गायत्री है। क्योंकि वाणी ही इस सारे संसार को गाती है और बचाती है।

गायत्रीमन्त्र ही सब सारों का सार है। वह भगवान् को गाता है और उपासक को पाप से बचाता है। उपासक के प्राणों का त्राण करता है।

या वै सा गायत्री। इयं वाव सा, येयं पृथिवी; अस्यां हीदं सर्वं भूतं प्रतिष्ठितमेतामेव नातिशीयते ॥२॥

निश्चय से जो वह सब को बचाने वाली है, गायत्री है। निश्चय से यह गायत्री वह है, जो यह पृथिवी है; पृथिवी की भांति भगवती गायत्री सब को पालती है। इसी गायत्री में यह सारा जगत् प्रतिष्ठित है। इस गायत्री को ही कोई नहीं लांघ सकता। गायत्री की महिमा प्रधान है। गायत्री इस लोक की शक्ति है।

या वै सा पृथिवी, इयं वाव सा; यदिदमस्मिन्पुरुषे शरीरमस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ॥३॥

निश्चय से जो वह पृथिवी है, निश्चय यह वह गायत्री है। जो यह इस पुरुष में शरीर है, इसी में ये प्राण प्रतिष्ठित हैं, इसी ही शरीर को ये प्राण नहीं लांघते।

यद्वै तत्पुरुषे शरीरमिदं वाव तत्; यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे हृदयम्। अस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ॥४॥

जो ही उस पुरुष में शरीर है, यह ही वह है, जो यह इस पुरुष के भीतर हृदय है। इसी हृदय में ये प्राण प्रतिष्ठित हैं। इसी हृदय को ही वे प्राण नहीं लांघते; इसी में रहते हैं। गायत्री भी प्राणों में ही निवास करती है। उस का जप और गायन हृदय से तथा प्राण से होना चाहिए। गायत्री को स्वहृदय में स्थापित करके आराधे।

सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री, तदेतदृचाभ्यनूक्तम् ॥५॥

वह यह चार चरणवाली और छः प्रकार की गायत्री है। वह यह ऋचा में कही गई है। मन्त्र, वाणी, पृथिवी, शरीर, प्राण और हृदय, ये उसके छः स्थान हैं। चार चरण आगे कहे जाते हैं।

तावानस्य महिमा, ततो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि, त्रिपादस्यामृतं दिवीति ॥६॥

इस गायत्रीवर्णित भगवान् की महिमा उतनी है जितनी कि मनुष्य वर्णन करता है। उस वर्णन से भगवान् बहुत ही बड़ा है। सारे प्राणी उसका एक पाद हैं; उसका अमृतमय पादत्रय प्रकाशमय लोक में है। सारी सृष्टि, सारा मानुषज्ञान भगवान् का एकांश है। उसकी क्या महिमा गाई जाय वह तो स्वरूप और सत्ता से अनन्त है।

यद्वै तद् ब्रह्मेतीदं वाव तद्, योऽयं बहिर्धा पुरुषादाकाशो यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाशः ॥७॥

जो ही वह ब्रह्म है यह ही वह गायत्रीवर्णित सविता है, जो यह पुरुष से बाहर प्रकाशमान है; जो ही वह पुरुष से बाहर प्रकाशमान है।

अयं वाव स योऽयमन्तः पुरुष आकाशः, यो वै सोऽन्तः पुरुष आकाशः ॥८॥

यह ही वह पुरुष से बाहर प्रकाशमान ईश्वर है जो यह भीतर पुरुष में आकाश—प्रकाश है। जो ही वह भीतर पुरुष में आकाश है।

अयं वाव स योऽयमन्तर्हृदय आकाश स्तदेतत्पूर्णमप्रवर्ति। पूर्णामप्रवर्तिनीं श्रियं लभते, य एवं वेद ॥९॥

यह ही वह पुरुष के भीतर का आकाश—ब्रह्म है, जो यह हृदय के भीतर प्रकाश है। गायत्री से आराधित सविता हृदय का प्रकाश है। वह अन्तर्मुख होकर देखा जाता है। वह यह परमेश्वर पूर्ण—अखण्ड है और अप्रवर्ति—न बदलने वाला एकरस है। जो ऐसे जानता है वह उपासक पूर्ण और न नाश होने वाली मोक्षश्री को पाता है। गायत्री की उपासना का फल प्रकाशमय आनन्दधाम है।

तेरहवां खण्ड

तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुषयः। स योऽस्य प्राङ् सुषिः स प्राणस्तच्चक्षुः स आदित्यः। तदेतत्तेजोऽन्नाद्यमित्युपासीत। तेजस्व्यन्नादो भवति, य एवं वेद ॥१॥

निश्चय से उस पूर्ववर्णित इस हृदय के पांच देवछिद्र हैं, पांच देवद्वार हैं। वह जो इसका पूर्ववर्ती द्वार है वह प्राण है; मुख नासिका का प्राण है, नेत्र है और यह आदित्य है, आत्मप्रकाश का स्थान है। वह यह द्वार तेज—शक्ति और भोक्ता जान कर ऐसे उपासे। जो उपासक ऐसा जानता है वह तेजस्वी और अन्न का भोक्ता हो जाता है। हृदय में बल, शक्ति और प्रकाश की भावना करके उपासे।

अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिः स व्यानस्तच्छ्रोत्रं स चन्द्रमाः। तदेतच्छ्रीश्च यशश्चेत्युपासीत। श्रीमान् यशस्वी भवति, य एवं वेद ॥२॥

और जो इस हृदय का दक्षिण द्वार है वह व्यान है; बल है, वह सुनने की सामर्थ्य है और वह चन्द्रमा—प्रसन्नता है। वह यह द्वार शोभा और यश है ऐसा उपासे। जो उपासक ऐसा जानता है वह श्रीमान् और यशस्वी हो जाता है। यह आत्मा की शक्तियों का वर्णन है जो हृदय से प्रकट होती हैं। हृदय आत्मा का स्थान है।

अथ योऽस्य प्रत्यङ् सुषिः सोऽपानः सा वाक् सोऽग्निस्तदेतद् ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यमित्युपासीत। ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति, य एवं वेद ॥३॥

और जो इस हृदय का पश्चिम छिद्र है वह अपान है, मुखद्वार से निकलने वाली शक्ति है। वह वाणी है। वह अग्नि—मुख से प्रकाशित तेज है। वह यह ब्रह्मतेज और अन्न का भोक्तृत्व जान कर उपासे। जो ऐसा जानता है वह ब्रह्मतेजस्वी और अन्न का भोक्ता हो जाता है। हृदय में एकाग्रता करना हृदयोपासना है।

अथ योऽस्योदङ् सुषिः स समानस्तन्मनः स पर्जन्यः। तदेतत्कीर्तिश्च व्युष्टिश्चेत्युपासीत। कीर्तिमान्व्युष्टिमान् भवति, य एवं वेद ॥४॥

और जो इसका उत्तरस्थ द्वार है वह समान है; देह को सम रखने वाली शक्ति है। वह मन है वह वर्षणशील है। वह यह कीर्ति और विशेषकान्ति जान कर उपासे। जो ऐसा जानता है वह कीर्तिमान् तथा कान्तिमान् हो जाता है।

अथ योऽस्योर्ध्वः सुषिः स उदानः स वायुः स आकाशः। तदेतदोजश्च महश्चेत्युपासीत। ओजस्वी महस्वान् भवति, य एवं वेद ॥५॥

और जो इसका ऊपर का द्वार है वह उदान है, ऊँची गति को ले जाने वाली आत्मशक्ति है। वह वायु है, वह आकाश है। वह यह बल और प्रकाश जान कर उपासे। जो ऐसा जानता है वह ओजस्वी, महस्वान् हो जाता है। यह हृदय में उपासना है।

ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपाः। स य एतानेवं

पञ्च ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वेद, अस्य कुले वीरो जायते, प्रतिपद्यते स्वर्गं लोकं, य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वेद ॥६॥

निश्चय से वे पूर्ववर्णित ये पांच—प्राण वा शक्तियां ब्रह्मपुरुष हैं; परमेश्वर के नियत किये हुए पुरुष-प्रकाश हैं। ये हृदयरूप स्वर्ग लोक के द्वारपाल हैं, आत्मा का स्थान हृदय है, उसके ये रक्षक हैं। वह जो इस प्रकार इन पांच ब्रह्मपुरुषों को स्वर्ग लोक के द्वारपालों को जानता है, उस स्वात्मविश्वासी के कुल में वीर पुत्र उत्पन्न होता है और वह उपासक स्वर्ग लोक को प्राप्त होता है।

अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेषु, इदं वाव तद् यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः। तस्यैषा दृष्टिः ॥७॥

अब जो इस स्वर्गलोक से ऊपर परम स्वर्गीय ज्योति प्रकाशमान है, वह सारे चक्रों में, सब ओर से चक्रों में और अनुत्तम तथा उत्तम चक्रों में ज्वलन्तरूप है। यह ही वह है जो यह इस पुरुष में भीतर ज्योति है। अर्थात् यह वह ही ज्योति है जो आत्मा का अपना प्रकाश है। उस का यह दर्शन है, जो आगे कहा जाता है।

यत्रैतदस्मिञ्छरीरे संस्पर्शेनोष्णिमानं विजानाति। तस्यैषा श्रुतिः। यत्रैतत्कर्णावपिगृह्य निनदमिव नदथुरिवाग्नेरिव ज्वलत उपशृणोति तदेतद् दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत। चक्षुष्यः श्रुतो भवति य एवं वेद, य एवं वेद ॥८॥

जहां यह पुरुष इस शरीर में स्पर्श से उष्णता को जान जाता है वह इसका ज्ञान है। उसका यह श्रवण है। जहां यह पुरुष कानों को भी बन्द करके बादल की गूंज की भांति, वृषभ के नाद की भांति तथा अग्नि के उज्ज्वल तेज की भांति सुनता है और देखता है, वह यह आत्मदर्शन और श्रवण है, ऐसा ही इसको उपासे। आत्मज्योति को दर्शन और नाद को स्वध्वनिश्रवण समझे। जो उपासक इस प्रकार आत्मा को जानता है वह दर्शनीय और सब में सुना हुआ हो जाता है; उसकी विख्याति सर्वत्र हो जाती है।

इस खण्ड में आत्मशक्तियों का, आत्मस्थान का, आत्मदर्शन का तथा आत्मध्वनिश्रवण का वर्णन किया गया है; यह स्वात्म-उपासना है। यही नादोपासना है।

चौदहवां खण्ड

सर्वं खल्विदं ब्रह्म। तज्जलानीति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति। स क्रतुं कुर्वीत ॥१॥

यह सारा निश्चय से ब्रह्म है। उपासना में जो अध्यात्म सूर्य प्रतीत होता है वह यह निश्चय से ब्रह्म है। शान्त होकर उस ब्रह्म को 'तज्ज, ल, अन्" ऐसा आराधे,

यह जाने कि यह जगत् "तत्-ज" उस से उत्पन्न हुआ है। "ल" उसी में लय होगा। "अन्" उसी से जीवित है। ब्रह्म से विश्व की उत्पत्ति, स्थिति तथा लीनता होती है। और निश्चय यह पुरुष संकल्पमय है, यह जाने। जैसे संकल्प वाला पुरुष इस लोक में होता है वैसा ही यहां से मर कर दूसरे लोक में होता है। गति संकल्पानुसार होती है। ऐसा जान कर शान्त पुरुष संकल्प करे। दृढ निश्चय तथा अटल विश्वास करे।

मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः, सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः ॥२॥

वह क्रतुमयपुरुष मनोमय—ज्ञानवान् है। शक्ति ही उसका शरीर है। वह प्रकाशस्वरूप है, सच्चे संकल्प वाला है, आकाशवत् निराकार आत्मा है। सर्वकर्म-समर्थ है, पूर्णकाम है, सर्वगन्धज्ञानवान् है, सर्वरसज्ञानवान् है, इस सारे शरीर को प्राप्त है, सारे शरीर में विद्यमान है। वह वाणी से रहित है और "संभ्रम" अप्राप्त-प्राप्ति से ऊपर है, सर्व-सुखसम्पन्न है।

एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा। एष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षा-ज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः ॥३॥

आत्मा का ज्ञाता महर्षि कहता है—यह मेरा आत्मा हृदय के भीतर, अन्न के दाने से, जौ से, सरसों से, श्यामाक से, श्यामाक के चावल से सूक्ष्म है; अत्यन्त सूक्ष्म सत्ता है। और यह ही मेरी आत्मा, हृदय में भीतर स्वशक्ति, स्वरूप तथा ज्ञान से पृथिवी से बड़ा है; अन्तरिक्ष से बड़ा है, प्रकाशमय तारामण्डल से बड़ा है और इन सारे लोकों से बड़ा है, चैतन्यस्वरूप आत्मसत्ता की तुलना जड़लोक अनेक मिल कर भी नहीं कर सकते।

सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः। एष म आत्मान्तर्हृदय एतद् ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मीति। यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्तीति ह स्माह शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः ॥४॥

वह मेरा आत्मा सर्वकर्मसमर्थ है, पूर्णकाम है, सर्वगन्धज्ञानवान् है, सर्वरसज्ञान-वान् है; सब इस शरीर को सुप्राप्त है, वाणीरहित है और किसी भोग के आदर से ऊपर है; पर पदार्थ की अपेक्षा नहीं करता। तथा यह मेरे हृदय में भीतर जो साक्षीरूप आत्मा है यह ब्रह्म है। मैं यहां से मर कर इसी को प्राप्त होऊंगा। जिसे

उपासक की आत्मा परमात्मा में ऐसी श्रद्धा हो, सन्देह तथा शंका न हो वह भी इसी ब्रह्म को प्राप्त होगा। यह शाण्डिल्य महर्षि ने कहा था। यह खण्ड शाण्डिल्य का कहा हुआ है। यह चिन्तन द्वारा स्वस्वरूपोपासना है। इससे आत्मसत्ता जग जाती है।

पन्द्रहवां खण्ड

अन्तरिक्षोदरः कोशो भूमिबुध्नो न जीर्यति, दिशो ह्यस्य स्रक्तयो द्यौरस्योत्तरं बिलं; स एष कोशो वसुधानः, तस्मिन्विश्वमिदं श्रितम् ॥१॥

वह परमेश्वर अन्तरिक्ष उदर वाला है, अन्तरिक्ष उसका उदरवत् है, भूमि पैर हैं; वह ऐसा कोश है जो कभी नहीं जीर्ण होता। वह आनन्द का अक्षय भण्डार है। वह इतना बड़ा कोश है कि दिशाएं उसके कोने हैं; ऊपर का लोक उसका ऊंचा बिल—छिद्र है। वह यह कोश सारे धनों का निधान है। उस में यह विश्व आश्रित है।

तस्य प्राची दिग् जुहूर्नाम, सहमाना नाम दक्षिणा, राज्ञी नाम प्रतीची, सुभूता नाम उदीची, तासां वायुर्वत्सः। स य एतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्ररोदं रोदिति। सोऽहमेतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद मा पुत्ररोदं रुदम् ॥२॥

उस सर्वनिधान की पूर्व दिशा जुहू नाम वाली है; यज्ञकर्म से विख्यात है, दक्षिण दिशा सहमाना नाम वाली है; द्वन्द्वसहन से प्रसिद्ध है, पश्चिम दिशा राज्ञी नाम वाली है, शोभा से राजती है और उत्तर दिशा सुभूता नाम वाली है, सुन्दरता से प्रसिद्ध है। यह दिशाएं ब्रह्मप्राप्ति के जप, पूजा, यज्ञ, तप आदि साधन हैं। उन दिशाओं का वायु वत्स—पुत्र है; प्राण उनका पुत्र है। वह जो इस दिशाओं के पुत्र वायु—प्राण को इस प्रकार जानता है पुत्र के वियोगजन्य रोने को नहीं रोता; उसका पुत्र उसके सम्मुख नहीं मरता। इस उपासना का ज्ञाता ऋषि कहता है—वह मैं इस दिशाओं के वत्स वायु को ऐसे जानता हूं, इस कारण पुत्ररोदन नहीं रोता; मैं सन्तान-वियोग से नहीं रोता।

अरिष्टं कोशं प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना। प्राणं प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना। भूः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना। भुवः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना। स्वः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना ॥३॥

इस मन, वचन और काया से की गई उपासना से मैं अक्षय कोश को पाता हूं। मैं उसी उपासना से दैवी जीवन को पाता हूं। मैं उसी उपासना से भूः को प्राप्त होता हूं, भुवः को प्राप्त होता हूं और स्वः को प्राप्त होता हूं। मैं स्वात्मा को विश्वात्मा में लय करता हूं।

स यदवोचं प्राणं प्रपद्य इति, प्राणो वा इदं सर्वं भूतं, यदिदं किं च तमेव तत्प्रापत्सि ॥४॥

वह जो मैंने कहा था—प्राण को प्राप्त होता हूं, इसका यह सार है कि प्राण ही यह सब अस्तित्व है, जो होना है वह ही जीवन है। जो यह कुछ अस्तित्व है उसी को ही प्राप्त होता हूं, मैं अनन्त जीवन के साथ सम्बन्ध जोड़ता हूं।

अथ यदवोचं भूः प्रपद्य इति, पृथिवीं प्रपद्येऽन्तरिक्षं प्रपद्ये दिवं प्रपद्ये इत्येव तदवोचम् ॥५॥

तथा जो यह मैंने कहा कि भूः को प्राप्त होता हूं वह यह ही कहा कि पृथिवी को प्राप्त होता हूं, अन्तरिक्ष को प्राप्त होता हूं और प्रकाशमय लोक को प्राप्त होता हूं।

अथ यदवोचं भुवः प्रपद्य इति, अग्निं प्रपद्ये वायुं प्रपद्य आदित्यं प्रपद्य इत्येवं तदवोचम् ॥६॥

ऐसे ही जो यह मैंने कहा कि भुवः को प्राप्त होता हूं वह यह ही कहा था कि अग्नि को प्राप्त होता हूं, वायु को प्राप्त होता हूं और आदित्य को प्राप्त होता हूं।

अथ यदवोचं स्वः प्रपद्य इति, ऋग्वेदं प्रपद्ये, यजुर्वेदं प्रपद्ये, सामवेदं प्रपद्य इत्येव तदवोचं तदवोचम् ॥७॥

और जो यह मैंने कहा था कि स्वः को प्राप्त होता हूं वह यह ही कहा था कि ऋग्वेद को प्राप्त होता हूं, यजुर्वेद को प्राप्त होता हूं और सामवेद को प्राप्त होता हूं।

इस उपासना में भूः का अर्थ है पृथिवी आदि जड़लोक की सत्ता स्थिति तथा शक्ति। भुवः से तात्पर्य है तेज प्रकाश और आदित्यलोक। स्वः से तात्पर्य है ज्ञान तथा आनन्द। इन तीनों व्याहृतियों की उपासना से त्रिलोकी के आत्मा की प्राप्ति अभीष्ट है। चिन्तनद्वारा अनन्त में लय लाभ करने की यह उपासना है।

सोलहवां खण्ड

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि, तत्प्रातःसवनं, चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री, गायत्रं प्रातःसवनं, तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः, प्राणा वाव वसवः, एते हीदं सर्वं वासयन्ति ॥१॥

मनुष्यदेह में स्थित आत्मा ही यज्ञस्वरूप है। उसकी आयु के जो पहले चौबीस वर्ष हैं वह यज्ञ का प्रातःसवन है। चौबीस अक्षरों वाली गायत्री है और प्रातःसवन गायत्री वाला है; उस में गायत्री का अनुष्ठान होता है और ब्रह्मचारी भी प्रथमावस्था में गायत्री का आराधन करता है। इस कारण उसका वह जीवन यज्ञ है। और इस यज्ञ के वसु अनुगत हैं—देवता हैं। प्राण—इन्द्रियां ही वसु हैं। ये ही पुष्ट होकर इस सारे देह को बसाते हैं। ये ही दैहिक जीवन को बलिष्ठ बनाते हैं।

तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा वसव इदं मे प्रातःसवनं माध्यन्दिनं सवनमनुसंतनुतेति। माहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥२॥

उस ब्रह्मचारी को यदि इस अवस्था में कुछ भी कोई सताये तो वह कहे—प्राण वसु हैं; यह मेरा जीवन प्रातःकाल का यज्ञ है। यज्ञ में मुझे कोई कष्ट नहीं होगा। मेरे माध्यन्दिन के यज्ञ को बढ़ाओ। मैं प्राण वसुओं के बीच यज्ञ न लोप होऊं। ऐसी धारणा से तब वह ऊपर जाता है—उन्नत होता है और मानसरोगरहित हो जाता है।

अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनं सवनं; चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप्, त्रैष्टुभं माध्यन्दिनं सवनं। तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः; प्राणा वाव रुद्रा एते हीदं सर्वं रोदयन्ति ॥३॥

और जो मनुष्य की आयु के ४४ वर्ष हैं वह यज्ञ का माध्यन्दिन सवन है। ४४ अक्षर वाला त्रिष्टुप् छन्द है और माध्यन्दिन सवन भी त्रिष्टुप् छन्द वाला है। सो इसके रुद्र अनुगत हैं—देवता हैं। प्राण ही रुद्र हैं। ये ही इस सकल जगत् को वियोगकाल में रुलाते हैं।

तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा रुद्रा इदं मे माध्यन्दिनं सवनं तृतीयसवनमनुसंतनुतेति। माहं प्राणानां रुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥४॥

उसको यदि कोई इस चौतालीस वर्ष की आयु में कुछ सताये तो वह उसे कहे प्राण रुद्र देवता हैं। यह मेरी आयु माध्यन्दिन यज्ञ है। मेरा तीसरा सवन विस्तृत करो। मैं प्राणों रुद्रों के बीच यज्ञ लुप्त न होऊं। तब ऊंचा जाता है और रोगरहित हो जाता है।

अथ यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तत्तृतीयसवनम्; अष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगती,

जागतं तृतीयसवनम् । तदस्यादित्या अन्वायत्ताः प्राणा वावादित्याः । एते हीदं सर्वमाददते ॥५॥

और जो इसकी आयु के अगले अठतालीस वर्ष हैं वह यज्ञ का तीसरा सवन है। वह अवस्था भी सवनस्वरूप है। अठतालीस अक्षर का जगती छन्द है; तीसरे सवन में जगती छन्द के मन्त्रों से यज्ञ किया जाता है। सो इसके आदित्य अनुगत हैं, प्राण ही आदित्य हैं। ये ही इस सारे देह को ग्रहण—धारण करते हैं। मनुष्य का श्रेष्ठ जीवन सवनमय ही है।

तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा आदित्याः । इदं मे तृतीयसवनम् । आयुरनुसन्तनुतेति माहं प्राणानामादित्यानां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥६॥

उस उपासक को कोई यदि इस आयु में कुछ सताये तो वह कहे—प्राण ही आदित्य देवता हैं, मेरी यह आयु तीसरा सवन है। हे प्राण देवो! मेरी आयु बढ़ाओ। आदित्यदेवों के होते हुए मैं यज्ञस्वरूप लोप न हो जाऊं, जब तक इन्द्रियां बनी रहें यज्ञकर्म ही करता रहूं। तब ऊंचा हो जाता है और रोगरहित हो जाता है।

इस उपासना का रहस्य यह है कि जो उपासक अपने जीवन को यज्ञरूप जानता है और आत्मविश्वासी है उसके रोग उसकी इच्छा से, संकल्प से तथा शुभ भावना से नष्ट हो जाते हैं। उसके प्राण ही उसकी पालना करते रहते हैं। विश्वास होना चाहिए कि अपने प्राण ही जीवन हैं। मैं जीवन और निरामय हूं।

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः । स किं म एतदुपतपसि, योऽहमनेन न प्रेष्यामीति । स ह षोडशं वर्षशतमजीवत् । प्र ह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद ॥७॥

यह ऐतिहासिक वार्ता है कि महिदास ऐतरेय ने, निश्चय से यह वह रहस्य जान कर कहा—मेरे रोग वा शत्रु! सो मुझे तू क्यों यह सता रहा है। 'जो मैं उपासक इस से—तेरे प्रकोप और प्रहार से नहीं मरूंगा। वह महिदास सोलह और सौ वर्ष जीता रहा। 'जो उपासक ऐसे जानता है वह भी सोलह और सौ वर्ष तक जीता रहता है।

सतरहवां खण्ड

स यदशिशिषति, यत्पिपासति, यन्न रमते, तान्स्य दीक्षाः ॥१॥ अथ यदश्नाति, यत्पिबति, यद्रमते तदुपसदैरेति ॥२॥ अथ यद्धसति, यज्जक्षति, यन्मैथुनं चरति, स्तुतशस्त्रैरेव तदेति ॥३॥

वह यज्ञस्वरूप उपासक जो कुछ खाना चाहता है, जो पीना चाहता है और जो पापकर्म में नहीं रमण करता है वे इसकी दीक्षाएं हैं। वे इसके व्रत हैं। और जो वह खाता है, जो पीता है और जो स्त्रीपुत्रादि से प्रेम करता है वह इसका यज्ञ के फलाहार तथा दुग्धादि के समान शुभ होती है। और वह जो हंसता है, जो भक्षण करता है और जो गृहस्थधर्म पालता है, वेद के स्तोत्र और यज्ञ के उपकरणों के ही समान वह इसका कर्म होता है। उसका जीवन यज्ञ तथा पुण्यरूप ही हो जाता है।

अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः ॥४॥

तस्मादाहुः सोष्यत्यसोष्टेति पुनरुत्पादनमेवास्य, तन्मरणमेवास्यावभृथः ॥५॥

और जो वह तप करता है जो उसका दान है, सरलस्वभाव है, वैरत्याग है और सत्यवचन है वे इसकी दक्षिणाएं हैं। इसी कारण इसका सन्तान-उत्पादन ही "सोष्यति" और "असोष्ट" पण्डित लोग कहते हैं। सो ऐसे जन का मरण ही इसका अवभृथ—यज्ञान्त स्नान-यज्ञ है। यज्ञ में सोमरस खींचा करते थे। उस समय ऋत्विज् कहा करते थे कि यह सोमरस "सोष्यति" निकालेगा, उत्पन्न करेगा। इसने सोमरस "असोष्ट" उत्पन्न किया सो उपासक का सन्तान-उत्पादन ही यज्ञ का सोमरस है। अन्तसमय में संन्यासरूप अवभृथनामक यज्ञ होता था। उपासक का मरना ही अवभृथ यज्ञ है।

तद्धैतद् घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाच, अपिपास एव स बभूव। सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येत, अक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसंशितमसीति। तत्रैते द्वे ऋचौ भवतः ॥६॥

वह यह पूर्वोक्त कर्मयोगोपासना, घोरनामक महर्षि आङ्गिरस ने देवकीपुत्र श्रीकृष्ण को बताई और उसे कहा। श्रीकृष्ण उसे सीख कर तृप्त ही हो गया। वह घोर बोला हे कृष्ण! मनुष्य अन्त समय में यह तीन धारणा करे। अपने को उपासक कहे—मेरे आत्मा तू अखण्ड है, अविनाशी है, जीवनप्रशंसित है। इस पर ये दो ऋचाएं हैं। अपने आत्मा को इन वाक्यों से उद्बुद्ध करे।

आदित्प्रत्नस्य रेतसः; उद्वयन्तमसस्परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तरम्, स्वः पश्यन्त उत्तरम्, देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तममिति, ज्योतिरुत्तममिति ॥७॥

सर्वप्रकार सनातन शक्ति की अन्धकार से ऊपर उत्तम ज्योति को हम देखते हुए और परम आनन्द को देखते हुए, देवों में देव सूर्य को प्राप्त हुए हैं, और उत्तम ज्योति को प्राप्त हुए हैं।

अठारहवां खण्ड

मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्मम् । अथाधिदैवतमाकाशो ब्रह्मेत्युभयमादिष्टं भवत्यध्यात्मं चाधिदैवतं च ॥१॥

मन को ब्रह्म जान कर ऐसा उपासे, यह अध्यात्म उपासना है। अब अधिदैवत कहते हैं—आकाश ब्रह्म है ऐसा जान कर आराधे। यह "दोनों अध्यात्म और अधिदैवत उपासनाएं ऋषियों ने कही हैं" ।

मन में ब्रह्म की उपासना की जाती है इस कारण उसको महान् कहा गया है। आकाश में अनन्त भाव स्थापन करके अनन्त भगवान् की उपासना की जाती है इस कारण उसे ब्रह्म कहा गया।

तदेतच्चतुष्पाद् ब्रह्म। वाक् पादः, प्राणः पादश्चक्षुः पादः, श्रोत्रं पाद इत्यध्यात्मम्। अथाधिदैवतमग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पाद इत्युभयमेवादिष्टं भवत्यध्यात्मं चैवाधिदैवतं च ॥२॥

वह यह मन चार पादवान् ब्रह्म है। वाणी पाद है; प्राण पाद है; नेत्र पाद है; और श्रोत्र पाद है। यह अध्यात्म है। अब अधिदैवत में आकाश के चार पाद कहते हैं—अग्नि पाद है, वायु पाद है, आदित्य पाद है और दिशाएं पाद हैं। ऐसे दोनों अध्यात्म और अधिदैवत उपासनाभेद कहे हुए हैं।

वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः; सोऽग्निना ज्योतिषा भाति च तपति च। भाति च तपति च कीर्त्या, यशसा, ब्रह्मवर्चसेन, य एवं वेद ॥३॥

वाणी ही मनरूप ब्रह्म का चौथा पाद है। मन की वृत्तियां वाणी में, सारे देह के प्राण में, नेत्र में तथा श्रोत्र में प्रवृत्त होती हैं, इस कारण उसके ये पाद-स्थान हैं। वह वाणी अग्निरूप ज्योति से प्रकाशमान होती तथा दीप्त रहती है। वाणी में आत्मा का प्रकाश काम करता है। उसी से यह उष्ण है। जो उपासक ऐसा जानता है वह प्रकाशमान होता है और दीप्त रहता है, कीर्ति से, यश से तथा ब्रह्मतेज से।

प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः; स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च। भाति च तपति च कीर्त्या, यशसा, ब्रह्मवर्चसेन, य एवं वेद ॥४॥ चक्षुरेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः; स आदित्येन ज्योतिषा भाति च तपति च। भाति च तपति च कीर्त्या, यशसा, ब्रह्मवर्चसेन, य एवं वेद ॥५॥ श्रोत्रमेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः,

स दिग्भिर्ज्योतिषा भाति च तपति च। भाति च तपति च कीर्त्या, यशसा, ब्रह्मवर्चसेन, य एवं वेद ॥६॥

प्राण ही ब्रह्म का चौथा पाद है। वह चौथा पाद वायुरूप ज्योति से चमकता और तपता है। नेत्र ही ब्रह्म का चौथा पाद है। वह सूर्यरूप ज्योति से चमकता और तपता है। श्रोत्र ही ब्रह्म का चौथा पाद है। वह दिशाओं की ज्योति से चमकता और तपता है।

इसमें अध्यात्म और अधिदैवत को एक करके दर्शाया है। इसका तात्पर्य यह है—भीतर बाहर ब्रह्म की एक अखण्ड भावना होनी चाहिए। सब नियमों तथा विकासों में ब्रह्मसत्ता ही स्फुरित समझनी चाहिए। अभ्यन्तर ही बाहर प्रकट है।

उन्नीसवां खण्ड

आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशस्तस्योपव्याख्यानम्। असदेवेदमग्र आसीत्। तत्सदासीत्तत्समभवत्। तदाण्डं निरवर्त्तत। तत्संवत्सरस्य मात्रामशयत। तन्निरभिद्यत। ते आण्डकपाले रजतं च सुवर्णं चाभवताम् ॥१॥

सूर्य ही ब्रह्म है; यह महर्षियों का आदेश है; सूर्य में परमेश्वर की सत्ता को समझने का उपदेश है। उसका विशेष व्याख्यान यह है। सृष्टिरचना से पहले यह विश्व अव्यक्त ही था। उसके पश्चात् ईश्वर संकल्प से व्यक्त हो गया और वह कार्यरूप होने लगा। तत्पश्चात् वह अण्डाकार बन गया। तदनन्तर वह अण्डा बरसों की अवधि में प्रसुप्त रहा, उस से कोई दूसरा परिणाम न निकला। फिर वह दो टुकड़े हो गया। वे दो आण्डकपाल चांदी और सोना हो गये।

तद्यद्रजतं सेयं पृथिवी; यत्सुवर्णं सा द्यौः। यज्जरायु ते पर्वताः। यदुल्बं स मेघो नीहारः। या धमनयस्ता नद्यः। यद्वास्तेयमुदकं स समुद्रः ॥२॥

वह जो चान्दी का कपाल था वह यह पृथिवी है; पृथिवी चान्दीसदृश है। शान्त वा शीतल भाग पृथिवी बन गया। जो सुवर्ण—तेजोमय कपाल था वह द्यौ—सूर्यलोक है। जो उस अण्ड में जरायु—कठिन पदार्थ था वे पर्वत बने। जो उस में गर्भ—ढीला पतला भाग था वह मेघ और कुहरा हुआ। जो उसमें नाड़ियों वत् धारियां थीं वे नदियां बन गईं और जो उसकी वस्ति का मध्य का पानी था वह समुद्र हो गया। उसी से ये नाना विकार उत्पन्न हो गये, कारण-कार्य के क्रम चले।

अथ यत्तदजायत सोऽसावादित्यः । तं जायमानं घोषा उलूलवोऽनूदतिष्ठन्त्सर्वाणि च भूतानि, सर्वे च कामाः । तस्मात्तस्योदयं प्रति प्रत्यायनं प्रति, घोषा उलूलवोऽनूत्तिष्ठन्ति, सर्वाणि च भूतानि सर्वे चैव कामाः ॥३॥

और जो उस से उत्पन्न हुआ वह यह देदीप्यमान सूर्य है । उस सूर्य के उत्पन्न होने पर "उरूरवः" विस्तीर्ण शब्द और नाद होने लगे; सारे प्राणी उठे और उनके सारे मनोरथ उठे । सारे काम होने लग गये । उस कारण से उस सूर्य के उदय होने पर और अस्त होने पर, विस्तीर्ण शब्द और नाद होने लग जाते हैं; सारे प्राणी खड़े हो जाते हैं और सारे ही मनोरथ होने लग जाते हैं । सूर्य ही सारी जैवी जागृति का कारण है ।

स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्ते, अभ्याशो ह यदेनं साधवो घोषा आ च गच्छेयुरुप च निम्रेडेरन् निम्रेडेरन् ॥४॥

वह जो इसको ऐसे जानता हुआ, आदित्य को ब्रह्म जान कर ऐसे उपासता है इस उपासक को शीघ्र ही जो श्रेष्ठ नाद हैं वे भलीभांति प्राप्त होते हैं और सर्वप्रकार सुखी करते हैं । उत्तरोत्तर उत्तम नाद प्रकट होकर साधक को सुखी बनाते हैं ।

आदित्योपासना का रहस्य यह है कि इस सूर्य में जो तेज है उसे भगवान् की सत्ता का विकास जान कर तेजोमय का ध्यान करना । इस उपासना में नाना स्वरूप प्रकट होते हैं । और नाद भी अभिव्यक्त हो आते हैं ।

चौथा प्रपाठक, पहला खण्ड

जानश्रुतिर्ह पौत्रायण श्रद्धादेयो बहुदायी, बहुपाक्य आस ।
स ह सर्वत आवसथान् मापयांचक्रे, सर्वत एव मेऽत्स्यन्तीति ॥१॥

पुराकाल में एक राजा जानश्रुति नाम से पौत्रायण, श्रद्धा से देने वाला, बहुत दाता, बहुत अन्न पकाने वाला था । उसने अपने राज्य में सब ओर धर्मशालाएं बनवाई । इस कारण कि सब ओर से आने जाने वाले यात्री मेरा ही अन्न खायेंगे । पुत्र के पुत्र को पौत्र और पौत्र के पुत्र को पौत्रायण कहते हैं । निवासस्थान का नाम आवसथ है ।

अथ ह हंसा निशायामतिपेतुः । तद्धैवं हंसो हंसमभ्युवाद । हो होऽयि भल्लाक्ष भल्लाक्ष ! जानश्रुतेः पौत्रायणस्य समं दिवा ज्योतिराततं, तन्मा प्रसाङ्क्षीस्तत्त्वा मा प्रधाक्षीरिति ॥२॥

यह एक ऐतिहासिक वार्त्ता है कि एकदा एक रात में वहां हंस आये; देवस्वरूप

ज्ञानिजन आ उतरे। तब इस प्रकार एक हंस ने दूसरे हंस को कहा—"हो हो हे" भद्रनयन भद्रनयन ! देख, जानश्रुति पौत्रायण की दिन समान ज्योति फैल रही है; उसकी कीर्ति का विशाल सूर्य उदय हो रहा है। उसके साथ न सम्बन्ध करना, उसे न छूना; कहीं वह तुझे दग्ध न करदे। उसकी निन्दा न करना। निन्दा से तू भस्म हो जायगा। गुणवान् की निन्दा करना अपने आप को भस्म कर देना है।

तमु ह परः प्रत्युवाच । कम्वर एनमेतत्सन्तं सयुग्वानमिव रैक्कमात्थेति । यो नु कथं सयुग्वा रैक्क इति ॥३॥

उस हंस को दूसरे हंस ने उलट कर कहा—अरे ! किस इसको यह ऐसे को, एक साधारण जनको, गाड़ी वाले, रैक्क नामक ऋषि की भांति कहता है, बता रहा है। उसने पूछा 'जो सयुग्वा रैक्क है वह कैसा है ?

यथा कृताय विजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनं सर्वं तदभिसमेति यत्किंच प्रजाः साधु कुर्वन्ति । यस्तद्वेद यत्स वेद, स मयैतदुक्त इति ॥४॥

दूसरे हंस ने उत्तर में कहा—जैसे जीते हुए पासे को—जूए के प्रधान अंक को नीचे के अंक मिल जाते हैं, उसी में गिने जाते हैं। ऐसे ही इस रैक को जो कुछ प्रजाएं भला करती हैं वह सब प्राप्त होता है; वह सारे शुभों का स्थान है। जो जानश्रुति वह जानता है वह, यह रैक जानता है। वह रैक मैंने यह कहा, बता दिया।

तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायण उपशुश्राव । स ह संजिहान एव क्षत्तारमुवाच । अङ्गाऽरे ! सयुग्वानमिव रैक्कमात्थेति यो नु कथं सयुग्वा रैक्क इति ॥५॥ यथा कृताय विजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनं सर्वं तदभिसमेति यत्किंच प्रजाः साधु कुर्वन्ति । यस्तद्वेद यत्स वेद । स मयैतदुक्त इति ॥६॥

वह हंसों का संवाद जानश्रुति पौत्रायण ने सुन लिया। वह सवेरे जगते ही सारथि को बोला—अरे प्यारे ! आज रात को यह वार्ता सुनी है इत्यादि। तू रैक का पता लगा, वह कैसा है यह जानें।

स ह क्षत्तान्विष्य नाविदमिति प्रत्येयाय । तं होवाच; यत्राऽरे ब्राह्मणस्यान्वेषणा तदेनमर्च्छेति ॥७॥

वह सारथि खोज कर यह समझा कि मैं उसे नहीं जान सका और लौट आया। राजा ने फिर उसे कहा—अरे ! जहां ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण की खोजें हुआ करती हे वहां इसको मिलें। वह तुझे ऐसे ही स्थान में मिलेगा।

सोऽधस्ताच्छकटस्य पामानं कषमाणमुपविवेश । तं हाभ्युवाद त्वं नु भगवः सयुग्वा रैक्व इति ? अहं ह्यरा ३ इति ह प्रतिजज्ञे । स ह क्षत्ताऽविदमिति प्रत्येयाय ॥८॥

क्षत्ता ने अन्वेषण करते हुए एक स्थान में गाड़ी के नीचे छाया में बैठ हुए और दाद को खुजलाते हुए को देखा। तब वह उसके पास बैठ गया। क्षत्ता ने उसको नमस्कार पूर्वक कहा—भगवन्! क्या तू ही गाड़ी वाला रैक्व है? उसने उत्तर में—अरे! मैं ही हूँ; ऐसा स्वीकार किया। तब वह सारथि यह समझ कर कि मैंने इसे जान लिया, लौट आया।

दूसरा खण्ड

तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायणः षट् शतानि गवां निष्कमश्वतरीरथं तदादाय प्रतिचक्रमे । तं हाभ्युवाद ॥१॥

सारथि ने राजा को जिस समय रैक्व का पता दिया उसी समय जानश्रुति पौत्रायण छः सौ गौएं रत्नमाला और खच्चरों का रथ, यह सब लेकर मुनिदर्शनार्थ चला। मुनि के समीप जाकर उसको विनय से बोला।

रैक्वेमानि षट् शतानि गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथोऽनु म एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्स इति ॥२॥

हे रैक्व! ये छः सौ गौएं, यह हार और यह अश्वतरीरथ है। इन्हें ग्रहण कीजिये। तदनन्तर भगवन्! मुझे इस देवता की उपासना सिखा जिस देवता को तू आराधता है।

तमु ह परः प्रत्युवाचाह हारेत्वा शूद्र ! तवैव सह गोभिरस्त्विति । तदु ह पुनरेव जानश्रुतिः पौत्रायणः सहस्रं गवां निष्कमश्वतरीरथं दुहितरं तदादाय प्रतिचक्रमे ॥३॥

तब यह सुन कर दूसरा रैक्व उसको उत्तर में बोला—अहो शूद्र! हे कर्मी! हार के साथ आना और गौओं के साथ आना तेरा ही हो; ये सब वस्तुएं तेरी ही रहें। तब फिर भी जानश्रुति पौत्रायण एक सहस्र गौएं, हार, अश्वतरीरथ तथा पुत्री, यह सब लेकर मुनि की ओर चला।

तं हाभ्युवाद—रैक्व ! इदं सहस्रं गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथ इयं जायाऽयं ग्रामो यस्मिन्नास्से । अन्वेव मा भगवः शाधीति ॥४॥

उसको जानश्रुति ने कहा—रैक्व ! यह सहस्त्र गौएं, यह हार, यह अश्वतरीरथ, यह भार्या और यह ग्राम जिसमें तू विद्यमान है, ग्रहण कर। तत्पश्चात् ही भगवन् ! मुझको उपदेश दे।

तस्या ह मुखमुपोद्गृह्णन्नुवाच। आजहारेमाः शूद्रानेनैव मुखेनालापयिष्यथा इति। ते हैते रैक्वपर्णा नाम महावृषेषु यत्रास्मा उवास तस्मै होवाच ॥५॥

रैक्व उस स्त्री के मुख को प्रेम से चूमता हुआ जानश्रुति को बोला—हे कर्मी! ये वस्तुएं तू लाया है, परन्तु मेरे साथ तो तू इस ही मुख से, अपनी पुत्री के सम्बन्ध से, वार्तालाप करेगा यह कह कर रैक्व ने सब वस्तुएं ले लीं। वे ये ग्राम जो राजा ने उसे दिये महावृषवनों में रैक्वपर्ण प्रसिद्ध हुए। वहां वह रहा और उस जानश्रुति को उसने उपदेश दिया। वह उपदेश अगले खण्ड के चार पाठों में है।

तीसरा खण्ड

वायुर्वाव संवर्गो यदा वा अग्निरुद्वायति वायुमेवाप्येति। यदा सूर्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति। यदा चन्द्रोऽस्तमेति वायुमेवाप्येति ॥१॥

वायु ही लय करने वाली है जब ही अग्नि बुझ जाती है, वायु को ही प्राप्त होती है। जब सूर्य अस्त हो जाता है वायु में ही लीन होता है। जब चन्द्रमा अस्त हो जाता है तो वायु में ही लय होता है। सब स्थूल पदार्थ वायु में, सूक्ष्म कारण में लय होते हैं।

यदाप उच्छुष्यन्ति वायुमेवापियन्ति, वायुर्ह्येवैतान्सर्वान् संवृङ्क्ते। इत्यधिदैवतम् ॥२॥

जब पानी सूखते हैं तो वायु को ही प्राप्त होते हैं। वायु ही इन सब पदार्थों को संवरण करता है, वायु में ही सब का लय होता है। यह अधिदैवत वर्णन है।

अथाध्यात्मम्, प्राणो वाव संवर्गः। स यदा स्वपिति प्राणमेव वागप्येति, प्राणं चक्षुः, प्राणं श्रोत्रम्, प्राणं मनः, प्राणो ह्येवैतान्सर्वान् संवृङ्क्त इति ॥३॥ तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ, वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु ॥४॥

अब अध्यात्म वर्णन किया जाता है। प्राण—आत्मा ही संवर्ग है। वह मनुष्य जब सोता है तो प्राण में ही वाणी लीन होती है। उस समय प्राण में आंखें, प्राण में श्रोत्र और प्राण में ही मन लय होता है। प्राण—आत्मा ही इन सब इन्द्रियों को संवरण

करता है। वे[24] ही[25] ये[26] दो[27] संवर्ग—लयस्थान हैं। वायु ही[30] देवों[31] में लयस्थान है और प्राण इन्द्रियों में लयस्थान है। सारा साकार विश्व सूक्ष्मतम वायु में तथा इन्द्रियजगत् महाप्राण में लयता लाभ करता है।

अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे। तस्मा उ ह न ददतुः ॥५॥

एकदा शौनक कापेय को और अभिप्रतारि काक्षसेनि को जब भृत्य भोजन परस रहे थे, एक ब्रह्मचारी ने कहा—भिक्षा दो। उसको उन्होंने भोजन नहीं दिया।

स होवाच—महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जगार भुवनस्य गोपास्तं कापेय! नाभिपश्यन्ति मर्त्या अभिप्रतारिन्! बहुधा वसन्तम्। यस्मै वा एतदन्नं तस्मा एतन्न दत्तमिति ॥६॥

वह ब्रह्मचारी बोला—भुवन का पालक एक ही सुखस्वरूप देव है। वह ही महान् चारों को—अग्नि, सूर्य, चन्द्र, जल को; वाणी, चक्षु, श्रोत्र तथा मन को खाता है। भगवान् में ही ये सब लय होते हैं। आश्चर्य है!!! हे कापेय! हे अभिप्रतारिन्! सर्वत्र विद्यमान उस सर्वपालक को मनुष्य नहीं जानते। यह ही कारण है जिसके लिये यह अन्न पकाया गया है उसको यह नहीं दिया गया। अधिकारी को अन्न देना भगवान् को देना है।

तदु ह शौनकः कापेयः प्रतिमन्वानः प्रत्येयाय। आत्मा देवानां जनिता प्रजानां हिरण्यदंष्ट्रो बभसोऽनसूरिर्महान्तमस्य महिमानमाहुः। अनद्यमानो यदनन्नमत्तीति वै वयं ब्रह्मचारिन्नेदमुपास्महे दत्तास्मै भिक्षामिति ॥७॥

ब्रह्मचारी के उस कथन को शौनक कापेय मनन करता हुआ उसके पास आया। और बोला—हे ब्रह्मचारिन्! उस देव को हम जानते हैं। वह देवों का ईश्वर है, प्रजाओं का उत्पादक है, अभग्नदन्त है—अखण्ड नियम वाला है, सारी सृष्टि का भक्षण—लय करता है, सर्वज्ञ है। इस की महा महिमा को उपासक वर्णन करते हैं। वह भगवान् न खाता हुआ भी जो अन्न नहीं है उसे भक्षण करता है; प्रकृति को लय करता है। निश्चय से, हे ब्रह्मचारिन्! हम इस ब्रह्म को आराधते हैं, यह कह कर उसने उसे भिक्षा दे[28] दी।

तस्मा उ ह ददुस्ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृतम्; तस्मात् सर्वासु दिक्ष्वन्नमेव दश कृतम्। सैषा विराडन्नादी, तयेदं सर्वं दृष्टम्; सर्वमस्येदं दृष्टं भवत्यन्नादो भवति य एवं वेद, य एवं वेद ॥८॥

उन्होंने उसको अन्न दिया। ये अन्य पांच–वायु आदि पांच, अन्य पांच— प्राणादि पांच मिलकर दस हुए, वह कृत है—जूआ खेलने का पासा है, इन्हीं में माया खेल रही है। इस कारण सारी दिशाओं में अन्न ही दशकृत है; दस प्रकार का है। वह यह महाशक्ति अन्न खाने वाली है; वह संहार करने वाली है। उस महा आत्मसत्ता से यह सारा विश्व जाना हुआ है। जो भक्त ऐसे जानता है इसका यह सब जाना हुआ हो जाता है और वह अन्न का भोक्ता होता है।

चौथा खण्ड

सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयांचक्रे। ब्रह्मचर्यं भवति! विवत्स्यामि। किंगोत्रो न्वहमस्मीति ॥१॥

पुराकाल में जबाला के पुत्र सत्यकाम ने अपनी जबाला माता को पुकार कर पूछा! हे पूज्य! मैं ब्रह्मचर्य धारणा करूंगा। तू बता—मैं कौन गोत्रवाला हूं।

सा हैनमुवाच नाहमेतद्वेद तात। यद्गोत्रस्त्वमसि। बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे। साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि। जबाला तु नामाऽहमस्मि, सत्यकामो नाम त्वमसि। स सत्यकाम एव जाबालो ब्रुवीथा इति ॥२॥

वह इस पुत्र को बोली—प्यारे! मैं यह नहीं जानती कि किस गोत्र वाला तू है। मैंने अनेक स्थानों में काम करने वाली नौकरानी ने यौवन में तुझे पाया। इस कारण जिस गोत्र वाला तू है वह मैं यह नहीं जानती। जबाला नाम वाली तो मैं हूं और सत्यकाम नाम तू है। सो जाबाल सत्यकाम ही गुरु के पूछने पर कहना।

स ह हारिद्रुमतं गौतममेत्योवाच ब्रह्मचर्यं भगवति वत्स्याम्युपेयां भगवन्तमिति ॥३॥

वह सत्यकाम गौतम नाम वाले हरिद्रुमान् के पुत्र हारिद्रुमत के पास जा कर बोला—मैं भगवान् के समीप ब्रह्मचर्यव्रत को पालता हुआ रहूंगा। इस कारण भगवान् के पास मैं आया हूं।

तं होवाच—किंगोत्रो नु सोम्यासीति। स होवाच—नाहमेतद्वेद भो यद्गोत्रोऽहमस्मि। अपृच्छं मातरं, सा मा प्रत्यब्रवीत्, बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे। साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि, जबाला तु नामाहमस्मि, सत्यकामो नाम त्वमसीति। सोऽहं सत्याकामो जाबालोऽस्मि भो इति ॥४॥

उस सत्यकाम को गौतम ने कहा—प्यारे! किस गोत्र वाला तू है? उत्तर में

वह बोला—हे भगवन्! जिस गोत्र वाला मैं हूं यह मैं नहीं जानता। मैंने अपनी माता को गोत्र पूछा था। उसने मुझे कहा—मैं बहुत स्थानों में काम करती हुई नौकरानी थी। यौवन में तू मुझे प्राप्त हुआ इत्यादि पूर्ववत्। सो मैं सत्यकाम जाबाल हूं।

तं होवाच नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति। समिधं सोम्याहरोप त्वा नेष्ये न सत्यादगा इति। तमुपनीय कृशानामबलानां चतुःशता गा निराकृत्योवाचेमाः सोम्यानुसंव्रजेति। ता अभिप्रस्थापयन्नुवाच—नासहस्रेणावर्तेयेति। स ह वर्षगणं प्रोवास। ता यदा सहस्रं सम्पेदुः ॥५॥

सत्यकाम को गौतम ने कहा—अब्राह्मण—अज्ञानी यह बात नहीं कह सकता। इस कारण तू ब्राह्मण है। प्यारे! समिधा ले आ, मैं तुझे उपनयन में लाऊंगा। तू सत्य से चलायमान नहीं हुआ। उसको उपवीत देकर गुरु ने कृश दुर्बल गौओं में से चार सौ गौएं निकाल कर उसे कहा—प्यारे! इनके पीछे जा। इनको वनों में ले जा। उनको चलाते समय वह बोला—हे गुरो! सहस्र हुए बिना मैं नहीं लौटूंगा। वह बरसों तक वनों में प्रवासी बना रहा। जब वे गौएं सहस्र हुईं।

पांचवां खण्ड

अथ हैनमृषभोऽभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव! इति ह प्रतिशुश्राव। प्राप्ताः सोम्य! सहस्रं स्मः, प्रापय न आचार्यकुलम् ॥१॥

तब इसको एक प्रधान ऋषभ ने पुकारा-सत्यकाम! तब सत्यकाम ने भगवन्! कह कर उत्तर दिया। ऋषभ ने कहा—सोम्य! सहस्र हम हो गये हैं। अब हमें आचार्यकुल में प्राप्त कर। यहां ऋषभ से दिव्यस्वरूप दैवी शक्ति उस रूप में समझना उचित है।

ब्रह्मणश्च ते पादं ब्रवाणीति। ब्रवीतु मे भगवानिति। तस्मै होवाच—प्राची दिक्कला प्रतीची दिक्कला दक्षिणा दिक्कलोदीची दिक्कला। एष वै सोम्य! चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः प्रकाशवान्नाम ॥२॥

फिर ऋषभ ने कहा—सत्यकाम मैं तुझे ब्रह्म का पाद—स्वरूप बताऊं। वह बोला-भगवन्! मुझे बतायें तब उसको ऋषभ ने कहा—उस स्वरूप की एक कला पूर्व दिशा है। दूसरी कला पश्चिम दिशा है, तीसरी कला दक्षिण दिशा है और चौथी कला उत्तर दिशा है। प्यारे! निश्चय से यह चार कला—भाग वाला ब्रह्म का स्वरूप है; यह प्रकाशवान् नाम से प्रसिद्ध है। भगवान् की विभूति का प्रकाश दिशाओं में होता है, इस कारण इसका नाम प्रकाशवान् है। वह चारों ओर विद्यमान है। वस्तुज्ञान देश से होता है।

स य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते, प्रकाशवान-स्मिँल्लोके भवति; प्रकाशवतो ह लोकाञ्जयति, य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते ॥३॥

वह जो इस प्रकाशोपासना को इस प्रकार जानता हुआ ब्रह्म का चार कला वाला स्वरूप, प्रकाशवान् ऐसा आराधता है। वह इस लोक में प्रकाशवान् हो जाता है। उसे ध्यान में प्रकाश प्राप्त हो जाता है। और निश्चय से वह प्रकाश वाले लोकों को प्राप्त करता है भगवान् को असीम प्रकाशमय समझ कर आराधना प्रकाशोपासना है।

छठा खण्ड

अग्निष्टे पादं वक्तेति। स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयांचकार। ता यत्राभिसायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय, गा उपरुध्य, समिधमाधाय, पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ॥१॥

ऋषभ ने फिर कहा—तुझे दूसरा पाद अग्नि कहेगा। उसने सबेर होने पर गौएं हांक लीं। उनको चलते हुए जहां सायं हुई वहां ही उसने आग जला कर चांदना किया और गौओं को रोक कर अग्नि में समिधा लगा कर अग्निहोत्र किया। फिर वह अग्नि के पीछे पूर्वाभिमुख बैठ गया।

तमग्निरभ्युवाद; सत्यकाम ३ इति; भगव ! इति ह प्रतिशुश्राव ॥२॥ ब्रह्मणः सोम्य ! ते पादं ब्रवाणीति। ब्रवीतु मे भगवानिति। तस्मै होवाच—पृथिवी कलाऽन्तरिक्षं कला, द्यौः कला समुद्रः कला। एष वै सोम्य ! चतुष्कलः पादो ब्रह्मणोऽनन्तवान्नाम ॥३॥

उस समय उसको अग्नि ने कहा—हे सत्यकाम ! उसने भगवन् ! कह कर उत्तर दिया। अग्नि ने कहा—प्यारे ! तुझे ब्रह्म का स्वरूप कहूं। उसने कहा—भगवान् मुझे बतायें। उसको अग्नि ने कहा—एक कला पृथिवी है, दूसरी कला अन्तरिक्ष है, तीसरी कला द्यौ—प्रकाशमय लोक है और चौथी कला समुद्र है। हे प्यारे ! निश्चय से यह ब्रह्म का चार कला वाला स्वरूप अनन्तवान् नाम से प्रसिद्ध है। तीनों लोकों में और सूक्ष्मतत्त्व में भगवान् सर्वत्र विद्यमान है और अनन्त है। यह अनन्तोपासना है। यहां अग्नि से समाधि में दृष्ट दिव्यस्वरूप अभिप्रेत है। सान्त अनन्त का विचार इस उसके अन्तर से होता है। जो पृथिवी अन्तरिक्ष आदि को आवृत कर रहा है वह अनन्त है।

स य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्तेऽनन्तवानस्मि-ल्लोके भवति; अनन्तवतो ह लोकाञ्जयति। य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्ते ॥४॥

वह जो इसको ऐसे जानता हुआ ब्रह्म का चार कलावाला स्वरूप अनन्तवान् जान कर आराधता है, भगवान् को सर्वत्र विद्यमान और अनन्त समझ कर उपासता है वह अनन्त वाला—अविनाशी हो जाता है। और न अन्तवाले लोक—मुक्ति को पाता है।

सातवां खण्ड

हंसस्ते पादं वक्तेति। स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयांचकार। ता यत्राभिसायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय, गा उपरुध्य, समिधमाधाय, पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ॥१॥ तं हंस उपनिपत्याभ्युवाद। सत्यकाम३इति; भगव! इति ह प्रतिशुश्राव ॥२॥ ब्रह्मणः सोम्य! ते पादं ब्रवाणीति। ब्रवीतु मे भगवानिति। तस्मै होवाच—अग्निः कला, सूर्यः कला, चन्द्रः कला, विद्युत्कला। एष वै सोम्य! चतुष्कलः पादो ब्रह्मणो ज्योतिष्मान्नाम ॥३॥

उस दिव्य तेजोमय ने उसे कहा—तुझे तीसरा पाद हंस कहेगा। हंस ने उसे कहा—एक कला अग्नि है, दूसरी कला सूर्य है, तीसरी कला चन्द्र है और चौथी कला बिजली है। यह चार कलावाला ब्रह्म ज्योतिष्मान् नाम से प्रसिद्ध है। परमेश्वर चैतन्य है। सब ज्योतियों की वह ज्योति है उसी की ज्योति से अन्य ज्योतिष्मन्त हैं।

स य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते, ज्योतिष्मानस्मिंल्लोके भवति; ज्योतिष्मतो ह लोकाञ्जयति। य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते ॥४॥

जो उपासक भगवान् के स्वरूप को ज्योतिष्मान् जान कर उपासता है, भावना के साथ आराधता है वह इस लोक में ज्योतिवाला हो जाता है उसे देदीप्यमान ज्योति दीखने लगती है और वह तेजोमय लोक को प्राप्त करता है। यह उपासना भगवान् के ज्योतिष्मान् स्वरूप की है। प्रभु का ज्योतिर्मय स्वरूप, ऊपर कही ज्योतियों के रूप में उपलब्ध होता है।

आठवां खण्ड

मद्गुष्टे[1] पादं वक्तेति। स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयांचकार। ता यत्राभिसायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय, गा उपरुध्य, समिधमाधाय, पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ॥१॥ तं मद्गुरुपनिपत्याभ्युवाद। सत्यकाम३इति, भगव! इति ह प्रतिशुश्राव ॥२॥ ब्रह्मणः सोम्य! ते पादं ब्रवाणीति। ब्रवीतु मे भगवानिति। तस्मै होवाच—प्राणः कला, चक्षुः कला, श्रोत्रं कला, मनः कला। एष वै सोम्य! चतुष्कलः पादो ब्रह्मण आयतनवान्नाम ॥३॥

तीसरा पाद बता कर उस दिव्य श्वेतरूप ने उसे कहा—तुझे मद्गु चौथा पाद कहेगा। अगले दिन सायं समय मद्गु ने उसके पास आकर उसे बताया कि चौथे पाद की एक कला प्राण है, दूसरी कला नेत्र है, तीसरी कला श्रोत्र है और चौथी कला मन है। इस चार कला वाले ब्रह्म का आयतनवान्—आधारस्वरूप नाम है। इस उपासना में ब्रह्म को जीवन, सत्ता तथा आश्रय बताया गया है। परमेश्वर ही आकाश का, सौरलोक का, पृथिवी लोक का तथा देहधारी लोक का प्रकाशक तथा आश्रय है। प्रभु की प्रतीति अस्तित्व में, दिव्यदर्शन रूप में तथा दिव्यवाणी के श्रवण रूप में भी उपासकों को हुआ करती है।

स य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्ते, आयतनवानस्मिंल्लोके भवत्यायतनवतो ह लोकाञ्जयति। य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्ते ॥४॥

वह जो इस प्रकार जानता हुआ चार कला वाले परमेश्वर के स्वरूप को आश्रयरूप जान कर आराधता है वह इस लोक में आश्रयवाला हो जाता है वह भगवान् के आश्रय में अमर हो जाता है और अमर लोक को प्राप्त करता है।

नवां खण्ड

प्राप हाचार्यकुलम्। तमाचार्योऽभ्युवाद—सत्यकाम ३ इति। भगव! इति ह प्रतिशुश्राव ॥१॥ ब्रह्मविदिव वै सोम्य! भासि, को नु त्वानुशशासेति। अन्ये मनुष्येभ्य इति ह प्रतिजज्ञे। भगवांस्त्वेव मे कामे ब्रूयात् ॥२॥

इस प्रकार ब्रह्मज्ञानी बन कर सत्यकाम आचार्यकुल में प्राप्त हुआ। आचार्य ने उसको वात्सल्यभाव से पुकारा—हे सत्यकाम! उसने भगवन्! कह कर वह शब्द सुना। गुरु ने कहा—सोम्य! निश्चय से तू ब्रह्मवेत्ता की भांति दीखता है। तुझे किसने शिक्षा दी? उसने उत्तर दिया मनुष्यों से अन्यों ने। परन्तु भगवान् ही मुझे यथेच्छा से उपदेश दें। मैं आप ही का शिष्य हूँ।

श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्य आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापदिति तस्मै हैतदेवोवाचात्र ह न किंचन वीयायेति, वीयायेति ॥३॥

मैंने आप जैसे महात्माओं से ही सुना है कि आचार्य से ही जानी—सीखी हुई ब्रह्मविद्या—उपासना कल्याणतम को प्राप्त कराती है। यह सुन कर आचार्य ने उसे यह ही कहा—जो कुछ तू ने सीखा है, इसमें निश्चय से कुछ भी शेष नहीं है; शेष नहीं है। यह पूर्ण विद्या है। ब्रह्म की सत्ता को सब पदार्थों का आश्रय, मूल और जीवन जानना पूर्ण ज्ञान है। तदनन्तर कुछ भी ज्ञेय शेष नहीं रहता।

दसवां खण्ड

उपकोसलो ह वै कामलायनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास। तस्य ह द्वादशवर्षाण्यग्नीन् परिचचार। स ह स्मान्यानन्तेवासिनः समावर्तयंस्तं ह स्मैव न समावर्तयति ॥१॥

यह प्राचीन वृत्तान्त है कि कमल ऋषि का पुत्र उपकोसल सत्यकाम जाबाल के समीप ब्रह्मचर्य धारण करके रहा। उसके बारह वर्ष बीत गये, वह अग्नियों की उपासना करता रहा। समय समय पर वह सत्यकाम दूसरे शिष्यों का समावर्तन करता रहा परन्तु उसको उसने समावर्तन करके घर नहीं भेजा; उसका वह समावर्तन नहीं करता था। उसे वह गृहस्थाश्रम में जाने की अनुमति नहीं देता था।

तं जायोवाच—तप्तो ब्रह्मचारी कुशलमग्नीन् परिचचारीन्मा त्वाग्नयः परिप्रवोचन् प्रब्रूह्यस्मा इति। तस्मै हाप्रोच्यैव प्रवासांचक्रे ॥२॥

सत्यकाम को उसकी भार्या बोली—यह ब्रह्मचारी तप कर चुका है। इसने भली प्रकार अग्नियों को सेवन किया। तुझे अग्नियां न शाप दें, इस कारण इसको अनुमति दे—उपदेश दे। परन्तु वह उसको कुछ कहे बिना ही स्थानान्तर को चला गया।

स ह व्याधिनानशितुं दध्रे। तमाचार्यजायोवाच—ब्रह्मचारिन्नशान किन्नु नाश्नासीति। स होवाच—बहव इमेऽस्मिन्पुरुषे कामा नानात्यया व्याधिभिः प्रतिपूर्णोऽस्मि नाशिष्यामीति ॥३॥

उपकोसल ने मानस व्याधि से अनशन धारण कर लिया। तब उसको आचार्य-भार्या बोली—हे ब्रह्मचारी! अन्न खा; तू क्यों नहीं खाता है? वह बोला—इस मन्द-भाग्यवान् पुरुष में अनेक ये" कामनाएं हैं, उन नाना प्रकार की व्याधियों से मैं परिपूर्ण हूं। इस कारण नहीं खाऊंगा। मैं असिद्धमनोरथ; अनशनपूर्वक प्राण दे दूंगा।

अथ हाग्नयः समूदिरे—तप्तो ब्रह्मचारी, कुशलं नः पर्यचारीद्धन्तास्मै प्रब्रवामेति। तस्मै होचुः। ४॥

तब ध्यानावस्थित उपकोसल को जो प्रतीत हुआ वह यह है। तदनन्तर अग्नियां—दैवी स्वरूपाकार में ज्योतियां बोलीं—यह ब्रह्मचारी तप कर चुका। भली प्रकार इसने हमारी सेवा की। अहो!!! इसको रहस्योपदेश दें। उसको उन्होंने कहा।

प्राणो ब्रह्म। कं ब्रह्म। खं ब्रह्मेति। स होवाच—विजानाम्यहं यत्प्राणो

ब्रह्म, कं च तु खं च न विजानामीति । ते होचुर्यद्वाव कं तदेव खम्, यदेव खं तदेव कमिति । प्राणं च हास्मै तदाकाशं चोचुः ॥५॥

प्राण-जगत् का जीवन-आधार ब्रह्म है । सुखस्वरूप ब्रह्म है । आकाशवत् अनन्त निराकार ब्रह्म है । यह सुन कर उपकोसल ने कहा—जो प्राण ब्रह्म है वह तो मैं जानता हूं किन्तु कम् और खम् मैं नहीं जानता । वे देवीस्वरूप बोले—जो ही कम्—सुख है वह ही खम्—अनन्त निराकार है और जो ही अनन्त निराकार है वह ही सुखमय है । उसको प्राण-जगत् का जीवन वह आकाश ही उन्होंने कहा । उस पर अनुकम्पा करके उन्होंने उसे उपदेश दिया कि ब्रह्म जीवन, अस्तित्व, आनन्द और अनन्त है ।

ग्यारहवां खण्ड

अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशास; पृथिव्यग्निरन्नमादित्य इति । य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥१॥

तदनन्तर इस उपकोसल को गार्हपत्य ज्योति ने उपदेश दिया—कि पृथिवी, अग्नि, अन्न और सूर्य ये मेरे धाम हैं, इनमें मैं विद्यमान हूं । परन्तु जो यह सूर्य में पुरुष दीखता है वह मैं हूं वह ही मैं हूं । ऐसा पुरुष ध्यान में दर्शन देता है ।

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति, सर्वमायुरेति, ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्ते । उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च, य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥२॥

वह जो इसको ऐसे जानता हुआ आराधता है वह पापकर्मों को नाश करके उत्तम जन्म वाला हो जाता है, सारी आयु को पाता है, उज्ज्वल जीवन जीता है, इसके पुत्रपौत्रादि नहीं नाश होते, इसका वंश बना रहता है । हम स्वरूप उसको, इस लोक में और उस लोक में पालते हैं, उसकी रक्षा तथा पालना दोनों लोक में हम करते हैं । यहां देवी स्वरूपों से तात्पर्य दैवी विकासों से है । और यह यथाभिमत स्वरूपोपासना और इष्ट का परिचय है ।

बारहवां खण्ड

अथ हैनमन्वाहार्यपचनोऽनुशशास; आपो दिशो नक्षत्राणि चन्द्रमा इति । य एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि, स एवाहमस्मीति ॥१॥ स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति, सर्वमायुरेति, ज्योग्जीवति, नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्ते । उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च, य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥२॥

तत्पश्चात् उपकोसल को दक्षिणाग्नि ने उपदेश दिया कि जल, दिशाएँ, नक्षत्र और चन्द्रमा ये मेरे स्थान हैं। इन लोकों में पुण्यकर्मियों का वास होता है। परन्तु जो यह चन्द्रमा में पुरुष दीखता है। वह स्वरूप मैं[15] हूं[16] वह [18]ही मैं[19] हूं[20]। आगे फल वर्णन किया है। यह यथाभिमत इष्टोपासना से इष्टसिद्धि का परिचय है।

तेरहवां खण्ड

अथ हैनमाहवनीयोऽनुशशास; प्राण आकाशो द्यौर्विद्युदिति। य एष विद्युति पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥१॥ स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां, लोकी भवति, सर्वमायुरेति, ज्योग्जीवति, नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्ते। उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥२॥

तदनन्तर इस ब्रह्मचारी को आहवनीय अग्नि देवी स्वरूप ने उपदेश दिया कि प्राण, आकाश, द्युलोक तथा विद्युत् ये मेरे स्थान हैं, इन में मैं प्रकट हूं। परन्तु जो यह विद्युत् में पुरुष—दिव्य स्वरूप दीखता है वह मैं[15] हूं,[16] वह [18]ही मैं[19] हूं[20]।

चौदहवां खण्ड

ते होचुरुपकोसल! एषा सोम्य! तेऽस्मद्विद्याऽऽत्मविद्या चाचार्यस्तु ते[32] गतिं वक्तेति। आजगाम हास्याचार्यस्तमाचार्योऽभ्युवादोपकोसल३इति ॥१॥

वे[1] अग्नियां बोलीं—हे उपकोसल! हे प्यारे, तुझको यह जो विद्या दी है वह हमारी दैवी विद्या आत्मविद्या है। सब लोकों में एक ही परमेश्वर की नाना शक्तियां काम करती हैं; और वह एक अखण्ड प्राण और सुखस्वरूप निराकार आत्मा है। और तुझे तेरा आचार्य कौन कहेगा। इतने में इसका आचार्य आ निकला। उपकोसल को आचार्य ने पुकारा—हे उपकोसल!

भगव इति ह प्रतिशुश्राव। ब्रह्मविद इव सोम्य! ते मुखं भाति। को नु त्वानुशशासेति। को नु मानुशिष्यादिति हापेव निह्नुत इमे नूनमीदृशा अन्यादृशा इतीहाग्नीनभ्यूदे। किन्नु सोम्य! किल तेऽवोचन्निति ॥२॥

भगवन्! कह कर उसने उसका वचन सुना। आचार्य ने कहा—हे प्यारे! ब्रह्मज्ञानी की भांति तेरा मुख प्रकाशमान है। किसने तुझे उपदेश दिया? शिष्य ने कहा—हे आचार्य! कौन मुझको सिखाये, इस प्रकार छुपाते हुए बोला—निश्चय इन अग्नियों ने इन जैसे स्वरूपों ने अथवा अन्य प्रकार के दिव्य स्वरूपों ने उपदेश दिया। इस प्रकार अग्नियों को उसने उपदेष्टा बताया। फिर गुरु ने पूछा—प्यारे! उन्होंने तुझे क्या कहा?

इदमिति ह प्रतिजज्ञे । लोकान्वाव किल सोम्य ! तेऽवोचन्नहं तु ते तद्वक्ष्यामि——यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यत इति । ब्रवीतु मे भगवानिति । तस्मै होवाच ॥६॥

शिष्य ने यह ज्ञान है, ऐसे सार सुना दिया । आचार्य ने कहा—प्यारे ! निश्चय से लोकों को ही उन्होंने तुझे बताया । मैं तो तुझे वह ज्ञान कहूंगा जिसके जानने से, जैसे कमलपत्र में पानी नहीं लिप्त होते ऐसे ही इस प्रकार के ज्ञानी में पाप कर्म नहीं लिप्त होता । शिष्य ने कहा—भगवान् मुझे वह विद्या बताइये । उसको उसने कहा ।

पन्द्रहवां खण्ड

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाच । एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चन्ति वर्त्मनी एव गच्छति ॥१॥

जो यह आंख में पुरुष दीखता है, यह आत्मा है यह उसने कहा । यह ही अमृत है, अभय है और यह ब्रह्म है । भीतरी आंख से जो स्वरूप वा अपना आप दीखता है उसी से तात्पर्य है । वह यद्यपि इस आंख में है परन्तु वह लिप्त नहीं होता । जैसे लोग आंख में घी अथवा पानी सींचते हैं परन्तु वे आंख में नहीं रहते किन्तु किनारों को ही निकल जाते हैं ऐसे ही अन्तर्मुख होकर देखा हुआ पुरुष परम निर्लेप तथा स्वतन्त्र है । यह दर्शन-शक्ति में तथा त्रिकुटी में ध्यान का संकेत है ।

एतं संयद्वाम इत्याचक्षत एतं हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति । सर्वाण्येनं वामान्यभिसंयन्ति य एवं वेद ॥२॥

इस आत्मा को आत्मज्ञानी संयद्वाम—प्राप्तशोभा—शोभाधाम ऐसा कहते हैं । क्योंकि इसको ही सारी शोभाएं तथा सौन्दर्य सब ओर से प्राप्त होते हैं । जो ऐसा जानता है उसको सारी शोभाएं प्राप्त होती हैं ।

एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि नयति । सर्वाणि वामानि नयति य एवं वेद ॥३॥

और यह ही परमात्मा वामनी—सौन्दर्यों का नेता है । क्योंकि यह ही सारे सौन्दर्यों को चला रहा है । जो ऐसे जानता है वह सारे सौन्दर्यों को चलाता है, सारे शुभ कर्म करता है ।

एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति । सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद ॥४॥

तथा यह ही भगवान् भामनी—प्रकाशों का नेता है। यह ही ज्योतिस्वरूप सारे लोकों में प्रकाशमान है। जो ऐसा जानता है वह मुक्त होकर सारे लोकों में प्रकाशमान हो जाता है। परमेश्वर सर्वसुन्दर और प्रकाशस्वरूप है यह इसमें भाव है।

अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासांस्तान्मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः ॥५॥ स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथः। एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते ॥६॥

और जो ही इसमें शवकर्म—दाहकर्म करते हैं और यदि नहीं करते हैं तो भी ब्रह्मज्ञानी मर कर ज्वालासदृश अवस्था को ही पाते हैं। ज्वाला से दिन को, दिन से आपूर्यमाणपक्ष—शुक्लपक्ष को, शुक्लपक्ष से जो छः उत्तर के मासों को सूर्य आता है उनको, मासों से वर्ष को, वर्ष से सूर्य को, सूर्य से चन्द्रमा को, चन्द्रमा से विद्युत् को ब्रह्मवेत्ता पाते हैं। ये अवस्थाएं मुक्त पुरुष को प्राप्त होती हैं। विद्युत्सदृश तेजोमय धाम को पाकर वे मुक्त आत्माएं वह पुरुष अमानव अर्थात् परम पुरुष भगवान् यह है ऐसा जान जाते हैं। वह ही इन भक्तों को ब्रह्म प्राप्त कराता है। यह देवपथ तथा ब्रह्मपथ है। इस देवमार्ग से भगवान् को पाते हुए भक्त इस मनुष्य लोक को नहीं लौट कर आते; नहीं लौटकर आते। वे उस परम पुरुष के परम पावन आनन्द धाम में रहते हैं।

इस खण्ड में जो ज्वाला दर्शन आदि को जाना कहा है वह रहस्यरूप से अवस्थाओं का संकेत है। उत्तम साधकों को प्रथम अग्निशिखा सदृश ज्योतिदर्शन की अवस्था प्राप्त होती है फिर दिन के प्रकाशसम। तत्पश्चात् उत्तरोत्तर बढ़ती हुई शुक्लपक्ष सी अवस्था आती है अथवा वह अवस्था उनकी पन्द्रह दिन तक बनी रहती है। तदनन्तर उनकी प्रकाशावस्था छः मास तक, उत्तरायण—उत्तरोत्तर पद में स्थिर हो जाती है। उसके पश्चात् उनकी प्रकाश दर्शन की अवस्था वर्षभर तक स्थिर बनी रहती है। तब वे उपासक शुभ्र ज्योतिर्मयी आदित्यभूमिका को लाभ करते हैं। उसमें उनको अद्भुत आदित्यमण्डल दीखता है। फिर पूर्ण चन्द्र की चांदनी से भी अधिकतम शीतल तथा शान्त प्रकाश उनको प्राप्त होता है। तत्पश्चात् वे परम विद्युत् अवस्था को प्राप्त होते हैं। उस परम वैद्युतप्रकाशावस्था में वे उस परम पुरुष अमानव—परमेश्वर को जान जाते हैं। वही देवाधिदेव उनको अपने परमधाम में लिवा ले जाता है। यही देवयान देवपथ तथा ब्रह्मपथ है।

सोलहवां खण्ड

एष ह वै यज्ञो योऽयं पवते। एष ह यन्निदं सर्वं पुनाति। यदेष यन्निदं सर्वं पुनाति तस्मादेष एव यज्ञः। तस्य मनश्च वाक् च वर्तनी ॥१॥

निश्चितरूप से यह ब्रह्मज्ञानी पुरुष ही यज्ञ है जो यह अपने उपदेश से संसार को पवित्र करता है। यह उपासक ही है जो इस सारे संसार को पवित्र करता है। जो यह जिस कारण इस सारे को पवित्र करता है उससे यह ही यज्ञ है। उस उपासक के पवित्र करने वाले मन और वाणी दो मार्ग—साधन हैं।

तयोरन्यतरां मनसा संस्करोति ब्रह्मा वाचा होताऽध्वर्युरुद्गातान्यतराम् ।
स यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यववदति ॥२॥

द्रव्यमय यज्ञ को भी उपासक ही शुद्ध करता है। इस कारण इसमें भी उपासक ही यज्ञ है। ब्रह्मा उन दो मार्गों में से एक मार्ग मन से संस्कार करता है; वह मौन-भाव से विधि कराता है। होता, अध्वर्यु और उद्गाता दूसरे वाणी के मार्ग से संस्कार करते हैं। वह ब्रह्मा, जहां यज्ञ में कार्य के आरम्भ में, प्रातः के पाठ के आरम्भ में और होम करने की अन्तिम ऋचा से पहले यदि बोलता है तो दोषी हो जाता है।

अन्यतरामेव वर्तनीं संस्करोति हीयतेऽन्यतरा। स यथैकपाद् व्रजन्रथो वैकेन चक्रेण वर्तमानो रिष्यत्येवमस्य यज्ञो रिष्यति। यज्ञं रिष्यन्तं यजमानो-ऽनुरिष्यति। स इष्ट्वा पापीयान् भवति ॥३॥

यदि ब्रह्मा बोल पड़े तो वह अन्यतर—वाणी के ही मार्ग से यज्ञ करता है; उसका दूसरा मन का मार्ग नष्ट हो जाता है। जैसे कोई मनुष्य एक पांव से चलता हुआ वा एक पहिये से चलता हुआ रथ नष्ट हो जाता है ऐसे ही ब्रह्मा का यज्ञ नष्ट हो जाता है। यज्ञ के नाश होते हुए यजमान भी नष्ट हो जाता है। वह ऐसे दोषयुक्त यज्ञ को कर के पापिष्ठ हो जाता है। यज्ञ यथाविधि करने से ही फल देता है।

अथ यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके न पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यववदत्युभे एव वर्तनी संस्कुर्वन्ति, न हीयतेऽन्यतरा ॥४॥ स यथोभयपाद् व्रजन्रथो वोभाभ्यां चक्राभ्यां वर्तमानः प्रतितिष्ठत्येवमस्य यज्ञः प्रतितिष्ठति। यज्ञं प्रतितिष्ठन्तं यजमानोऽनुप्रतितिष्ठति। स इष्ट्वा श्रेयान् भवति ॥५॥

और जहां यज्ञ में, कार्यारम्भ में, प्रातःपाठ में और अन्तिम ऋचा से पहले ब्रह्मा नहीं बोलता वहां याजक दोनों ही मार्गों को पवित्र करते हैं; दोनों साधनों से यज्ञ करते हैं; उनमें से कोई नहीं हीन होता। जैसे कोई मनुष्य दोनों पांव से चलता हुआ वा दोनों पहियों से चलता हुआ रथ स्थिर रहता है ऐसे ही ब्रह्मा का यज्ञ स्थिर रहता है। यज्ञ के स्थिर होते हुए यजमान स्थिर हो जाता है। वह यजमान ऐसा यज्ञ करके श्रेष्ठ हो जाता है। उसे यज्ञ से अभीष्ट फल मिल जाता है।

सत्तरहवां खण्ड

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत् । तेषां तप्यमानानां रसान्प्रावृहदग्निं पृथिव्या वायुमन्तरिक्षादादित्यं दिवः ॥१॥

प्रजापति परमेश्वर ने लोकों को अपनी शक्ति से तपाया, उन तपायमान लोकों से उसने सार उद्धृत किये। उसने पृथिवी से अग्नि को, आकाश से वायु को और तेजोमयलोक से सूर्य को निकाला।

स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत् । तासां तप्यमानानां रसान् प्रावृहत् । अग्नेर्ऋचो वायोर्यजूंषि सामान्यादित्याद् ॥२॥

तदनन्तर परमेश्वर ने ये अग्नि, वायु, आदित्य तीन देवता तपाये। उसने उन तपायमान देवताओं से सार उद्धृत किये, अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और सूर्य से साम-मन्त्र।

स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत् । तस्यास्तप्यमानाया रसान् प्रावृहत् भूरित्यृग्भ्यो भुवरिति यजुर्भ्यः स्वरिति सामभ्यः ॥३॥ तद्यदृक्तो रिष्येद् भूः स्वाहेति गार्हपत्ये जुहुयात् । ऋचामेव तद्रसेनर्चां वीर्येणर्चां यज्ञस्य विरिष्टं सन्दधाति ॥४॥

उस भगवान् ने इस त्रयी विद्या को तपाया। स्तुति, कर्म, उपासना रूप से निचोड़ा। उस तपायमान विद्या से उसने सारों को उद्धृत किया। भूः यह ऋचाओं से, भुवः यह यजुर्मन्त्रों से और स्वः यह सामगीतों से। ये तीन व्याहृतियां तीन वेदों के सार है। सो यदि ऋग्वेद के पाठ से दूषित हो तो "भूः स्वाहा" यह कर गार्हपत्य अग्नि में होम करे। ऋचाओं ही के उस सार से, ऋचाओं के सामर्थ्य से, ऋचाओं के यज्ञ का दोष वा घाव पूरा हो जाता है। वह घाव नहीं रहता।

अथ यदि यजुष्टो रिष्येद् भुवः स्वाहेति दक्षिणाग्नौ जुहुयात् । यजुषामेव तद्रसेन, यजुषां वीर्येण यजुषां यज्ञस्य विरिष्टं सन्दधाति ॥५॥ अथ यदि सामतो रिष्येत्स्वः स्वाहेत्याहवनीये जुहुयात् । साम्नामेव तद्रसेन, साम्नां वीर्येण साम्नां यज्ञस्य विरिष्टं सन्दधाति ॥६॥

और यदि यजुःकर्म से दूषित हो तो "भुवः स्वाहा" यह कह कर दक्षिण अग्नि में होम करे। वह घाव दूर हो जायगा। ऐसे ही यदि साम से—सामगायन से दूषित हो तो "स्वः स्वाहा" यह कह कर आहवनीय में होम करे। साम-सार से साम-सामर्थ्य से

साम के यज्ञ का घाव पूरा हो जाता है। वेदपाठ में जो दोष हो जावे उसका यह प्रायश्चित्त है।

तद्यथा लवणेन सुवर्णं सन्दध्यात्सुवर्णेन रजतं, रजतेन त्रपु, त्रपुणा सीसं, सीसेन लोहं, लोहेन दारु, दारु चर्मणा ॥७॥ एवमेषां लोकानामासां देवतानामस्यास्त्रय्या विद्याया वीर्येण यज्ञस्य विरिष्टं सन्दधाति। भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवति ॥८॥

सो जैसे लवण से सोने को कोई जोड़े, सोने से चांदी को, चांदी से त्रपु को, त्रपु से सीसे को, सीसे से लोहे को, लोहे से लकड़ी को और चर्म से लकड़ी को कोई जोड़े वा बान्धे, ऐसे ही इन लोकों के, इन देवताओं के और इस त्रयी विद्या के सामर्थ्य से ब्रह्मा यज्ञ के क्षत—घाव को जोड़ देता है। जिस यज्ञ में ऐसा जानने वाला ब्रह्मा होता है निश्चय से वह यज्ञ औषधस्वरूप है।

एषा ह वा उदक्प्रवणो यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवति। एवंविदं ह वा एषा ब्रह्माणमनु गाथा, यतो यत आवर्तते तत्तद्गच्छति ॥९॥

यह ही उत्तराभिगामी, उत्तरायण से ले जाने वाला यज्ञ है, जहां ऐसा सर्व कर्मवेत्ता ब्रह्मा होता है। ऐसा जानने वाले ही ब्रह्मा की यह गाथा कही है, उसका यह सामर्थ्य है कि यह जहां जहां से पीछे लौटता है वह वह दोष दूर हो जाता है।

मानवो ब्रह्मैवैक ऋत्विक् कुरूनश्वाभिरक्षत्येवंविद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वांश्चर्त्विजोऽभिरक्षति। तस्मादेवंविदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत, नानेवंविदं नानेवंविदम् ॥१०॥

जैसे उत्तम वंश की घोड़ी कुरुवंशियों को बचाती है ऐसे ही ऐसा जानने वाला, एक ही मननशील ब्रह्मा ऋत्विजों की रक्षा करता है। निश्चय से ब्रह्मा ही यज्ञ को, यजमान को और सारे ऋत्विजों को बचाता है; उनमें कोई दोष, त्रुटि नहीं रहने देता। इसी कारण ऐसा जानने वाले को ही ब्रह्मा बनावे। ऐसा न जानने वाले को न बनावे। ब्रह्मा पूर्ण ज्ञानी ही बनाना चाहिए।

प्रपाठक पांचवां, पहला खण्ड

यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति। प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ॥१॥

निश्चय से जो मनुष्य बड़े और उत्तम को जानता है वह निश्चय से बड़ा और

उत्तम हो जाता है। मनुष्यशरीर में प्राण ही—जीवनशक्ति तथा सामर्थ्य ही बड़ा और उत्तम है। प्राण के आश्रित इन्द्रियों का जीवन है अतएव वह उनसे श्रेष्ठ है।

यो ह वै वसिष्ठं वेद वसिष्ठो ह स्वानां भवति। वाग्वाव वसिष्ठः ॥२॥

निश्चय से जो उपासक वसिष्ठ को जानता है, आच्छादक तथा धनाढ्य को जानता है वह अपने जनों का वसिष्ठ ही हो जाता है। मनुष्य के मुख में वाणी ही वसिष्ठ है। वाणी में ही संरक्षा और सम्पत्ति निवास करती है। वाणी के बल से ऐश्वर्य मिलता है।

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठत्यस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च। चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा ॥३॥

निश्चय से जो उपासक प्रतिष्ठा को, स्थिति को, मर्यादा को तथा सम्मान को, जानता है वह इस लोक में और उस—परलोक में स्थिर हो जाता है। उसकी मान-मर्यादा तथा स्थिति दोनों लोकों में स्थिर हो जाती है। आंखें ही प्रतिष्ठा है।

आंख में ही मान मर्यादा है तथा आंख से देख कर ही मनुष्य सम विषम स्थान में स्थिर होता है।

यो ह वै संपदं वेद सं हास्मै कामाः पद्यन्ते दैवाश्च मानुषाश्च। श्रोत्रं वाव संपत् ॥४॥

निश्चय से जो उपासक सम्पत् को, धनसमृद्धि को जानता है उसको दैवी और मानुषी मनोरथ भली भांति प्राप्त होते हैं। श्रोत्र ही सम्पत् है। कानों से सुन कर आत्मिक और व्यावहारिक ज्ञान की सम्पत्ति प्राप्त की जाती है।

यो ह वा आयतनं वेदायतनं ह स्वानां भवति। मनो ह वा आयतनम् ॥५॥

निश्चय से जो उपासक आयतन—आश्रय वा घर को जानता है वह अपने जनों का आश्रय ही हो जाता है। निश्चय से मनुष्य का मन ही सारे ज्ञानों तथा कर्मों का आश्रय है। मनोबल से मनुष्य आश्रय, स्थान प्राप्त कर पाता है।

अथ ह प्राणा अहंश्रेयसि व्यूदिरेऽहं श्रेयानस्म्यहं श्रेयानस्मीति ॥६॥

देह में कौन शक्ति श्रेष्ठ है इस पर यह आख्यायिका है। एकदा इन्द्रियादि प्राण, अहंश्रेयसिवाद में—मैं बड़ा हूँ, इस विषय में, मैं बड़ा हूँ मैं श्रेष्ठ हूँ ऐसे परस्पर विवाद करने लगे।

ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुः, भगवन्! को नः श्रेष्ठ इति? तान्होवाच—यस्मिन् व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्येत स वः श्रेष्ठ इति ॥७॥

वे प्राण—जैवी शक्तियां वा सामर्थ्य प्रजापति पिता के पास पहुंचे कर बोले—भगवन्! हमारे में कौन सामर्थ्य से श्रेष्ठ है? उनको वह बोला—तुम्हारे में से जिसके निकल जाने पर शरीर अतिपापी सा—मृत सा दीखे पड़े वह तुम्हारे में श्रेष्ठ है।

सा ह वागुच्चक्राम। सा संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति? यथा कला अवदन्तः, प्राणन्तः प्राणेन, पश्यन्तश्चक्षुषा, शृण्वन्तः श्रोत्रेण, ध्यायन्तो मनसैवमिति। प्रविवेश ह वाक् ॥८॥

प्रजापति से यह सुन कर वह वाणी देह से बाहर निकल गई। वह वर्ष भर बाहर रह कर फिर शरीर के समीप आ कर अन्य प्राणों से बोली—तुम मेरे बिना कैसे जीवित रह सके? उन्होंने कहा—जैसे "गूंगे न बोलते हुए घ्राण इन्द्रिय से सांस लेते हुए, आंख से देखते हुए, कान से सुनते हुए और मन से विचारते हुए जीते रहते हैं ऐसे" हम जीवित रहे। वाणी अपनी अश्रेष्ठता को जान कर शरीर में प्रविष्ट हो गई।

चक्षुर्होच्चक्राम। तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच—कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति। यथान्धा अपश्यन्तः, प्राणन्तः प्राणेन, वदन्तो वाचा, शृण्वन्तः श्रोत्रेण, ध्यायन्तो मनसैवमिति। प्रविवेश ह चक्षुः ॥९॥ श्रोत्रं होच्चक्राम। तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच—कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति। यथा बधिरा अशृण्वन्तः, प्राणन्तः प्राणेन, वदन्तो वाचा, पश्यन्तश्चक्षुषा, ध्यायन्तो मनसैवमिति। प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥१०॥

तदनन्तर आंख की शक्ति बाहर निकल गई। वर्ष भर रह कर फिर आकर उसने पूछा तो उसे बताया गया जैसे अन्धे न देखते हुए नाक से सांस लेते हुए, वाणी से बोलते हुए, कान से सुनते हुए और मन से विचारते हुए जीते रहते हैं, ऐसे हम जीवित रहे। तब आंख भी प्रविष्ट हो गई। ऐसे ही श्रोत्र इन्द्रिय भी।

मनो होच्चक्राम। तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच—कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति। यथा बाला अमनसः, प्राणन्तः प्राणेन, वदन्तो वाचा, पश्यन्तश्चक्षुषा, शृण्वन्तः श्रोत्रेणैवमिति। प्रविवेश ह मनः ॥११॥

फिर मन निकला। वर्ष के अनन्तर उसने आ कर पूछा तो उसे बताया गया जैसे बालक मन बिना, नाक से प्राण लेते हुए, वाणी से बोलते हुए, आंख से देखते हुए, कान से सुनते हुए रहते हैं ऐसे ही हम जीवित रहे। मन भी देह में प्रविष्ट हो गया।

अथ ह प्राण उच्चिक्रमिष्यन्त्स यथा सुहयः पड्वीशशंकून् संखिदेदेवमितरान् प्राणान् समखिदत्। तं हाभिसमेत्योचुर्भगवन्नेधि। त्वं नः श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रमीरिति ॥१२॥

तत्पश्चात् प्राण—जीवसहित प्राण निकलने लगा। जैसे कशा से ताड़ा हुआ उत्तम घोड़ा पांव बांधने के खूँटों को उखाड़े ऐसे ही जैवी प्राण ने अन्य सारे प्राणों को चलायमान कर दिया। तब सारे प्राण उसके पास आ कर बोले—भगवन् ! हमारा स्वामी बन। हमारे में तू ही श्रेष्ठ है। यहां से मत निकल।

प्राण से यहां जीवन शक्ति ली गई है। उस शक्ति का सांस के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी कारण प्राण और जीव को यहां एक ही वर्णन किया है।

अथ हैनं वागुवाच—यदहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति। अथ हैनं चक्षुरुवाच—यदहं प्रतिष्ठाऽस्मि त्वं तत्प्रतिष्ठाऽसीति ॥१३॥ अथ हैनं श्रोत्रमुवाच—यदहं संपदस्मि त्वं तत्संपदसीति। अथ हैनं मन उवाच—यदहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति ॥१४॥

तदनन्तर उसको वाणी ने कहा—"जो मैं वसिष्ठ हूं वह तू ही वसिष्ठ है", मेरी आच्छादनशक्ति तेरे आश्रित है। तब इसको आंखों ने कहा—"जो मैं प्रतिष्ठा हूं वह तू ही प्रतिष्ठा है"। तदनन्तर इसको कान ने कहा—"जो मैं सम्पदा हूं" वह तू ही सम्पद् है"। फिर इसे मनने कहा—"जो मैं आश्रय हूं" वह तू ही आश्रय है", तेरे आश्रित हम हैं।

न वै वाचो न चक्षूंषि न श्रोत्राणि न मनांसीत्याचक्षते।
प्राणा इत्येवाचक्षते। प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति ॥१५॥

निश्चय से न वाणियां, न नेत्र, न श्रोत्र, न मन ऐसा कहते हैं, किन्तु इनको प्राण हैं, यह ही कहते हैं। क्योंकि प्राण—जीव ही ये सारे हो जाते हैं। इन्द्रियों में आत्मा ही इन शक्तियों के रूप में प्रकट होता है, नहीं तो वे निरे गोलक हैं।

दूसरा खण्ड

स होवाच किं मेऽन्नं भविष्यतीति ? यत्किंचिदिदमाश्वभ्य आशकुनिभ्य इति होचुः। तद्वा एतदनस्यान्नमनो ह वै नाम प्रत्यक्षम्। न ह वा एवंविदि किंचनानन्नं भवतीति ॥१॥

वह प्राण बोला—मेरा अन्न—खाद्य पदार्थ क्या होगा ? उन्होंने कहा—जो कुछ यह श्वे से लेकर पक्षियों तक है, वह ही यह प्राण का अन्न है। निश्चय से प्राण का अन नाम प्रसिद्ध है। निश्चय से ऐसा जानने वाले के समीप कुछ भी अनन्न—अखाद्य पदार्थ नहीं होता। वह भोजन में अखाद्यभाव नहीं मानता। आत्मा ही भोक्ता है।

स होवाच किं मे वासो भविष्यतीति ? आप इति होचुस्तस्माद्वा एतद-शिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधति । लम्भुको ह वासो भवत्यनग्नो ह भवति ॥२॥

वह प्राण बोला – मेरा वस्त्र क्या होगा ? उन्होंने उसे कहा—जल ही। इस कारण ही इस अन्न को खाता हुआ उपासक भोजन से पहले तथा भोजनान्तर जल से परिधान करता है अन्न को जल से आचमन करके आच्छादित करता है। यह जल लम्भनरूप-अवलम्भनरूप वस्त्र हो जाता है। इससे प्राण नग्न नहीं रहता।

तद्धैतत्सत्यकामो जाबालो गोश्रुतये वैयाघ्रपद्यायोक्त्वोवाच यद्यप्येनच्छु-ष्काय स्थाणवे ब्रूयाज्जायेरन्नेवास्मिञ्छाखाः, प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥३॥

वह यह उपदेश सत्यकाम जाबाल ने व्याघ्रपाद के पुत्र गोश्रुति को देकर कहा— यदि कोई गुरु यह उपदेश सूखे पेड़ को कहे तो उसमें भी शाखाएँ उत्पन्न हो आवें और पत्र फूट निकलें। यह प्राणविद्या श्रद्धाविश्वासहीन मनुष्य को भी भक्त तथा उपासक बनाने का सामर्थ्य रखती है। आत्मा को शक्ति का केन्द्र मानना ही इसका सारांश है।

अथ यदि महज्जिगमिषेत् । अमावस्यायां दीक्षित्वा पौर्णमास्यां रात्रौ सर्वौषधस्य मन्थं दधिमधुनोरुपमथ्य ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत् ॥४॥

और यदि महत्त्व को पाना चाहे, तो अमावस्या की रात में दीक्षा लेकर उसी मास की पूर्णमासी की रात में, सर्वौषध नामक बूटी के रस को दधि और मधु के साथ घोट कर, 'ज्येष्ठ के लिए श्रेष्ठ के लिए स्वाहा' ऐसा कह कर अग्नि में घृत का हवन करके स्रुवे से टपकता हुआ शेष घृत उस मन्थ में डाल देवे।

वसिष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत् ।
प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत् ।
संपदे स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत् ।
आयतनाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत् ॥५॥

'वसिष्ठाय स्वाहा' कह कर घृत का हवन करे और शेष मन्थ में डाले। 'प्रतिष्ठायै स्वाहा' कह कर अग्नि में घृत का हवन करे और शेष मन्थ में डाले। ऐसे ही 'संपदे स्वाहा' और 'आयतनाय स्वाहा' कह कर कर्म करे।

अथ प्रतिसृप्याञ्जलौ मन्थमाधाय जपति । अमो नामास्यमा हि ते सर्वमिदं, स हि ज्येष्ठः श्रेष्ठो राजाऽधिपतिः । स मा ज्यैष्ठ्यं श्रैष्ठ्यं राज्यमाधिपत्यं गमयतु, अहमेवेदं सर्वमसानीति ॥६॥

होम के पश्चात् अग्नि के पास जा कर, अञ्जलि में मन्थ ले कर जप करे—हे परमेश्वर तू अम—असीम नाम वाला है; तेरा नाम अमान—अनन्त है। निश्चय से तेरी यह सारा जगत् अनन्त है। वह ही तू ज्येष्ठ है, श्रेष्ठ है, राजा है और स्वामी है। वह तू मुझे बड़ाई, उत्तमता, राज्य और स्वामित्व प्राप्त करा। मैं ही यह सब—महान्, सर्वश्रेष्ठ आदि हो जाऊँ। मेरी इच्छाशक्ति प्रबलतमा हो जाय।

अथ खल्वेतयर्चा पच्छ आचामति—तत्सवितुर्वृणीमहे इत्याचामति, वयं देवस्य भोजनमित्याचामति, श्रेष्ठं सर्वधातममित्याचामति, तुरं भगस्य धीमहीति सर्वं पिबति ॥७। निर्णिज्य कंसं चमसं वा पश्चादग्नेः संविशति चर्मणि वा स्थण्डिले वा। वाचंयमोऽप्रसाहः स यदि स्त्रियं पश्येत्समृद्धं कर्मेति विद्यात् ॥८॥

तदनन्तर निश्चय से पादशः पढ़ कर इस ऋचा से आचमन करे। अर्थात् एक एक पाद पढ़ कर आचमन करे। हम उपासक उस सृष्टिकर्त्ता देव के दिये भोजन को अङ्गीकार करते हैं। उसका दिया अन्न श्रेष्ठ है और सर्वपुष्टिप्रद है। हम भगवान् के तेजोमय स्वरूप का ध्यान करते हैं। अन्त में सारा मन्थ पी जाय। तत्पश्चात् कंसपात्र को और चमसे को धो कर रख देवे और आप अग्निकुण्ड के पीछे चर्मासन पर वा भूमि पर बैठ जावे। वाणी को वश में किये हुए निर्भय वहीं जप करता हुआ सो जावे। वह उपासक यदि स्वप्न में स्त्री को देखे तो कर्म सफल हुआ जाने। यह मनोरथसिद्धि का साधन है।

तदेष श्लोकः। यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति।
समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने; तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने ॥९॥

इस पर यह श्लोक है। जब काम्य कर्मों की उपासना में, स्वप्न में स्त्री को देखे, तो वहां उस स्वप्नदर्शन में कार्यसिद्धि ही जाने।

तीसरा खण्ड

श्वेतकेतुर्हारुणेयः पञ्चालानां समितिमेयाय।
तं ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच—कुमारानु त्वाशिषत्पितेत्यनु हि भगव इति ॥१॥

आरुणि ऋषि का पुत्र श्वेतकेतु पञ्चालदेश के क्षत्रियों की सभा में आया। उस को प्रवाहण जैबलि राजा ने कहा—हे कुमार! क्या तुझे तेरे पिता ने शिक्षा दी? यह सुनने के अनन्तर उसने उत्तर दिया—निश्चय से, भगवन्! उसने मुझे शिक्षा दी है।

वेत्थ यदितोऽधि प्रजाः प्रयन्तीति? न भगव इति। वेत्थ यथा पुनरावर्तन्ता३ इति? न भगव इति। वेत्थ पथोर्देवयानस्य पितृयाणस्य च व्यावर्तना३ इति? न भगव इति ॥२॥

राजा ने कहा—हे श्वेतकेतु! जैसे यहां से मर कर प्रजाएं परलोक को जाती हैं वह तू जानता है? उसने कहा—भगवन्! मैं नहीं जानता। राजा ने कहा—जैसे प्रजाएं—जीव फिर जन्म में आते हैं वह तू जानता है? उसने उत्तर दिया—भगवन्! मैं नहीं जानता। राजा ने कहा—देवयान के और पितृयाण के मार्गों की भिन्नता को तू जानता है? उसने उत्तर दिया—भगवन्! मैं नहीं जानता।

वेत्थ यथासौ लोको न संपूर्यता३ इति? न भगव इति।
वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति? नैव भगव इति ॥३॥

फिर राजा ने कहा—जैसे यह लोक अर्थात् परलोक जीवों से नहीं भरता यह तू जानता है? उसने उत्तर दिया—भगवन्! मैं नहीं जानता। अन्त में राजा ने कहा—जैसे पांचवीं आहुति में हवन किया हुआ जल पुरुष के वचन का हो जाता है, गर्भाधान में जैसे पुरुषाकृति बन जाती है वह तू जानता है? उसने उत्तर दिया—भगवन्! मैं नहीं जानता।

अथानु किमनुशिष्टोऽवोचथाः। यो हीमानि न विद्यात् कथं सोऽनुशिष्टो ब्रुवीतेति। स हायस्तः पितुरर्धमेयाय। तं होवाचाऽननुशिष्य वाव किल मा भगवानब्रवीदनु त्वाऽशिषमिति ॥४॥

तदनन्तर फिर राजा ने कहा—अपने आप को आप कैसे सुशिक्षित कहते हैं। जो मनुष्य इन प्रश्नों को नहीं जानता, वह कैसे अपने आपको सुशिक्षित ऐसा कहे। वह श्वेतकेतु प्रवाहण राजा से परास्त होकर अपने पिता के स्थान पर चला आया और पिता को बोला—बिना शिक्षा दिये ही मुझ को भगवान् ने कहा कि तुझ को सिखा दिया।

पञ्च मा राजन्यबन्धुः प्रश्नानप्राक्षीत्तेषां नैकं चनाशकं विवक्तुमिति। स होवाच-यथा मा त्वं तदैतानवदो यथाहमेषां नैकं चन वेद। यद्यहमिमानवेदिष्यं कथं ते नावक्ष्यमिति ॥५॥

राजन्यबन्धु–क्षत्रिय भाई ने मुझ से पांच प्रश्न पूछे परन्तु उन में से एक को भी मैं कहने में नहीं समर्थ हो सका। वह आरुणि बोला—जैसे मुझ को तूने वे ये प्रश्न कहे मैं भी उन में से एक को—एक के उत्तर को भी नहीं जानता। यदि मैं इनको जानता होता तो कैसे तुझे न उत्तर कह देता।

स ह गौतमो राज्ञोऽर्धमेयाय। तस्मै ह प्राप्तायार्हां चकार। स ह प्रातः सभाग उदेयाय। तं होवाच—मानुषस्य भगवन् गौतम! वित्तस्य वरं वृणीथा इति। स होवाच—तवैव राजन्! मानुषं वित्तम्। यामेव कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तामेव मे ब्रूहीति ॥६॥

वह गौतम—आरुणि पुत्र से प्रश्न सुन कर उनका ज्ञान प्राप्त करने के लिए उस राजा के स्थान पर चला आया। राजा ने उस आये हुए की पूजा की। वह गौतम प्रातः-काल सभागत राजा के पास आया। उसको राजा ने कहा—हे पूज्य गौतम! मनुष्य-सम्बन्धी धन के वर को तू मांग। गौतम ने कहा—राजन्! तेरा ही मानुष धन हो। वह मुझे नहीं चाहिए। परन्तु तूने जो ही वाणी मेरे पुत्र कुमार के समीप कही थी वह ही मुझे तू कह।

स ह कृच्छ्री बभूव। तं ह चिरं वसेत्याज्ञापयांचकार। तं होवाच—यथा मा त्वं गौतमावदो यथेयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति। तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति तस्मै होवाच ॥७॥

गौतम की प्रार्थना सुन कर राजा दुःखी हो गया। परन्तु सोच विचार कर उसने उसको आज्ञा दी कि तू चिर काल तक व्रत धारण करके यहां रह। नियत समय पर राजा ने उसे कहा—जैसे हे गौतम! मुझको तूने कहा, मैं वह विद्या तुझको देने को समुद्यत हूं। परन्तु यह विद्या पूर्वकाल में, तुझ से पहले ब्राह्मणों को नहीं प्राप्त होती थी। उससे सारे देशों में क्षत्रियों का ही इस पर अधिकार था; क्षत्रिय ही क्षत्रियों को सिखाते थे। यह महिमा बता कर उसको राजा बोला।

चौथा खण्ड

असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः ॥१॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति, तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति ॥२॥

हे गौतम! वह प्रकाशमय लोक ही अग्नि है, होम करने की आग है। उस अग्नि की सूर्य ही समिधा है। उसका धूंआं सूर्य की किरणें हैं। दिन उसकी ज्वाला है, चन्द्रमा उसका अंगारा है, उसकी चिनगारियां नक्षत्र हैं। यह एक महान् हवन है जो

ईश्वरीय नियम में निरन्तर हो रहा है। देव लोग उस इस अग्नि में श्रद्धा को चरु बना कर होम करते हैं। यह यज्ञ भक्त की भावना का है। उस श्रद्धा की आहुति से मनुष्य के मन में सोम राजा उत्पन्न होता है भगवान् के प्रिय स्वरूप का दर्शन होता है। द्युलोक का सम्पूर्ण व्यापार परमेश्वर के नियम में एक महान् हवन है। यह यज्ञ श्रद्धा से ही समझ में आता है। यह हवन निरन्तर परार्थ होता रहता है। यह कर्ममय यज्ञ है।

पांचवां खण्ड

पर्जन्यो वाव गौतमाग्निस्तस्य वायुरेव समिदभ्रं धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादुनयो विस्फुलिङ्गाः ॥१॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमं राजानं जुह्वति। तस्या आहुतेर्वर्षं संभवति ॥२॥

हे गौतम! मेघ ही अग्नि है। उसकी वायु ही समिधा है। उसका धूंआं घना मेघ है, बिजली उसकी शिखा है, गिरने वाली बिजली उसका अंगारा है, गर्जनाएं उसकी चिनगारियां हैं। उस इस अग्नि में देवजन सोम राजा को आह्वान करते हैं, वर्षा के लिए भगवान् के आगे प्रार्थना करते हैं। उस प्रार्थना की आहुति से वर्षा होती है। भावनावान् भक्त भगवान् के विधान में वर्षा को भी हवन ही होता समझता है।

छठा खण्ड

पृथिवी वाव गौतमाग्निस्तस्याः संवत्सर एव समिदाकाशो धूमो रात्रिरर्चि-दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वर्षं जुह्वति। तस्या आहुतेरन्नं संभवति ॥२॥

हे गौतम! पृथिवी ही अग्नि है, परोपकार रूप यज्ञ का कुण्ड है। वर्ष — काल ही उसकी समिधा है। आकाश उसका धूंआं है, रात्रि उसकी ज्वाला है. दिशाएं उसके अंगारे हैं और विदिशाएं उसकी चिनगारियां हैं। उस इस अग्नि में देवजन वर्षा को आह्वान करते हैं, उस आहुति से अन्न होता है। परोपकार कर्म से अन्न उत्पन्न होता है। पुण्योपार्जन का स्थान होने से भूमि यज्ञ की अग्नि है। रवि, मेघ, और भूमि होम ही कर रहे हैं। कर्मयोगी क्षत्रिय, जटिल कर्मकाण्डों में न उलझ कर संसार को यज्ञ-रूप ही मानते थे।

सातवां खण्ड

पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव समित्प्राणो धूमो जिह्वार्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः ॥१॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति। तस्या आहुते रेतः संभवति ॥२॥

हे गौतम! पुरुष ही अग्नि है, यज्ञस्थान है। उसकी वाणी ही समिधा है, परोपकार रूप अग्नि प्रचण्ड करने का ईन्धन है। प्राण उसका धूंआं है, जिह्वा उसकी ज्वाला है, नेत्र उसके अंगारे हैं और श्रोत्रें उसकी चिनगारियां हैं। उस इस अग्नि में देवजन अन्न को चरु बना कर हवन करते हैं, उस आहुति से रेतस् उत्पन्न होता है। पुरुषजीवन भी एक यज्ञ है, धर्म का स्थान है। नरजीवन से सृष्टि का विस्तार होता है। इसलिए सद्गृही-जीवन बिताना एक उत्तम यज्ञ है।

आठवां खण्ड

योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद् यदुपमन्त्रयते स धूमो योनि-रर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः ॥१॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति। तस्या आहुतेर्गर्भः संभवति ॥२॥

हे गौतम! स्त्री ही गृहस्थधर्म में अग्नि है। उसके संयोग से संसार का यज्ञ-कर्म होता है। पत्नियों में पति लोग सन्तान का कारण स्थापन करते हैं। उसी से गर्भ होता है। सन्तानदान से स्त्री का जीवन भी यज्ञस्वरूप ही है। सत्संयोग यजनरूप है, सन्तान उत्पन्न करना भी यजन है।

याजकों की जैसे पांच अग्नियां कही हैं ऐसे ही कर्मयोगपरायण क्षत्रिय लोग यह पञ्चाग्नि-विद्या मानते थे। वे विश्वास करते थे कि सूर्य, मेघ और पृथिवी यजन की अग्नियां हैं। विधाता के विधान में इन द्वारा एक महान् यज्ञ हो रहा है। यह दान बलिदान का ब्रह्मचक्र चल रहा है। इसी चक्र का अनुवर्तन, पुरुष और स्त्री रूप दो अग्नियों द्वारा होता रहता है। इसलिए सद्गृहस्थ होना भी अग्निपरिचर्या, अग्निहोत्र तथा यज्ञकर्म ही है।

नवां खण्ड

इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति। स उल्बावृतो गर्भो दश वा नव वा मासानन्तः शयित्वा यावद्वाथ जायते ॥१॥

ऐसे पांचवीं आहुति में जल—रेतस् पुरुषवाची होता है। यह एक प्रश्न का उत्तर हुआ। वह उल्ब में लिपटा हुआ गर्भ दस अथवा नव मास तक माता के उदर में सो कर जब समय होता है तब उत्पन्न हो जाता है।

स जातो यावदायुषं जीवति। तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्ति। यत एवेतो यतः संभूतो भवति ॥२॥

वह जन्मा हुआ जितनी आयु नियत हो तब तक जीता है। अन्त में जब वह मर जाता है तो उस मरे हुए को यहां से अग्नियां—ईश्वरीय शक्तियां ही नियत

निर्दिष्ट स्थान को ले जाती हैं। जिसकी प्रेरणा से ही जीव आया था, जिस शक्ति से वह उत्पन्न होता है, उसी से निर्दिष्ट स्थान में कर्मानुसार जाता है।

दसवां खण्ड

तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासांस्तान् ॥१॥ मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतम्। तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति ॥२॥

वे जो इस प्रकार भगवान् के नियम को जानते हैं और जो ये वन में श्रद्धा तप में रत रहते हैं वे भक्त ज्योति में जाते हैं। ज्योति से दिन में, दिन से शुक्लपक्ष में, शुक्लपक्ष से जो छः मास सूर्य उत्तर को जाता है उनको, मासों से वर्ष को, वर्ष से आदित्य को, आदित्य से चन्द्र को और उसके उपरान्त विद्युत् सदृश धाम को जाते है। वह तेजोमय पुरुष अमानव है मनुष्य नहीं है, वह परम प्रकाशमय पुरुष इन उपासकों को ब्रह्म में ले जाता है, अपना स्वरूप प्रदर्शन करता है। यह देवयान मार्ग है।

अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति। धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान् षड् दक्षिणैति मासांस्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति ॥३॥

और जो ये उपासक लोग ग्राम में रह कर सकाम कर्म करते हैं, वैदिकयज्ञ और कूआ, तालाब आदि बनवाते तथा दान करते हैं वे मर कर धुएं के समान सूक्ष्मशरीर में रहते हैं। उससे रात्रि को, रात्रि से कृष्णपक्ष को, कृष्णपक्ष से जो छः मास सूर्य दक्षिण को जाता है उन मासों को प्राप्त होते हैं। परन्तु सकामकर्म करने वाले ये उपासक वर्ष को नहीं प्राप्त होते। सकाम कर्म से सदा प्रकाशमान रहने वाले लोक को जीव नहीं जाते।

मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा। तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति ॥४॥

मासों से पितृलोक को, पितृलोक से आकाश को, आकाश से चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं। यह ही सोम राजा है; यहां ही कर्मफल देनेवाला ईश्वर प्रियस्वरूप से राजता है। वह देवों का अन्न, भोगविधान करता है। उसी कर्मफल को देव भोगते हैं।

तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते। यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुम्। वायुर्भूत्वा धूमो भवति, धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति ॥५॥

उस चन्द्रलोक में जितने वर्ष की नियति हो तब तक रह कर फिर इसी ही

मार्ग को पीछे लौट आते हैं। जैसे इस आकाश को आकाश से वायु को वायु होकर धूम्र होता है। धूम्र होकर घना बादल बनता है।

अभ्रं भूत्वा मेघो भवति, मेघो भूत्वा प्रवर्षति। त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्तेऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं; यो यो ह्यन्नमत्ति, यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति ॥६॥

घना बादल बन कर मेघ हो जाता है; मेघ हो कर बरसता है। अनन्तर यहां वे चांवलादि धान्य, ओषधियां वनस्पतियां, तिल उड़द आदि उत्पन्न होते हैं। निश्चय से इस से निकलना कठिन है, क्योंकि अन्न में जीवन है। जो जो ही मनुष्य अन्न को खाता है और जो रेतस् सींचता है उस से दुबारा ही गर्भ हो जाता है, गर्भ ही चन्द्र से लौटते प्राणी के जन्म का स्थान है। और वह गर्भ अन्न से उत्पन्न हुए रेतस् से बनता है।

सकामकर्मियों का पुनरागमन वायुद्वारा होता है। देव परोक्षप्रिय होते हैं, इसी औपनिषत्सिद्धान्तानुसार यहां यही भाव निहित है। जब गर्भ बन जाता है तो वायुद्वारा ही जीव शरीर में सांस के साथ प्रवेश करता है।

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्, ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा। अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन्, श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा ॥७॥

वे जो इस लोक में शुभ आचरण वाले हैं, तत्काल ही उस शुभकर्म के प्रभाव से वे शुभ जन्म को पाते हैं; जैसे ब्राह्मणजन्म को, क्षत्रियजन्म को तथा वैश्यजन्म को। यहां वैश्य में ही चौथा वर्ण परिगणित किया गया है। और जो इस लोक में निन्दित आचरण वाले हैं, शीघ्र ही वे नीचे जन्म को पाते हैं; जैसे कुत्ते के जन्म को, सूकर के जन्म को तथा चाण्डाल—महापापी के जन्म को।

अथैतयोः पथोर्न कतरेण चन, तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति। जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानम्। तेनासौ लोको न संपूर्यते, तस्माज्जुगुप्सेत। तदेष श्लोकः ॥८॥

और जो जीव इन दोनों मार्गों में से किसी भी मार्ग से नहीं जाते, वे ये क्षुद्र बराबर मरने जन्मने वाले जीव हैं। यह तीसरा स्थान है जो जायस्व—जन्मो और म्रियस्व—मरो इस नाम से प्रसिद्ध है। इस से यह लोक नहीं भरने पाता। इस से इसे निन्दित जाने। इस पर यह श्लोक है।

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पमावसन् ।

ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरंस्तैरिति ॥९॥

सोने का चोर, मदिरापान करने वाला, गुरु की शय्या पर रहने वाला—गुरुपत्नी-भोगी, ब्राह्मण को मारने वाला ये चार और पांचवां उन चारों के साथ रहने वाला ये पांच जायस्व म्रियस्व योनियों में गिरते हैं ।

अथ ह य एतानेवं पञ्चाग्नीन् वेद, न सह तैरप्याचरन्पाप्मना लिप्यते; शुद्धः पूतः पुण्यलोको भवति, य एवं वेद य एवं वेद ॥१०॥

और जो उपासक इन पांच अग्नियों को ऐसे जानता है; पूर्वोक्त विधि से समझता है । वह ज्ञानी उपासक उन महापापियों के साथ रहता हुआ भी पाप से नहीं लिप्त होता । जो उपासक इस मर्म को ऐसे जानता है वह शुद्ध पवित्र होकर उत्तम-लोकवान् हो जाता है । जो विश्व को यज्ञरूप जानता और पतिपत्नी-व्रत पालता है वह स्वर्गसुख लाभ करता है ।

ग्यारहवां खण्ड

प्राचीनशाल औपमन्यवः सत्ययज्ञः पौलुषिरिन्द्रद्युम्नो भाल्लवेयो जनः शार्कराक्ष्यो बुडिल आश्वतराश्विस्ते हैते महाशाला महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमांसांचक्रुः को नु आत्मा किं ब्रह्मेति ॥१॥

उपमन्यु का पुत्र प्राचीनशाल, पुलुषि का पुत्र सत्ययज्ञ, भाल्लवी का पुत्र इन्द्रद्युम्न शर्कराक्ष का पुत्र जन और अश्वतराश्व का पुत्र बुडिल, वे ये बड़ी शालाओं वाले और महाज्ञानी मिल कर विचारने लगे । हमारा आत्मा कौन है ? ब्रह्म कैसा वस्तु है ?

ते ह संपादयांचक्रुरुद्दालको वै भगवन्तोऽयमारुणिः संप्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति । तं हन्ताभ्यागच्छामेति । तं हाभ्याजग्मुः ॥२॥

उन्होंने निश्चय किया कि यह प्रसिद्ध अरुणवंशीय उद्दालक ऋषि ही इस समय इस विश्व में विद्यमान आत्मा को जानता है । अब हम भगवन्तो ! उसके पास चलें । वे उसके पास गये ।

स ह संपादयांचकार प्रक्ष्यन्ति मामिमे महाशाला महाश्रोत्रियास्तेभ्यो न सर्वमिव प्रतिपत्स्ये । हन्ताहमन्यमभ्यनुशासानीति ॥३॥

उन समागत विद्वानों को देख कर उसने निश्चय किया कि ये महाशाला वाले, महाज्ञानी मुझ से प्रश्न पूछेंगे । उनके उत्तरों के लिए मैं सर्व प्रकार से नहीं समर्थ होऊँगा । इस कारण मैं उनको अन्य उत्तरदाता बताऊं ।

तान् होवाच—अश्वपतिर्वै भगवन्तोऽयं कैकेयः संप्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति । तं हन्ताभ्यागच्छामेति । तं हाभ्याजग्मुः ॥४॥

उद्दालक ने उनको कहा—भगवन्तो! यह कैकेय का पुत्र अश्वपति ही इस समय इस वैश्वानर आत्मा को जानता है। अब उसके पास हम चलें। वे उसके पास गये।

तेभ्यो ह प्राप्तेभ्यः पृथगर्हाणि कारयांचकार । स ह प्रातः संजिहान उवाच—न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः । यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि । यावदेकैकस्मा ऋत्विजे धनं दास्यामि तावद्भगवद्भ्यो दास्यामि; वसन्तु मे भगवन्त इति ॥५॥

उस अश्वपति राजा ने उन आये हुए विद्वानों की पृथक् पृथक् पूजा करवाई। वह प्रातःकाल उठ कर उनके पास गया और बोला—मेरे देश में न चोर है, न कोई कृपण है, न कोई मदिरा पीने वाला है, न कोई अग्निहोत्ररहित है, न कोई अपढ़ है, न कोई व्यभिचारी है और जब कोई भी पुरुष व्यभिचारी नहीं तो स्त्री व्यभिचारिणी कहां से हो। ऐसे पुण्यदेश में, हे पूज्यवरो! मैं यज्ञ करने वाला हूं। आप उसमें ऋत्विज बनिए। जितना एक एक ऋत्विज् को धन मैं दूंगा उतना ही पूज्यवरों को दूंगा। बसिए, आप मेरे स्थान में रहिए।

ते होचुर्येन हैवार्थेन पुरुषश्चरेत्तं हैव वदेत् आत्मानमेवेमं वैश्वानरं संप्रत्यध्येषि, तमेव नो ब्रूहीति ॥६॥

वे उसे बोले—हे राजन्! जिस ही प्रयोजन से पुरुष किसी के पास जाय वह ही कहे तो अच्छा है। हमारा प्रयोजन दक्षिणा लेना नहीं है। इस विश्व में विद्यमान आत्मा को ही आप इस समय जानते हैं। वह ज्ञान ही हमें बताइए।

तान् होवाच—प्रातर्वः प्रतिवक्तास्मीति । ते ह समित्पाणयः पूर्वाह्णे प्रतिचक्रमिरे । तान् हानुपनीयैवैतदुवाच ॥७॥

वह उनको बोला—कल प्रातःकाल आपको मैं उपदेश दूंगा। वे समिधा हाथ में लिये अगले दिन सवेरे उसके पास गये। उसने उनको बिना उपनयन किये ही यह कहा।

बारहवां खण्ड

औपमन्यव! कं त्वमात्मानमुपास्स इति? दिवमेव भगवो राजन्निति होवाच

एष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते ॥१॥

हे औपमन्यव ! तू किस आत्मा को आराधता है, तेरी आत्मा के विषय में कैसी धारणा है ? उसने उत्तर दिया—हे भगवन् ! राजन् ! प्रकाशमय को ही मैं उपासता हूं। राजा ने कहा—निश्चय यह शुभ्रप्रकाशमय आत्मा विश्व में विद्यमान है जिस आत्मा को तूं आराधता है। इसी कारण तेरे कुल में रस, अच्छे रस और उत्तम रस दीखते हैं। तेरे घर में भगवान् के आशीर्वाद से उत्तमोत्तम भोग्य पदार्थ हैं।

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियम्। अत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते। मूर्धा त्वेष आत्मन इति होवाच। मूर्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥२॥

तू उस स्वादु अन्न को परमेश्वर के आशीर्वाद से खाता है, प्रियवर्ग को देखता है। जो उपासक इस वैश्वानर आत्मा को ऐसे आराधना है वह भी, उसके आशीर्वाद से स्वादु अन्न को खाता है और प्रियवर्ग को देखता है। उसके कुल में ब्रह्मतेज होता है। अश्वपति ने कहा—परन्तु यह आत्मा का सिर है; ऊंचा एकांशीभाव है। तेरा सिर गिर जाता यदि तू आगे सर्वस्वरूप जानने के लिए मेरे पास न आता।

तेरहवां खण्ड

अथ होवाच सत्ययज्ञं पौलुषिम्। प्राचीनयोग्य ! कं त्वमात्मानमुपास्स इति ? आदित्यमेव भगवो राजन्निति होवाच। एष वै विश्वरूप आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से। तस्मात्तव बहु विश्वरूपं कुले दृश्यते ॥१॥

फिर वह सत्ययज्ञ पौलुषि को बोला—हे प्राचीनयोग्य ! तू किस आत्मा को आराधता है ? उसने कहा—हे भगवन् राजन् ! आदित्यवर्ण को ही मैं आराधता हूं। राजा ने कहा—जिस आत्मा को तूं उपासता है वह यह ही विश्वरूप—विश्व का प्रकाशक आत्मा वैश्वानर है। इस कारण उसी के आशीर्वाद से तेरे कुल में बहुत नानारूप से भोग्य पदार्थ दीखते हैं। सम्पूर्ण विश्व, प्राणी तथा उत्पादक शक्तियां जिसमें हैं वह वैश्वानर है।

प्रवृत्तोऽश्वतरीरथो दासीनिष्कोऽत्स्यन्नं पश्यसि प्रियम्। अत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते। चक्षुष्ट्वेतदात्मन इति होवाच। अन्धोऽभविष्यो यन्मां नागमिष्य इति ॥२॥

उसी के अनुग्रह से तेरे पास अश्वतरीयुक्त रथ है, दासीसहित हार विद्यमान

है और तू अन्न को खाता है प्रियजनों को देखता है। जो इस ही वैश्वानर आत्मा को आराधता है वह भी अन्न को खाता है, प्रियजनों को देखता है और उसके कुल में ब्रह्मतेज होता है। अश्वपति ने कहा—परन्तु यह आत्मा का नेत्र है; एकांश है परन्तु ज्ञानमय भाव है। तू अन्धा हो जाता जो प्रभु का अखण्डस्वरूप जानने के लिए मेरे पास न आता।

चौदहवां खण्ड

अथ होवाचेन्द्रद्युम्नं भाल्लवेयम्। वैयाघ्रपद्य! कं त्वमात्मानमुपास्स इति। वायुमेव भगवो राजन्निति होवाच। एष वै पृथग्वर्त्मात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से। तस्मात्त्वां पृथग्बलय आयन्ति पृथग्रथश्रेणयोऽनुयन्ति ॥१॥

तत्पश्चात् उसने इन्द्रद्युम्न भाल्लवेय को कहा—वैयाघ्रपद्य! तू किस आत्मा को उपासता है? वह बोला—हे भगवन् राजन्! वायु को ही मैं आराधता हूं; प्राणरूप परमेश्वर को मैं उपासता हूं। राजा ने कहा—जिस आत्मा को तू आराधता है वह यह ही पृथग्वर्त्मा—सर्वत्र विद्यमान वैश्वानर आत्मा है। उसी के अनुग्रह से तेरे पास नाना भेंटें आती हैं और नानारथश्रेणियां तेरे पीछे चलती हैं।

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियम्। अत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते। प्राणस्त्वेष आत्मन इति होवाच। प्राणस्त उदक्रमिष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥२॥

उसी के अनुग्रह से तू अन्न को खाता है और प्रियजनों को देखता है। जो इस प्राणस्वरूप, वैश्वानर आत्मा को ऐसे उपासता है वह भी अन्न को खाता है और प्रियजनों को देखता है। उसके कुल में ब्रह्मतेज होता है। अश्वपति ने कहा—यह आत्मा का प्राण है। तेरा प्राण देह से बाहर निकल जाता यदि भगवान् का अखण्ड-स्वरूप जानने के लिए तू मेरे पास न आता।

पन्द्रहवां खण्ड

अथ होवाच जनम्। शार्कराक्ष्य! कं त्वमात्मानमुपास्स इति? आकाशमेव भगवो राजन्निति होवाच। एष वै बहुल आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से। तस्मात्त्वं बहुलोऽसि प्रजया च धनेन च ॥१॥ अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियम्। अत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानर-मुपास्ते। संदेहस्त्वेष आत्मन इति होवाच। संदेहस्ते व्यशीर्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥२॥

फिर राजा ने जन से पूछा तो उसने बताया मैं आकाश—निराकार ईश्वर को उपासता हूँ। तब राजा ने कहा—यह बहुल—अनन्तसंज्ञक वैश्वानर आत्मा है। उसका अनुग्रह है तू जो प्रजा और धन से विस्तृत है। परन्तु यह आत्मा का मध्यभाग है, धड़ है। तेरा धड़ छिन्न-छिन्न हो जाता यदि तू अखण्ड भगवान् को जानने के लिए मेरे पास न आता।

सोलहवां खण्ड

अथ होवाच—बुडिलमाश्वतराश्विम्। वैयाघ्रपद्य! कं त्वमात्मानमुपास्स इति? अप एव भगवो राजन्निति होवाच। एष वै रयिरात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से। तस्मात्त्वं रयिमान्पुष्टिमानसि[१०] ॥१॥ अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियम्। अत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते। बस्तिस्त्वेष आत्मन इति होवाच। बस्तिस्ते[१४] व्यभेत्स्यद्यन्मां नागामिष्य इति ॥२॥

फिर उसने बुडिल आश्वतराश्वि को कहा—हे वैयाघ्रपद्य! तू किस आत्मा को आराधता है? उसने कहा—अप को ही, जल में रहने वाले को। राजा ने कहा—यह रयि—धनसंज्ञक वैश्वानर आत्मा है। उसकी कृपा से तू रयिमान और पुष्टिमान् है[१०]। परन्तु यह आत्मा की बस्ति—उदरस्थ जलाशय है; ब्रह्म का सर्वस्वरूप नहीं है। तेरी[१४] बस्ति भेदन हो जाती यदि तू सर्वस्वरूप जानने के लिए मेरे पास न आता।

सत्तरहवां खण्ड

अथ होवाचोद्दालकमारुणिम्। गौतम! कं त्वमात्मानमुपास्स इति? पृथिवीमेव भगवो राजन्निति होवाच। एष वै प्रतिष्ठात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से। तस्मात्वं प्रतिष्ठितोऽसि प्रजया च पशुभिश्च ॥१॥ अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियम्। अत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते! पादौ त्वेतावात्मन इति होवाच। पादौ ते[१५] व्यम्लास्येतां यन्मां नागामिष्य इति ॥२॥

तदनन्तर राजा ने उद्दालक आरुणि को कहा—हे गौतम! तू किस आत्मा को उपासता है? उसने कहा—पृथिवी को ही[६], पृथिवी की अधिष्ठात्री शक्ति को ही। राजा ने कहा—यह प्रतिष्ठा—स्थितिसंज्ञक आत्मा है। उसके प्रसाद से ही तू प्रजा से पशुओं से प्रतिष्ठित है[११] सम्मानित है। परन्तु पृथिवी, आत्मा के दो पांव हैं, इससे आत्मा की महिमा जानी जाती है। तेरे[१५] दोनों पांव शिथिल हो जाते, यदि तू सर्वस्वरूप को जानने के लिए मेरे पास न आता।

अठारहवां खण्ड

तान् होवाचैते वै खलु यूयं पृथगिवेममात्मानं वैश्वानरं विद्वांसोऽन्नमत्थ । यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति ॥१॥

उन उपासकों को राजा ने कहा निश्चय से ये आप इस वैश्वानर—सर्वत्र विद्यमान आत्मा को भिन्न अंशों की भांति जानते हुए भी अन्न को खाते हैं; सुख से जीते हैं, सुख भोगते हैं। परन्तु जो उपासक इस सर्वांगमय, सर्वत्र विद्यमान, वैश्वानर आत्मा को ऐसे आराधता है वह सारे लोकों में, सारे प्राणियों में, सब आत्माओं में, अन्न को खाता है सर्वत्र सुख भोगता है। एक अखण्ड भगवान् का उपासक मुक्त होकर सर्वत्र आनन्द में रहता है। सकल विश्व में एक अखण्ड आत्मा का ध्यान करना, यह यहां अभिप्रेत है।

तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः ॥२॥

उस ही इस अखण्ड, सर्वत्र विद्यमान आत्मा का शोभनप्रकाश ही सिर के समान है। द्युलोक उसका मूर्धा है। विश्वरूप—सर्वज्ञान उसका नेत्र है, ब्रह्माण्ड की वायु—जीवन शक्ति ही उसका प्राण है अनन्तभाव ही उसका धड़ है, धन-सम्पत्ति ही उसकी बस्ति है, पृथिवी ही उसके पांव हैं, वेदि ही उसकी छाती है, यज्ञकुश उसके लोम हैं, गार्हपत्य अग्नि उसका हृदय है, दक्षिणाग्नि उसका मन है और आहवनीय अग्नि उसका मुख है। वह वैश्वानर आत्मा, एक अखण्ड है, सर्वत्र विद्यमान है, प्रकाशस्वरूप है, सर्वज्ञ है, अनन्त है, धनों का स्वामी है और निराकार है; तथा यज्ञस्वरूप है। यह अखण्डोपासना है। यह विराट् की उपासना भी कही जाती है।

उन्नीसवां खण्ड

तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयं स यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात्प्राणाय स्वाहेति प्राणस्तृप्यति ॥१॥ प्राणे तृप्यति चक्षुस्तृप्यति, चक्षुषि तृप्यत्यादित्यस्तृप्यत्यादित्ये तृप्यति द्यौस्तृप्यति, दिवि तृप्यन्त्यां यत्किंच द्यौश्चादित्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति, तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन, तेजसा, ब्रह्मवर्चसेनेति ॥२॥

वह जो भोजन प्रथम प्राप्त करे, उपासक को भोजन मिले, वह ही होम की वस्तु है। वह जिस पहली आहुति को हवन करे, उसको "प्राणाय स्वाहा" ऐसा कह कर हवन करे। उस से प्राण तृप्त होता है। प्राण के तृप्त होते नेत्र तृप्त होता है, आंख के तृप्त होते सूर्य तृप्त होता है। सूर्य के तृप्त होते हुए प्रकाशमय लोक तृप्त होता है। प्रकाशमय लोक के तृप्त होते हुए जो कुछ द्यौः और सूर्य के आश्रित है वह तृप्त होता है। उसकी तृप्ति पर उपासक प्रजा से, पशुओं से, भोग्य अन्न से, तेज से और ब्रह्मप्रकाश से तृप्त होता है वैश्वानर के उपासक का भोजन अमृतस्वरूप हो जाता है। उसका खान-पान अग्निहोत्रसमान ही होता है।

बीसवां खण्ड

अथ यां द्वितीयां जुहुयात्तां जुहुयाद्—व्यानाय स्वाहेति व्यानस्तृप्यति ॥१॥

व्याने तृप्यति श्रोत्रं तृप्यति, श्रोत्रे तृप्यति चन्द्रमास्तृप्यति, चन्द्रमसि तृप्यति दिशस्तृप्यन्ति, दिक्षु तृप्यन्तीषु यत्किंच दिशश्च चन्द्रमाश्चाधितिष्ठन्ति तत्तृप्यति, तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया, पशुभिरन्नाद्येन, तेजसा, ब्रह्मवर्चसेनेति ॥२॥

फिर जिस दूसरी आहुति को होम कर, उस समय उसको "व्यानाय स्वाहा" ऐसा कह कर हवन करे। इस से व्यानशक्ति श्रवणशक्ति तृप्त होती है। व्यान के तृप्त होने पर श्रोत्र तृप्त होता है। श्रोत्र के तृप्त होने पर चन्द्रमा तृप्त होता है। चन्द्रमा के तृप्त होने पर दिशाएं तृप्त होती हैं। उनके तृप्त होने पर जो कुछ दिशाओं के और चन्द्रमा के आश्रित हैं वह तृप्त होता है। उसकी तृप्ति पर यजमान सन्तान से, पशुओं से, खाने योग्य अन्न से, तेज से तथा ब्रह्मतेज से तृप्त हो जाता है।

इक्कीसवां खण्ड

अथ यां तृतीयां जुहुयात्तां जुहुयादपानाय स्वाहेत्यपानस्तृप्यति ॥१॥

अपाने तृप्यति, वाक् तृप्यति, वाचि तृप्यन्त्यामग्निस्तृप्यत्यग्नौ तृप्यति पृथिवी तृप्यति, पृथिव्यां तृप्यन्त्यां यत्किंच पृथिवी चाग्निश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति, तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया, पशुभिरन्नाद्येन, तेजसा, ब्रह्मवर्चसेनेति ॥२॥

तदनन्तर जिस तीसरी आहुति को हवन करे उसको "अपानाय स्वाहा" कह कर हवन करे। इस से अपान—बोलने की शक्ति तृप्त होती है। उसकी तृप्ति पर वाणी तृप्त होती है। उसकी तृप्ति पर अग्नि तृप्त होती है। अग्नि की तृप्ति पर पृथिवी तृप्त होती है। उसकी तृप्ति पर जो कुछ पृथिवी और अग्नि के आश्रित है वह तृप्त होता है।

बाईसवां खण्ड

अथ यां चतुर्थीं जुहुयात्तां जुहुयात्समानाय स्वाहेति, समानस्तृप्यति ॥१॥ समाने तृप्यति मनस्तृप्यति, मनसि तृप्यति पर्जन्यस्तृप्यति, पर्जन्ये तृप्यति विद्युँत्तृप्यति, विद्युति तृप्यन्त्यां यत्किंच विद्युच्च पर्जन्यश्चाधितिष्ठतस्तत् तृप्यति । तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया, पशुभिरन्नाद्येन, तेजसा, ब्रह्मवर्चसेनेति ॥२॥

फिर जिस चौथी आहुति को हवन करे, "समानाय स्वाहा" कह कर हवन करे। इस से समान—मन की शक्ति तृप्त—शुद्ध हो जाती है। उसकी तृप्ति पर मन शुद्ध होता है, फिर मेघ, तदनन्तर बिजली तृप्त होती है। इस तृप्ति पर जो कुछ मेघ और बिजली के आश्रित है वह तृप्त होता है। वैश्वानरोपासक इस रीति से, व्यष्टि समष्टि दोनों प्राणों में होम करता है।

तेईसवां खण्ड

अथ यां पञ्चमीं जुहुयात्तां जुहुयादुदानाय स्वाहेत्युदानस्तृप्यति ॥१॥ उदाने तृप्यति त्वक् तृप्यति, त्वचि तृप्यन्त्यां वायुस्तृप्यति, वायौ तृप्यत्याकाशस्तृप्यति। आकाशे तृप्यति यत्किंच वायुश्चाकाशश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति । तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया, पशुभिरन्नाद्येन, तेजसा, ब्रह्मवर्चसेनेति ॥२॥

फिर जिस पांचवीं आहुति को हवन करे, "उदानाय स्वाहा" कह कर हवन करे। उससे उदान—शरीर की शक्ति पुष्ट होती है। उससे त्वचा पुष्ट होती है, फिर वायु, फिर आकाश तृप्त होता है। भगवान् के विराट् स्वरूप को लक्ष्य करके होम करे।

चौबीसवां खण्ड

स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति, यथाङ्गारानपोह्य भस्मनि जुहुयात्तादृक् तत्स्यात् ॥१॥ अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति, तस्य सर्वेषु लोकेषु, सर्वेषु भूतेषु, सर्वेष्वात्मसु हुतं भवति ॥२॥

वह जो इस वैश्वानर उपासना को न जानता हुआ अग्निहोत्र करता है, उसका ऐसा कर्म, जैसे कोई अंगारों को दूर हटाकर भस्म में हवन करे, उस जैसा वह होता है। और जो उपासक इस वैश्वानर उपासना को ऐसे जानता हुआ अग्निहोत्र करता है, उसका सारे लोकों में, सारे प्राणियों में और सब आत्माओं में हवन हो जाता है, उसको कुछ भी करना शेष नहीं रहता। ज्ञानी का सर्वत्र ही हवन है।

तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति ॥३॥ तस्मादु हैवंविद्यद्यपि चण्डालायोच्छिष्टं प्रयच्छेदात्मनि हैवास्य तद्वैश्वानरे हुतं स्यादिति । तदेष श्लोकः ॥४॥

सो जैसे मुञ्ज की रुई आग में पड़ी हुई तुरन्त भस्म हो जाती है इसी प्रकार इसके, जो इस वैश्वानर उपासना को ऐसे जानता हुआ अग्निहोत्र करता है सारे पाप भस्म हो जाते हैं। इस लिए ऐसा जानने वाला यदि चण्डाल को भी उच्छिष्ट देवे तो इसका वह कर्म भी वैश्वानर आत्मा में ही हवन हो जाता है। ऐसे जन के सब कर्म अग्निहोत्र हो जाते हैं।

यथेह क्षुधिता बाला:, मातरं पर्युपासते ।
एवं सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासत इत्यग्निहोत्रमुपासत इति ॥५॥

इस लोक में जैसे भूखे बच्चे माता को आराधते हैं, माता से सुखादि की याचना करते हैं, ऐसे ही सारे प्राणी अग्निहोत्ररूप वैश्वानर की उपासना करते हैं।

प्रपाठक छठा, पहला खण्ड

श्वेतकेतुर्हारुणेय आस । तं ह पितोवाच—श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्यम् । न वै सोम्यास्मत्कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति ॥१॥

यह ऐतिहासिक कथा है कि पुराकाल में एक आरुणि मुनि का पुत्र श्वेतकेतु था। उसको पिता ने कहा—हे श्वेतकेतु ! तू ब्रह्मचर्य धारण करके आचार्य के समीप रह, विद्या-अध्ययन कर। निश्चय से प्यारे! हमारा कुलीन पुत्र वेदों को न पढ़ कर ब्रह्मबन्धुवत् नहीं होता है। हमारे वंश के पुत्र सभी वेदज्ञ होते हैं।

स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विंशतिवर्षः सर्वान्वेदानधीत्य, महामना अनूचानमानी स्तब्ध एयाय । तं ह पितोवाच—श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः ॥२॥ येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति । कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति ॥३॥

वह श्वेतकेतु बारह वर्ष गुरु के पास रह कर, जब चौबीस वर्ष का हुआ तो, सारे वेद पढ़ कर, बड़ा मनस्वी, अपने आपको वेदज्ञ मानने वाला और हठी बन कर अपने पिता के पास आया। उसको उसके पिता ने कहा—हे प्यारे श्वेतकेतु ! तू जो

यह महामनस्वी, पंण्डिताभिमानी, हठी है क्या तूने अपने आचार्य से वह आदेश—रहस्यरूप उपदेश पूछा था? जिस आदेश के जानने से न सुना हुआ भेद सुना हुआ हो जाता है; न मनन किया हुआ विषय मनन किया हुआ हो जाता है और न जाना हुआ पदार्थ जाना हुआ हो जाता है। उसने कहा—भगवन्! वह उपदेश कैसे होता है?

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्।
वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥४॥

आरुणि ने कहा—हे प्यारे! जैसे एक मिट्टी के ढेले से, एक मिट्टी के पिण्ड के ज्ञान से, सारा मृत्तिकामय जगत् जाना हुआ हो जाता है, ऐसे ही उस एक भेद के उपदेश से सब कुछ जाना हुआ हो जाता है। मिट्टी के बने हुए पदार्थ नाना हैं, परन्तु वह विकार वचन का अवलम्बन है, कहने की वस्तु है और केवल नाम मात्र है। उसमें पदार्थ, मृत्तिका ही सत्य है।

यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात्।
वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम् ॥५॥

हे प्यारे! उस उपदेश से सर्वज्ञान ऐसे हो जाता है जैसे एक सुवर्णपिण्ड से सारा सुवर्णमय जाना हुआ हो जाता है। विकार—सुवर्ण की बनी हुई वस्तु तो वचनविस्तार है और केवल नाम की वस्तु है। वास्तव में सुवर्ण ही सत्य है।

यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातं स्यात्। वाचारम्भणं विकारो नामधेयं कृष्णायसमित्येव सत्यम्। एवं सोम्य स आदेशो भवतीति ॥६॥

हे प्यारे! जैसे एक नुहरने के ज्ञान से, एक लोहखण्ड के जान लेने से सारा लोहे का बना विकार जाना हुआ हो जाता है; विकार, वचनविस्तार और नाम की वस्तु है, वास्तव में सब विकारों में लोहा ही सत्य है, ऐसे ही प्यारे! वह आदेश है। उस आदेश से ही सर्वज्ञान हो जाता है।

न वै नूनं भगवन्तस्त एतदवेदिषुः। यद्ध्येतदवेदिष्यन् कथं मे नावक्ष्यन्निति। भगवांस्त्वेव मे तद् ब्रवीत्विति। तथा सोम्येति होवाच ॥७॥

पिता का कथन सुन कर श्वेतकेतु ने कहा—वे मेरे पढ़ाने वाले पूज्य आचार्य निश्चय ही यह आदेश नहीं जानते थे। वे यदि यह भेद जानते होते तो मुझे कैसे न कहते। अब भगवान् ही मुझे वह रहस्य बतायें। उसने कहा—प्यारे! तथास्तु।

दूसरा खण्ड

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसी-
देकमेवाद्वितीयम् । तस्मादसतः सज्जायते ॥२॥

हे सोम्य! यह ब्रह्म सृष्टि से पूर्व सत्—अस्तिरूप ही था। वह सद्रूप ब्रह्म एक ही अद्वितीय था। अपने स्वरूप में अखण्ड था और उसके सदृश कोई दूसरा नहीं था। उसमें कई एक जन कहते हैं अभाव ही—न होना ही यह पहले था। वह अभाष एक ही केवल था। उस अभाव से—नास्ति से भाव उत्पन्न हुआ।

कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच । कथमसतः सज्जायेतेति । सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥२॥

मुनि ने कहा—हे प्रिय पुत्र! निश्चय से कहां से ऐसा हो। कैसे अभाव से भाव उत्पन्न हो जाय। इस कारण सोम्य! यह ब्रह्म पहले सत्यस्वरूप ही एक असमान था।

ऊपर के दो प्रवाकों में परमेश्वर का सद्भाव कहा है, परमेश्वर के होने के साथ सारी वस्तुओं का, सारे भावों का सद्भाव आजाता है, क्योंकि किसी काल में भी अभाव से भाव नहीं होता। अवस्तु से वस्तु नहीं उत्पन्न होती।

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति । तत्तेजोऽसृजत । तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति । तदपोऽसृजत । तस्माद्यत्र क्व च शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते ॥३॥

उस परमेश्वर ने इच्छा की, मैं बहुत हो जाऊं, अपनी शक्ति का बहुत विस्तार करूं और जगत् को "प्रजनयेयम्" उत्पन्न करूं। उसने अपना प्रकाश किया, तेज रचा। उस अभिव्यक्त ईश्वरीय स्वरूप तेज ने इच्छा की कि मैं विस्तृत हो जाऊं और जगत् उत्पन्न करूं। तब उसने जल सृजा, जलीय जगत् बनाया। इसी कारण जहां कहीं मनुष्य सोचता है, परिश्रम करता है अथवा पसीना ले आता है तो उस अवस्था में तेज से ही जल उत्पन्न होते हैं।

आत्मा की इच्छा से ही पसीने के रूप में जल बह निकलता है। इसी प्रकार परमेश्वर की इच्छा से ही अव्यक्त कारण बाष्पमय हो गया। वह इच्छा व्याप्त हो गई।

ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति । ता अन्नमसृजन्त । तस्माद्यत्र क्व च वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवत्यद्भ्य एव तदध्यन्नाद्यं जायते ॥४॥

उन जलों ने इच्छा की कि हम बहुत हो जायें और जगत् को उत्पन्न करें। तब उन्होंने अन्न को रचा। इस कारण ही जहां कहीं मेघ बरसता है वहीं बहुत अन्न होता है। जलों से ही वह खाने योग्य अन्न उत्पन्न होता है। आदि इच्छा ही जल की इच्छा है।

तीसरा खण्ड

तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्यण्डजं, जीवजमुद्भिज्जमिति ॥१॥

निश्चय से उन जीवों के संयोग से इन प्राणियों के तीन ही बीज—जन्मस्थान हैं। एक अण्डे से होने वाला, दूसरा जीव से, मनुष्य और पशुओं से होने वाला, तीसरा उद्भिदों से होने वाला। जो भूमि को फोड़ कर निकलते हैं उनको उद्भिद् कहते हैं; वे वनस्पतियां है।

सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति ॥२॥

उस इस ईश्वर ने इच्छा की कि अहो! मैं इन तेज, जल और पृथिवी रूप तीन देवताओं में इस जीव आत्मा के साथ प्रवेश करके नाम-रूप को प्रकट करूं, नाना नाम-रूपों को विस्तृत करूँ।

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति। सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत् ॥३॥

उनमें से एक एक को तीन गुणा, तीन गुणा करूं। ऐसा संकल्प करके उस इस सर्वाधिष्ठात्री देवता ने इन तीन देवताओं में इस जीव आत्मा के साथ प्रवेश करके नाम-रूप प्रकट किये। तेज, जल, पृथिवी से ही नाना रूप होते हैं।

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत्। यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवतास्त्रिवृत् त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति ॥४॥

उस ईश्वर ने उन तीन देवताओं में से एक एक को तीन गुणा, तीन गुणा किया। और निश्चय से, हे प्यारे! जैसे ये तीन देवता एक एक तीन गुणा, तीन गुणा होते हैं वह मुझ से तू जान।

चौथा खण्ड

यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं, यच्छुक्लं तदपां, यत्कृष्णं तदन्नस्य। अपागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं, त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥१॥

जो अग्नि का रक्त वर्ण है वह तेज का रूप है, जो शुक्ल है वह जलों का रूप है और जो काला रूप है वह पृथिवी देवता का रूप है; अग्नि तीन देवताओं के तीन रूपों का समुच्चय है। इस प्रकार अग्नि का अग्निपन जाता रहा, इस कारण विकार वचन-विस्तार है, नाम मात्र है। वास्तव में तीन रूप ही सत्य हैं।

यदादित्यस्य रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं, यच्छुक्लं तदपां, यत्कृष्णं तदन्नस्य। अपागादादित्यादादित्यत्वं, वाचारम्भणं विकारो नामधेयं, त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥२॥

जो सूर्य का रक्त वर्ण है वह तेज का रूप है, जो शुक्ल है वह जलों का, जो काला है वह पृथिवी का रूप है। इस प्रकार सूर्य से सूर्यपन जाता रहा; विकार वचन-विस्तार और नाम मात्र है। वास्तव में तीन रूप ही सत्य हैं।

यच्चन्द्रमसो रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं, यच्छुक्लं तदपां, यत्कृष्णं तदन्नस्य। अपागाच्चन्द्राच्चन्द्रत्वं, वाचारम्भणं विकारो नामधेयं, त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥३॥ यद्विद्युतो रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां, यत्कृष्णं तदन्नस्य। अपागाद्विद्युतो विद्युत्त्वं, वाचारम्भणं विकारो नामधेयं, त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥४॥

इसी प्रकार चन्द्रमा और विद्युत् में भी रक्त वर्ण तेज का है, शुक्ल वर्ण जलों का है और कृष्ण रूप पृथिवी का है, इत्यादि। मूल सद्भाव ही वस्तु है, अन्य विकार हैं।

एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुः पूर्वे महाशाला महाश्रोत्रिया न नोऽद्य कश्चनाश्रुतममतमविज्ञातमुदाहरिष्यतीति। ह्येभ्यो विदांचक्रुः ॥५॥

सो इस ही रहस्य आदेश को जानते हुए पूर्वज, महाशाला वाले, बड़े वेदवेत्ता जन कहा करते थे कि हमें इस युग में कोई पुरुष भी अश्रुत, अतर्कित, अविज्ञात ज्ञान नहीं कहेगा, क्योंकि उन्होंने इन्हीं उदाहरणों से सत्यस्वरूप भगवान् को तथा जगत् के सद्भाव को जाना था।

यदु रोहितमिवाभूदिति तेजसस्तद्रूपमिति तद्विदांचक्रुर्यदु शुक्लमिवाभूदित्यपां रूपमिति तद्विदाञ्चक्रुर्यदु कृष्णमिवाभूदित्यन्नस्य रूपमिति तद्विदाञ्चक्रुः ॥६॥

और जो रक्त वर्ण सा पदार्थ हो गया, वह तेज का रूप है ऐसा वह उन्होंने जाना; जो कुछ शुक्ल वर्ण सा हो गया, वह जलों का रूप है ऐसा वह उन्होंने जाना और जो कुछ कृष्ण वर्ण सा हो गया वह पृथिवी का रूप है ऐसा वह उन्होंने जाना।

तेज में ही ये तीनों मुख्य रंग हैं। वह ही आदि में रचा गया। उस तेज से ही अन्य पदार्थ बने हैं, इस कारण उनमें छाया आती गई है। गाढतर छाया पृथिवी की है सो वह कृष्णवर्ण है। द्रवीभूत भाग जल है।

यद्वविज्ञातमिवाभूदित्येतासामेव देवतानां समास इति तद्विदाञ्चक्रुः। यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत् त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति ॥७॥

जो कुछ न जाना हुआ सा हो गया, जिसका रूप नहीं दिखाई दिया, वह अज्ञात वस्तु भी इन ही देवताओं का समुदाय है ऐसा वह उन्होंने जाना। हे प्यारे! निश्चय से जैसे ये तीनों देवता जीवात्मा को प्राप्त हो कर उनमें से एक एक तीन गुणा, तीन गुणा होती है वह मुझ से तू जान।

पांचवां खण्ड

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मांसं, योऽणिष्ठस्तन्मनः ॥१॥

खाया हुआ अन्न पच कर तीन भागों में विभक्त हो जाता है। उसका जो स्थूल भाग होता है वह विष्ठा हो जाता है, जो मध्यम भाग होता है वह मांस बनता है और जो सूक्ष्मतम भाग होता है वह मस्तक के विचारतन्तु बन जाता है; वह ही मनोवृत्ति का स्थान है। यहां स्थूल से निःसार भाग और मध्यम से पोषक रस समझना चाहिए।

आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते। तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति; यो मध्यमस्तल्लोहितं, योऽणिष्ठः स प्राणः ॥२॥

पिये हुए जल पच कर तीन भागों में विभक्त हो जाते हैं। उनका जो स्थूल भाग होता है वह मूत्र बन जाता है; जो मध्यम भाग होता है वह रक्त बनता है; और जो सूक्ष्मतम भाग होता है वह प्राण हो जाता है, जीवन-पोषक बन जाता है।

तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति; यो मध्यमः स मज्जा, योऽणिष्ठः सा वाक् ॥३॥

घृत-तैलादि को भी तेजोमय पदार्थ कहा जाता है। ऐसा खाया हुआ तेज पच कर तीन भागों में विभक्त हो जाता है। उसका जो स्थूल भाग होता है वह अस्थि—हड्डी बन जाता है; जो मध्यम भाग होता है वह मज्जा बन जाता है, और जो सूक्ष्मतम भाग होता है वह वाणी बन जाता है; उससे बोलने के स्वर तथा तन्तु बनते हैं।

अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति ।
भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥४॥

इस कारण निश्चय से हे सोम्य! अन्नमय मन है, मनन करने का साधनभूत मस्तकतन्तु जाल है। जलमय प्राण—जीवन है और तेजोमयी वाणी है। श्वेतकेतु ने कहा—मुझे भगवान् दुबारा भी बतायें। आरुणि ने कहा—प्यारे पुत्र! तथास्तु।

छठा खण्ड

दध्नः सोम्य मथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति, तत्सर्पि-र्भवति ॥१॥

प्यारे! बिलोये जाते हुए दही का जो सूक्ष्म भाग होता है वह ऊपर उठ आता है वह घी हो जाता है।

एवमेव खलु सोम्यान्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति, तन्मनो भवति ॥२॥ अपां सोम्य! पीयमानानां योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति, स प्राणो भवति ॥३॥ तेजसः सोम्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति, सा वाग् भवति ॥४॥

प्यारे! इसी प्रकार ही खाये जाते हुए अन्न का जो सूक्ष्मभाग होता है वह ऊपर उठ जाता है वह मनतन्तुजाल बनता है। प्यारे! ऐसे ही पिये जाते हुए जलों का जो सूक्ष्म अंश होता है वह ऊपर निंतर आता है, वह प्राण—जीवन हो जाता है। प्यारे! ऐसे ही खाये हुए तेज का जो सूक्ष्म अंश होता है वह ऊपर निंतर आता है वह वाणी बन जाती है।

अन्नमयं हि सोम्य! मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति । भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥५॥

इस कारण ही प्यारे! अन्नमय मन है, जलमय प्राण है और तेजोमयी वाणी है। श्वेतकेतु ने कहा—मुझे आप फिर भी बतायें। आरुणि ने कहा—प्यारे! तथास्तु।

सातवां खण्ड

षोडशकलः सोम्य! पुरुषः पञ्चदशाहानि माशीः ।
काममपः पिब । आपोमयः प्राणो न पिबतो विच्छेत्स्यत इति ॥१॥

हे सोम्य ! सोलह कला वाला यह शरीरी आत्मा है। तू पन्द्रह दिन तक अन्न न खा। जल यथेच्छ पीता रह। पानी न पीते हुए तेरा जलमय जीवन नष्ट हो जायगा।

स ह पञ्चदशाहानि नाशाथ हैनमुपससाद। किं ब्रवीमि भो इत्यृचः सोम्य ! यजूंषि, सामानीति। स होवाच न वै मा प्रतिभान्ति भो इति ॥२॥

उस श्वेतकेतु ने पन्द्रह दिन तक अन्न न खाया और वह सोलहवें दिन इस पिता के पास गया। पिता को बोला—हे पिता ! मै क्या कहूं, क्या सुनाऊं। उसने कहा—प्यारे ! ऋग्वेद को, यजुर्वेद के मन्त्रों को तथा साम-गीतों को सुनाओ। उसने कहा—हे पिता ! मुझे वे वेद नहीं सूझते; नहीं स्मरण होते।

तं होवाच यथा सोम्य ! महतोऽभ्याहितस्यैकोऽङ्गारः खद्योतमात्रः परिशिष्टः स्यात्तेन ततोऽपि न बहु दहेत्। एवं सोम्य ! ते षोडशानां कलानामेका कलातिशिष्टा स्यात्तयैतर्हि वेदान्नानुभवस्यशान ॥३॥

उसको पिता बोला—प्यारे ! जैसे बड़ी, इन्धनयुक्त अग्नि का जुगनू समान एक अंगारा शेष रह जाय तो भी उससे बहुत घास-पात न जल सके। हे सोम्य ! ऐसे ही तेरी सोलह कलाओं में से एक कला शेष रह गई है, उससे इस समय तू वेदों को नहीं अनुभव करता, उनके मन्त्र तू स्मरण नहीं कर सकता। अब तू अन्न खा।

अथ मे विज्ञास्यसीति। स हाशाथ हैनमुपससाद। तं ह यत्किंच पप्रच्छ सर्वं ह प्रतिपेदे ॥४॥

भोजन करके जब आयेगा तब तू मुझे सारा वेद बता देगा। उस श्वेतकेतु ने अन्न खाया। फिर वह आरुणि के पास आ गया। आरुणि ने उसको जो कुछ पूछा वह सारा उसने सुना दिया।

तं होवाच—यथा सोम्य ! महतोऽभ्याहितस्यैकमङ्गारं खद्योतमात्रं परिशिष्टं तं तृणैरुपसमाधाय प्राज्वालयेत्तेन ततोऽपि बहु दहेत् ॥५॥

उसको पिता ने कहा—हे सोम्य ! जैसे बड़ी इन्धन से प्रचण्ड अग्नि के जुगनू-मात्र, एक अंगारे बचे हुए को, कोई ले ले और उसे तिनकों से मिला कर जलाये तो भी उससे बहुत घास-पात जला दे।

एवं सोम्य ! ते षोडशानां कलानामेका कलातिशिष्टाभूत्। साऽन्नेनोपसमाहिता प्राज्वालीत्तयैतर्हि वेदाननुभवसि। अन्नमयं हि सोम्य ! मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति। तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति ॥६॥

प्यारे ! ऐसे ही तेरी सोलह कलाओं में से एक कला शेष रह गई थी। वह अन्न से संयुक्त की हुई प्रज्वलित हो गई। उसी से अब तू वेदों को अनुभव करता है। इस कारण हे सोम्य ! अन्नमय ही मन है, जलमय प्राण है और तेजोमयी वाणी है। ऐस उदाहरणों से वह तब अपने पिता के उपदेश को समझ गया।

आठवां खण्ड

उद्दालको हारुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच—स्वप्नान्तं मे सोम्य ! विजानीहीति। यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य ! तदा सम्पन्नो भवति; स्वमपीतो भवति। तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते, स्वं ह्यपीतो भवति ॥१॥

अरुण के पुत्र उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को कहा—सोम्य ! तू मुझ से स्वप्न के सिद्धान्त को, सार को जान ले। जिस अवस्था में यह आत्मा स्वपिति नाम होता है, प्यारे ! तब वह सत्—शुद्ध साक्षी स्वरूप से सम्पन्न होता है; अपने शुद्ध स्वभाव में मग्न होता है और अपने स्वरूप को प्राप्त होता है। इस से इस आत्मा को सुषुप्ति में स्वपिति ऐसा कहते हैं। वह अपने साक्षी स्वरूप में ही लीन होता है।

जाग्रत अवस्था में आत्मा वृत्तिमय भावों में मग्न रहता है अपने आप को वृत्तिस्वरूप ही समझने लग जाता है परन्तु सुषुप्ति में वृत्तियों से पृथक् होकर केवल अपने साक्षी स्वरूप में प्राप्त होता है। अज्ञान और गाढतर कर्मबन्धन के कारण आत्मा को उस अवस्था में अपने स्वरूप की प्रतीति नहीं होती।

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा, बन्धनमेवोपश्रयते। एवमेव खलु सोम्य ! तन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते। प्राणबन्धनं हि सोम्य ! मन इति ॥२॥

जैसे वह पक्षी जो सूत्र से बन्धा हुआ हो, दिशा दिशा को उड़ कर, कहीं भी आश्रय न पा कर, थक कर फिर बन्धन को ही आश्रय बनाता है; जहां बन्धन हुआ हो वहीं बैठ जाता है। निश्चय ऐसे ही प्यारे ! वह वृत्तिस्वरूप बना हुआ मन—आत्मा दिशा दिशा को दौड़ कर, भटक कर कहीं भी आश्रय न प्राप्त करके अन्त में प्राण को ही आश्रय बनाता है; सुषुप्ति में अपने स्वरूप में ही विश्राम करता है। हे प्यारे ! शुद्ध साक्षी स्वरूप के बन्धन वाला ही मन है। वृत्तिस्थ आत्मा शुद्धसाक्षीरूप प्राण से ही संबद्ध है।

अशनापिपासे मे सोम्य ! विजानीहीति। यत्रैतत्पुरुषोऽशिशिषति नामाप एव तदशितं नयन्ते। तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इति। एवं तदप

आचक्षतेऽशनायेति। तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतितं सोम्य ! विजानीहि। नेदममूलं भविष्यतीति ॥३॥

हे सोम्य ! मुझ से तू भूख-प्यास को, इनके भेद को जान ले। जिस अवस्था में यह आत्मा अशिशिषति नाम होता है, खाने की इच्छा वाला होता है उस अवस्था में जल ही उस खाये हुए को देह में सर्वत्र ले जाते हैं। सो जैसे गौएं ले जाने वाले को गोनाय, अश्वपति को अश्वनाय, सेनापति को पुरुषनाय ऐसा कहा जाता है ऐसे ही वे जल अशनाय—खाये हुए पदार्थ को ले जाने वाले ऐसा कहे जाते हैं। हे प्यारे ! वहां खाये हुए पदार्थ से यह अङ्कुर—देह उत्पन्न हुआ जान। यह बिना कारण नहीं होगा।

तस्य क्व मूलं स्यादन्यत्रान्नात्। एवमेव खलु सोम्यान्नेन शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य ! शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ। तेजसा सोम्य ! शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ। सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ॥४॥

उस देह का अन्न से दूसरा कहां मूल—कारण हो। देह का कारण अन्न अर्थात् पृथिवी है। ऐसे ही निश्चय से हे सोम्य ! पृथिवीरूप अङ्कुर से जल कारण जान। हे प्यारे ! पानियों के अङ्कुर—कार्य से तेज कारण को जान। हे सोम्य ! तेज कार्य से सत् मूल को, सबके संचालक भगवान् को जान। हे प्यारे ! ये सारी प्रजाएं, सब आत्माएं तथा सृष्टियां सत् के मूलवालियां हैं, इनका आश्रय परमेश्वर है, ये सत् के आश्रित हैं और सत् में प्रतिष्ठित हैं। सत्य में सम्पूर्ण विकासमय जगत् स्थित है।

भगवान् ही सारे कारणों का आश्रय है और सब आत्माओं का आधार है। परमेश्वर में सारे कारण विलक्षण और अचिन्तनीय रूप से रहते हैं। इस कारण वह सब का मूल कहा गया है।

अथ यत्रैतत्पुरुषः पिपासति नाम तेज एव तत्पीतं नयते। तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इति; तत्तेज आचष्ट उदन्येति। तत्रैतदेव शुङ्गमुत्पतितं सोम्य ! विजानीहि। नेदममूलं भविष्यतीति ॥५॥

और जिस अवस्था में यह आत्मा पीने की इच्छा करने वाला, पिपासति नाम होता है; जल पान करता है तो उस पिये हुए पदार्थ को तेज ही अवयवों में ले जाता है। सो जैसे गोनाय, अश्वनाय, पुरुषनाय है ऐसे ही वह तेज "उदन्य" जल को ले जाने वाला, ऐसा कहते हैं। हे प्यारे ! उस जलपान की अवस्था में यह शरीररूप अङ्कुर उत्पन्न हुआ जान। यह बिना कारण नहीं होगा; इसका कोई कारण है।

तस्य क्व मूलं स्यादन्यत्राद्भ्यः । अद्भिः सोम्य ! शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ । तेजसा सोम्य ! शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ । सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः, सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः । यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत् त्रिवृदेकैका भवति तदुक्तं पुरस्तादेव । भवत्यस्य सोम्य ! पुरुषस्य प्रयतो वाङ् मनसि संपद्यते, मनः प्राणे, प्राणस्तेजसि, तेजः परस्यां देवतायाम् ॥६॥

उसका जलों से दूसरा कहां कारण हो । हे सोम्य ! जलों के कार्य से तेज को कारण जान । हे प्यारे ! तेज के कार्य से सत् को मूल जान । हे प्यारे ! ये सारी प्रजाएं सन्मूला हैं, सत् के आश्रित हैं और सत् में रहती हैं । सब कारणों, कार्यों तथा आत्माओं का आश्रय और आधार परमात्मा है । निश्चय से, हे सोम्य ! जैसे ये तीन देवता पुरुष को प्राप्त होकर, उनमें से एक एक तीनगुणा, तीनगुणा होती है वह पहले से ही कह दिया गया । हे प्यारे ! इस जीवात्मा का मरते समय यह होता है कि इसकी वाणी मन में चली जाती है, मन प्राण में चला जाता है, प्राण तेज में चला जाता है और तेज परम देवता आत्मा में लीन हो जाता है । वह आत्मा, विकाररहित सत्यस्वरूप है ।

स य एषोऽणिमा । ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम् । स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति । भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥७॥

वह जो यह प्रकृति के विकार से ऊपर आत्मा है, परम सूक्ष्म है, यह ही शुद्ध आत्मभाव है, यह सब वह सत्य है, परम सत्य है, इसमें विकार नहीं है । हे श्वेतकेतु ! वह शुद्ध आत्मा यह तू है, तेरा स्वरूप परम शुद्ध है। उसने कहा—और भी मुझे भगवान् बतायें । आरुणि ने कहा—प्यारे ! तथास्तु ।

नवां खण्ड

यथा सोम्य ! मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति । नानात्ययानां वृक्षाणां रसान् समवहारमेकतां रसं गमयन्ति ॥१॥

हे सोम्य ! जैसे मधुमक्खियां मधु बनाती हैं । नानाप्रकार के वृक्षों के रसों को एक स्थान पर ला कर एकता प्राप्त रस को सम्पादन करती हैं ।

ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीति । एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इति ॥२॥

जैसे नानावृक्षों के वे रस वहां मधु अवस्था में यह विवेक नहीं रखते कि मैं इस वृक्ष का रस हूं, मैं इस वृक्ष का रस हूं। हे प्यारे! निश्चय ऐसे ही ये सारी प्रजाएं सत्य में-अपने शुद्धस्वरूप में रह कर भी यह नहीं जानतीं कि हम सत्य में संप्राप्त हैं, हम अमर अविनाशी हैं। गाढ अज्ञान से स्वसत्यस्वरूप की प्रतीति नहीं होती।

त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद् भवन्ति तदा भवन्ति ॥३॥

इस लोक में वे अज्ञान और गाढतर कर्मबन्ध से घिरे हुए जीव, व्याघ्र, सिंह, वृक, वराह, कीट, पतङ्ग, दंश और मशक आदि जो जो होते हैं तब वे ही व रहते हैं; अपने शुद्धस्वरूप को अनुभव नहीं करते। अपने शुद्ध साक्षीस्वरूप की प्रतीति, भाग्यवश मनुष्य जन्म में होती है।

स य एषोऽणिमा। ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम्। स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति। तथा सोम्येति होवाच ॥४॥

वह जो यह अविकारी है, वह परम सूक्ष्म है। यह आत्मभाव है यह सर्व वह सत्य है, परम सत्य है। हे श्वेतकेतु! वह यह आत्मा विकार, अज्ञानरहित तू है। उसने कहा-और भी मुझ को भगवान् उपदेश दें। आरुणि ने कहा—प्यारे! तथास्तु।

दसवां खण्ड

इमाः सोम्य! नद्यः पुरस्तात्प्राच्यः स्यन्दन्ते, पश्चात्प्रतीच्यस्ताः समुद्रात्समुद्रमेवापियन्ति। समुद्र एव भवन्ति। ता यथा तत्र न विदुरियमहमस्मीयमहमस्मीति ॥१॥

हे प्यारे! ये पूर्वको जाने वाली नदियां पूर्व की ओर बहती हैं, पश्चिम को जाने वाली पश्चिम को बहती हैं और अन्त में वे समुद्र से समुद्र को ही प्राप्त होती हैं, समुद्र से वाष्परूप हो कर उठती हैं और फिर समुद्र में चली जाती हैं। समुद्र ही हो जाती हैं। जैसे वे नदियां समुद्र बन कर नहीं जानतीं कि यह गंगा वा यमुना मैं हूं, यह मैं हूं।

एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामह इति। त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद् भवन्ति तदा भवन्ति ॥२॥

हे सोम्य ! निश्चय ऐसे ही ये सारी प्रजाएं—जीवात्माएं सत्—अपने शुद्ध साक्षीस्वरूप से बाहर व्यवहार में आ कर अज्ञानवश नहीं जानतीं कि हम सत् से बाहर आरही हैं; अपने स्वरूप को भूली ही रहती हैं। इस लोक में वे अविद्याग्रस्त आत्मा व्याघ्र, सिंह, वृक, वराह, कीट, पतङ्ग, दंश और मशकादि जो जो होते हैं वह ही वे बने रहते हैं।

स य एषोऽणिमा । ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम् । स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥३॥

वह जो यह अधिकारी आत्मा है, वह परम सूक्ष्म है। यह आत्मभाव है। यह ही वह सर्व सत्य है। हे श्वेतकेतु ! वह परम सूक्ष्म, परम शुद्धस्वरूप आत्मा यह तू है। उसने कहा—और भी मुझ को भगवान् उपदेश दें। आरुणि ने कहा—प्यारे ! तथास्तु।

ग्यारहवां खण्ड

अस्य सोम्य ! महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेद्यो मध्येऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेद्योऽग्रेऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेत् । स एष जीवेनात्मनानुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति ॥१॥

हे प्यारे ! इस महान् वृक्ष का जो मनुष्य जड़ में अभिहनन करे तो वह जीता हुआ रस गिराये, जो मध्य में अभिहनन करे तो वह जीता हुआ रसता रहे, और जो अग्र भाग में अभिहनन करे तब भी वह जीता हुआ रसता रहे, पर सूखे वा मरे नहीं। क्योंकि वह यह वृक्ष जीव से और आत्मा से परिपूर्ण है, इस में जीवन भी है और आत्मा भी हुआ करता है। इसी कारण पानी पीता हुआ हर्ष से रहता है।

अस्य यदेकां शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति, द्वितीयां जहात्यथ सा शुष्यति, तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति, सर्वं जहाति सर्वः शुष्यति। एवमेव खलु सोम्य ! विद्धीति होवाच ॥२॥

इस वृक्ष की जब एक शाखा को जीव छोड़ देता है तो वह सूख जाती है। दूसरी को छोड़ देता है तो वह सूख जाती है, तीसरी को छोड़ देता है तो वह सूख जाती है, और यदि जीव सारे वृक्ष को छोड़ देता है तो सारा वृक्ष सूख जाता है। प्यारे ! निश्चय ऐसे ही मनुष्य शरीर को जान।

जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति। स य एषोऽणिमा। ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम्। स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति। तथा सोम्येति होवाच ॥३॥

निश्चय से यह शरीर आत्मारहित ही मरता है, आत्मा नहीं मरता। मरण-भाव आत्मा में नहीं है। वह सदा अमरसत्ता है। वह जो यह अविनाशी आत्मा है, परम सूक्ष्म है। यह आत्मभाव है। यह सर्व वह सत्य है; परम सत्य है। हे श्वेतकेतु! वह अमर अविनाशी आत्मा यह तू है। उसने कहा—और भी मुझ को भगवान् उपदेश दें। आरुणि ने कहा—प्यारे! तथास्तु।

बारहवां खण्ड

न्यग्रोधफलमत आहरेतीदं भगव इति। भिन्धीति। भिन्नं भगवं इति। किमत्र पश्यसीति? अण्व्य इवेमा धाना भगव इति। आसामङ्गैकां भिन्धीति। भिन्ना भगव इति। किमत्र पश्यसीति? न किंचन भगव इति॥ १॥

यहां समीप से न्यग्रोध फल—गूलर का फल ले आ। पुत्र ने ला कर कहा—भगवन्! यह फल है। उसने कहा—इसे तोड़ दे। पुत्र ने फोड़ कर कहा—भगवन्! भेदन हो गया। उसने कहा—इसमें तू क्या देखता है? पुत्र ने उत्तर दिया—भगवन्! सूक्ष्म से ये दाने। उसने कहा—प्यारे! इनमें से एक दाने को तोड़ो। पुत्र ने तोड़ कर कहा—भगवन्! भेदन हो गया। उसने फिर पूछा—इस दाने में तू क्या देखता है? पुत्र ने कहा—भगवन्! कुछ भी नहीं देखता हूं।

तं होवाच यं वै सोम्यैतमणिमानं न निभालयस एतस्य वै सोम्यैषो-ऽणिम्न एवं महान् न्यग्रोधस्तिष्ठति। श्रद्धस्व सोम्येति॥ २॥

तब आरुणि ने उसको कहा—प्यारे! जिस ही इस अत्यन्त सूक्ष्म कारण को तू नहीं देखता है, प्यारे! इसी सूक्ष्म कारण का ही यह ऐसा महान् न्यग्रोधवृक्ष खड़ा है। बीज में ही वृक्ष बनने की योग्यता निहित है। प्यारे! इस बात पर श्रद्धा कर।

स य एषोऽणिमा। ऐतदात्म्यम्। इदं सर्वं तत्सत्यम्। स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो! इति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति। तथा सोम्येति होवाच॥ ३॥

वह जो यह देह में आत्मा है परम सूक्ष्म है। यह आत्मभाव है। यह सर्व वह सत्य है। हे श्वेतकेतु! वह देह में अत्यन्त सूक्ष्मरूप रहा हुआ आत्मा यह तू है। देह में आत्मा किस प्रकार रहता है यह तर्क से अगम्य बात है। इस पर श्रद्धा कर। उसने कहा—और भी मुझको भगवान् उपदेश दें। आरुणि ने कहा—प्यारे! तथास्तु।

तेरहवां खण्ड

लवणमेतदुदकेऽवधायाथ मा प्रातरुपसीदथा इति । स ह तथा चकार । तं होवाच—यद्दोषा लवणमुदकेऽवाधा अङ्ग । तदाहरेति । तद्धावमृश्य न विवेद ॥१॥

आरुणि ने कहा—यह लवण पानी में रख कर सवेरे मेरे पास आना । उसने ऐसा ही किया । जब सवेरे वह अपने पिता के समीप गया तो उसने उसे कहा—रात को जो लवण तूने पानी में रक्खा था, प्यारे ! वह ले आ । उसने उस लवण को पानी में खोज कर भी नहीं जाना । उसको वह नहीं मिला ।

यथा विलीनमेवाङ्गास्यान्तादाचामेति । कथमिति ? लवणमिति । मध्यादाचामेति । कथमिति ? लवणमिति । अन्तादाचामेति । कथमिति ? लवणमिति । अभिप्रास्यैतदथ मोपसीदथा इति । तद्ध तथा चकार । तच्छश्वत्संवर्तते । तं होवाचात्र वाव किल सत्सोम्य ! न निभालयसेऽत्रैव किलेति ॥ २ ॥

आरुणि ने कहा—प्यारे ! इस में लवण ऐसा है जैसे विलीन ही हो । इस जल को ऊपर से आचमन कर । आचमन करने पर आरुणि ने कहा—जल का स्वाद कैसा ? उसने उत्तर दिया—लवण है । फिर कहा—मध्य से आचमन कर । आचमन करने पर पूछा-कैसा है ? उसने कहा-लवण है । नीचे से आचमन कर । आचमन करने पर पूछा कैसा है । उसने कहा—लवण है अन्त में मुनि ने कहा-अब जल को पान करके मेरे समीप आना । उसने वह वैसा ही किया और पिता को कहा—लवण निरन्तर विद्यमान है, नष्ट नहीं हुआ । मुनि ने उसको कहा—सोम्य ! निश्चय वह लवण यहां जल में ही है, परन्तु लीन होजाने से तू नहीं देखता । यहां ही रमा हुआ है । निश्चय से यहां ही है । इसी प्रकार आत्मा देह में रमा हुआ है ।

स य एषोऽणिमा । ऐतदात्म्यम् । इदं सर्वं तत्सत्यम् । स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति । भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥३॥

वह जो यह आत्मा है, परमसूक्ष्म है । यह आत्मभाव है । यह सर्व सत्य है । वह देह में रमा हुआ आत्मा यह तू है । उसने कहा—और भी मुझको भगवान् उपदेश दें । आरुणि ने कहा—प्यारे । तथास्तु ।

चौदहवां खण्ड

यथा सोम्य ! पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत्स यथा तत्र प्राङ् वोदङ् वाधराङ् वा प्रत्यङ् वा प्रध्मायीताभिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्टः ॥ १ ॥

हे प्यारे ! जैसे कोई शत्रु किसी पुरुष को गन्धारदेश से आँखे बान्ध कर दूर देश में ला कर उसको तब निर्जनस्थान में छोड़ दे। वह जैसे वहां पूर्व को, उत्तर को, नीचे को तथा पश्चिम को ऊंचे स्वर से चिल्लाये कि मैं नेत्रबद्ध लाया गया हूं और नेत्रबद्ध छोड़ दिया गया हूं। मुझ पर दया करके कोई स्वदेश का पथ प्रदर्शन करे।

तस्य यथाभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां दिशं गन्धारा एतां दिशं व्रजेति। स ग्रामाद् ग्रामं पृच्छन्, पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसंपद्येत। एवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेद। तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्य इति ॥२॥

जैसे उसके करुण क्रन्दन को सुन कर कोई दयावान् उसके नेत्र के बन्धन को खोल कर उसे कहे— इस दिशा को गन्धार है, इस दिशा को जा। वह ग्राम से ग्राम पूछता हुआ, पण्डित बुद्धिमान् अन्त में गन्धार में ही पहुंच जावे। ऐसे ही यहां आत्मज्ञान में आचार्यवान् पुरुष—सद्गुरु का शिष्य जानता है। गुरुमुख से सुन कर आत्ममार्ग पा कर वह भी परमेश्वर के आदित्यवर्ण धाम को पहुंच जाता है। परम धाम में पहुंचने की उसकी उतनी ही देर होती है जब तक वह बन्ध से नहीं मुक्त होता है। अन्त में परम पद प्राप्त कर लेता है। शुभ संगति से ज्ञान प्राप्त करके परम धाम को पा लेता है।

स य एषोऽणिमा। ऐतदात्म्यम्। इदं सर्वं तत्सत्यम्। स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति। तथा सोम्येति होवाच ॥३॥

वह जो यह गुरु उपदेश से शुद्ध आत्मा है। परम सूक्ष्म है। यह आत्मभाव है। यह वह सर्व सत्य है, परम सत्य है, वह मेरे उपदेश से शुद्ध और प्रबुद्ध आत्मा, हे श्वेतकेतु ! यह तू है। उसने कहा—और भी भगवान् मुझे उपदेश दें। आरुणि ने कहा—प्यारे ! तथास्तु।

पन्द्रहवां खण्ड

पुरुषं सोम्योपतापिनं ज्ञातयः पर्युपासते—जानासि मां जानासि मामिति। तस्य यावन्न वाङ् मनसि संपद्यते, मनः प्राणे, प्राणस्तेजसि, तेजः परस्यां देवतायां तावज्जानाति ॥१॥

हे सोम्य ! ज्वरादि से पीड़ित पुरुष को सम्बन्धी जन घेर कर उपासते हैं; उस से पूछते हैं कि मुझे पहचानता है। मुझे जानता है। जब तक उसकी वाणी मन में नहीं लीन होती, मन उसका प्राण में नहीं लीन होता, प्राण तेज में नहीं लीन होता और तेज परम देवता—आत्मा में नहीं लीन होता तब तक जानता रहता है। तब तक उसका इन्द्रियज्ञान बना रहता है।

अथ यदास्य वाङ् मनसि संपद्यते, मनः प्राणे, प्राणस्तेजसि, तेजः परस्यां देवतायामथ न जानाति ॥२॥

और जब इसकी वाणी मन में लीन हो जाती है, मन प्राण में लय हो जाता है, प्राण तेज में और तेज परम देवता—आत्मा में लीन हो जाता है तब वह नहीं जानता।

सर्व इन्द्रियों के लय हो जाने पर मनुष्य का मरण होता है। इन्द्रियों के सारे ज्ञान अन्तकाल में आत्मा में प्राप्त हो जाते हैं। वही सत्यस्वरूप है और ज्ञानमय है।

स य एषोऽणिमा। ऐतदात्म्यम्। इदं सर्वं तत्सत्यम्। स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति। तथा सोम्येति होवाच ॥३॥

वह जो यह ज्ञानस्वरूप परम देवता आत्मा है, परम सूक्ष्म है। यह आत्मभाव है। यह वह सर्व सत्य है। वह ज्ञानस्वरुप आत्मा, हे श्वेतकेतु! यह तू है। उसने कहा—और भी मुझको भगवान् उपदेश देवें। आरुणि ने कहा—प्यारे! तथास्तु!

सोलहवां खण्ड

पुरुषं सोम्योत हस्तगृहीतमानयन्त्यपहार्षीत्। स्तेयमकार्षीत्। परशुमस्मै तपतेति। स यदि तस्य कर्ता भवति तत एवानृतमात्मानं कुरुते। सोऽनृताभिसन्धोऽनृतेनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति। स दह्यतेऽथ हन्यते ॥१॥

हे सोम्य! और जब कभी राजपुरुष किसी डाकू पुरुष को उसके हाथ बान्ध कर, राजसभा में लाते हैं। तो कहते हैं इसने, प्राण वा धन अपहरण किया, चोरी की। उस समय न्यायाधीश कहता है—यह अपना दुष्टकर्म स्वीकार नहीं करता, इस कारण इसके लिए कुल्हाड़ी तपाओ, इसकी परीक्षा करें। वह यदि उस कर्म का कर्ता होता है और फिर भी अपने आप को झूंठा प्रकट करता है तो वह असत्यभाषी झूंठ से अपने आपको छुपा कर तपे हुए कुल्हाड़े को पकड़ लेता है। तब वह जलने लग जाता है। तदन्तर डाकू जान कर राजपुरुषों द्वारा वह मारा जाता है।

अथ यदि तस्याकर्ता भवति तत एव सत्यमात्मानं कुरुते। स सत्याभिसन्धः सत्येनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति। स न दह्यतेऽथ मुच्यते ॥२॥

और यदि वह उस कर्म का कर्ता नहीं होता, तो वह उससे ही अपने आपको सत्य सिद्ध करता है। वह सत्यभाषी न्यायाधीश के संदेह पर सत्य से अपने आपको ढांप कर तपे हुए परशु को पकड़ लेता है, परन्तु सत्य के प्रभाव से वह नहीं जलता। तब छोड़ दिया जाता है। सत्य का नाश नहीं होता।

स यथा तत्र नादाह्येत। ऐतदात्म्यम् । इदं सर्वं तत्सत्यम्ँ। स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति । तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति ॥३॥

जैसे सत्य के प्रभाव से वह सत्यवादी वहां परीक्षा में नहीं जलता तथापि सर्वत्र सत्य अविनाशी है। सत्यस्वरूप आत्मा का कदापि नाश नहीं होता। यह आत्मभाव है। यह वह सर्व सत्य है। वह सत्यस्वरूप अविनाशी आत्मा, हे श्वेतकेतु! यह तू है[१४]। तब उस आरुणि का वह सद्-विज्ञान श्वेतकेतु जान गया।

प्रपाठक सातवां, पहला खण्ड

अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः। तं होवाच—यद्वेत्थ तेन मोपसीद, ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति ॥१॥

एक समय नारद महात्मा ने सनत्कुमार के पास जा कर कहा—हे भगवन्! मुझे ब्रह्मविद्या पढ़ाइए। सनत्कुमार ने उस को कहा—जो कुछ तू जानता है, उस से मेरे[११] समीप बैठ; वह मुझे सुना दे। उससे ऊपर तुझे बताऊंगा।

स होवाचर्ग्वेदं भगवोऽध्येमि, यजुर्वेदं, सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम्, इतिहासपुराणं पञ्चमं, वेदानां वेदं, पित्र्यं, राशिं, दैवं, निधिं, वाकोवाक्यमेकायनं, देवविद्यां, ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां, नक्षत्रविद्यां, सर्पदेवजनविद्याम्, एतद्भगवोऽध्येमि[२८] ॥२॥

नारद ने कहा—भगवन्! मैं ऋग्वेद को जानता हूं, यजुर्वेद को, सामवेद को, चौथे अथर्ववेद को, पांचवें इतिहास पुराण को, वेदों[१२] के वेद व्याकरण को, पितृकर्म को, गणितशास्त्र को, भाग्यविज्ञान को, निधिज्ञान को, तर्कशास्त्र को, नीतिशास्त्र को, देवों[२०] के ज्ञान को, भक्तिशास्त्र को, पांच तत्त्वों की विद्या को, धनुर्वेद को, ज्योतिष शास्त्र को, सर्पों के ज्ञान को और गन्धर्व—संगीत नृत्य विद्या को मैं जानता हूं। हे भगवन्! यह सब मैं अध्ययन करता हूं, मुझे ये विद्याएं आती हैं।

सोऽहं[३] भगवो मन्त्रविदेवास्मि, नात्मवित्। श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति। सोऽहं[१८] भगवः शोचामि। तं[२०] मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति। तं[२८] होवाच—यद्वै किंचैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत् ॥३॥

हे भगवन्! वह सर्वविद्यासम्पन्न मैं[३] मन्त्रवित् ही हूं[३]; ग्रन्थों के पाठ का ज्ञाता ही हूं, आत्मा का ज्ञाता नहीं हूं। मैंने भगवान् जैसों से सुना हुआ[१२] ही है कि[३] आत्मज्ञाता

शोक को—जन्म-मरण की चिन्ता को तैर जाता है। परन्तु भगवन् ! वह मैं शोक करता हूं। उस चिन्तातुर मुझको भगवान् शोक से पार तार देवें। नारद को सनत्कुमार ने कहा—तूने जो कुछ ही यह अध्ययन किया वह यह नाम ही है; शब्दमात्र है।

नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ इतिहासपुराणः पञ्चमः, वेदानां वेदः, पित्र्यो, राशिर्दैवो, निधिर्वाकोवाक्यमेकायनं, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पदेवजनविद्या, नामैवैतन्नामोपास्स्वेति ॥४॥

सनत्कुमार ने कहा—हे नारद ! ऋग्वेदादि सारी विद्याएं नाम हैं नाम ही यह है; नाम का—शब्द का यह विस्तार है। तू नाम ही चिन्तन कर। पाठ को भली भांति समझ। शब्द को महान् और सर्वत्र विद्यमान तू जान।

स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते, यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते। अस्ति भगवो नाम्नो भूय इति ? नाम्नो वाव भूयोऽस्तीति। तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥५॥

वह जो नाम ब्रह्म को आराधता है, इसका जहां तक नाम की गति है वहां तक स्वेच्छागमन हो जाता है। नारद ने कहा—भगवन् ! नाम से भी कुछ अधिक है ? उसने कहा—नाम से भी अधिक है। नारद ने कहा—वह वस्तु मुझे भगवान् बतावें।

दूसरा खण्ड

वाग्वाव नाम्नो भूयसी। वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति, यजुर्वेदं, सामवेद-माथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं, वेदानां वेदं, पित्र्यं, राशिं, दैवं, निधिं, वाकोवाक्यमेकायनं, देवविद्यां ब्रह्मविद्यां, भूतविद्यां, क्षत्रविद्यां, नक्षत्रविद्यां, सर्पदेवजनविद्याम् ॥

सनत्कुमार ने कहा—हे नारद ! वाणी ही नाम से बड़ी है। वाणी में ही नाम—शब्द पिरोये हुए हैं। वाणी ही ऋग्वेद को बतलाती है; वाणी ही वेदों का, सारी विद्याओं का तथा सारे तत्त्वों का ज्ञान कराती है।

दिवं च पृथिवीं च वायुं चाकाशं चापश्च तेजश्च देवांश्च मनुष्यांश्च पशूंश्च वयांसि च। तृणवनस्पतीच्छ्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकं धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं च, यद्वै वाङ् नाभविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्न सत्यं नानृतं न साधु नासाधु न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञः, वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्स्वेति ॥१॥

द्युलोक को, पृथिवी को, वायु को, आकाश को, जलों को, तेज को, देवों को, मनुष्यों को, पशुओं को, पक्षियों को, तृण-वनस्पतियों को, हिंस्र जन्तुओं को, कीड़ों से लेकर पतंग चींटी तक को, धर्म को, अधर्म को, सत्य को, असत्य को, अच्छे को, बुरे को, हृदयानुकूल को, हृदयप्रतिकूल को, वाणी ही बतलाती है। यदि वाणी न होती तो न धर्म न अधर्म ज्ञात होता। न सत्य, न असत्य, न अच्छा, न बुरा, न हृदयानुकूल, न हृदयप्रतिकूल जाना जाता। वाणी ही इस सब को बतलाती है। नारद! तू वाणी को आराध। तू वाणी की महत्ता को समझ।

स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते, यावद्वाचो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते। अस्ति भगवो वाचो भूय इति। वाचो वाव भूयोऽस्तीति। तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥२॥

वह जो वाणी को, ब्रह्म ऐसा जान कर आराधता है जहाँ तक वाणी की गति है वहां तक इसका यथेच्छागमन होता है। नारद ने कहा—भगवन्! वाणी से अधिक भी कुछ है? उसने कहा—वाणी से भी अधिक है। नारद ने कहा—वह मुझे भगवान् कहें।

तीसरा खण्ड

मनो वाव वाचो भूयः, यथा वै द्वे वामलके, द्वे वा कोले, द्वौ वाक्षौ मुष्टिरनुभवत्येवं वाचं च नाम च मनोऽनुभवति। स यदा मनसा मनस्यति मन्त्रानधीयीयेति। अथाधीते, कर्माणि कुर्वीयेत्यथ कुरुते, पुत्रांश्च पशूंश्चेच्छेये-त्यथेच्छत इमेञ्च लोकममुं चेच्छेयेत्यथेच्छते मनो ह्यात्मा, मनो हि लोको, मनो हि ब्रह्म, मन उपास्स्वेति ॥१॥

सनत्कुमार ने कहा—मन ही वाणी से बड़ा है। जैसे दो आँवलों को, दो बेरों को, दो पाँसों को मुष्टि अनुभव करती है ऐसे ही वाणी को, नाम को मन अनुभव करता है। जब वह मनन करने वाला मन से विचारता है कि मन्त्रों को पढ़ूं तो पढ़ने लग जाता है, कर्मों को करूं तो करने लग जाता है, पुत्रों को, पशुओं को चाहूं तो चाहने लग जाता है, इस लोक को, उस लोक को चाहूं तो इच्छा करने लग जाता है। मन ही आत्मा है, मन ही लोकप्राप्ति है, मन ही महान् है। नारद! तू मन को आराध!

स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते, यावन्मनसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति

यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते । अस्ति भगवो मनसो भूय इति । मनसो वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥२॥

जो मनुष्य मन को महान् मान कर ईश्वरोपासना करता है, जहां तक मन की गति है वहां तक इसका स्वच्छन्द संचार होता है । इत्यादि ।

चौथा खण्ड

संकल्पो वाव मनसो भूयान् । यदा वै संकल्पयतेऽथ मनस्यति, अथ वाचमीरयति, तामु नाम्नीरयति, नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति, मन्त्रेषु कर्माणि ॥१॥

संकल्प—चित्तवृत्ति ही मन से महान् है । जब ही कोई संकल्प करता है तब मनन करने लग जाता है । फिर वाणी को प्रेरणा करता है । उस वाणी को नाम में, शब्दों में प्रेरता है । नाम में मन्त्र एक हो जाते हैं; मन्त्रों में कर्म एक हो जाते हैं ।

तानि ह वा एतानि संकल्पैकायनानि, संकल्पात्मकानि, संकल्पे प्रतिष्ठितानि, समक्लृपतां द्यावापृथिवी, समकल्पेतां वायुश्चाकाशं च समकल्पेतामापश्च तेजश्च, तेषां संक्लृप्त्यै वर्षं संकल्पते, वर्षस्य संक्लृप्त्या अन्नं संकल्पतेऽन्नस्य संक्लृप्त्यै प्राणाः संकल्पन्ते, प्राणानां संक्लृप्त्यै मन्त्राः संकल्पन्ते, मन्त्राणां संक्लृप्त्यै कर्माणि संकल्पन्ते, कर्मणां संक्लृप्त्यै लोकः संकल्पते, लोकस्य संक्लृप्त्यै सर्वं संकल्पते, स एष संकल्पः, संकल्पमुपास्स्वेति ॥२॥

वे ही ये नामादि संकल्प के आश्रित हैं, संकल्पात्मक हैं और संकल्प में रहते हैं । द्युलोक और पृथिवीलोक संकल्प करते हुए प्रतीत होते हैं, वायु और आकाश संकल्प कर रहे हैं, जल और तेज संकल्प कर रहे हैं । इन में भगवान् का संकल्प काम करता है । उनके संकल्पनिमित्त वृष्टि होती है, वृष्टि के संकल्पनिमित्त अन्न होते हैं; अन्न के संकल्पनिमित्त प्राण होते हैं, प्राणों के संकल्पनिमित्त मन्त्र होते हैं, मन्त्रों के संकल्पनिमित्त कर्म होते हैं । कर्मों के संकल्पनिमित्त लोक होते हैं, लोक के संकल्पनिमित्त सब कुछ होता है । वह यह संकल्प—चित्त महान् है । नारद ! तू संकल्प को चिन्तन कर । तू दृढ़संकल्प के महत्त्व को समझ ।

स यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते, क्लृप्तान् वै स लोकान्, ध्रुवान् ध्रुवः, प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिध्यति । यावत्संकल्पस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते । अस्ति भगवः संकल्पाद् भूय इति । संकल्पाद्वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥३॥

वह जो संकल्प को महान्, ऐसा जान कर आराधता है, वह निश्चय निश्चित किये हुए लोकों को सिद्ध कर लेता है, स्थिरमति वाला स्थिर पदार्थों को साधता है, प्रतिष्ठित जन प्रतिष्ठित सन्तानों को प्राप्त करता है, और संशयादि से अपीड़ित मनुष्य पीडासंदेहरहित सम्बन्धियों को सिद्ध करता है। जहां तक संकल्प की गति है वहां तक इस का स्वच्छन्द संचार हो जाता है। इत्यादि।

पांचवां खण्ड

चित्तं वाव संकल्पाद् भूयः। यदा वै चेतयतेऽथ संकल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति। तामु नाम्नीरयति, नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति; मन्त्रेषु कर्माणि ॥१॥

चित्त—साक्षी आत्मा ही संकल्प से महान् है; उसकी सत्ता संकल्प का शासन करती है। मनुष्य जब ही चिन्तन करता है तभी संकल्प करता है। प्रथम स्फुरणा चित्त में होती है। फिर मनन करता है, तदनन्तर वाणी को प्रेरता है। और फिर उस वाणी को नाम में—शब्दों के जोडने में—स्मृति के तार में प्रेरित करता है। नाम में मन्त्र एक हो जाते हैं और मन्त्रों में कर्म एक हो जाते हैं। मन्त्र शब्दमय हैं और कर्म मन्त्रों में वर्णित हैं। चित्त—आत्मभाव संकल्प से महान् है और शक्तिरूप है।

तानि ह वा एतानि चित्तैकायनानि, चित्तात्मानि, चित्ते प्रतिष्ठितानि, तस्माद्यद्यपि बहुविदचित्तो भवति, नायमस्तीत्येवैनमाहुः, यदयं वेद यद्वा अयं विद्वान्नेत्थमचित्तः स्यादिति, अथ यद्यल्पविच्चित्तवान् भवति तस्मा एवोत शुश्रूषन्ते, चित्तं ह्येवैषामेकायनं चित्तमात्मा, चित्तं प्रतिष्ठा, चित्तमुपास्स्वेति ॥२॥

वे ही ये संकल्पादि चित्त के आश्रित हैं, चित्तरूप हैं और चित्त में प्रतिष्ठित हैं। इससे यद्यपि कोई बहुश्रुत मनुष्य अचित्त हो जाता है—उन्मत्त हो जाता है तो वह नहीं है, ऐसा ही इसको लोग कहते हैं। जो यह जानता है, पढ़ा हुआ है, यदि यह स्मरण करता होता तो इस प्रकार चेतनारहित न होता। और यदि कोई थोड़ी जानन वाला चैतन्य होता है तो उसको ही मनुष्य सेवने लग जाते हैं। इस कारण चित्त ही संकल्पादिकों का आश्रय है, चित्त आत्मा है और चित्त प्रतिष्ठा है। हे नारद! तू चित्त को आराध। तू प्रसुप्त चेतनसत्ता को प्रबुद्ध कर।

स यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते चित्तान्वै स लोकान्, ध्रुवान् ध्रुवः, प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिध्यति। यावच्चित्तस्य गतं तत्रास्य यथा-

यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते । अस्ति भगवो मनसो भूय इति । मनसो वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥२॥

जो मनुष्य मन को महान् मान कर ईश्वरोपासना करता है, जहां तक मन की गति है वहां तक इसका स्वच्छन्द संचार होता है । इत्यादि ।

चौथा खण्ड

संकल्पो वाव मनसो भूयान् । यदा वै संकल्पयतेऽथ मनस्यति, अथ वाचमीरयति, तामु नाम्नीरयति, नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति, मन्त्रेषु कर्माणि ॥१॥

संकल्प—चित्तवृत्ति ही मन से महान् है । जब ही कोई संकल्प करता है तब मनन करने लग जाता है । फिर वाणी को प्रेरणा करता है । उस वाणी को नाम में, शब्दों में प्रेरता है । नाम में मन्त्र एक हो जाते हैं; मन्त्रों में कर्म एक हो जाते हैं ।

तानि ह वा एतानि संकल्पैकायनानि, संकल्पात्मकानि, संकल्पे प्रतिष्ठितानि, समक्लृपतां द्यावापृथिवी, समकल्पेतां वायुश्चाकाशं च समकल्पेतामापश्च तेजश्च, तेषां संक्लृप्त्यै वर्षं संकल्पते, वर्षस्य संक्लृप्त्या अन्नं संकल्पतेऽन्नस्य संक्लृप्त्यै प्राणाः संकल्पन्ते, प्राणानां संक्लृप्त्यै मन्त्राः संकल्पन्ते, मन्त्राणां संक्लृप्त्यै कर्माणि संकल्पन्ते, कर्मणां संक्लृप्त्यै लोकः संकल्पते, लोकस्य संक्लृप्त्यै सर्वं संकल्पते, स एष संकल्पः, संकल्पमुपास्स्वेति ॥२॥

वे ही ये नामादि संकल्प के आश्रित हैं, संकल्पात्मक हैं और संकल्प में रहते हैं । द्युलोक और पृथिवीलोक संकल्प करते हुए प्रतीत होते हैं, वायु और आकाश संकल्प कर रहे हैं, जल और तेज संकल्प कर रहे हैं । इन में भगवान् का संकल्प काम करता है । उनके संकल्पनिमित्त वृष्टि होती है, वृष्टि के संकल्पनिमित्त अन्न होता है; अन्न के संकल्पनिमित्त प्राण होते हैं, प्राणों के संकल्पनिमित्त मन्त्र होते हैं, मन्त्रों के संकल्पनिमित्त कर्म होते हैं । कर्मों के संकल्पनिमित्त लोक होते हैं, लोक के संकल्पनिमित्त सब कुछ होता है । वह यह संकल्प—चित्त महान् है । नारद ! तू संकल्प को चिन्तन कर । तू दृढ़संकल्प के महत्त्व को समझ ।

स यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते, क्लृप्तान् वै स लोकान्, ध्रुवान् ध्रुवः, प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिध्यति । यावत्संकल्पस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते । अस्ति भगवः संकल्पाद् भूय इति । संकल्पाद्वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥३॥

वह जो संकल्प को महान्, ऐसा जान कर आराधता है, वह निश्चय निश्चित किये हुए लोकों को सिद्ध कर लेता है, स्थिरमति वाला स्थिर पदार्थों को साधता है, प्रतिष्ठित जन प्रतिष्ठित सन्तानों को प्राप्त करता है, और संशयादि से अपीड़ित मनुष्य पीडासंदेहरहित सम्बन्धियों को सिद्ध करता है। जहां तक संकल्प की गति है वहां तक इस का स्वच्छन्द संचार हो जाता है। इत्यादि।

पांचवां खण्ड

चित्तं वाव संकल्पाद् भूयः। यदा वै चेतयतेऽथ संकल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति। तामु नाम्नीरयति, नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति; मन्त्रेषु कर्माणि ॥४॥

चित्त—साक्षी आत्मा ही संकल्प से महान् है; उसकी सत्ता संकल्प का शासन करती है। मनुष्य जब ही चिन्तन करता है तभी संकल्प करता है। प्रथम स्फुरणा चित्त में होती है। फिर मनन करता है, तदनन्तर वाणी को प्रेरता है। और फिर उस वाणी को नाम में—शब्दों के जोडने में—स्मृति के तार में प्रेरित करता है। नाम में मन्त्र एक हो जाते हैं और मन्त्रों में कर्म एक हो जाते हैं। मन्त्र शब्दमय हैं और कर्म मन्त्रों में वर्णित हैं। चित्त—आत्मभाव संकल्प से महान् है और शक्तिरूप है।

तानि ह वा एतानि चित्तैकायनानि, चित्तात्मानि, चित्ते प्रतिष्ठितानि, तस्माद्यद्यपि बहुविदचित्तो भवति, नायमस्तीत्येवैनमाहुः, यदयं वेद यद्वा अयं विद्वान्नेत्थमचित्तः स्यादिति, अथ यद्यल्पविच्चित्तवान् भवति तस्मा एवोत शुश्रूषन्ते, चित्तं ह्येवैषामेकायनं चित्तमात्मा, चित्तं प्रतिष्ठा, चित्तमुपास्स्वेति ॥२॥

वे ही ये संकल्पादि चित्त के आश्रित हैं, चित्तरूप हैं और चित्त में प्रतिष्ठित हैं। इससे यद्यपि कोई बहुश्रुत मनुष्य अचित्त हो जाता है—उन्मत्त हो जाता है तो यह नहीं है, ऐसा ही इसको लोग कहते हैं। जो यह जानता है, पढ़ा हुआ है, यदि यह स्मरण करता होता तो इस प्रकार चेतनारहित न होता। और यदि कोई थोड़ा जानने वाला चैतन्य होता है तो उसको ही मनुष्य सेवने लग जाते हैं। इस कारण चित्त ही संकल्पादिकों का आश्रय है, चित्त आत्मा है और चित्त प्रतिष्ठा है। हे नारद! तू चित्त को आराध। तू प्रसुप्त चेतनसत्ता को प्रबुद्ध कर।

स यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते चित्तान्वै स लोकान्, ध्रुवान् ध्रुवः, प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिध्यति। यावच्चित्तस्य गतं तत्रास्य यथा-

कामचारो भवति यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते । अस्ति भगवश्चित्ताद् भूय इति ? चित्ताद्वाव भूयोस्तीति । तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥३॥

वह जो चित्त को महान् जान कर भगवान् को चित्त से आराधता है वह चेतनावन्त लोकों को सिद्ध कर लेता है । शेष पूर्ववत् ।

छठा खण्ड

ध्यानं वाव चित्ताद् भूयो, ध्यायतीव पृथिवी, ध्यायतीवान्तरिक्षं, ध्यायतीव द्यौर्ध्यायन्तीवापो, ध्यायन्तीव पर्वताः, ध्यायन्तीव देवमनुष्याः, तस्माद्य इह मनुष्याणां महत्तां प्राप्नुवन्ति ध्यानापादांश इवैव ते भवन्ति, अथ येऽल्पाः कलहिनः पिशुना उपवादिनस्ते, अथ ये प्रभवो ध्यानापादांशा इवैव ते भवन्ति, ध्यानमुपास्स्वेति ॥१॥

सनत्कुमार ने कहा—ध्यान—आत्मा की एकाग्रता ही चित्त से महान् है । ध्यान करती हुई सी पृथिवी है, मानो पृथिवी अपने रचयिता परमेश्वर का ध्यान करती हुई निश्चल है । ध्यान करता हुआ अन्तरिक्ष है । सौर लोक मानो ध्यान कर रहा है, जल मानो ध्यान कर रहे हैं, पर्वत मानो ध्यान कर रहे हैं, देवजन तथा मनुष्य मानो ध्यान कर रहे हैं । प्रकृति का सारा विकास भगवान् के नियम में नियत रूप से निश्चल है । इस कारण जो नर-नारी इस लोक में मनुष्यों की महत्ता को प्राप्त करते हैं, ध्यान की कला के अंश से ही वे होते हैं; थोड़े बहुत ध्यान से ही, एकाग्रता तथा हरि-ध्यान से ही वे बड़ाई पाते हैं । और जो अल्प हैं, तुच्छ तथा चञ्चलचित्त हैं वे कलह करने वाले, चुगलखोर और निन्दक होते हैं । तथा जो जन समर्थ—शक्तिशाली होते हैं, ध्यान की कला के अंश से ही वे होते हैं । मानो ध्यान के एक अंश से उनको ऐसा गौरव प्राप्त होता है । हे नारद ! तू ध्यान को सिद्ध कर, एकाग्रता लाभ कर ।

स यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्ध्यानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते । अस्ति भगवो ध्यानाद् भूय इति ? ध्यानाद्वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥२॥

वह जो ध्यान को महान् जान कर भगवान् की उपासना करता है; ध्यान में भगवान् को आराधता है, जहां तक ध्यान की गति है वहां तक इसका स्वच्छन्द संचार होता है । अन्य पूर्ववत् ।

सातवां खण्ड

विज्ञानं वाव ध्यानाद् भूयः । विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति, यजुर्वेदं, सामवेदम्, आथर्वणं चतुर्थं, इतिहासपुराणं पञ्चमं, वेदानां वेदं, पित्र्यं, राशिं, दैवं, निधिं, वाकोवाक्यम्, एकायनं, देवविद्यां, ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां, क्षत्रविद्यां, नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यां, दिवं च, पृथ्वीं च, वायुं चाकाशं, चापश्च, तेजश्च, देवांश्च, मनुष्यांश्च, पशूंश्च, वयांसि च तृणवनस्पतीञ्, छ्वापदानि आकीटपतङ्गपिपीलकं, धर्मं चाधर्मं च, सत्यं, चानृतं च, साधु चासाधु च, हृदयज्ञं, चाहृदयज्ञं चान्नं च, रसं, चेमं च, लोकममुं च, विज्ञानेनैव विजानाति । विज्ञानमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

सनत्कुमार ने कहा — विज्ञान—यथार्थ ज्ञान ही ध्यान से महान् है । मनुष्य को यथार्थ ज्ञान होना चाहिए । विज्ञान से मनुष्य ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, चौथे अथर्ववेद को जानता है । पांचवें इतिहास-पुराण को, व्याकरण को, पितृकर्म को, गणित को, भाग्यविज्ञान को, खानों को, तर्कशास्त्र को, नीतिशास्त्र को, देवविद्या को, भक्तिशास्त्र को, तत्त्वों की विद्या को, क्षत्रविद्या को, ज्योतिषविद्या को, सर्पों के ज्ञान को तथा गायन विद्या को, द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, जल, तेज, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण, वनस्पति, हिंस्रजीव, कीट, पतङ्ग, चींटी, धर्म, अधर्म, सत्य, असत्य, अच्छा, बुरा, अनुकूल, प्रतिकूल, अन्न, रस, इस लोक, परलोक वा उस लोक इन सब को विज्ञान से ही मनुष्य जानता है । हे नारद ! तू विज्ञान को प्राप्त कर ।

स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते विज्ञानवतो वै स लोकान् ज्ञानवतोऽभिसिध्यति । यावद्विज्ञानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते । अस्ति भगवो विज्ञानाद् भूय इति ? विज्ञानाद्वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥२॥

जो जन विज्ञान को महान् जान कर परमेश्वर की उपासना करता है वह विज्ञान वाले और ज्ञान वाले लोकों को सिद्ध कर लेता है । शेष पूर्ववत् ।

आठवां खण्ड

बलं वाव विज्ञानाद् भूयः । अपि ह शतं विज्ञानवतामेको बलवानाकम्पयते । स यदा बली भवत्यथोत्थाता भवत्युत्तिष्ठन् परिचरिता भवति, परिचरन्नुपसत्ता भवत्युपसीदन् द्रष्टा भवति, श्रोता भवति, मन्ता भवति, बोद्धा भवति, कर्ता भवति, विज्ञाता भवति ॥ १ ॥

सनत्कुमार ने कहा—बल ही विज्ञान से अधिक है। निश्चय, सौ विज्ञानवालों को एक बलवान् कंम्पा देता है। वह ज्ञानी जब बली होता है तभी कार्य करने को खड़ा होता है। खड़ा होता हुआ सेवा करने लग जाता है, सेवा करता हुआ सत्सङ्ग में बैठने वाला हो जाता है, सत्सङ्ग में बैठता हुआ तत्त्व को देखने वाला हो जाता है। तदनन्तर श्रोता होता है, मनन करने वाला होता है, तत्त्वज्ञाता होता है, सत्कर्म-कर्ता होता है और आत्मज्ञाता हो जाता है। वास्तव में, बल आत्मशक्ति का ही प्रकाश है।

बलेन वै पृथिवी तिष्ठति, बलेनान्तरिक्षं, बलेन द्यौः, बलेन पर्वताः, बलेन देवमनुष्याः, बलेन पशवश्च, वयांसि, च, तृणवनस्पतयः, श्वापदान्याकीटपतङ्ग-पिपीलकम् । बलेन लोकस्तिष्ठति । बलमुपास्स्वेति ॥ २ ॥

बल से ही पृथिवी ठहरी हुई है; बल से आकाश, बल से द्युलोक, बल से पर्वत, बल से देव-मनुष्य, बल से पशु, बल से पक्षी, बल से तृण-वनस्पतियां, बल से हिंस्र जीव कीट पतङ्ग तथा चींटियां, ये सब अपने स्वभाव में ठहरे हुए हैं। भगवान् का नियम और उसकी नियति ही परम बल है। उसी से सब की स्थिति है। बल से लोक अपनी मर्यादा में स्थित हैं। हे नारद ! तू बल की प्राप्ति कर। आत्मा को शक्तिमय जान।

स यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते, यावद्बलस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते । अस्ति भगवो बलाद् भूय इति ! बलाद्वाव भूयोऽस्ति । तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ ३ ॥

जो जन बल को महान् जान कर भगवान् की उपासना करता है जहां तक बल की गति है वहां तक उस का स्वच्छन्द संचार होता है। शेष पूर्ववत्।

नवां खण्ड

अन्नं वाव बलाद् भूयः । तस्माद्यद्यपि दश रात्रीर्नाश्नीयाद्यद्यु ह जीवेदथवा-ऽद्रष्टाऽश्रोताऽमन्ताऽबोद्धाऽकर्ताऽविज्ञाता भवति । अथान्नस्याऽऽयै द्रष्टा भवति, श्रोता भवति, मन्ता भवति, बोद्धा भवति, कर्ता भवति, विज्ञाता भवति । अन्नमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

अन्न ही बल से अधिक है, अन्न से बल प्राप्त होता है। इस कारण यद्यपि कोई मनुष्य दश रात्री तक न खाये और यदि वह जीता रहे तो अद्रष्टा, अश्रोता, अमन्ता, अबोद्धा, अकर्ता और अविज्ञाता हो जाता है, उसमें ज्ञान. मनन नहीं रहता। और अन्न

की प्रीति से देखने वाला हो जाता है; श्रोता, मन्ता, बोद्धा, कर्ता और विज्ञाता हो जाता है, उस का मनन, ज्ञान बना रहता है। इस कारण नारद ! तू अन्न को सेवन कर।

स योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽन्नवतो वै स लोकान् पानवतोऽभिसिध्यति । याव-दन्नस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्ते । अस्ति भगवो-ऽन्नाद् भूय इति ? अन्नाद्वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥२॥

जो जन अन्न को महान् मान कर भगवान् की उपासना करता है; खाता-पीता हुआ उस को नहीं भूलता, वह अमृतभोजी, अन्न वाले और पान वाले लोकों को सिद्ध कर लेता है। शेष पूर्ववत्।

दसवां खण्ड

आपो वावान्नाद् भूयः । तस्माद्यदा सुवृष्टिर्न भवति व्याधीयन्ते प्राणा, अन्नं कनीयो भविष्यतीति । अथ यदा सुवृष्टिर्भवत्यानन्दिनः प्राणा भवन्त्यन्नं बहु भविष्यतीति । आप एवेमा मूर्त्ता येयं पृथिवी, यदन्तरिक्षं, यद् द्यौः, यत्पर्वताः, यद्देवमनुष्याः, यत्पशवश्च, वयांसि च, तृणवनस्पतयः, श्वापदान्याकीटपतङ्ग-पिपीलकम्, आप एवेमा मूर्त्ताः । अप उपास्स्वेति ॥१॥

जल ही अन्न से अधिक है, जल से अन्न होता है। इस कारण जब सुवृष्टि नहीं होती तो प्राण दुःखित होते हैं कि अन्न थोड़ा होगा। और जब अच्छी वर्षा होती है तो प्राण आनन्दित होते हैं कि अन्न बहुत होगा। जल ही ये आगे कहे मूर्तिमन्त पदार्थ हैं। जो यह पृथिवी है, जो अन्तरिक्ष है, जो द्युलोक, जो पर्वत, जो देव-मनुष्य, जो पशु, पक्षी, तृण-वनस्पतियां, हिंस्रजीव, कीट से पतङ्ग चींटी तक जल ही ये मूर्त हैं, जल ही इन में मूर्तिमन्त बने हुए हैं। हे नारद ! तू जलों को सेवन कर।

स योऽपो ब्रह्मेत्युपास्त आप्नोति सर्वान् कामांस्तृप्तिमान् भवति । यावदपां गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽपो ब्रह्मेत्युपास्ते । अस्ति भगवोऽद्भ्यो भूय इति ? अद्भ्यो वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥२॥

वह जो जलों को महान्, ऐसा जान कर भगवान् की उपासना करता है अर्थात् स्नानादि से शुद्ध हो कर उपासना करता है वह सारे मनोरथों को प्राप्त कर लेता है; तृप्तिमान् हो जाता है। शेष पूर्ववत्।

ग्यारहवां खण्ड

तेजो वावाद्भ्यो भूयः । तद्वा एतद्वायुमागृह्याकाशमभितपति, तदाहुर्निशोचति,

नितपति, वर्षिष्यति वा इति। तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाऽथापः सृजते। तदेतदूर्ध्वाभिश्च, तिरश्चीभिश्च विद्युद्भिराह्रादाश्चरन्ति। तस्मादाहुर्विद्योतते, स्तनयति, वर्षिष्यति वा इति। तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाऽथापः सृजते। तेज उपास्स्वेति ॥१॥

तेज ही जलों से अधिक है, तेज से जल बने हैं। जिस तत्त्व से जलों की उत्पत्ति तथा प्रकाश होता है वह तेज है। वह यह तेज वायु को भलीभांति ग्रहण करके आकाश को तपाता है। तब लोग कहते हैं बहुत तप रहा है, अति तप रहा है, अब बरसेगा। तेज ही उस पूर्व, उष्ण स्व-स्वरूप को दिखा कर फिर जलों को रचता है। वे ये तेज ही ऊपर की और तिरछी बिजलियों से गर्जते हुए चलते हैं। इस कारण लोग कहते हैं कि चमक रहा है, गर्जता है अब बरसेगा। हे नारद! तू तेज को जान।

स यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते, तेजस्वी वै स तेजस्वतो लोकान् भास्वतोऽपहततमस्कानभिसिध्यति। यावत्तेजसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते। अस्ति भगवस्तेजसो भूय इति? तेजसो वाव भूयोऽस्तीति। तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥२॥

वह जो तेज को महान्, ऐसा जान कर भगवान् को आराधता है वह तेजस्वी उपासक तेजवाले, प्रकाशमान और अन्धेरे से रहित लोकों को सिद्ध कर लेता है। शेष पूर्ववत्।

बारहवां खण्ड

आकाशो वाव तेजसो भूयान् आकाशे वै सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राण्यग्निः, आकाशेनाह्वयति, आकाशेन शृणोत्याकाशेन प्रतिशृणोत्याकाशे रमत आकाशे न रमत आकाशे जायत आकाशमभिजायते। आकाशमुपास्स्वेति ॥१॥

सनत्कुमार ने कहा—आकाश ही तेज से अधिक है। आकाश में ही सूर्य चन्द्र दोनों, बिजली, नक्षत्र और अग्नि आदि रहते हैं। आकाश से मनुष्य शब्द द्वारा दूसरे को बुलाता है। आकाश से मनुष्य शब्द को सुनता है, आकाश से उत्तर को सुनता है, आकाश में मनुष्य क्रीड़ा करता है, आकाश में ही बन्धुवियोग होने पर नहीं रमण करता, आकाश में सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं और आकाश को पा कर ही जगत् उत्पन्न होता है। हे नारद! तू सब का स्थान आकाश को जान।

स यं आकाशं ब्रह्मेत्युपास्त आकाशवतो वै स लोकान् प्रकाशवतोऽसंबाधा-नुरुगायवतोऽभिसिध्यति । यावदाकाशस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्ते । अस्ति भगव आकाशाद् भूय इति ? आकाशाद्वाव भूयोऽस्तीति, तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥२॥

वह जो आकाश को महान्, ऐसा जान भगवान् को आराधता है वह आकाशवाले प्रकाशवाले, दुःखक्लेशरूपबाधा रहित और विस्तीर्ण लोकों को सिद्ध कर लेता है। शेष पूर्ववत्।

तेरहवां खण्ड

स्मरो वावाकाशाद् भूयः । तस्माद्यद्यपि बहव आसीरन्न स्मरन्तो नैव ते कंचन शृणुयुर्न मन्वीरन्न विजानीरन् । यदा वाव ते स्मरेयुरथ शृणुयुरथ मन्वीरन्नथ विजानीरन् । स्मरेण वै पुत्रान् विजानाति, स्मरेण पशून् । स्मरमुपास्स्वेति ॥१॥

सनत्कुमार ने कहा—स्मर—स्मृति—स्मरण ही आकाश से अधिक है। इस कारण यद्यपि बहुत मनुष्य न स्मरण करते हुए एक स्थान में ही बैठे हुए हों, तो भी वे न ही कुछ सुनें, न मनन करें और न जानें। जब ही वे स्मरण करें-स्मृति से काम लें तब सुनने लग जायें तथा मनन करने लग जाएं और जान सकें। स्मृति से ही मनुष्य अपने पुत्रों को जानता है और स्मृति से पशुओं को पहचानता है। नारद ! तू स्मरण-शक्ति को सम्पादन कर।

स यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्ते, यावत् स्मरस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्ते । अस्ति भगवः स्मराद् भूय इति ? स्मराद्वाव भूयो-ऽस्तीति । तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥२॥

जो जन स्मरण को महान् जान कर भगवान् की उपासना करता है, जहां तक स्मरण की गति है, वहां तक उस का स्वच्छन्द संचार होता है। शेष पूर्ववत्।

चौदहवां खण्ड

आशा वाव स्मराद् भूयसी । आशेद्धो वै स्मरो मन्त्रानधीते, कर्माणि कुरुते, पुत्रांश्च पशूंश्चेच्छत इमं च लोकममुं चेच्छते । आशामुपास्स्वेति ॥१॥

अप्राप्त पदार्थ की आकाङ्क्षा का नाम आशा है। सनत्कुमार ने कहा—आशा ही स्मरण से अधिकतरा है। निश्चय, जब आशा से प्रदीप्त स्मृति होती है, तब मनुष्य मन्त्रों को पढ़ता है, कर्मों को करता है, पुत्रों को और पशुओं को चाहता है, इस और उस लोक को चाहता है! नारद! तू आशा को आराधन कर।

स य आशां ब्रह्मेत्युपास्त आशयास्य सर्वे कामाः समृध्यन्त्यमोघा हास्याशिषो भवन्ति। यावदाशाया गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति य आशां ब्रह्मेत्युपास्ते। अस्ति भगव आशाया भूय इति? आशाया वाव भूयोऽस्तीति। तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥२॥

वह जो आशा को महान्, ऐसा जान कर भगवान् की उपासना करता है। परमेश्वर की दया की आशा से इस के सारे मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं और इस के आशीर्वाद अमोघ—अचूक हो जाते हैं। शेष पूर्ववत्।

पन्द्रहवां खण्ड

प्राणो वाव आशाया भूयान्। यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन् प्राणे सर्वं समर्पितम्। प्राणः प्राणेन याति, प्राणः प्राणं ददाति, प्राणाय ददाति। प्राणो ह पिता, प्राणो माता, प्राणो भ्राता, प्राणः स्वसा, प्राण आचार्यः, प्राणो ब्राह्मणः ॥१॥

प्राण से तात्पर्य यहां आत्मा की शक्ति से है। वह शक्ति देहस्थ पुरुष की देह में जीवनरूप से स्फुरित होती है और परमपुरुष की लोकों के निर्माण तथा स्थिति आदि में अभिव्यक्त होती है। सनत्कुमार ने कहा—प्राण ही आशा से अधिकतर है। जैसे ही रथ की नाभि में अरे लगे हुए होते हैं ऐसे ही इस प्राण में सब कुछ समर्पित है। प्राण प्राणद्वारा जन्मान्तर में जाता है, प्राण प्राण को फलप्रदान करता है, प्राण के लिए ही देता है। प्राण ही पिता है, प्राण माता है, प्राण भ्राता है, प्राण बहिन है, प्राण आचार्य है और प्राण ही ब्राह्मण है। ये सब संज्ञाएं आत्मशक्ति में ही समझी गई हैं।

स यदि पितरं वा, मातरं वा, भ्रातरं वा, स्वसारं वाचार्यं वा, ब्राह्मणं वा, किंचिद् भृशमिव प्रत्याह धिक् त्वाऽस्त्वित्येवैनमाहुः। पितृहा वै त्वमसि, मातृहा वै त्वमसि, भ्रातृहा वै त्वमसि, स्वसृहा वै त्वमस्याचार्यहा वै त्वमसि ब्राह्मणहा वै त्वमसीति ॥२॥

यदि वह अवज्ञा करने वाला पिता को, माता को, भ्राता को बहिन को, आचार्य को, ब्राह्मण को कुछ अनुचित सी कहे तो सन्त लोग तुझे धिक्कार हो, ऐसा उस को कहते हैं। तू पितृघातक है, तू मातृघातक है, तू भ्रातृहन्ता है, तू बहिन को हनन करने वाला है, तू आचार्यघातक है, तू ब्राह्मणघातक है ऐसा उसको कहते हैं।

अथ यद्यप्येनानुत्क्रान्तप्राणान् शूलेन समासं व्यतिसंदहेत्, नैवैनं ब्रूयुः पितृहासीति, न मातृहासीति न भ्रातृहासीति न स्वसृहासीति नाचार्यहासीति, न ब्राह्मणहासीति ॥३॥

और यद्यपि इन मरे हुए, प्राणरहित, पिता आदियों को कोई पुत्रादि शूल से इकट्ठा करके अच्छी तरह जलावे तो इस को सन्तजन नहीं कहते कि तू पितृहन्ता है, न कहते हैं तू मातृहन्ता है, न भ्रातृहन्ता है, न बहिन का हन्ता है, न आचार्य-हन्ता है और न ब्राह्मणहन्ता है। अतः प्राण—आत्मभाव ही पिता आदि की संज्ञा वाला होता है।

प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति। स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति। तं चेद् ब्रूयुरतिवाद्यसीत्यतिवाद्यस्मीति ब्रूयान्नापह्नुवीत ॥४॥

प्राण—आत्मा ही ये सब संबन्धी हो जाता है। वह ही यह आत्मज्ञानी ऐसे समझता हुआ, ऐसे मनन करता हुआ और ऐसे जानता हुआ अतिवादी हो जाता है, यथार्थ वक्ता बन जाता है। किसी का पक्षपात वह नहीं करता। उसको यदि अन्य जन कहें कि तू अतिवादी है तो मैं अतिवादी हूं ऐसा उत्तर में वह कहे, अपने भाव को न छुपाये। यहां आत्मा के अस्तित्व को ही प्राण कहा गया है।

सोलहवां खण्ड

एष तु वा अतिवदति, यः सत्येनातिवदति। सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानीति। सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति। सत्यं भगवो विजिज्ञास इति ॥१॥

अतिवादन का अर्थ है—अति—परम कथन। सनत्कुमार ने कहा—यह आत्मवेत्ता ही परम कथन करता है, जो सत्य के साथ, साक्षी के भाव से अति बोलता है। साक्षी आत्मा के भाव से ही ऊंची बात कही जाती है। नारद ने कहा—भगवन्! ईश्वर कृपा से वह मैं सत्य से अति बोलूं। उसने कहा—तब सत्य ही—अविनाशी पद ही जानने योग्य है। नारद ने कहा—हे भगवन्! मैं सत्य को जानना चाहता हूँ।

सत्तरहवां खण्ड

यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदति । नाविजानन् सत्यं वदति । विजानन्नेव सत्यं वदति । विज्ञानं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति । विज्ञानं भगवो विजिज्ञास इति ॥१॥

पदार्थ के विशेष ज्ञान का नाम विज्ञान है । सनत्कुमार ने कहा—निश्चय जब मनुष्य आत्मा-परमात्मा को भलीभांति जानता है तब सत्य बोलता है । न जानता हुआ सत्य नहीं बोलता । जानता हुआ ही सत्य कहता है । विज्ञान ही जानने की इच्छा करने योग्य है । नारद ने कहा—भगवन् ! मैं विज्ञान को जानना चाहता हूँ ।

अठारहवां खण्ड

यदा वै मनुतेऽथ विजानाति । नामत्वा विजानाति मत्वैव विजानाति । मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति । मतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥१॥

देखे, सुने और पढ़े हुए विषयों को विचारना और मानना मति है । सनत्कुमार ने कहा—निश्चय जब कोई मनुष्य सत्य को मनन करता है, मानता है तब जानता है । न मान कर नहीं जानता । मान कर ही जानता है । मति ही जानने की इच्छा करने योग्य है । नारद ने कहा—भगवन् ! मैं मति को जानना चाहता हूँ ।

उन्नीसवां खण्ड

यदा वै श्रद्दधात्यथ मनुते । नाश्रद्दधन् मनुते । श्रद्दधदेव मनुते । श्रद्धा त्वेव विजिज्ञासितव्येति । श्रद्धां भगवो विजिज्ञास इति ॥१॥

आत्मा-परमात्मा रूप सत्य को धारण करने की जो रुचि है, जो आस्तिकभाव है उसका नाम श्रद्धा है । सनत्कुमार ने कहा—निश्चय जब मनुष्य सत्य में श्रद्धा करता है तब सत्य को मानता है । और अश्रद्धा करता हुआ नहीं मानता । श्रद्धा करता हुआ ही मानता है । श्रद्धा ही जानने की इच्छा करने योग्य है । नारद ने कहा—भगवन् ! श्रद्धा को मैं जानना चाहता हूँ ।

बीसवां खण्ड

यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्दधाति । नानिस्तिष्ठन् श्रद्दधाति । निस्तिष्ठन्नेव श्रद्दधाति । निष्ठा त्वेव विजिज्ञासितव्येति । निष्ठां भगवो विजिज्ञास इति ॥१॥

आत्मा-परमात्मा रूप सत्य में जो अविचल धारणा करता है, जो दृढ विश्वास तथा निश्चय है उसका नाम निष्ठा है । सनत्कुमार ने कहा—निश्चय जब मनुष्य सत्य में

अविचल निश्चय करता है तब सत्य में श्रद्धा करता है। न निश्चय करता हुआ नहीं श्रद्धा करता, संशयात्मा श्रद्धालु नहीं होता। निश्चय करता हुआ ही श्रद्धा करता है। निष्ठा—सत्य में अविचल स्थिति ही जानने की इच्छा करने योग्य है। नारद ने कहा—भगवन्! मैं निष्ठा को जानना चाहता हूं।

इक्कीसवां खण्ड

यदा वै करोत्यथ निस्तिष्ठति। नाकृत्वा निस्तिष्ठति। कृत्वैव निस्तिष्ठति। कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति। कृतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥१॥

भगवान् की उपासना, आराधना तथा कर्तव्य कर्म का नाम कृति है। सनत्कुमार ने कहा—निश्चय जब मनुष्य सत्य की प्राप्ति के लिए उपासना आदि सत्कर्म करता है तब सत्य में निष्ठा करता है; कर्म न करके नहीं निष्ठा करता है; अकर्मण्य जन केवल कोरा तर्क ही करता रहता है। कर्म करके ही निष्ठा करता है। इस कारण कृति—कर्तव्य-शीलता ही जानने की इच्छा करने योग्य है। नारद ने कहा—भगवन्! मैं कृति को जानना चाहता हूं।

बाईसवां खण्ड

यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति। नासुखं लब्ध्वा करोति। सुखमेव लब्ध्वा करोति। सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति। सुखं भगवो विजिज्ञास इति।१।

सनत्कुमार ने कहा—निश्चय जब मनुष्य कर्म करके सुख को पाता है तब कर्म करता है; आत्म-परमात्म-सत्ता सुखरूपा है, उस की प्राप्ति हो तभी धार्मिक कर्म किए जाते हैं। सुख को न पा कर कर्म नहीं करता। सुख को ही पा कर कर्म करता है। इस कारण सुख ही जानने की इच्छा करने योग्य है। नारद ने कहा—भगवन्! मैं सुख को जानना चाहता हूं।

तेईसवां खण्ड

यो वै भूमा तत्सुखम्। नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्। भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति। भूमानं भगवो विजिज्ञास इति ॥१॥

बहुत होने को, सबके महान् को और परम पुरुष को भूमा कहा है। सनत्कुमार ने कहा—निश्चय, जो महान् है, परमपवित्र सत्ता है वह सुख है। अल्प में सुख नहीं है। महान् ही सुख है। महान् ही जानने की इच्छा करने योग्य है। नारद ने कहा—भगवन्! मैं महान् को जानना चाहता हूं।

यत्र नान्यत्पश्यति, नान्यच्छृणोति, नान्यद्विजानाति, स भूमा। अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्। यो वै भूमा तदमृतम् अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्। स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति? स्वे महिम्नि; यदि वा न महिम्नीति ॥१॥

सनत्कुमार ने कहा—जिस परम शुद्ध अवस्था में आत्मा अन्य वस्तु को नहीं देखता, अन्य शब्द को नहीं सुनता और अन्य पदार्थ को नहीं जानता वह भूमा है। उस निरपेक्ष आत्म-पाद का नाम भूमा है। और जिस अवस्था में आत्मा अन्य वस्तुओं को देखता है, अन्य शब्दों को सुनता है और अन्य वस्तुओं को जानता है वह अल्प है। जो ही भूमा है, परम-पद है वह अमृत है, अविनाशी आनन्द है। और जो परम अल्प है वह मरणीय है। नारद ने पूछा—भगवन्! वह भूमा किस में प्रतिष्ठित है, किस में स्थिर है? सनत्कुमार ने उत्तर दिया— अपनी महिमा में, अपने विमल आत्म भाव में। अथवा न महिमा में।

गो-अश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्ति-हिरण्यं दास-भार्यं क्षेत्राण्यायतनानीति। नाहमेवं ब्रवीमि ब्रवीमीति होवाचान्यो ह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठित इति ॥२॥

इस लोक में गाय, अश्व, हस्ति-सुवर्ण, दास-भार्या, भूमि और घर महिमा कही जाती है। परन्तु मैं ऐसा नहीं कहता, मैं इसे आत्मा की महिमा नहीं कहता। वह बोला—यह तो एक दूसरे में प्रतिष्ठित है, यह मैं कहता हूं। आत्म-भाव इस महिमा में प्रतिष्ठित है, मैं यह नहीं कहता।

पच्चीसवां खण्ड

स एवाधस्तात् स उपरिष्टात्स पश्चात्स पुरस्तात्स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वमिति। अथातोऽहंकारादेश एव अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वमिति ॥१॥

वह भूमा ही नीचे है वह ऊपर है, वह पीछे है, वह आगे है वह दक्षिण से है, वह उत्तर से है और वह ही यह सर्वत्र विद्यमान है। परम पुरुष की महिमा कह कर सनत्कुमार कहता है कि अब इससे आगे अहं-भावना का उपदेश ही है। मैं ही नीचे हूं, मैं ऊपर हूं मैं पीछे हूं, मैं आगे हूं, मैं दक्षिण से हूं मैं उत्तर से हूं और मैं ही यह सब हूं, मैं हो यह सर्व-चैतन्य-स्वरूप हूं। मैं सर्वत्र प्राप्त हूं।

अथात आत्मादेश एव । आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति । स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति । तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति । अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्तिः तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति ॥२॥

अब इससे आगे आत्मा का उपदेश ही है। आत्मा ही नीचे है, आत्मा ऊपर है, आत्मा पीछे है, आत्मा आगे है, आत्मा दक्षिण से है, आत्मा उत्तर से है, आत्मा ही यह सब है, सर्वत्र विद्यमान् तथा सर्व-चैतन्य-स्वरूप है। वह ही यह स्वात्म-परमात्म-ज्ञाता शुद्ध स्व-स्वरूप को तथा परम-पुरुष को इस प्रकार देखता हुआ, ऐसे मनन करता हुआ ऐसे जानता हुआ, आत्मा में रति—प्रसन्नता मानने वाला, आत्मा में—स्वस्वरूप में रमण करने वाला, स्वात्मा में अनन्यभाव से एक, स्वात्मा में आनन्दी, वह अपना आप राजा हो जाता है। वह आत्मज्ञानी अपना आप महाराजा—शासक बन जाता है। उसे पर की अपेक्षा नहीं रहती। उसका सारे लोकों में यथेच्छा-गमन होता है। और जो इससे विपरीत जानते हैं; आत्म-दर्शी नहीं हैं, अन्य राजा वाले हैं, वे नाशमय लोकों वाले होते हैं। उन बद्ध जीवों का सारे लोकों में यथेच्छ विचरण नहीं होता।

छब्बीसवां खण्ड

तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आशाऽऽत्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मत आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्नमात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यानमात्मताश्चित्तमात्मतः संकल्प आत्मतो मन आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मन्त्रा आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेदं सर्वमिति ॥१॥

सनत्कुमार ने कहा—ऐसे देखते हुए, ऐसे मनन करते हुए, ऐसे जानते हुए उस इस आत्मज्ञाता का आत्मा से प्राण है, आत्मा से आशा है, आत्मा से स्मृति, आत्मा से आकाश, आत्मा से तेज, आत्मा से जल, आत्मा से प्रकट होना और नाश होना, आत्मा से अन्न, आत्मा से बल, आत्मा से विज्ञान, आत्मा से ध्यान, आत्मा से चित्त, आत्मा से संकल्प, आत्मा से मन, आत्मा से वाणी, आत्मा से नाम, आत्मा से श्रुतियां, आत्मा से कर्म और आत्मा से ही यह सब है। आत्म-ज्ञानी—मुक्तात्मा आत्मा से ही सर्वसिद्धि-संपन्न होता है। उस के आत्मभाव से होने योग्य स्वयं हो जाता है। वह विमल आत्म-भाव से सर्वज्ञ और सर्वसम्पन्न समझा गया है। उसमें निर्माण-सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है।

तदेष श्लोकः—न पश्यो मृत्युं पश्यति, न रोगं नोत दुःखताम् !
सर्वं ह पश्यः पश्यति, सर्वमाप्नोति सर्वश इति ॥२॥

वह यह इस पर श्लोक है—आत्म-दर्शी मृत्यु को नहीं देखता, वह अमर हो जाता है। न वह रोग को भोगता है और न ही मानस दुःखावस्था को। आत्म-दर्शी सब कुछ जानता है और सर्व-सुख सर्व प्रकार से प्राप्त करता है।

स एकधा भवति, त्रिधा भवति, पञ्चधा, सप्तधा, नवधा चैव, पुनश्चैकादश स्मृतः, शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विंशतिः। आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः, स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः। तस्मै मृदितकषा-याय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः। तं स्कन्द इत्याचक्षते, तं स्कन्द इत्याचक्षते ॥३॥

वह मुक्तात्मा एक होता है, उसका स्वरूप अखण्ड होता है परन्तु सिद्धि-संयोग से, परमेश्वर में रत रहने से स्व-संकल्प-पूर्वक त्रिधा, पञ्चधा; सप्तधा, नवधा, फिर एकादश, सौ, दस, एक, सहस्रों तथा बीसों प्रतीत होने लग जाता है। परमेश्वर की इच्छा में उसके ये संकल्पमय स्वरूप होते हैं। इन्द्रियों से जो विषय ग्रहण किये जाते हैं उनका नाम यहां आहार है। उपासना से आहारशुद्धि होने पर अन्तः-करण की शुद्धि होती है। अन्तःकरण की शुद्धि होने पर ध्रुव स्मृति हो जाती है। स्मृति-ज्ञान के लाभ होने पर अज्ञान, पाप आदि की सारी ग्रन्थियों का सर्वनाश हो जाता है। क्रोधादि दोषों को कषाय कहते हैं। भगवान् सनत्कुमार ने उस नष्ट-कषाय नारद को अज्ञानान्धकार से पार को, आत्म-परमात्म-स्वरूप को दर्शाया। उपदेश देकर उसको आत्म-दर्शी बना दिया। उस भगवान् सनत्कुमार को स्कन्द भी कहते हैं; उसको स्कन्द भी कहते हैं।

प्रपाठक आठवां, पहला खण्ड

अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म, दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश-स्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं, तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥१॥

अब दहर-विद्या कही-जाती है। इस ब्रह्मपुर में—भगवद्भक्त के शरीर में, जो यह सूक्ष्म कमल-गृह है—हृदय है, और इस में भीतर जो सूक्ष्म आकाश—आत्म निवासस्थान है, उसमें जो भीतर चैतन्य-ज्योति है वह खोजने योग्य है। वह ही जानने की इच्छा करने योग्य है। ब्रह्म की उपासना, आराधना मनुष्य-शरीर में होती है इस कारण यह ब्रह्मपुर है। यह बल, शक्ति और तेज का स्थान है।

तं चेद् ब्रूयुर्यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म, दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः, किं तदत्र विद्यते, यदन्वेष्टव्यं, यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥२॥

उस दहरोपासना के ज्ञाता भगवद्भक्त को यदि कोई कोरे तार्किक कहें कि इस ब्रह्मपुर में जो यह सूक्ष्म कमल गृह है, सूक्ष्म जो इस में भीतर आत्म स्थान है, वह इस में क्या विद्यमान है ? जो[11] खोजने योग्य है और जो[21] ही[22] जानने की इच्छा करने योग्य है।

हृदय-कमल को ब्रह्म—महान्—धाम मान कर स्वसत्ता की जागृति के लिए वहां धारणा करना और सत्य, नित्य, शुद्ध, चैतन्य, शक्ति-स्वरूप स्वात्मा का चिन्तन करना दहरोपासना है। इस से प्रसुप्त आत्म-भाव जग जाता है। आत्म-भाव के जागने पर इस व्यष्टिगत हृदय चक्र में ही समष्टि जगत् के चमत्कार, भाव तथा प्रतिबिम्ब प्रतीत होने लगा करते हैं। हृत्-पुरुष प्रबुद्ध हो जाय तो उसके संकल्प में सफलता, मनोरथ-सिद्धि और कर्तृत्व आदि बल आ जाते हैं।

स ब्रूयाद्यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः। उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते, उभावग्निश्च वायुश्च, सूर्याचन्द्रमसावुभौ, विद्युन्नक्षत्राणि। यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितमिति ॥३॥

वह उपासक उन तार्किकों को कहे—जितना ही यह आकाश है उतना ही यह अन्तर्हृदय में आत्म-भाव है। इस आत्म-ज्योति में दोनों[13] द्यौ[14] और पृथिवी, भीतर[16] ही भलीभांति प्रतिबिम्बित हैं। दोनों[18] अग्नि और वायु, दोनों[21] सूर्य और चन्द्रमा, बिजली और नक्षत्र इस में समाहित हैं। इस भगवद्भक्त का इस संसार में जो[27] कुछ ज्ञान है[28] और जो[29] ज्ञान नहीं है[31] वह ज्ञाताज्ञात सब इस आत्मा में भली प्रकार निहित है। हृदय वह केन्द्र है जहां शब्द रूपादि सब विषय अङ्कित हैं।

तं चेद् ब्रूयुरस्मिंश्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वं समाहितं, सर्वाणि च भूतानि, सर्वे च कामाः। यदैनज्जरावाप्नोति प्रध्वंसते वा; किं ततोऽतिशिष्यत इति ? ॥४॥

उस उपासक को फिर यदि तार्किक कहें—इस ब्रह्मपुर में यदि यह सब समाहित है, सारे पदार्थ और सारे मनोरथ भलीप्रकार निहित हैं तो जब इस देह को बुढ़ापा प्राप्त होता है और जब यह शरीर नष्ट हो जाता है तो उसके पश्चात् क्या शेष रह जाता है ?

स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति। न वधेनास्य हन्यते। एतत्सत्यं ब्रह्मपुरम् अस्मिन्कामाः समाहिताः। एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको[23] विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः। यथा ह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति

यथानुशासनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति, यं जनपदं, यं क्षेत्रभागं, तं तमेवोपजीवन्ति ॥५॥

उन तर्क-वादियों को वह उपासक उत्तर में कहे—शरीर की जीर्णता से यह ब्रह्म-पुर-स्थित आत्मा नहीं जीर्ण होता। इस शरीर के वध से यह नहीं हनन किया जाता। यह आत्मा सच्चा ब्रह्म-पुर है, इस में ही मनोरथ भलीप्रकार स्थित हैं। यह हृदय-स्थित आत्मा निष्पाप है, जरारहित है, मृत्युरहित है, शोकरहित है, क्षुधारहित है, तृषा-रहित है, सत्य इच्छा वाला है और सत्यसंकल्पवान् है। उसकी कामनाएं ऐसे पूर्ण होती हैं जैसे ही इस लोक में प्रजाएं राजा के पीछे चलती हैं; राजा का जैसा आदेश हो उसके अनुसार, जिस जिस प्रदेश को चाहने वाली हो जाती हैं। जिस देश को, जिस क्षेत्रभाग को राजा प्रदान करे उस उसको ही भोगती हैं।

तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते। तद्य इहात्मानमननुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेष्वकाम-चारो भवति। अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥६॥

सो जैसे इस लोक में राज-सेवादि कर्मों से प्राप्त भोग नाश हो जाता है, अन्त समय साथ नहीं जाता, ऐसे ही परलोक में पुण्यकर्म से प्राप्त भोग क्षय हो जाता है। इस कारण जो सकाम कर्मी-जन इस जन्म में आत्मा को और इन निष्काम-कर्म के सच्चे मनोरथ—सुखों को न जान कर मर जाते हैं उन बद्ध जीवों का सारे लोकों में स्व-तन्त्र संचार नहीं होता। और जो परमेश्वर के उपासक इस मनुष्य-जन्म में आत्मा को और इन सच्चे सुखों को भली प्रकार जान कर शरीर छोड़ते हैं उन मुक्तात्माओं का सारे लोकों में स्वतन्त्र संचार हो जाता है, वे सर्वत्र निर्बाध हो जाते हैं।

दूसरा खण्ड

स यदि पितृलोककामो भवति, संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति, तेन पितृलोकेन संपन्नो महीयते ॥१॥

वह सर्वत्र स्वतन्त्र मुक्तात्मा यदि पिता के लोक की कामना वाला होता है तो इसके संकल्प से ही पितर इसके संमुख उपस्थित हो जाते हैं। उस पितृलोक से युक्त वह महिमावान् हो जाता है। मुक्त आत्मा जिस वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना चाहे, वही वस्तु-ज्ञान वह संकल्पमात्र से प्राप्त कर लेता है। यह सिद्धि उसे स्वभाव से प्राप्त हो जाती है। उसके संकल्प से नाना भावों का प्रकाश हो जाता है।

अथ यदि मातृलोककामो भवति, संकल्पादेवास्य मातरः समुत्तिष्ठन्ति । तेन मातृलोकेन संपन्नो महीयते ॥२॥ अथ यदि भ्रातृलोककामो भवति, संकल्पादेवास्य भ्रातरः समुत्तिष्ठन्ति । तेन भ्रातृलोकेन संपन्नो महीयते ॥३॥

और यदि वह मातृलोक की कामना वाला होता है तो इसके संकल्प से ही माताएं आ उपस्थित होती हैं। उस मातृलोक से मुक्त वह महिमावाला हो जाता है। ऐसे ही भ्रातृलोक जानो। उसका संकल्प सूक्ष्मलोक और तत्त्वों पर अधिकार पा लेता है।

अथ यदि स्वसृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य स्वसारः समुत्तिष्ठन्ति । तेन स्वसृलोकेन संपन्नो महीयते ॥४॥ अथ यदि सखिलोककामो भवति, संकल्पादेवास्य सखायः समुत्तिष्ठन्ति । तेन सखिलोकेन संपन्नो महीयते ॥५॥ अथ यदि गन्धमाल्यलोककामो भवति, संकल्पादेवास्य गन्धमाल्ये समुत्तिष्ठतस्तेन गन्धमाल्यलोकेन संपन्नो महीयते ॥६॥

और यदि वह बहिनों के लोक की कामना करता है तो संकल्प से बहिनों का मिलाप उसको प्राप्त हो जाता है। यदि वह मित्रों के लोक की कामना करता है तो संकल्प से इसके मित्र संमुख आ जाते हैं। यदि वह गन्ध और माला की कामना करता है तो इसके संकल्प से गन्ध-माला भी प्राप्त हो जाती हैं।

अथ यद्यन्नपानलोककामो भवति, संकल्पादेवास्यान्नपाने समुत्तिष्ठतस्तेनान्नपानलोकेन संपन्नो महीयते ॥७॥ अथ यदि गीतवादित्रलोककामो भवति, संकल्पादेवास्य गीतवादित्रे समुत्तिष्ठतस्तेन गीतवादित्रलोकेन संपन्नो महीयते ॥८॥ अथ यदि स्त्रीलोककामो भवति संकल्पादेवास्य स्त्रियः समुत्तिष्ठन्ति, तेन स्त्रीलोकेन संपन्नो महीयते ॥९॥

यदि वह-अन्न जल के लोक की कामना करता है, गीत और बाजे की कामना करता है और पत्नी-लोक की कामना करता है तो उक्त सब संकल्प से ही इसके संमुख आ उपस्थित होते हैं। वह अमोघ मनोरथ हो जाता है।

यं येमन्तमभिकामो भवति, यं कामं कामयते सोऽस्यं संकल्पादेव समुत्तिष्ठति । तेन संपन्नो महीयते ॥१०॥

वह मुक्त आत्मा, जिस जिस प्रदेश को चाहने वाला होता है और जिस मनोरथ को चाहता है वह इसके संकल्प से ही उपस्थित हो जाता है। उससे युक्त होकर महिमावान् हो जाता है। मुक्तात्मा-स्व-संकल्प से, सर्व तत्त्वों और सर्व वस्तुओं को जान लेता है। वह सफल-मनोरथ और सिद्ध-काम होता है।

तीसरा खण्ड

त इमे सत्याः कामा अनृतापिधानास्तेषां सत्यानां सतामनृतमपिधानम्। यो यो ह्यस्येतः प्रैति न तमिह दर्शनाय लभते ॥१॥

वे ये सच्चे आत्मिक मनोरथ बद्ध जीव में असत्य—अज्ञान के ढकने से युक्त हैं। मनुष्य की सच्ची कामनाएं अविद्या ने ढक रक्खी हैं। उन सत्य होने वाले मनोरथों का असत्य ढँकन है। इस कारण इस मनुष्य का जो जो बन्धु यहां से मर जाता है, परलोक में उसके होने पर, भी, उसको इस लोक में दर्शन के लिए वह नहीं प्राप्त कर सकता। स्थूल और सूक्ष्म लोक में अज्ञान ही व्यवधान है।

अथ ये चास्येह जीवा ये च प्रेता यच्चान्यदिच्छन्न लभते, सर्वं तदत्र गत्वा विन्दते। अत्र ह्यस्यैते सत्याः कामा अनृतापिधानाः। तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुः, एवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः ॥२॥

और इस मनुष्य के यहां जो बन्धु जीते हैं, जो मर गये और जो कुछ अन्य वस्तु चाहता हुआ वह नहीं पाता, वह, सब यहां ब्रह्मलोक में जा कर प्राप्त कर लेता है। यहां आत्मा में ही इसके ये सच्चे—अमोघ मनोरथ असत्य से ढके हुए हैं। सो जैसे ही क्षेत्र में गढ़े हुए सुवर्ण-कोश को, क्षेत्र को न जानने वाले उसके ऊपर ऊपर चलते हुए भी कोश को नहीं पाते, ऐसे ही ये सारी प्रजाएं दिन-दिन—नित्य-प्रति आत्म-भाव में जाती हुई भी इस ब्रह्मलोक को नहीं प्राप्त करतीं। क्योंकि ये प्रजाएं अज्ञान से ही आच्छादित हैं; अपने स्वरूप को भूली हुई हैं।

स वा एष आत्मा हृदि, तस्यैतदेव निरुक्तं, हृद्ययमिति। तस्माद् धृदयम्। अहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति ॥३॥

वह ही यह आत्मा हृदय में है, उसका यह ही निर्वचन है, हृदय में यह आत्मा है; इसी कारण हृदय कहा है। ऐसा जानने वाला दिन दिन—प्रति-दिन ही स्वर्ग लोक को—हृदय में आत्म-भाव को प्राप्त होता है। सुषुप्ति में तथा समाधि में आत्मा के सारे भाव हृदय में एकीभूत हो जाते हैं। हृदय ही आत्म-ज्योति का केन्द्र है।

अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय, परं ज्योतिरुपसंपद्य, स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते। एष आत्मेति होवाच एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति। तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति ॥४॥

और वह यह स्व-स्वरूप में प्रसन्न आत्मा, अत्यन्त-मोक्ष के समय, इस भौतिक शरीर से उठ कर—निकल कर परम ज्योति—परमेश्वर धाम को पा कर अपने स्वरूप से प्रकट होता है। गुरुजनों ने कहा—यह आत्मा है, परम पुरुष है, यह अमृत है, यह अभयपद है और यह ब्रह्म है। उस इस ब्रह्म का नाम सत्य है।

तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि; सतियमिति। तद्यत् "सत्" तदमृतम्, अथ यत् "ति" तन्मर्त्यम्, अथ यद् "यम्" तनोभे यच्छति। यदनेनोभे यच्छति तस्मात् "यम्"। अहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति ॥५॥

सत्य शब्द के वे ही ये तीन अक्षर हैं—स, त, य। वह जो "स" है वह अमृत है; और जो "त्" है वह मर्त्य है, और जो "यम्" है उससे "स" "त्" दोनों को जोड़ता है। जो इससे दोनों को जोड़ता है इस कारण "यम्" है। ऐसा जानने वाला प्रति-दिन स्वर्ग लोक को प्राप्त होता है। सत्य शब्द से अविनाशी आत्मा का और नाशवान् का ज्ञान होता है।

चौथा खण्ड

अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय। नैतं सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतम्। सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते। अपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः ॥१॥

और जो सर्वदा सत्यावस्था में रहने वाला आत्मा—ब्रह्म है, वह परमेश्वर इन पृथिवी आदि लोकों के अविनाश के लिए पुल वा बान्ध है। उसके नियम में सब लोक बद्ध हैं। वह लोकों का धारक है। इस परमात्म-सत्ता-रूप सेतु को दिन-रात नहीं लांघते, उसमें काल नहीं है; न जरा, न मृत्यु, न शोक, न पुण्य, न पाप उसे लांघता है। उसका स्वरूप सर्वदा परम शुद्ध रहता है। सारे पाप इस पद से लौट आते हैं। पाप-रहित ही यह ब्रह्म-धाम है। वह नित्य, परम शुद्ध, बुद्ध, परम पद है।

तस्माद्वा एतं सेतुं तीर्त्वाऽन्धः सन्ननन्धो भवति, विद्धः सन्नविद्धो भवत्युपतापी सन्ननुपतापी भवति। तस्माद्वा एतं सेतुं तीर्त्वापि नक्तमहरेवाभिनिष्पद्यते। सकृद्विभातो ह्येवैष ब्रह्मलोकः ॥२॥

इस कारण से ही इस सेतु को लांघ कर अन्धा होता हुआ मनुष्य नयनवान्—ज्ञानवान् हो जाता है पाप से बींधा हुआ होने पर भी अविद्ध—पाप-रहित हो जाता है और दुःख से पीड़ित होने पर भी अपीड़ित हो जाता है। इस कारण से ही इस सेतु को लांघ कर ही रात्रि, दिन ही हो जाती है। क्योंकि यह ही ब्रह्म-धाम सदा निरन्तर प्रकाशमान है। वह पद परम प्रकाशमय है।

तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकः । तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥३॥

इस लिए जो ही उपासक इस ब्रह्मलोक को ब्रह्मचर्य से—यज्ञ कर्म, तप, संयम और जितेन्द्रियता से, प्राप्त करते हैं उनका ही यह ब्रह्मधाम है। उन मुक्त आत्माओं का सारे लोकों में स्वच्छन्द संचार होता है।

पांचवां खण्ड

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्, ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दते । अथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्, ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्ट्वाऽऽत्मानमनुविन्दते ॥१॥

और जो 'यज्ञ—वैदिक होमादि' ऐसा कहते हैं, ब्रह्मचर्य ही वह कर्म है। ब्रह्मचर्य से ही जो ज्ञानी है उस ब्रह्म को पाता है। तथा जो 'इष्ट' ऐसा कहते हैं, जो दान-पुण्यादि कर्म बताए हैं; ब्रह्मचर्य ही वह शुभ कर्म है। ब्रह्मचर्य से ही ईश्वर को पूज कर उपासक आत्मा को प्राप्त करता है। सर्व शुभ कर्म ईश्वरप्राप्ति के साधन हैं।

अथ यत्सत्त्रायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्, ब्रह्मचर्येण ह्येव सत आत्मनस्त्राणं विन्दते । अथ यन्मौनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्, ब्रह्मचर्येण ह्येवात्मानमनुविद्य मनुते ॥२॥

और जो 'सत्त्रायण' नाम यज्ञ कहते हैं वह ब्रह्मचर्य ही है; ब्रह्मचर्य से ही उपासक अपने सदा, निरन्तर रहने वाले आत्मा का रक्षण प्राप्त करता है। तथा जो 'मौन' ऐसा कहते हैं वह भी ब्रह्मचर्य ही है, ब्रह्मचर्य से ही, उपासक आत्मा को जान कर परमेश्वर के स्वरूप का मनन करता है।

अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्, एष ह्यात्मा न नश्यति, यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते । अथ यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत् । अरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके । तृतीयस्यामितो दिवि तदैरंमदीयं सरस्तदश्वत्थः सोमसवनस्तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितं हिरण्मयम् ॥३॥

और जो अनाशकायन—उपवास' ऐसा कहते हैं वह ब्रह्मचर्य ही है। क्योंकि जिस स्व-स्वरूप को ब्रह्मचर्य से उपासक प्राप्त करता है, वह यह आत्मा फिर नहीं नष्ट होता; सदा एक-रस शुद्ध बना रहता है। तथा जो 'अरण्यायन—वनवास' ऐसा कहते हैं वह भी ब्रह्मचर्य ही है। क्योंकि ब्रह्म-लोक में 'अर' और 'ण्य' ये दो समुद्र हैं। यहां से तीसरे

प्रकाशमय मोक्ष-धाम में वह "ऐरम्"—सुख और "मदीयम्"—आनन्द का सरोवर है, सुख और आनन्द का समुद्र है। वहां अमृत निःसृत करता हुआ अश्वत्थ वृक्ष है—अमृतमय पद है। वहां सर्व-समर्थ परमेश्वर का बनाया हुआ आदित्यवर्ण, अविनाशी पुर है, ब्रह्म-धाम है। वह धाम शुभ्र प्रकाश-स्वरूप है।

तद्य एवैतावरं च ण्यं चार्णवौ ब्रह्मलोके ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति, तेषामेवैष ब्रह्मलोकः। तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥४॥

इस कारण जो ही उपासक जन इन "अरम्"—सुख और "ण्यम्"—आनन्दरूप दो समुद्रों को ब्रह्मलोक में ब्रह्मचर्य से प्राप्त करते हैं, उनका ही यह ब्रह्म धाम है। उनका सारे लोकों में स्वतन्त्र संचार हो जाता है। ये दो समुद्र सुख और आनन्द ही समझने चाहिएँ।

छठा खण्ड

अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य, नीलस्य, पीतस्य, लोहितस्येति। असौ वा आदित्यः पिङ्गल एष शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहितः ॥१॥

अब हृदय की नाड़ियों का वर्णन किया जाता है। जो ये मनुष्य के हृदय की नाड़ियां हैं वे पिङ्गलवर्ण के सूक्ष्म रस से भरी हुई हैं। शुक्ल वर्ण के, नीले वर्ण के, पीते वर्ण के और रक्त वर्ण के सूक्ष्म रस से भरी हुई हैं। यह ही सूर्य पिङ्गलवर्ण है; यह शुक्लवर्ण, यह नीलवर्ण, यह पीतवर्ण और यह रक्तवर्ण है। ये सब वर्ण सूर्य के हैं, उसकी ज्योति से ये वर्ण, हृदयगत नाड़ियों के परम-सूक्ष्म रसों में आये हैं। इस उपासना में आत्मा के निवास-स्थान को सूर्य के साथ मिलाया है। यह प्राचीन-चक्रोपासना है। आदित्य-धाम में आत्मा को स्थिर करने का रहस्य है।

तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमं चामुं च। एवमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमं चामुं च। अमुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते। ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते। तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः ॥२॥

वे सूर्य के वर्ण नाड़ियों के रसों में ऐसे आये हैं—सो जैसे दूर तक लम्बा महा-मार्ग इस—समीपस्थ और उस—दूरस्थ दोनों ग्रामों को जाता है। ऐसे ही ये सूर्य की किरणें इस और उस दूरस्थ दोनों लोकों को जाती हैं। उस आदित्य से ही फैलती हैं। वे किरणें इस लोक में आ कर इन नाड़ियों में प्रविष्ट हो कर फिर इन नाड़ियों से फैलती हैं। अन्त में वे किरणें लौट कर उस आदित्य में जा प्रविष्ट होती हैं।

तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति । तन्न कश्चन पाप्मा स्पृशति । तेजसा हि तदा संपन्नो भवति ॥३॥

इस कारण जिस अवस्था में यह जीवात्मा सोया हुआ, सम शान्त और प्रसन्न होता है और स्वप्न को नहीं जानता, उस समय वह इन नाड़ियों में प्रविष्ट होता है। उस काल उसको कोई भी पाप नहीं स्पर्श करता। उस समय आत्मा तेज से ही संपन्न होता है, आत्म-ज्योति से युक्त होता है।

अथ यत्रैतदबलिमानं नीतो भवति तमभित आसीना आहुर्जानासि मां जानासि मामिति । स यावदस्माच्छरीरादनुत्क्रान्तो भवति तावज्जानाति ॥४॥

तदनन्तर जिस अवस्था में ज्वरादि से यह जीवात्मा निर्बलता को प्राप्त होता है तब उसको चारों ओर से घेर कर बैठे हुए बन्धु-जन कहते हैं—तू मुझको जानता है, क्या तू मुझको जानता है? वह म्रियमाण जीवात्मा जब तक इस शरीर से नहीं निकल जाता तब तक जानता पहचानता है।

अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते । स ओमिति वा होद्वा मीयते । स यावत् क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति । एतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम् ॥५॥

तदनन्तर जिस अवस्था में यह जीवात्मा प्रबुद्ध हो कर इस शरीर से बाहर निकलता है तब इन ही किरणों द्वारा ऊपर को जाता है। वह ओम्—भगवान् का नाम ही उच्चारण करता हुआ ऊपर जाता है। वह जितने काल में मन हिलावे—संकल्प करे—उतने स्वल्प समय में आदित्य-लोक को जा पहुंचता है। यह आदित्य-लोक ही आत्मज्ञानियों के प्राप्त करने का लोक-द्वार है और अज्ञानियों का निरोध है—अज्ञानी इस लोक को नहीं जाते।

तदेष श्लोकः । शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति ॥६॥

इस पर यह श्लोक है—सौ और एक हृदय की नाड़ियां हैं। उन में से एक ऊपर को निकली हुई है। विवेकी मनुष्य का आत्मा उससे ऊपर को जाता हुआ अमृतपन—मोक्ष-धाम को जाता है। अन्य नाड़ियां मरण-समय नाना योनियों के मार्गों वाली होती हैं।

सातवां खण्ड

य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः । स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्, यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच ॥१॥

यह ऐतिहासिक वार्ता है कि एक सत्सङ्ग-सभा में प्रजापति नामक महर्षि ने कहा—जो आत्मा पापरहित है, अजर है, अमर है, शोकरहित है, क्षुधारहित है, तृषारहित है, सत्यकाम है, और सत्यसंकल्प है, वह ही खोजने योग्य है और वह ही जानने की इच्छा करने योग्य है। जो परमेश्वर-भक्त उस आत्मा को साक्षात् करके जानता है वह सारे लोकों को और सारे मनोरथों को प्राप्त कर लेता है।

तद्धोभये देवासुरा अनुबुबुधिरे । ते होचुर्हन्त तमात्मानमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वांश्च लोकानाप्नोति, सर्वांश्च कामानिति । इन्द्रो ह वै देवानामभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणाम् । तौ हासंविदानावेव समित्पाणी प्रजापतिसकाशमाजग्मतुः ॥२॥

वह उपदेश दोनों देव और असुर समझे। वे अपने अपने दलों में परस्पर बोले—अहो! जिस आत्मा को खोज कर—जान कर मनुष्य सारे लोकों को और सारे मनोरथों को प्राप्त कर लेता है हम उस आत्मा को जानना चाहते हैं। तब देवों का नेता इन्द्र और असुरों का नेता विरोचन चल पड़ा। वे दोनों विवाद न करते हुए, शान्त-भाव से ही समिधा हाथ में लिए प्रजापति के समीप आये।

तौ ह द्वात्रिंशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतुः । तौ ह प्रजापतिरुवाच—किमिच्छन्ताववास्तमिति ? तौ होचतुर्य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः । स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति भगवतो वचो वेदयन्ते तमिच्छन्तावावास्तमिति ॥३॥

वे आकर बत्तीस वर्ष तक प्रजापति के पास ब्रह्मचर्यपूर्वक रहे। तदनन्तर उनको प्रजापति ने कहा—आप दोनों क्या चाहते हुए यहां रहे? वे बोले—जो आत्मा पापरहित है इत्यादि वह जानना चाहिए। जो उसको जानता है वह सारे लोकों को और सारे मनोरथों को प्राप्त कर लेता है, यह भगवान् के वचनों से जिज्ञासु जन जानते हैं। उस आत्मा को जानना चाहते हुए हम यहां रहे।

तौ ह प्रजापतिरुवाच—य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाच । एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति । अथ योऽयं भगवोऽप्सु परिख्यायते यश्चायमादर्शे कतम एष इत्येष उ एवैषु सर्वेष्वेतेषु परिख्यायत इति होवाच ॥४॥

उनको प्रजापति ने कहा—जो यह आंख में आत्मा देखा जाता है—जो समाधि में दिव्य नेत्र से पुरुष देखा जाता है; यह आत्मा है। यह अमृत है, अभय है और यह महान् है। उन्होंने पूछा—भगवन् ! और जो यह जलों में प्रतिबिम्ब-रूप से देखा जाता है और जो यह दर्पण में प्रत्याकृति-रूप में देखा जाता है कौन यह है ? प्रजापति ने कहा—यह ही आंख में देखा गया पुरुष इन सब में प्रतीत होता है, उसी का भाव इन में झलकता है।

आठवां खण्ड

उदशराव आत्मानमवेक्ष्य यदात्मनो न विजानीथस्तन्मे प्रब्रूतमिति । तौ होदशरावेऽवेक्षांचक्राते । तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति ? तौ होचतुः सर्वमेवेदमावां भगव आत्मानं पश्याव आ लोमभ्य आ नखेभ्यः प्रतिरूपमिति ॥१॥

प्रजापति ने उनको कहा—पानी के प्याले में आत्मा को देख कर यदि आत्मा के स्वरूप को न जान सको 'तो मुझे बताना। वे आत्मा को पानी के प्याले में देखने लगे। उनको प्रजापति ने कहा—क्या देखते हो ? वे बोले—भगवन् ! सारे ही इस आत्मा को हम देखते हैं, लोमों से लेकर नखपर्यन्त प्रतिरूप को हम देखते हैं।

तौ ह प्रजापतिरुवाच—साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षेथामिति । तौ ह साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षांचक्राते । तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति ? ॥२॥

फिर उनको प्रजापति ने कहा—तुम दोनों अच्छे अलंकृत, सुवस्त्रधारी और विभूषित होकर आत्मा को पानी के प्याले में देखो'। वे अच्छे अलंकृत सुवस्त्रधारी वेश विभूषित होकर पानी के प्याले में आत्मा को देखने लगे। उनको प्रजापति ने कहा क्या देखते हो ?

तौ होचतुर्यथैवेदमावां भगवः साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ स्व एवमेवेमौ भगवः साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृताविति । एष आत्मेति होवाच, एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति । तौ ह शान्तहृदयौ प्रवव्रजतुः ॥३॥

वे बोले—भगवन् ! जैसे ही यह हमारे शरीर अच्छे अलंकृत, सुवस्त्र वाले परिष्कृत हैं, ऐसे ही भगवन् ! ये प्रतिबिम्ब अच्छे अलंकृत, सुवस्त्रयुक्त और परिष्कृत दीखते हैं। प्रजापति ने कहा—यह आत्मा है; यह अमृत तथा अभय है और यह महान् है। वे शान्त-हृदय होकर चले गये। यहां प्रजापति का संकेत प्रतिबिम्ब के द्रष्टा की ओर था। देखने वाला चेतन-स्वरूप ही आत्मा है यह यहां रहस्य था।

तौ हान्वीक्ष्य प्रजापतिरुवाचानुपलभ्यात्मानमननुविद्य व्रजतो यतर एतदुपनिषदो भविष्यन्ति । देवा वासुरा वा ते पराभविष्यन्तीति । स ह शान्तहृदय एव विरोचनोऽसुरान् जगाम । तेभ्यो हैतामुपनिषदं प्रोवाचात्मैवेह महय्य आत्मा परिचर्यः । आत्मानमेवेह महयन्नात्मानं परिचरन्नुभौ लोकाववाप्नोतीमं चामुं चेति ॥४॥

उन जाते हुओं को देख कर प्रजापति ने कहा—आत्मा को न पा कर और न जान कर जा रहे हो, जो देव वा असुर इस उपनिषद् वाले हो जायेंगे। देव वा असुर, वे इस उपनिषद् वाले हार जायेंगे। वह शान्तहृदय विरोचन असुरों के पास जा पहुंचा और उनको यह उपनिषद् बताने लगा। देह ही इस लोक में पूजनीय है और देह सेवनीय है। अपने शरीर को ही इस लोक में पूजता हुआ और देह को सेवन करता हुआ इस और उस दोनों लोकों को मनुष्य प्राप्त कर लेता है।

तस्मादप्यद्येहाददानमश्रद्दधानमयजमानमाहुरासुरो बतेति । असुराणां ह्येषोपनिषत्प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेनालंकारेणेति संस्कुर्वन्त्येतेन ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्ते ॥५॥

इस कारण आज भी इस लोक में अदाता को, अश्रद्धालु को और अयजमान को पण्डितजन कहते हैं कि यह असुर ही है। यह असुरों की विद्या है कि वे मरे हुए के शरीर को मालादि से, वस्त्र से, अलंकार से सजाते हैं। इस कर्म से पर लोक को जीत जायेंगे यह वे मानते हैं। असुर सार वस्तु को न जान कर देह को ही सब कुछ समझते हैं।

नवां खण्ड

अथ हेन्द्रोऽप्राप्यैव देवानेतद् भयं ददर्श । यथैव खल्वयमस्मिञ्छरीरे साध्वलंकृते साध्वलंकृतो भवति, सुवसने सुवसनः, परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति, स्रामे स्रामः, परिवृक्णे परिवृक्णः । अस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति । नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥१॥

और इन्द्र ने देवों को न पहुंच कर ही मार्ग में यह भय देखा। निश्चय, जैसे ही यह छाया-पुरुष इस शरीर के अच्छे अलंकृत होने पर अच्छा अलंकृत होता है; सुवस्त्रयुक्त होने पर सुवस्त्रवान् और परिष्कृत होने पर परिष्कृत होता है ऐसे ही यह छाया-पुरुष इस शरीर के अन्धा होने पर अन्धा हो जाता है; कांना होने पर कांना और अङ्गहीन होने पर अङ्गहीन हो जाता है। इस शरीर के नाश पर ही यह नष्ट हो जाता है। मैं इस आत्मविद्या में कल्याण नहीं देखता। जड-वाद में रस नहीं है।

स समित्पाणिः पुनरेयाय। तं ह प्रजापतिरुवाच—मघवन्! यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः सार्धं विरोचनेन, किमिच्छन् पुनरागम इति ? स होवाच—यथैव खल्वयं भगवोऽस्मिञ्छरीरे साध्वलंकृते साध्वलंकृतो भवति; सुवसने सुवसनः, परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति; स्रामे स्रामः, परिवृक्णे परिवृक्णः। अस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति। नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥२॥

वह इन्द्र समित्पाणि फिर लौट आया। उसको प्रजापति ने कहा—इन्द्र! विरोचन के साथ जो तू शान्त-हृदय होकर चला गया था अब क्या चाहता हुआ फिर लौट आया है? वह इन्द्र बोला-भगवन्! यह देहछाया-विद्या सन्तोषजनक नहीं है इत्यादि।

एवमेवैष मघवन्निति होवाच। एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि। वसापराणि द्वात्रिंशतं वर्षाणीति। स हापराणि द्वात्रिंशतं वर्षाण्युवास। तस्मै होवाच ॥३॥

प्रजापति ने उसे कहा—मघवन्! ऐसा ही यह है, इसमें कल्याण नहीं दीखता। यह ही ज्ञान तुझे मैं दुबारा व्याख्यापूर्वक कहूंगा। तू और बत्तीस वर्ष ब्रह्मचर्य-पूर्वक मेरे पास रह। वह और बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य-पूर्वक रहा। फिर उसको प्रजापति ने कहा। जिज्ञासु ने गहरी लगन से साधना की तब फिर गुरु ने बताया—

दसवां खण्ड

य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति होवाच एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति। स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज। स हाप्राप्यैव देवानेतद् भयं ददर्श, तद्यद्यपीदं शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति यदि स्राममस्रामः। नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति ॥१॥

प्रजापति ने कहा—जो यह साक्षी स्वप्न में नाना रूपादि से पूज्यमान होकर विचरता है यह आत्मा है; यह अमृत, अभय है, यह ब्रह्म है। वह इन्द्र शान्तहृदय होकर चला गया। परन्तु उसने देवों को न पहुंच कर ही इस भय को जान लिया।

सो यद्यपि यह शरीर अन्धा होता है तो वह स्वप्न का साक्षी अन्धा नहीं होता, यदि यह काना हो तो वह काना नहीं होता। इस शरीर के दोष से यह नहीं दूषित होता।

न वधेनास्य हन्यते, नास्य स्राम्येण स्रामः, घ्नन्ति त्वेवैनं, विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवति, अपि रोदितीव नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥२॥

इसके वध से वह नहीं हनन होता, इसके कानेपन से वह नहीं काना होता, परन्तु इसको मारते हैं, भगाते से हैं ऐसा प्रतीत होता है, और वह अप्रिय रूपादिकों को जानने वाला सा हो जाता है तथा रोता सा प्रतीत होता है। मैं इस स्वप्न के साक्षी के स्वरुप में कल्याण नहीं देखता।

समित्पाणिः पुनरेयाय। तं ह प्रजापतिरुवाच—मघवन्! यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः किमिच्छन् पुनरागम इति? स होवाच—तद्यद्यपीदं भगवः शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति; स्राममस्रामः। नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति ॥३॥

वह समिधा हाथ में लिए फिर लौट आया। उसको प्रजापति ने कहा—मघवन्! जो शान्त-हृदय होकर तू गया था अब क्या चाहता हुआ फिर लौट आया है? शेष पूर्ववत्।

न वधेनास्य हन्यते। नास्य स्राम्येण स्रामः। घ्नन्ति त्वेवैनं, विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवति, अपि रोदितीव। नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति। एवमेवैष मघवन्निति होवाच, एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि। वसापराणि द्वात्रिंशतं वर्षाणीति। स हापराणि द्वात्रिंशतं वर्षाण्युवास। तस्मै होवाच ॥४॥

ग्यारहवां खण्ड

तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति एष आत्मेति होवाच, एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति। स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज। स हाप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श। नाह खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति; नो एवेमानि भूतानि। विनाशमेवापीतो भवति। नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥१॥

सो जिस सुषुप्ति अवस्था में यह सोया हुआ, स्व स्वरूप में स्थित, संप्रसन्न होता है और स्वप्न को नहीं जानता यह आत्मा है; यह उसने कहा। यह अमृत, अभय है। यह महान् है। यह शान्त हृदय होकर चला गया। परन्तु उसने, देवों को न पहुँच कर ही इस उपदेश में यह दोष देखा। निश्चय, ऐसे यह इस विद्यमान आत्मा को नहीं जानता कि यह मैं हूं, न ही इन भूतों को जान सकता है। क्योंकि सुषुप्ति में यह विनाश में ही लीन होता है। इस कारण मैं इस सुषुप्ति अवस्था में कल्याण नहीं देखता।

स समित्पाणिः पुनरेयाय । तं ह प्रजापतिरुवाच—मघवन् ! यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः किमिच्छन् पुनरागम इति ? स होवाच—नाह खल्वयं भगव एवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति; नो एवेमानि भूतानि । विनाशमेवापीतो भवति । नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥२॥

वह समिधा हाथ में लिए फिर लौट आया। उसको प्रजापति ने कहा—मघवन्! तू जो शान्तहृदय होकर चला गया था अब क्या चाहता हुआ फिर लौट आया है ? उसने कहा—भगवन्! निश्चय, यह जन ऐसे विद्यमान आत्मा को नहीं जान सकता कि यह मैं हूं, न ही इन भूतों को। सुषुप्ति में विनाश में ही लीन होता है। मैं इस में कल्याण नहीं देखता।

एवमेवैष मघवन्निति होवाच । एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि । नो एवान्यत्रैतस्माद्, वसापराणि पञ्च वर्षाणि । स हापराणि पञ्च वर्षाण्युवास । तान्येकशतं सम्पेदुः, एतत्तद्यदाहुरेकशतं ह वै वर्षाणि मघवान्प्रजापतौ ब्रह्मचर्य-मुवास । तस्मै होवाच ॥३॥

प्रजापति ने कहा—मघवन् ! ऐसा ही यह है। यह ही आत्मविद्या तुझे मैं फिर कहूँगा। इससे दूसरी बात ही नहीं कहूँगा। तू और पांच वर्ष मेरे पास रह। वह और पांचे वर्ष रहा। वे वर्ष सारे मिल कर एक सौ एक हो गये। यह वह जो कहते हैं कि एक सौ एक वर्ष ही इन्द्र प्रजापति के समीप ब्रह्मचर्यपूर्वक रहा, यह ठीक है। फिर उसको प्रजापति ने उपदेश दिया।

स्वप्न सुषुप्ति के साक्षी और स्व स्वरूप-स्थ आत्मा से प्रजापति का तात्पर्य था परन्तु इन्द्र इन दोनों अवस्थाओं को आत्मा समझता रहा।

बारहवां खण्ड

मघवन्मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना । तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनो-ऽधिष्ठानम्, आत्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्याम् । न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥१॥

हे इन्द्र ! यह पांच भूतों का बना देह मरणधर्मा है, मृत्यु से ग्रस्त—खाया हुआ है । वह शरीर इस अविनाशी, अशरीर आत्मा का अधिष्ठान—रहने का स्थान है । निश्चय, सशरीर आत्मा प्रियाप्रिय से—सुख-दुःख से ग्रस्त है । निश्चय, शरीर वाले आत्मा के सुख-दुःखों का नाश नहीं है ; आत्मा के अशरीर ही होने पर सुख-दुःख नहीं स्पर्श करते । आत्मा अशरीर, अविकृत और अमृत-सत्ता है ।

अशरीरो वायुः, अभ्रं विद्युत्स्तनयित्नुरशरीराण्येतानि । तद्यथैतान्यमुष्मादाकाशात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते ॥२॥

अशरीर वायु है । मेघ बिजली और मेघगर्जनध्वनि ये अशरीर हैं । सो जैसे ये वायु आदि उस आकाश से उद्‌भूत हो कर परम ज्योति—स्वकारण को प्राप्त करके अपने अपने स्वरूप से प्रकट होते हैं ।

एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते । स उत्तमः पुरुषः । स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं । स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः ॥३॥

ऐसे ही यह प्रसन्न आत्मा इस शरीर से निकल कर परम ज्योति—परमेश्वरधाम को—प्राप्त करके अपने परमशुद्ध स्वरूप से प्रकट होता है । वह मुक्तात्मा उत्तम पुरुष है । वह आत्मा वहां मुक्ति में रहता है । मुक्त होकर वह स्त्रियों से, यानों से बन्धुओं से हंसता हुआ, खेलता हुआ और जो रमण करता हुआ सशरीर आत्मा था उसको, मित्रवर्ग को और इस भौतिक शरीर को न स्मरण करता हुआ रहता है । वह जैसे रथ में जुड़ा हुआ घोड़ा होता है ऐसे ही यह आत्मा इस शरीर में जुड़ा हुआ है । मुक्त होकर ही इससे पृथक् होता है । वह शुद्ध चैतन्य है ।

अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः, स चाक्षुषः पुरुषो, दर्शनाय चक्षुः । अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा, गन्धाय घ्राणम् । अथ यो वेदेदमभिव्याहराणीति स आत्माऽभिव्याहाराय वाक् । अथ यो वेदेदं शृणवानीति स आत्मा, श्रवणाय श्रोत्रम् ॥४॥

और सशरीर के यहां देह में यह आकाश—कृष्णतारा अनुगत है वह चक्षु है । उस द्वारा देखने वाला वह आंख में रहने वाला पुरुष—आत्मा है; देखने के लिए आंख है । और जो जानता है कि मैं इसको सूंघूं वह आत्मा है, गन्ध के लिए घ्राण-इन्द्रिय है । और जो जानता है कि मैं इस वाक्य को बोलूं वह आत्मा है, बोलने के लिए वाणी है । और जो जानता हे कि मैं इस को सुनूं वह आत्मा है, सुनने के लिए श्रोत्र है ।

अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा; मनोऽस्य दैवं चक्षुः ।
स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते ॥५॥

तथा जो जानता है कि इसको मनन करूं वह आत्मा है; मन इस आत्मा का स्वाभाविक नेत्र है। वह ही यह आत्मा इस स्वाभाविक नेत्र मन से इन मनोरथों को देखता हुआ मोक्ष में रमता है। मुक्त आत्मा का नेत्र केवल स्वाभाविक चेतना, मन है।

य एते ब्रह्मलोके तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते। तस्मात्तेषां सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः। स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच ॥६॥

ऊपर कहे ब्रह्मलोक में जो ये देव हैं—मुक्त आत्माएं हैं, वे उस ही इस परमेश्वर को आराधते हैं। उनका इष्ट केवल परम-पुरुष है। इस कारण उन मुक्त आत्माओं को सारे लोक और सारे मनोरथ प्राप्त हैं। जो उपासक उस परमात्मा को भली प्रकार समझ कर जानता है वह सारे लोकों को और सारे मनोरथों को प्राप्त करता है। यह प्रजापति ने कहा, प्रजापति ने कहा।

तेरहवां खण्ड

श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्येऽश्व इव रोमाणि विधूय पापं, चन्द्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य, धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामीत्यभिसम्भवामीति ॥१॥

देह में निवास करने वाले आत्मा को श्याम कहा है, छायापुरुष वर्णन किया है। जो आत्मा परमात्मज्योति में जा मिलता है, ब्रह्मधाम में प्रतिष्ठित होता है वह शबल है। श्याम से मैं शबल को प्राप्त होता हूं। शबल से श्याम को जानता हूं। रोमों को घोड़ा जैसे दूर कर देता है ऐसे पाप को दूर कर, राहु के मुख से चन्द्र की भांति पाप को छोड़ कर और शरीर को त्याग कर, मैं कृतात्मा होकर अविनाशी, न बनाये हुए ब्रह्मधाम को प्राप्त होता हूं, प्राप्त होता हूं।

चौदहवां खण्ड

आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता। ते यदन्तरा तद् ब्रह्म, तदमृतं स आत्मा। प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये। यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां, यशो राज्ञां, यशो विशाम्। यशोऽहमनुप्रापत्सि। स हाहं यशसां यशः श्वेतमदत्कमदत्कं श्येतं लिन्दु माऽभिगां लिन्दु माऽभिगाम् ॥१॥

निश्चय से निराकार परमेश्वर नाम-रूप का चलाने वाला है, नामरूपमय जगत् का वह ही संचालक है। वे नाम-रूप जिसके भीतर हैं, जिसके नियम में हैं वह ब्रह्म है,

वह अमृत है और वह आत्मा है। ऐसे ईश्वर का उपासक मैं प्रजापति के सभा गृह—सत्संग को प्राप्त होऊं। मैं ब्राह्मणों के यश वाला होऊं, राजाओं के यश वाला होऊं और वैश्यों के यश वाला होऊं। मैं शुद्ध यश को प्राप्त करना चाहता हूं वह मैं यशों का यश—परम शुद्ध आत्मा, फिर दांत रहित भक्षण करने वाले श्वेत रेतस् को और पिछले जन्म स्थान को मैं प्राप्त होऊं, न प्राप्त होऊं।

पन्द्रहवां खण्ड

तद्धैतद् ब्रह्मा प्रजापतय उवाच; प्रजापतिर्मनवे, मनुः प्रजाभ्यः। आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य, यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य, कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्याहिंसन् सर्वभूतानि, अन्यत्र तीर्थेभ्यः, स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं, ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते। न च पुनरावर्तते; न च पुनरावर्तते ॥१॥

वह यह ब्रह्मविद्या का रहस्य ब्रह्मा ने प्रजापति को कहा, प्रजापति ने मनु को और मनु ने लोगों को बताया। आत्मज्ञान और मुक्ति का अभिलाषी जन आचार्यकुल से वेद को पढ़ कर यथाविधि गुरु के पास से सारे सेवादि कर्म करके समावर्तन करा कर, परिवार में रहता हुआ, पवित्र स्थान में बैठ कर स्वाध्याय करता हुआ, सन्तानों को तथा अन्य जनों को धार्मिक बनाता हुआ, सारी इन्द्रियों को आत्मा में संयम कर, धार्मिक कर्तव्य कर्मों से भिन्न स्थानों में सारे प्राणियों को न सताता हुआ, वह आयुभर ऐसे वर्तता हुआ अन्त में ब्रह्मधाम को प्राप्त होता है। वहां से वह नहीं फिर लौट कर आता, नहीं फिर लौट कर आता। वह सर्वथा मुक्त हो जाता है।

अथ शान्तिः

आप्यायन्तु ममाङ्गानि, वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदम्। माहं ब्रह्म निराकुर्याम्, मा मा ब्रह्म निराकरोत्, अनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

इति सामवेदीया छान्दोग्योपनिषत्समाप्ता।

यजुर्वेदीया

पहला अध्याय, पहला ब्राह्मण

उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः, सूर्यश्चक्षुः, वातः प्राणो, व्यात्तमग्निर्वैश्वानरः, संवत्सर आत्मा। अश्वस्य मेध्यस्य द्यौः पृष्ठम् अन्तरिक्षमुदरं, पृथिवी पाजस्यं, दिशः पार्श्वे, अवान्तरदिशः पर्शवः, ऋतवोऽङ्गानि, मासाश्चार्धमासाश्च पर्वाणि, अहोरात्राणि प्रतिष्ठा, नक्षत्राण्यस्थीनि, नभो मांसानि। ऊवध्यं सिकताः, सिन्धवो गुदा, यकृच्च क्लोमानश्च, पर्वता ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमानि। उद्यन्पूर्वार्धो, निम्लोचञ्जघनार्धो, यद्विजृम्भते तद्विद्योतते, यद्विधूनुते तत्स्तनयति यन्मेहति तद्वर्षति, वागेवास्य वाक् ॥१॥

यजनयोग्य—पूजनकर्मयोग्य अश्व का सिर उषा है, सूर्य चक्षु है, वायु प्राण है, विस्तृत मुख अग्नि वैश्वानर है, संवत्सर आत्मा है। यजनीय अश्व का द्युलोक पीठ है, अन्तरिक्ष पेट है, पृथिवी पादस्थान—खुर है, दिशाएं पांसे हैं; अन्तर्दिशाएं पसलियां हैं, ऋतुएं अङ्ग हैं, मास और अर्धमास जोड़ हैं, दिन-रात प्रतिष्ठा है, नक्षत्र हड्डियां हैं, नभस्थ मेघ मांस है। अर्धजीर्ण अन्न बालुकण हैं, नदियां गुदा है, यकृत् नीचे का मांस-पिण्ड है, पर्वत ओषधियां—चारा हैं, वनस्पतियां लोम हैं, नाभि से ऊपर का भाग उदय होता हुआ सूर्य है, नाभि से नीचे का भाग दोपहर के पश्चात् का दिन है. जो जंभाई लेता है वह विद्युत् का कड़कड़ाना है। जो अङ्ग कंपाता है वह मेघ गर्जता है, जो मूत्र फेंकता है वह बादल बरसता है और इस अश्व का हिनहिनाना ही वाणी है। शीघ्र परिवर्तन और गति से ही सब वस्तुओं में विद्यमान काल अश्व है। उसका सदुपयोग ही, उपनिषत्संबन्धी अश्वमेध यज्ञ है।

अहर्वा अश्वं पुरस्तान्महिमाऽन्वजायत। तस्य पूर्वे समुद्रे योनी, रात्रिरेनं पश्चान्महिमाऽन्वजायत। तस्यापरे समुद्रे योनिः, एतौ वा अश्वं महिमानावभितः संबभूवतुः। हयो भूत्वा देवानवहद्, वाजी गन्धर्वान्, अर्वाऽसुरान्, अश्वो मनुष्यान्, समुद्र एवास्य बन्धुः समुद्रो योनिः ॥२॥

होमे से पूर्व अश्व—सूर्य को लक्ष्य करके महिमायुक्त दिन प्रकट हुआ। उसकी पूर्व समुद्र में योनि है, उसका पूर्व दिशा में स्थान है। होमें के पश्चात् इस अश्व को लक्ष्य करके महत्त्व युक्त रात्रि प्रकट हुई। उसका पश्चिम दिशा में स्थान है। ये महिमा वाले दोनों अश्व—सूर्य को सब ओर से-आगे और पीछे से लक्ष्य करके प्रकट हुए। रात-दिन का कर्ता यह अश्व ही है। वह हय होकर देवों को उठाता रहा, वाजी होकर गन्धर्वों को, अर्वा होकर असुरों को और अश्व होकर मनुष्यों को उठाता रहा। इसका समुद्र ही बन्धु है, समुद्र ही स्थान है। आकाश ही अर्काश्व का स्थान है। पार्थिव जीवन-यजन में, जीवन-ज्योति का सिद्धि-दायक यज्ञाश्व सूर्य है।

दूसरा ब्राह्मण

नैवेह किंचनाग्र आसीत्। मृत्युनैवेदमावृतमासीदशनायया। अशनाया हि मृत्युः। तन्मनोऽकुरुताऽऽत्मन्वी स्यामिति। सोऽर्चन्नचरत्, तस्यार्चत आपोऽजायन्त, अर्चते वै मे कमभूदिति तदेवार्कस्यार्कत्वम्। कं ह वा अस्मै भवति य एवमेतदर्कस्यार्कत्वं वेद ॥१॥

सृष्टि से पूर्व अभिव्यक्त पदार्थ यहां कुछ भी नहीं था। यह विश्व खाना चाहने वाले मृत्यु—प्रलय से ही आच्छादित था। भक्षण करना चाहने वाला ही मृत्यु है। तब भगवान् ने मन—संकल्प किया कि मैं मनस्वी हो जाऊं। वह प्रभु अर्चन—पूजन संचालन करने लगा। प्रकृति में उसने कम्प उत्पन्न किया। उसके संचालन से सूक्ष्म जल प्रकट हुए। उसने जाना कि अर्चन करते हुए ही मेरे लिए सृष्टि का कारण जल उत्पन्न हो गया। वह ही अर्क—सूर्य का अर्कपन है। जो इस प्रकार यह अर्क का अर्कपन जानता है उसके लिए सुख ही होता है।

आपो वा अर्कः, तद्यदपां शर आसीत्तत्समहन्यत। सा पृथिव्यभवत्। तस्यामश्राम्यत्, तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजोरसो निरवर्ततागिः ॥२॥

वह द्रवीभूत सृष्टि का उपादान जल ही अर्क है, तेज का आदि रूप है। वह जो जलों का घोल—झाग था प्रभु के संकल्प ने उसको इकट्ठा किया। वह ही पृथिवी हो गई। उस पृथिवी में भगवान् के संकल्प ने श्रम किया। उस श्रान्त और तपे हुए पार्थिव पदार्थ का तेजोरसरूप अग्निपिण्ड बन गया।

स त्रेधाऽऽत्मानं व्यकुरुत । आदित्यं तृतीयं, वायुं तृतीयं, स एष प्राणस्त्रेधा विहितः । तस्य प्राची दिक् शिरोऽसौ चासौ चेर्मौ । अथास्य प्रतीची दिक् पुच्छमसौ चासौ च सक्थ्यौ । दक्षिणा चोदीची च पार्श्वे, द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरमियमुरः । स एषोऽप्सु प्रतिष्ठितो यत्र क्व चैति तदेव प्रतितिष्ठत्येवं विद्वान् ॥३॥

उस अण्डाकार अग्निपिण्ड ने अपने आप को तीन भागों में विभक्त किया । अग्नि, वायु और आदित्य तीसरा । अग्नि, आदित्य और वायु तीसरा । वह यह जीवन—जगत् का होना तीन प्रकार का बनाया गया । उस तीन प्रकार से विभक्त अग्निपिण्ड का पूर्व दिशा सिर है; यह ईशान और यह आग्नेय कोण दो भुजाएं हैं । और इसकी पश्चिम दिशा पूंछ है, नाभि से अधोभाग है; यह वायव्य और यह नैर्ऋत्य कोण दो हड्डियां हैं । दक्षिण और उत्तर दिशा दो पांसे हैं; द्युलोक पीठ है, अन्तरिक्ष उदर है और यह पृथिवी छाती है, वह यह पिण्ड द्रवीभूत जल में स्थित है । ऐसे जानता हुआ उपासक जहां कहीं जाता है वहीं स्थिर हो जाता है ।

सोऽकामयत द्वितीयो म आत्मा जायेतेति । स मनसा वाचं मिथुनं समभवदशनाया मृत्युः । तद्यद्रेत आसीत्स संवत्सरोऽभवत् । न ह पुरा ततः संवत्सर आस, तमेतावन्तं कालमबिभः । यावान्संवत्सरस्तमेतावतः कालस्य परस्तादसृजत । तं जातमभिव्याददात् । स भाणकरोत्सैव वागभवत् ॥४॥

उस—जगत् प्रभु ने कामना की कि मेरा दूसरा लोक उत्पन्न होवे । तब उस खाना चाहने वाले मृत्यु ने—परिवर्तनशील जगत्-क्रम ने, मन के साथ वाणी को जोड़ दिया । उससे शब्द की उत्पत्ति हुई । वह जो कारण था वह संवत्सर—सूर्य और चन्द्र हो गया । उससे पहले संवत्सर नहीं था । उस संवत्सर को इतने काल तक भगवान् ने धारण—भरण किया । जितना संवत्सर है उसको इतने काल के पीछे रचा । उस काल ने उत्पन्न होते ही मुख फैलाया, वस्तुओं में परिणाम उत्पन्न किया । उसने भाण् किया—नाद गूंजाया, वह कालगत नाद ही वाणी हो गई । ध्वनि से वाणी हुई ।

स ऐक्षत यदि वा इममभिमंस्ये कनीयोऽन्नं करिष्य इति । स तया वाचा तेनाऽऽत्मनेदं सर्वमसृजत, यदिदं किं चर्चो यजूंषि, सामानि, छन्दांसि यज्ञान् प्रजाः पशून् । स यद्यदेवासृजत तत्तदत्तुमध्रियत । सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वम् । सर्वस्यैतस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति, य एवमेतददितेरदितित्वं वेद ॥५॥

उस खाना चाहने वाले मृत्यु ने मानों विचारा कि यदि इसको मैं हनन करूंगा, इतने ही कार्यरूप जगत् को नष्ट करूंगा, तो अल्प अन्न—नाशवान् जगत् रचूंगा। तब उसने उस नादरूप वाणी से, उस प्रथम अपने परिणाम से यह दृश्यमान सारा जगत् रचा और जो कुछ यह है उसको, ऋग्वेद को, यजुर्वेद के मन्त्रों को, सामगीतों को, छन्दों को, यज्ञकर्मों को, प्रजाओं को और पशुओं को रचा। यह सारी सृष्टि विकास-क्रम में होती चली गई। उसने जो जो ही रचा उस उसको उसने खाने को स्थिर किया, सारे कार्यजगत् में नाश की नियति हो गई। सब कार्यजगत् को ही भक्षण करता है, वह ही अदिति—मृत्यु का अदितिपन है। जो उपासक ऐसे इस अदिति के अदितिपन को जानता है, सारे कार्यों में, विकासों में, भगवान् के संकल्प को स्फुरित हुआ समझता है, वह इस सारे भोग्य पदार्थ का भक्षक हो जाता है, इस उपासक का सारा भोग्य पदार्थ अन्न बन जाता है। प्रकृति भोग्य और आत्मा भोक्ता है।

सोऽकामयत भूयसा यज्ञेन भूयो यजेयेति। सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य यशो वीर्यमुदक्रामत्। प्राणा वै यशो वीर्यं, तत्प्राणेषूत्क्रान्तेषु शरीरं श्वयितुमध्रियत। तस्य शरीर एव मन आसीत् ॥६॥

उस सृष्टिक्रम-गत ईश्वरसंकल्प ने फिर कामना की कि मैं महान् यज्ञ से फिर यजन करूं। तब उसने श्रम किया। उसने तप तपा। उस श्रान्त, तप्त से कीर्त्ति और शक्ति उत्पन्न हुई। प्राण ही यश और वीर्य हैं। उन प्राणों—इन्द्रियों के निकल आने पर शरीर ने बढ़ना शुरु कर दिया, प्रकृति ने फैलना आरम्भ कर दिया। उसका शरीर में—स्थूल प्रकृति मे ही मन था। जगत् के कारण में उसका संकल्प व्याप्त हो रहा था।

सोऽकामयत मेध्यं म इदं स्याद्, आत्मन्व्यनेन स्यामिति। ततोऽश्वः समभवद्। यदश्वत्तन्मेध्यमभूदिति। तदेवाश्वमेधस्याश्वमेधत्वम्। एष ह वा अश्वमेधं वेद य एनमेवं वेद। तमनवरुध्येवामन्यत। तं संवत्सरस्य परस्तादात्मन आलभत पशून्देवताभ्यः प्रत्यौहत्। तस्मात्सर्वदेवत्यं प्रोक्षितं प्राजापत्यमालभन्ते।

उसने फिर कामना की कि यह विकास मेरे लिए यजनीय हो, इससे मैं मनस्वी हो जाऊं। तब उस संकल्प से अश्व—सूर्य उत्पन्न हुआ। जो वह बढ़ा, वह यजनीय हो गया। वह ही अश्वमेध का अश्वमेधपन है। यह ही उपासक अश्वमेध को जानता है जो सूर्य को ऐसे उत्पन्न हुआ जानता है। उस अश्व को प्रभु ने निर्बन्ध ही माना। उसको संसार की समाप्तिरूप वर्ष के पीछे उसने अपने लिए प्राप्त किया; उसका संहार उसने आप किया। उसने देवताओं के लिए पशु दिए। इस कारण सर्वदेवता के लिए पवित्र किए गए प्राजापत्य पशु को प्राप्त करते हैं। दान बलिदान से वृद्धि होती है। इस सारे सौरलोक में बलिदान—यजनीय द्रव्य का

सर्वश्रेष्ठ स्वरूप सूर्याश्व है। जो हुत हो रहा है और निर्बन्ध भी है। यह एक महान् अश्वमेध है।

एष ह वा अश्वमेधो य एष तपति । तस्य संवत्सर आत्मा । अयमग्निरर्कः, तस्येमे लोका आत्मानः, तावेतावर्काश्वमेधौ । सो पुनरेकैव देवता भवति मृत्युरेवाप पुनर्मृत्युं जयति, नैनं मृत्युराप्नोति, मृत्युरस्यात्मा भवति, एतासां देवतानामेको भवति ॥७॥

निश्चय, यह ही अश्वमेध यजन है जो यह सूर्य तप रहा है। संवत्सर—काल उसका आत्मा है; काल में उसकी स्थिति है। यह अग्नि अर्क—तेज है। उसके ये पृथिवी आदि लोक आत्माएं हैं; उसके आश्रित हैं। वे ये सूर्य और तेज दोनों अश्वमेध हैं। फिर वह एक ही देवता है जो मृत्यु ही है, जो सबका संयमन करने वाला है। जो उपासक ईश्वर के संकल्प से सारी रचना होती जानता है फिर वह मृत्यु को जीत लेता है, इसको मरण नहीं प्राप्त होता। संयमन करने वाला इसका आत्मा हो जाता है। वह इन देवताओं में सामर्थ्यवान् आत्मा हो जाता है।

तीसरा ब्राह्मण

द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च । ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुराः, त एषु लोकेष्वस्पर्धन्त । ते ह देवा ऊचुः—हन्तासुरान् यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति ॥१॥

निश्चय, प्रजापति—जीवात्मा के इन्द्रियगत दो प्रकार के भाव हैं, सन्तानवत् वासनाजन्य दो भाव हैं; एक तो देव—शुभभाव हैं, दूसरे असुर—अशुभभाव हैं। उन में से छोटे—दुर्बल ही देव हैं और बड़े—प्रबल असुर हैं। उन्होंने इन लोकों में—इन्द्रियों में स्पर्धा की। वे देव परस्पर मिल कर बोले—अहो यज्ञ में असुरों को उद्गीथ से—ईश्वरस्तुति से—नामजाप से अतिक्रमण कर जायें। उनको जीत लें।

ते ह वाचमूचुः—त्वं न उद्गायेति । तथेति, तेभ्यो वागुदगायत् । यो वाचि भोगस्तं देवेभ्य आगायत्, यत् कल्याणं वदति तदात्मने । ते विदुः, अनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति । तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन् । स यः स पाप्मा—यदेवेदमप्रतिरूपं वदति स एव स पाप्मा ॥२॥

वे देव वाणी को बोले—हमारे लिए तू स्तुति गायन कर। तथास्तु कह कर, वाणी ने उनके लिए स्तोत्र गायन किया। जो वाणी में सुख है – स्वर से गाना है उसको तो उसने देवों के लिए गायन किया और जो कल्याण बोलती है वह अपने लिए मांगा। वे असुर जान गये कि इसी ही स्वार्थी उद्गाता से हमारे पर देव आक्रमण

करेंगे। उन्होंने दौड़ कर उसको पाप से बीन्ध दिया। वह जो बीन्धना है वह पाप है। वाणी जो ही यह अनुचित—असत्य-कटुवचनादि भाषण करती है वह ही वह पाप है। वाणी में स्वार्थ, अनर्थ, अनुचित-भाषण ही पाप है।

अथ ह प्राणमूचुः—त्वं न उद्गायेति। तथेति; तेभ्यः प्राण उदगायत्। यः प्राणे भोगस्तं देवेभ्य आगायत्, यत्कल्याणं जिघ्रति तदात्मने। ते विदुः, अनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति। तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्। स यः स पाप्मा। यदेवेदमप्रतिरूपं जिघ्रति स एव स पाप्मा ॥३॥

तदनन्तर देव प्राण को—घ्राणेन्द्रिय को बोले—हमारे लिए तू स्तुति गायन कर। तथास्तु, कह कर प्राण ने उनके लिए स्तोत्र गायन किया। जो प्राण में भोग—सुख है उसको उसने देवों के लिए गायन किया और जो भद्र सूंघता है वह अपने लिए उसने मांगा। वे असुर जान गये कि इस उद्गाता से ही देव हमारे पर आक्रमण करेंगे। उन्होंने दौड़ कर उसको पाप से बीन्ध दिया। वह जो बीन्धना है वह पाप है। घ्राणेन्द्रिय जो ही यह अनुचित सूंघती है वह ही वह पाप है।

अथ ह चक्षुरूचुः—त्वं न उद्गायेति। तथेति; तेभ्यश्चक्षुरुदगायत्। यश्चक्षुषि भोगस्तं देवेभ्य आगायत्, यत्कल्याणं पश्यति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति। तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्। स यः स पाप्मा। यदेवेदमप्रतिरूपं पश्यति स एव स पाप्मा ॥४॥ अथ ह श्रोत्रमूचुः—त्वं न उद्गायेति। तथेति; तेभ्यः श्रोत्रमुदगायत्। यः श्रोत्रे भोगस्तं देवेभ्य आगायत् यत्कल्याणं शृणोति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति। तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्। स यः स पाप्मा। यदेवेदमप्रतिरूपं शृणोति स एव स पाप्मा ॥५॥

तत्पश्चात् चक्षु को उन्होंने कहा। उसने कल्याण अपने लिए ही मांगा। वह भी पाप से विद्ध होगई। ऐसे ही श्रोत्र। इन्द्रियों में विषय-वासना ही पाप है।

अथ ह मन ऊचुः—त्वं न उद्गायेति। तथेति; तेभ्यो मन उदगायत्। यो मनसि भोगस्तं देवेभ्य आगायत्, यत्कल्याणं संकल्पयति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति। तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्। स यः स पाप्मा। यदेवेदमप्रतिरूपं संकल्पयति स एव स पाप्मा। एवमु खल्वेता देवताः पाप्मभिरुपासृजन्नेवमेनाः पाप्मनाऽविध्यन् ॥६॥

फिर देवों ने मन को कहा कि हमारे लिए तू स्तोत्र गायन कर। तथास्तु, कह कर

मन ने उनके लिए गायन किया। जो मन में सुख है उसको उसने देवों के लिए गायन किया और जो वह कल्याण का संकल्प करता है वह उसने अपने लिए मांगा। असुरों ने स्वार्थी जान कर उसे भी पाप से बीन्ध दिया। वह यह बींधना ही वह पाप है। जो ही यह अनुचित संकल्प करता है वह ही वह पाप है। निश्चय, इसी प्रकार ये अन्य देवता भी असुरों द्वारा पापों से छूए गये; असुरों ने इसी प्रकार इनको पाप से बींधा।

अथ हेममासन्यं प्राणमूचुः—त्वं न उद्गायेति। तथेति, तेभ्य एष प्राण उदगायत्। ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति। तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्। स यथाऽश्मानमृत्वा लोष्टो विध्वंसेतैवं हैव विध्वंसमाना विष्वञ्चो विनेशुः। ततो देवा अभवन्पराऽसुराः। भवत्यात्मना पराऽस्य द्विषन् भ्रातृव्यो भवति, य एवं वेद ॥७॥

तदनन्तर वे देव इस मुख में बैठे हुए प्राण को बोले कि हमारे लिए तूं उपासना-यज्ञ में स्तुति गायन कर। तथास्तु, कह इस प्राण ने—मुखद्वारा अभिव्यक्त आत्मशक्ति ने उन देवों के लिए प्रार्थना-स्तोत्र गायन किया। वे असुर जान गये कि इस उद्गाता से ही देव हमारे पर आक्रमण करेंगे। दौड़ कर उन्होंने उस उद्गाता को पाप से बींधना चाहा। सो जैसे मिट्टी का ढेला पत्थर को पहुंचे कर—पत्थर के साथ लग कर नष्ट हो जाये, ऐसे ही वे असुर नष्ट होते हुए खण्ड खण्ड होकर नष्ट हो गये। तदनन्तर देव विजेता हुए और असुर पराभव को प्राप्त हुए। जो उपासक इस प्रकार आत्मशक्ति को जानता है वह आत्मा से पापों पर विजेता हो जाता है; इसका द्वेष करने वाला शत्रु हार जाता है। जो स्वार्थरत और विषयासक्त न हो वही सफल होता है स्वार्थी जन अग्रणी हो तो हार हो जाती है।

ते होचुः क्व नु सोऽभूद्, यो न इत्थमसक्तेत्ययमास्येऽन्तरिति। सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः ॥८॥

विजय प्राप्त करके वे देव परस्पर बोले—कहां वह विजयदाता है? जो हमें इस प्रकार बलवन्त बनाने में समर्थ हुआ, जिसने हमें इस प्रकार एक कर दिया। उत्तर में कहा गया कि यह मुख में भीतर है। इस कारण वह अयास्य नाम है और आङ्गिरस है। निश्चय अयास्य ही अङ्गों का—इन्द्रियों का सार है।

सा वा एषा देवता दूर्नाम। दूरं ह्यस्या मृत्युः, दूरं ह वा अस्मान्मृत्युर्भवति य एवं वेद ॥९॥

वह ही मुखस्थ यह देवता दूर नाम वाला है। निश्चय इस आत्मशक्ति से मृत्यु दूर है इस कारण इसका नाम दूर है। जो उपासक इस प्रकार आत्मा को मृत्यु से दूर—अमर जानता है निश्चय, इस से मृत्यु दूर हो जाती है।

सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्य । यत्रासां दिशामन्त-स्तद् गमयाञ्चकार । तदासां पाप्मनो विन्यदधात् । तस्मान्न जनमियान्नान्त-मियान्नेत्पाप्मानं मृत्युमन्ववायानीति ॥१०॥

वह ही यह मुखस्थ आत्मभावरूप देवता इन वाणी आदि देवताओं के पापस्वरूप मृत्यु को हनन करके जहां इनकी दिशाओं का अन्त है वहां ले गया। वहां इन देव-ताओं के पापों को उसने स्थापित किया, पापों को इनके स्वरूप से बाहर निकाल दिया। इस कारण उपासक पापी जन के निकट न जाय, उसके दूरदेश में भी न जाय कि कहीं पापी की संगति से पापरूप मृत्यु को न प्राप्त हो जाऊं।

सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्याथैना मृत्युमत्यवहत् ॥११॥

वह ही यह मुखस्थ आत्मभावरूप देवता इन वाणी आदि देवताओं के पापरूप मृत्युको नष्ट करके फिर इनको मृत्यु से ऊपर अमरभाव में ले गया। आत्मजागृति से सारी इन्द्रियां शुद्ध हो जाती हैं। फिर उनमें पापवासना नहीं रहती।

स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत् । सा यदा मृत्युमत्यमुच्यत सोऽग्निर-भवत् । सोऽयमग्निः परेण मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यते ॥१२॥

निश्चय से वह आत्मभाव पहली वाणी को ही मृत्यु से ऊपर ले गया, वाणी में उसने आत्मसत्ता जागृत की। जब वह वाणी मृत्यु को छोड़ चुकी तो वह वाणीगत आत्मभाव तेजोमय हो गया। वह यह आत्मभावरूप तेज मृत्यु को अतिक्रान्त हुआ परम शुद्धस्वरूप से दीप्त हो जाता है। जाग्रत आत्मा पहले वाणी को शुद्ध करता है।

अथ प्राणमत्यवहत् । स यदा मृत्युमत्यमुच्यत स वायुरभवत् । सोऽयं वायुः परेण मृत्युमतिक्रान्तः पवते ॥१३॥

फिर वह मुखस्थ आत्मभाव प्राण को—घ्राणेन्द्रिय की आत्मशक्ति को मृत्यु से ऊपर ले गया। जब वह घ्राणगत आत्मभाव मृत्यु को छोड़ चुका तो वह वायु हो गया, स्वतन्त्र होगया। वह यह आत्मभावरूप वायु—स्वतन्त्र सत्ता मृत्यु को अतिक्रान्त हुआ अपने परमस्वरूप से गतिमान् होता है।

अथ चक्षुरत्यवहत् । तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स आदित्योऽभवत् । सोऽसा-वादित्यः परेण मृत्युमतिक्रान्तस्तपति ॥१४॥

तदनन्तर वह चक्षु को मृत्यु से ऊपर ले गया। जब वह नेत्रगत आत्मभाव मृत्यु को छोड़ चुका तो वह सूर्य हो गया, स्वयं प्रकाशस्वरूप होगया। वह यह अत्मस्वरूप सूर्य मृत्यु को अतिक्रान्त हुआ अपने परमस्वरूप से प्रकाशित होता है।

अथ श्रोत्रमत्यवहत् । तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत ता दिशोऽभवन् । ता इमा दिशः परेण मृत्युमतिक्रान्ताः ॥१५॥

फिर वह आत्मभाव श्रोत्रगत आत्मशक्ति को मृत्यु से पार ले गया। जब वह मृत्यु को छोड़ चुका तो वे दिशाएं हो गईं। वे ये दिशाएं—आत्मा की श्रवण करने की आकाशगत शक्तियां मृत्यु को अतिक्रान्त हुई अपने परमस्वरूप से शोभती हैं।

अथ मनोऽत्यवहत् । तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स चन्द्रमा अभवत् । सोऽसौ चन्द्रः परेण मृत्युमतिक्रान्तो भाति । एवं ह वा एनमेषा देवता मृत्युमतिवहति, य एवं वेद ॥१६॥

तत्पश्चात् वह मुखस्थ आत्मभाव मन को मृत्यु से पार ले गया। जब वह मनोगत आत्मभाव मृत्यु को छोड़ चुका तो वह चन्द्रमा हो गया—अत्यन्त निर्मल हो गया। वह यह मनोगत आत्मभावरूप चन्द्र मृत्यु को अतिक्रान्त हुआ अपने परम स्वरूप से चमकता है। जो उपासक इस प्रकार आत्मा की शक्तियों को जानता है ऐसे ही इसको यह मुखस्थ शुद्ध आत्मभाव मृत्यु को लांघ कर ले जाता है।

मुखस्थ शुद्ध, स्वार्थरहित आत्मसत्ता के जगने पर इन्द्रियगत चेतन भाव विमल हो जाता है, उस में विकार नहीं रहता और वह अमरपद प्राप्त कर लेता है।

अथात्मनेऽन्नाद्यमागायत् । यद्धि किंचान्नमद्यतेऽनेनैव तदद्यत इह प्रतितिष्ठति ॥१७॥

तदनन्तर उस मुखस्थ आत्मभावरूप प्राण ने अपने लिए खाने योग्य अन्न मांगा। जो ही कुछ अन्न खाया जाता है इस प्राण से ही वह खाया जाता है। इस अन्न में—देह में ही वह प्राण रहता है। बद्ध आत्मा अन्नमय कोश में ही रहता है।

ते देवा अब्रुवन्—एतावद्वा इदं सर्वं यदन्नं, तदात्मन आगासीरनु नोऽस्मिन्नन्न आभजस्वेति । ते वै माऽभिसंविशतेति । तथेति, तं समन्तं परिण्यविशन्त । तस्माद्यदनेनान्नमत्ति तेनैतास्तृप्यन्ति । एवं ह वा एनं स्वा अभिसंविशन्ति, भर्ता स्वानां श्रेष्ठः पुर एता भवत्यन्नादोऽधिपतिर्य एवं वेद । य उ हैवंविदं स्वेषु प्रति प्रतिर्बुभूषति न हैवालं भार्येभ्यो भवति । अथ य एवैतमनु भवति, यो वैतमनु भार्यान् बुभूर्षति स हैवालं भार्येभ्यो भवति ॥१८॥

वे वाणी आदि देव उस मुखगत आत्मभाव को बोले—जो अन्न है वह इतना ही यह सब है जो तेरा आहार है। वह अन्न तूने अपने लिए मांगा, पश्चात् इस अन्न में हमारा भाग भी बांट दे। उसने कहा—वे देव सारे ही मुझको प्राप्त होजायें,

मेरे स्वरूप में ही प्रवेश करें। तथास्तु, कह कर वे उसको सब ओर से प्राप्त हुए—उसके स्वरूप में प्रविष्ट हो गए। इस कारण जो इस मुखगत प्राण से अन्न को खाता है उस से ये देव तृप्त होते हैं। आत्मा एक है इन्द्रियों में उसकी शक्तियां हैं। जो उपासक इस प्रकार आत्मसत्ता को जानता है ऐसे ही इसको अपने जन प्राप्त होते हैं; वह अपने जनों का पोषक, श्रेष्ठ पुरुष, आगे चलने वाला—नेता, नीरोग अन्न भोक्ता तथा राजा हो जाता है। और जो मनुष्य ऐसा जानने वाले को अपने जनों में प्रतिकूल हो कर पराभूत करना चाहता है वह अपने भरणीय बन्धुओं के लिए समर्थ नहीं होता। तथा जो जन ही इस उपासक के अनुकूल होता है और जो ही उसको तथा पोषण-योग्य जनों को पोषण करना चाहता है वह भरणीय जनों के लिए समर्थ हो जाता है।

सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः, प्राणो वा अङ्गानां रसः, प्राणो हि वा अङ्गानां रसः। तस्माद्यस्मात्कस्माच्चाङ्गात्प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यति। एष हि वा अङ्गानां रसः ॥१९॥

तात्पर्य यह है—कि वह मुखगत आत्मभाव अङ्गों से उत्पन्न हुआ सार है—इन्द्रियों में रहने वाली आत्मशक्ति है। अङ्गों का ही सार है। प्राण ही अङ्गों का सार है, प्राण ही निश्चय अङ्गों का सार है। इस कारण जिस किसी अङ्ग से प्राण बाहर निकलता है तो वह ही तब सूख जाता है। इस कारण यह मुखगत आत्मभाव रूप प्राण ही निश्चय इन्द्रियों का रस—सार तथा शक्ति है। यही आत्मज्योति है।

एष उ एव बृहस्पतिः। वाग्वै बृहती तस्या एष पतिः। तस्मादु बृहस्पतिः ॥२०॥

और यह मुखगत आत्मभाव ही बृहस्पति है। वाणी ही बृहती है—बड़ी है, उस वाणी का यह आत्मभाव रूप प्राण पति—स्वामी है, इसके आश्रित ही वाणी है; इस कारण यह बृहस्पति है। आत्मा ही महान् पालक है।

एष उ एव ब्रह्मणस्पतिः। वाग्वै ब्रह्म तस्या एष पतिः। तस्मादु ब्रह्मणस्पतिः ॥२१॥

तथा यह आत्मभाव ही ब्रह्मणस्पति है। वाणी ही ब्रह्म—वेद है, उसका यह पति है, इस कारण ब्रह्मणस्पति है। आत्मा ही ज्ञान का भण्डार है।

एष उ एव साम। वाग् वै सामैष सा चामश्चेति, तत्साम्नः सामत्वम्। यद्वेव समः प्लुषिणा, समो मशकेन, समो नागेन, सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः, समोऽनेन सर्वेण, तस्माद्वेव साम। अश्नुते साम्नः सायुज्यं सलोकतां, य एवमेतत्साम वेद ॥२२॥

तथा यह मुखस्थ आत्मभाव ही साम है। वाणी ही सा है, यह अम है। सा—वाणी और अम—प्राण मिल कर ही वह साम का सामपन है। जो ही प्राण कीट के तुल्य है, मच्छर के तुल्य है, हस्ति के तुल्य है, इन तीनें लोकों के तुल्य है और इस सारे प्राकृत जगत् के तुल्य है। आत्मा सूक्ष्मशरीर में और स्थूलशरीर में समान है। आत्मा अपनी सत्ता से, प्रकृति से प्रबल है। इस कारण ही साम है। महान् से महान् पदार्थ के सम है इसलिए साम है। जो आत्मविश्वासी इस प्रकार इस आत्मसमता को जानता है वह साम की समानता को—एकलोकता को प्राप्त करता है। उसका आत्मा परम पवित्र और मुक्त हो जाता है। वह परम समता को लाभ कर लेता है।

एष उ वा उद्गीथः। प्राणो वा उत्, प्राणेन हीदं सर्वमुत्तब्धम्। वागेव गीथा। उच्च गीथा चेति स उद्गीथः ॥२३॥

और यह आत्मभावरूप प्राण ही उद्गीथ है। प्राण ही उत् है, प्राण से ही यह सारा विश्व ऊपर धारण किया हुआ है। वाणी ही गीथा है, उत् और गीथा मिल कर ही वह उद्गीथ है। वाणी से गाया जाता है इस से यह गीथा है।

तद्धापि ब्रह्मदत्तश्चैकितानेयो राजानं भक्षयन्नुवाच—अयं त्यस्य राजा मूर्धानं विपातयताद्यदितोऽयास्य आङ्गिरसोऽन्येनोदगायदिति। वाचा च ह्येव स प्राणेन चोदगायदिति ॥२६॥

इस विषय में भी आख्यायिका है। चैकितान मुनि के पुत्र ब्रह्मदत्त ने एकदा सोमरस पान करते हुए राजा को कहा—अयास्य आङ्गिरस ने—मुझ आत्मा के ज्ञाता ने यदि इस अयास्य आत्मभाव से भिन्न, अन्य साधन से इस यज्ञ में स्तुति गाई हो तो उस मुझ को यह सोम राजा सिर से गिरा दे। उस ने वाणी से और प्राण से ही स्तुति गाई थी। सत्यरूपा वाणी से आत्मा का वर्णन किया जाता है।

तस्य हैतस्य साम्नो यः स्वं वेद, भवति हास्य स्वं, तस्य वै स्वर एव स्वं। तस्मादार्त्विज्यं करिष्यन्वाचि स्वरमिच्छेत। तया वाचा स्वरसंपन्नयाऽऽर्त्विज्यं कुर्यात्, तस्माद्यज्ञे स्वरवन्तं दिदृक्षन्त एव। अथो यस्य स्वं भवति, भवति हास्य स्वं, य एवमेतत्साम्नः स्वं वेद ॥२५॥

उस उद्गीथरूप इस साम के धन को जो जानता है। इसके पास धन हो जाता है। निश्चय से सामगायक का मधुर स्वर ही धन है। इस कारण ऋत्विजसंबन्धी काम करता हुआ वाणी में स्वर चाहे, स्वर सुन्दर बनाये। उस स्वरसंपन्न वाणी से ऋत्विज के कर्म करे, साम को गाये। इसी कारण यज्ञ में यजमान लोग स्वर वाले उद्गातादि को ही देखते हैं। जैसे जिस का धन होता है ऐसे ही इस स्वर वाले का स्वर धन होता है, जो ऐसे इस साम के धन को जानता है। गायक का मधुर स्वर ही उसका धन है।

तस्य हैतस्य साम्नो यः सुवर्णं वेद, भवति हास्य सुवर्णम् । तस्य वै स्वर एव सुवर्णम् । भवति हास्य सुवर्णं, य एवमेतत्साम्नः सुवर्णं वेद ॥२६॥

जो उपासक उस अयास्य उद्गीथरूप इस साम के सुवर्ण—सुन्दर गायन को जानता है। इस का अपना आप सुन्दरवर्ण हो जाता है। निश्चय से उस साम-संगीत-वेत्ता का मधुर कोमल स्वर ही सुवर्ण है। जो उपासक इस प्रकार साम के इस सौन्दर्य को जानता है, इस का अपना आप सुवर्ण हो जाता है, सुन्दर स्वरूप बन जाता है।

तस्य हैतस्य साम्नो यः प्रतिष्ठां वेद, प्रति ह तिष्ठति । तस्य वै वागेव प्रतिष्ठा । वाचि हि खल्वेष एतत्प्राणः प्रतिष्ठितो गीयतेऽन्न इत्यु हैक आहुः ॥२७॥

जो उपासक उस अयास्य आत्मभावरूप इस साम की प्रतिष्ठा—आश्रय को जानता है, वह विशेषरूप से स्थिर हो जाता है। निश्चय से उसकी मधुर वाणी ही प्रतिष्ठा है। वाणी में ही निश्चय यह सौन्दर्य और यह प्राण प्रतिष्ठित कहा जाता है, कोई कहते हैं अन्न में—देह में, यह रहता है। सामगायक का स्वरसौन्दर्य उस की पुष्टकाया में रहता है।

अथातः पवमानानामेवाभ्यारोहः । स वै खलु प्रस्तोता साम प्रस्तौति । स यत्र प्रस्तुयात्तदेतानि जपेत्, "असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमयेति" । स यदाहासतो मा सद् गमयेति मृत्युर्वा असत्सदमृतम् । मृत्योर्माऽमृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह । तमसो मा ज्योतिर्गमयेति; मृत्युर्वै तमो ज्योतिरमृतम्, मृत्योर्माऽमृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह । मृत्योर्माऽमृतं गमयेति, नात्र तिरोहितमिवास्ति ॥२८॥

अब यहां से आगे पवमान शब्दों का ही जप है निश्चय से वह ही प्रस्तोता ऋत्विज् साम को गाता है जो आगे कहे मन्त्र का जप करता है। जिसे यज्ञ में वह साम-गायन करे, वहां इन वाक्यों को जपे। हे भगवन्! "मुझको असत् से सत् की ओर ले चल, मुझ को अन्धकार से ज्योति की ओर ले चल और मुझको मृत्यु से अमृत की ओर ले चल। वह जपकर्ता जो यह कहता है कि असत् से मुझको सत् की ओर ले चल, इस का भाव यह है कि मृत्यु ही असत्—नाश है, सत् अमृत है। मृत्यु से मुझको अमृत प्रदान कर, मुझको अमृतस्वरूप कर दे" यह ही तब कहता है। अन्धकार से मुझको ज्योति प्राप्त करा, इसका भाव यह है कि मृत्यु ही अन्धकार है और ज्योति अमृत है; मृत्यु से मुझ को अमृत प्राप्त करा, मुझ को अमृत कर दे, यह ही तब कहता है। मृत्यु

से मुझको अमृत की ओर ले चल, इस वाक्य में छिपे हुए रहस्य की भांति कुछ भी नहीं है। यह बहुत स्पष्ट है। यह पवमान-जप बहुत ही उत्तम है।

अथ यानीतराणि स्तोत्राणि तेष्वात्मनेऽन्नाद्यमागायेत्। तस्मादु तेषु वरं वृणीत, यं कामं कामयेत तम्। स एष एवंविदुद्गाताऽऽत्मने वा यजमानाय वा यं कामं कामयते तमागायति। तद्धैतल्लोकजिदेव, न हैवालोक्यताया आशाऽस्ति य एवमेतत्साम वेद ॥२८॥

और जो दूसरे स्तोत्र हैं उन में अपने लिए खाने योग्य अन्न मांगे। इस कारण उन स्तोत्रों में जिस मनोरथ को चाहे उस वर को वरे, उसकी प्रार्थना करे। वह यह ऐसा जानने वाला उद्गाता अपने लिए अथवा यजमान के लिए जिस मनोरथ को चाहता है उसी को स्तोत्र गाकर मांग लेता है। जो उपासक इस प्रकार यह साम जानता है वह यह लोकजित् ही है, वह ऊंची गति वाला ही है। अलोकता के लिए—अपगति की उसको आशा ही नहीं है। उसकी अपगति कदापि नहीं होती।

चौथा ब्राह्मण

आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः। सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत्, सोऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरत्। ततोऽहंनामाभवत्, तस्मादप्येतर्ह्यामन्त्रितोऽहमय-मित्येवाग्र उक्त्वाऽथान्यन्नाम प्रब्रूते यदस्य भवति। स यत्पूर्वोऽस्मात्सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मन औषत्, तस्मात्पुरुषः। ओषति ह वै स तं, योऽस्मात्पूर्वो बुभूषति य एवं वेद ॥१॥

आत्मा ही यह पहले पुरुषाकार था। उसने भली भांति अवलोकन करके आत्मा से भिन्न दूसरा व्यक्त पदार्थ न देखा। इस कारण उसने मैं हूं यह ही पहले कहा। इस से वह "अहं" नाम वाला होगया। इससे ही अब भी बुलाया गया मनुष्य उत्तर में मैं यह हूं ऐसा पहले कह कर फिर जो इसका दूसरा नाम होता है उसको उच्चारण करता है। उस आत्मा ने जो इस सारे जगत् से पहले सारे पापों को जला दिया इस कारण वह पुरुष है। "पुर" का अर्थ है पूर्व और "उष" का अर्थ है जलाना। जिसने पहले पाप स्पर्श ही नहीं होने दिया वह पुरुष नाम है। जो उपासक पुरुष की परमपवित्रता को ऐसे जानता है निश्चय से वह उस जन को जला देता है, जो इस उपासक से पहले स्पर्धा तथा ईर्ष्या करता है। आत्मा स्वभाव में शुद्ध और अपाप है।

सोऽबिभेत्, तस्मादेकाकी बिभेति। स हायमीक्षांचक्रे यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमीति। तत एवास्य भयं वीयाय, कस्माद्ध्यभेष्यद् द्वितीयाद्वै भयं भवति ॥२॥

जीवात्मा का वर्णन करते हुए ऋषि कहता है कि अज्ञानवश वह बद्ध जीव पहले डरा। इसी कारण आज भी अकेला डरता रहता है। उस इस बद्ध आत्मा ने विचार किया कि "जो मुझ से भिन्न दूसरा कोई भयदाता नहीं है" तो किससे मैं डरता हूं। इस विचार से ही इसका भय चला गया। ज्ञान से वह निर्भय हो गया। किससे ही वह डरता, क्योंकि दूसरे से ही भय होता है। पापरहित आत्मा निर्भय है।

स वै नैव रेमे। तस्मादेकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत्। स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ। स इममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत्, ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्। तस्मादिदमर्धबृगलमिव स्व इति ह स्माऽऽह याज्ञवल्क्यः। तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्यत एव, तां समभवत्, ततो मनुष्या अजायन्त ॥३॥

निश्चय, वह अकेला नहीं रमण करता था। संसार में अकेले पुरुष से नहीं काम चलता। इसी कारण आज भी एकाकी मनुष्य नहीं रमण करता। आदिसृष्टि में उत्पन्न हुए पुरुष ने दूसरे को—स्त्रीरूप साथी को चाहा। वह पुरुष इतना ही था—ऐसा ही था, जैसे स्त्री-पुरुष मिले हुए हों—उसमें वासना अधिक नहीं थी। उस ने इसी आत्मा को ही दो प्रकार से गिराया, कर्मवश स्त्री-पुरुष के देहों में जन्म लिया। स्त्री-पुरुषों की सृष्टि होने के अनन्तर पति और पत्नी हुए। इस कारण आत्मा यह आधे दल की भांति है, आधा अङ्ग स्त्री और आधा पुरुष है, यह याज्ञवल्क्य ने कहा था। इस कारण यह आकाश अन्तर स्त्री से ही पूर्ण होता है। तब वह पुरुष उस स्त्री को मिला। स्त्री-पुरुषों के धर्म उन में जगे। उस से मनुष्य उत्पन्न हुए।

सो हेयमीक्षांचक्रे, कथं नुमाऽऽत्मनः एव जनयित्वा संभवति; हन्त तिरोऽसानीति। सा गौरभवदृषभ इतरः। तां समेवाभवत्, ततो गावोऽजायन्त। वडवेतराऽभवदश्ववृष इतरो गर्दभीतरा गर्दभ इतरः। तां समेवाभवत्, तत एकशफमजायत। अजेतराऽभवद् बस्त इतरोऽविरितरा मेष इतरः। तां समेवाभवत्, ततोऽजावयोऽजायन्त। एवमेव यदिदं किंच मिथुनमापिपीलिकाभ्यस्तत्सर्वमसृजत ॥४॥

उस स्त्रीभाव, जननशक्ति ने इच्छा की कि कैसे मुझ को आत्मा से ही उत्पन्न कर के जगत् होगा। इस कारण मैं छिप जाऊं। कर्मवश वह जननशक्ति आत्मसत्ता से गौ हो गई, दूसरा पुंस्त्व वृषभ हो गया। वह स्त्रीभाव को मिला, उससे गौएं उत्पन्न हुईं। इतर स्त्रीभाव घोड़ी हो गया, दूसरा पुंस्त्व घोड़ा हो गया। स्त्रीभाव गधी बन गया, और दूसरा गधा हो गया। पुंभाव उसको मिला, उससे एकखुरे वाले पशु उत्पन्न हुए। स्त्रीभाव बकरी हो गया, दूसरा पुंस्त्व बकरा हो गया, स्त्री-

भाव भेड़ हो गया, दूसरा पुंस्त्व भेष हो गया। पुंस्त्व उस स्त्रीभाव को मिलो, उससे बकरियां और भेडें उत्पन्न हुईं। ऐसे ही जो कुछ यह चींटियों तक स्त्रीत्व पुंस्त्व का जोड़ा है वह सब रचा गया। सब जीवधारियों में उक्त दोनों भावों की रचना हुई।

सोऽवेदहं वाव सृष्टिरस्म्यहं हीदं सर्वमसृक्षीति। ततः सृष्टिरभवत्। सृष्ट्यां हास्यैतस्यां भवति, य एवं वेद ॥५॥

उसने जाना कि मैं ही सृष्टि हूं, मैंने ही इस सबको रचा। इस से वह सृष्टि हो गई। जो उपासक सृष्टि-रचना को ऐसे जानता है इसका पद इस सृष्टि में उत्तम हो जाता है।

अथेत्यभ्यमन्थत्। स मुखाच्च योनेर्हस्ताभ्यां चाग्निमसृजत। तस्मादेतदुभयमलोमकमन्तरतोऽलोमका हि योनिरन्तरतः। तद्यदिदमाहुरमुं यजामुं यजेत्येकैकं देवमेतस्यैव सा विसृष्टिरेष उ ह्येव सर्वे देवाः। अथ यत्किंचेदमार्द्रं तद्रेतसोऽसृजत। तदु सोम एतावद्वा इदं सर्वमन्नं, चैवान्नादश्च। सोम एवान्नमग्निरन्नादः। सैषा ब्रह्मणोऽतिसृष्टिः। यच्छ्रेयसो देवानसृजताथ यन्मर्त्यः सन्नमृतानसृजत तस्मादतिसृष्टिः, अतिसृष्ट्यां हास्यैतस्यां भवति य एवं वेद ॥६॥

फिर उसने ऐसे मन्थन किया। उसने मुखरूप कारण से और हाथों से मथ कर अग्नि रची; शब्द और प्रयत्न से उष्णता उत्पन्न की। इस कारण यह दोनों मुख और हाथ भीतर से लोमरहित हैं, कारण भीतर से अलोमक ही है। वह जो यह कहते हैं कि इस को यजन कर, इस एक एक देव को यजन कर, इस एक देव की ही वह विविध सृष्टि है, वास्तव में रचयिता एक ही भगवान् है। निश्चय सर्व देवमय यह ही भगवान् है, उसी में देव नाम की सर्वशक्तियां हैं। और जो कुछ यह गीली है वह उस ने जलों से रचा। वह सोम है—उत्तम है। इतना ही यह सब अन्न है और अन्न का भोक्ता है। सोम ही अन्न, और अग्नि ही अन्न का भोक्ता है। वह यह ब्रह्म की अतिसृष्टि है, नाना रचनाएं अतिसृष्टि के नाम से विख्यात हैं। और कल्याण के लिए उसने देवों को रचा और जो मनुष्य होता हुआ श्रेष्ठ था उससे—मनुष्यलोक से अमृतों को रचा, मुक्त आत्माएं मनुष्यों से हुईं। इस कारण यह अतिसृष्टि है। इस ज्ञानी का इस अतिसृष्टि में ऊंचा पद हो जाता है, जो ऐसे जानता है।

तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्, तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत, असौ नामाऽयमिदंरूप इति। तदिदमप्येतर्हि नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतेऽसौ नामाऽयमिदं-

रूप इति । स एष इह प्रविष्टः । आनखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः स्याद्विश्वम्भरो वा विश्वम्भरकुलाये, तं न पश्यन्ति ॥६॥

सो यह जगत् तब सृष्टि से पूर्व अव्यक्त थो। उसको भगवान् ने नाम-रूप से ही व्यक्त किया। इस वस्तु का यह नाम है यह इस रूप वाला है, यह ही अभिव्यक्ति है। सो यह अब भी नाम-रूप से ही वस्तु व्यक्त—प्रकट की जाती है कि इसका यह नाम है, यह इस रूप वाला है। प्रकृति के व्यक्त होने पर वह यह जीवात्मा देह में सांसद्वारा प्रविष्ट हुआ। जैसे उस्तरा उस्तरे के कोश में रक्खा हुआ हो, वा अग्नि अग्निमय पदार्थ में हो, ऐसे ही आत्मा देह में नख से शिखापर्यन्त परिपूर्ण है। उसको लोग चर्मचक्षुओं से नहीं देखते। वह इन्द्रियों से जाना नहीं जाता।

अकृत्स्नो हि स प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति, वदन्वाक्, पश्यंश्चक्षुः, शृण्वन् श्रोत्रम्, मन्वानो मनः; तान्यस्यैतानि कर्मनामान्येव। स योऽत एकैकमुपास्ते न स वेद, अकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवति। आत्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति। तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्मा। अनेन ह्येतत्सर्वं वेद। यथा ह वै पदेनानुविन्देदेवं कीर्तिं, श्लोकं विन्दते य एवं वेद ।७॥

वह शरीर में पूर्ण आत्मा अङ्गों में अपूर्ण प्रकाशित ही है। वह सांस लेता हुआ ही प्राण नाम वाला हो जाता है, बोलता हुआ वाणी नाम हो जाता है, देखता हुआ नेत्र हो जाता है, सुनता हुआ श्रोत्र और मनन करता हुआ मन हो जाता है। इसके हो वे यह प्राणादि कर्म नाम हैं; कर्मजन्य नाम हैं। इससे वह जो एक एक प्राणादि नाम को उपासता है, एक एक नाम से प्रदर्शित आत्मा ही समझता है, वह आत्मा को नहीं जानता, क्योंकि इससे यह आत्मा एक एक से—चक्षु आदि नाम से असंपूर्ण ही ग्रहण किया जाता है। इस कारण "आत्मा" ऐसा ही आराधे इस शब्द में ये सारे कर्मनाम एक हो जाते हैं। इस सारे का—संपूर्णदेह का जो यह आत्मा है वह यह प्राप्त करने योग्य है। विवेकी मनुष्य इस आत्मनाम से ही यह सब आत्मभाव जाने जाता है। निश्चय, जैसे पैर से चल कर कोई-इष्टस्थान को प्राप्त करे ऐसे ही कीर्ति को और यश को वह पाता है जो ऐसे जानता है। आत्मा को अखण्ड समझना चाहिए।

तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा। स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात्प्रियं रोत्स्यतीति। ईश्वरो ह तथैव स्याद्। आत्मानमेव प्रियमुपासीत। स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति ॥८॥

जो यह अन्तरतर—अत्यन्तस्वरूप-स्थ आत्मा है वह यह पुत्र से प्रिय है, धन से प्रिय है, अन्य इस सारे दृश्यमान जगत् से प्रिय है। वह आत्मा प्रियस्वरूप है। वह जो आत्मा से भिन्न अन्यपदार्थ को प्रियस्वरूप कह रहा हो उसको ज्ञानी कहे—तेरा प्यारा नष्ट हो जायगा, मिथ्या प्रेम रोदन का कारण होगा। जो जन आत्मा को ही प्रियरूप जान कर आराधे वह वैसे ही ऐश्वर्यवान् हो जाता है। वह जो आत्मा को ही प्रियरूप जान कर आराधता है इस का प्यारा आत्मा मरणशील नहीं होता, वह अमर हो जाता है। आत्मा सत्य, अखण्ड और प्रियस्वरूप चैतन्य है।

तदाहुर्यद् ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते। किमु तद् ब्रह्मावेद् यस्मात्तत्सर्वमभवदिति ॥९॥

वह जो यह कहते हैं कि ब्रह्मविद्या से सब कुछ हम हो जायेंगे ऐसा मनुष्य मानते हैं, क्या वह ब्रह्म किसी ने जाना, जिस से वह सारा जगत् हुआ?

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्, तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति। तस्मात्तत्सर्वमभवत्। तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्, तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्। तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे "अहं मनुरभवं सूर्यश्चेति"। तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति। तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषां स भवति ॥१०॥

निश्चय से सृष्टि से पूर्व यह ब्रह्म ही था। वह आत्मा को ही—आपने अपको ही जानता था कि मैं ब्रह्म हूं। उस ब्रह्म से यह सब जगत् हुआ। इस प्रकार जो जो देवों में प्रबुद्ध हुआ—आत्मभाव में जगा वह ही वह शुद्ध आत्मा हो गया। ऐसे ही ऋषियों में, ऐसे ही मनुष्यों में जो प्रबुद्ध हुआ वह ही शुद्ध आत्मा हो गया। वह यह आत्मभाव जानते हुए ऋषि वामदेव बोला—मैं मनु हुआ, मैं सूर्य हुआ। ऐसे ही यह अब भी जो इस प्रकार जानता है कि मैं महान् हूं वह यह सब हो जाता है। उसके अकल्याण के लिए देव नहीं समर्थ होते, उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते। वह इन देवों में शुद्ध आत्मा ही होता है। आत्मसत्ता से महान् हो जाता है।

अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद। यथा पशुरेवं स देवानाम्। यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान् भुनक्ति। एकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु। तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः ॥१०॥

और जो मनुष्य परमात्मा से भिन्न अन्य देवता को उपासता है और यह देव

अन्य है—मेरा आराध्य नहीं है, मैं अन्य हूं—इसकी उपासना करने वाला नहीं हूं ऐसा जो नहीं जानता है; जैसे पशु होता है ऐसा वह देवों का हुआ करता है। जैसे ही बहुत पशु मनुष्य को ऊन, दूध तथा आहार आदि से पोषण करते हैं ऐसे ही एक-एक मनुष्य देवों को पोषण करता है। एक भी पशु के अपहरण किये जाने पर मनुष्य का अप्रिय होता है तो बहुतों के अपहरण पर क्या कहा जाय। इस कारण इन देवों को यह प्रिय नहीं है कि जो यह एक ईश्वर का पूजन मनुष्य जान जायें। परमेश्वर एक है ऐसा समझें।

ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकं सन्न व्यभवत्। तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रम्, यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति ॥

पहले युग में यह ब्राह्मण-वर्ण ही था। वह एक ही था वह एक होने से न बढ़ सका। उसने कल्याणरूप क्षत्रिय-संघ रचा। देवों में जितने ये देवरक्षक हैं वे क्षत्र हैं; वे रक्षक इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु और ईशान हैं।

तस्मात्क्षत्रात्परं नास्ति। तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये, क्षत्र एव तद्यशो दधाति, सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद् ब्रह्म। तस्माद्यद्यपि राजा परमतां गच्छति ब्रह्मैवान्तत उपनिश्रयति स्वां योनिम्। य उ एनं हिनस्ति स्वां स योनिमृच्छति, स पापीयान् भवति यथा श्रेयांसं हिंसित्वा ॥११॥

इस कारण क्षत्रिय से पर—उत्कृष्ट दूसरा कर्म नहीं है। इसी कारण राजसूय यज्ञ में—राजकर्म में क्षत्रिय को ब्राह्मण नीचे बैठ कर आराधता है, राजसूय में क्षत्रिय का पद ब्राह्मण से ऊंचा होता है। वह राज्य का यश ब्राह्मण क्षत्रिय में ही स्थापित करता है। जो ब्राह्मण है वह यह क्षत्रिय की योनि है। इस कारण यद्यपि राजा परमता को पहुंच जाता है परन्तु अन्त में ज्ञान और शान्ति की कामना से ब्राह्मण के ही आश्रित होता है, अपने जन्मकारण के आश्रित होता है। जो राजा इस ब्राह्मण को मारता है वह अपनी योनि को मारता है, इससे वह महापापी हो जाता है, जैसे श्रेष्ठ जन को मार कर मनुष्य पापी हो जाता है।

स नैव व्यभवत्, स विशमसृजत। यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति ॥१२॥

क्षत्रियसृष्टि करके भी वह ब्राह्मणवर्ण न समर्थ हुआ, न वृद्धि कर सका, तब उसने वैश्यवर्ण बनाया। जो ये देवसमूह गणरूप से कहे जाते हैं जैसे वसु, रुद्र आदित्य, विश्वेदेव और मरुत् ये वैश्य हैं।

स नैव व्यभवत्, स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं वै पूषेयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किंच ॥१३॥

वैश्यवर्ण बना कर भी वह ब्राह्मणवर्ण न समर्थ हुआ। तब उसने शूद्रवर्ण को बनाया। शूद्रवर्ण ही पूषण है, धारण-पोषण करने वाला है। यह पृथिवी ही पूषा—पोषण करने वाली है; जो कुछ यह प्राणी-जगत् है इस सब को यह पृथिवी ही पोषण करती है। इस कारण भूमिसमान पोषक शूद्रवर्ण है, और तपोरूप है। एक ही ब्राह्मणसमाज के चार विभाग, चार वर्ण बनाये गये।

चारों वर्ण ब्राह्मणसमाज के ही चार कर्मविभाग हैं। ब्राह्मण ज्ञानवान् को कहा जाता है। ज्ञानयुक्त समाज में ही ऐसे भद्र विभाग होने सम्भावित हो सकते हैं। इसी लिए मूल पाठ में आया है कि ब्राह्मण वर्ण ने अपने में से शेष तीन वर्ण बनाये। चातुर्वर्ण्य समाज की एक ही जाति समझी जानी चाहिए। ऊपर के पाठ में शूद्र को पूषण कहा है। शूद्र शब्द का अर्थ है—'शुचं शोकं द्रवति यस्मात् वा येन' जिस से अथवा जिस श्रमी, कुशल कर्मी द्वारा चिन्ता बह कर निकल जाय वह शूद्र है। तथा जो "शुचं शोकं द्रावयति" कर्म-कुशल अपने कौशल से दूसरे जन की चिन्ता बहा निकालता है वह शूद्र है, ब्राह्मण में से विभक्त विभागरूप शूद्र वर्ण का यही सरल तथा सच्चा अर्थ है।

स नैव व्यभवत्, तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मम्। तदेतत्क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्म-स्तस्माद्धर्मात्परं नास्ति। अथो अबलीयान्बलीयांसं समाशंसते धर्मेण यथा राज्ञैवम्। यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्, तस्मात्सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति। धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीत्येतद्ध्येवैतदुभयं भवति ॥१४॥

चारों वर्णों को स्थापित करके भी ब्राह्मण न समर्थ हुआ, वृद्धि न कर सका। तब उसने कल्याणरूप धर्म को भली भांति रचा। जो धर्म है वह ही यह क्षत्रिय का क्षत्रिय कर्म—रक्षण है, इस कारण धर्म से उत्कृष्ट कोई कर्म नहीं है। जैसे राजा से शत्रु जीते जाते हैं ऐसे ही दुर्बल पुरुष भी धर्म से बलवान् को जीतना चाहता है जो ही वह धर्म है वह ही सत्य है, इस कारण सत्य बोलते हुए को कहते हैं कि धर्म कह रहा है। और धर्म वर्णन करते हुए को कहते हैं कि सत्य कह रहा है। यह धर्म और सत्य दोनों यह धर्म ही है। धर्म सत्य को ही समझना चाहिए।

तदेतद् ब्रह्म क्षत्रं विट् शूद्रस्तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माभवद्, ब्राह्मणो मनुष्येषु, क्षत्रियेण क्षत्रियः, वैश्येन वैश्यः, शूद्रेण शूद्रः। तस्मादग्नावेव देवेषु लोकमिच्छन्ते

ब्राह्मणे मनुष्येषु । एताभ्यां हि रूपाभ्यां ब्रह्माभवत् । अथ यो ह वा अस्माल्लोकात्स्वं लोकमदृष्ट्वा प्रैति स एनमविदितो न भुनक्ति, यथा वेदो वाऽननूक्तोऽन्यद्वा कर्माकृतम् । यदिह वा अप्यनेवंविन्महत्पुण्यं कर्म करोति तद्धास्यान्ततः क्षीयत एव । आत्मानमेव लोकमुपासीत; स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते, न हास्य कर्म क्षीयते । अस्माद्ध्येवाऽऽत्मनो यद्यत्कामयते तत्तत्सृजते ॥१५॥

वह यह ब्राह्मणवर्ण ही क्षत्रियवर्ण, वैश्यवर्ण और शूद्रवर्ण है। वह ब्राह्मण अग्नि से ही—यज्ञकर्म तथा ध्यान से ही, देवों में ब्रह्म हुआ—ब्रह्मा कहलाया। वह मनुष्यों में ब्राह्मण, क्षत्रियकर्म से क्षत्रिय, वैश्यकर्म से वैश्य और सेवा से शूद्र हो गया। इस कारण देवों में, अग्नि में—यज्ञकर्म में ही लोक को चाहते हैं, ब्राह्मण में आदरभाव करक मनुष्यों में गति चाहते हैं। इन ही दोनों रूपों से—ब्राह्मण और क्षत्रिय से, ब्राह्मणवर्ण हुआ। और जो ही इस लोक से अपने लोक—गति को बिना देखे मरता है उसका वह अज्ञात लोक इस को नहीं पालता; जैसे न पढ़ा हुआ वेद और न किया हुआ दूसरा शुभ कर्म मनुष्य को नहीं बचाता। जो भी मनुष्य इस लोक में ऐसा न जानने वाला हो; वह यदि महान् पुण्य कर्म भी करता हो तो भी वह कर्म उस अज्ञानी का अन्त में नाश ही हो जाता है। इस कारण आत्मा को ही गतिरूप में उपासे। वह जो आत्मा को ही गतिरूप जान कर आराधता है इस का धर्म-कर्म नहीं क्षय होता। वह शुभकर्मी इसी ही आत्मा से, जो जो कामना करता है वह वह रच लेता है। सारे मनोरथ विश्वासी आत्मा से ही पूर्ण कर लेता है।

अथो अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः। स यज्जुहोति, यद्यजते, तेन देवानां लोकोऽथ यदनुब्रूते तेन ऋषीणाम् । अथ यत्पितृभ्यो निपृणाति, यत्प्रजामिच्छते, तेन पितॄणाम् । अथ यन्मनुष्यान्वासयते, यदेभ्योऽशनं ददाति, तेन मनुष्याणाम् । अथ यत्पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति, तेन पशूनाम्, यदस्य गृहेषु श्वापदा वयांस्यापिपीलिकाभ्य उपजीवन्ति, तेन तेषां लोकः । यथा ह वै स्वाय लोकायारिष्टिमिच्छेदेवं हैवंविदे सर्वाणि भूतान्यरिष्टिमिच्छन्ति । तद्वा एतद्विदितं मीमांसितम् ॥१६॥

अब पञ्चमहायज्ञ का वर्णन होता है। यह ही मनुष्यशरीर में स्थित आत्मा सारे प्राणियों का लोक—गति है। वह जो हवन करता है, जो यजन करता है, उससे देवों की गति है। और जो यह स्वाध्याय करता है वह ब्रह्मयज्ञ है, उससे ऋषियों की गति है। तथा जो यह मनुष्य पितरों के लिए अन्नादि प्रदान करता है, जो सन्तान

की इच्छा करता है, उससे पितरों की गति है। ऐसे ही जो यह मनुष्यों को बसाता है, जो इनको अन्न-भोजन देता है, उससे मनुष्यों की गति है। और जो यह पशुओं के लिए तृण-जल प्राप्त करता है, उससे पशुओं की गति है, तथा जो इसके घरों में पशु, पक्षी और चींटियों तक अन्न-जल से जीते हैं, उससे उनकी गति है। जैसे ही अपने शरीर के लिए मनुष्य अविनाश चाहे, ऐसे ही ऐसा जानने वाले के लिए सभी मनुष्य अविनाश चाहते हैं। वह ही यह पञ्चयज्ञरूप धर्म जाना गया है और मनन किया गया है। पञ्चयज्ञरूप धर्म ही गृहस्थी का उत्तम कर्म माना गया है।

आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव । सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेय, अथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेति । एतावान्वै कामो नेच्छंश्च नातो भूयो विन्देत्, तस्मादप्येतर्ह्येकाकी कामयते जाया मे स्यादथ प्रजायेय, अथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेति ।

पूर्वकाल में—सृष्टि के आरम्भ में यह एक ही पुरुषभाव था, स्त्रीभाव का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। उस आत्मा ने कामना की कि पत्नी मुझ को प्राप्त हो" जिससे मैं प्रजा प्राप्त करूं, और मुझ को धन प्राप्त हो जिस से मैं कर्म करूं—यज्ञ करूं, दान दूं। इतनी ही कामना है। अधिक चाहता हुआ भी इस से अधिक—पत्नी, प्रजा और धन से अधिक नहीं पाता। इस कारण अब भी जो एकाकी कामना करता है वह यह ही चाहता है कि मुझ को पत्नी प्राप्त हो जिससे प्रजा प्राप्त करूं, तथा मुझको धन प्राप्त हो जिस से मैं यज्ञ-दानादि कर्म करूं। प्रजार्थ कामना और यज्ञार्थ धन-कामना करना शुभ है।

स यावदप्येतेषामेकैकं न प्राप्नोत्यकृत्स्न एव तावन्मन्यते । तस्यो कृत्स्नता, मन एवास्याऽऽत्मा, वाग् जाया, प्राणः प्रजा, चक्षुर्मानुषं वित्तम् । चक्षुषा हि तद्विन्दते । श्रोत्रं दैवं, श्रोत्रेण हि तच्छृणोत्यात्मैवास्य कर्म, आत्मना हि कर्म करोति । स एष पाङ्क्तो यज्ञः, पाङ्क्तः पशुः, पाङ्क्तः पुरुषः, पाङ्क्तमिदं सर्वं, यदिदं किंच तदिदं सर्वमाप्नोति य एवं वेद ॥१७॥

वह जब तक इनमें से एक एक को नहीं प्राप्त कर लेता तब तक अपने आप को अपूर्ण ही मानता है। उसकी पूर्णता इस प्रकार है। मन ही इसका आत्मा है, वाणी जाया है, प्राण सन्तान है, और आंख मानुष धन है। आंख से ही उस ज्ञानरूप धन को मनुष्य पाता है। कान उसका दैव धन है, कान से ही उस दैवी नाद को सुनता है। आत्मा ही—आत्मशक्ति ही इसका कर्म है, आत्मा से ही मनुष्य कर्म करता है। वह यह यज्ञ पाङ्क्त है—आत्मा, वाणी, प्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पांच साधनों से करने योग्य है। पशु पाङ्क्त है, पुरुष पाङ्क्त है और यह सारा जगत् पाङ्क्त है—उक्त पांचों

साधनों में विभक्त है। जो कुछ यह दृश्यमान भोग्य पदार्थ है उस इस सारे को वह प्राप्त कर लेता है जो उपासक आत्मा को ऐसे जानता है।

पांचवां ब्राह्मण

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पिता। एकमस्य साधारणं, द्वे देवानभाजयत्। त्रीण्यात्मनेऽकुरुत, पशुभ्य एकं प्रायच्छत्। तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न। कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदा। यो वै तामक्षितिं वेद सोऽन्नमत्ति प्रतीकेन। स देवानपिगच्छति, स ऊर्जमुपजीवतीति श्लोकाः ॥१॥

जो सात अन्न हैं उनको जगत्-पिता ने ज्ञान से और न्याय से उत्पन्न किया। एक इसका साधारण अन्न है—सब में समान है। दो देवों को उसने बांट दिये। तीन आत्मा के लिए नियत किये। एक पशुओं के लिए दिया। उसमें वह सारा प्राणि-जगत् आश्रित है जो सांस लेता है और जो नहीं लेता। किस कारण वे अन्न सदा खाये जाते हुए भी नहीं क्षय होते। जो ही उपासक उस अविनाश को जानता है वह प्रतीक से—मुख्य भाव से अन्न को खाता है। वह देवों को भी प्राप्त होता है और वह बल को प्राप्त करता है। ऐसे ये श्लोक हैं।

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पितेति, मेधया हि तपसाऽजनयत्पिता। एकमस्य साधारणमिति, इदमेवास्य तत्साधारणमन्नं यदिदमद्यते। स य एतदुपास्ते न स पाप्मनो व्यावर्तते, मिश्रं ह्येतत् ॥

जो यह कहा कि सात प्रकार के अन्न जगत्-पिता ने ज्ञान से और न्याय से उत्पन्न किये, उसका तात्पर्य यह है कि ज्ञान और न्याय से ही पिता ने उत्पन्न किये। जो यह कहा कि इसका एक अन्न साधारण है—सबका समान है, इसका यह तात्पर्य है कि इस का यह ही वह साधारण अन्न है, जो यह खाया जाता है। जो वस्तुएँ खाई जाती हैं, प्राणधारियों का वह साधारण अन्न है। वह जो इसी अन्न का सेवन करता है, यज्ञ, दान नहीं करता वह पाप से नहीं निवृत्त होता। क्योंकि यह अन्न पापकर्म से मिश्रित है।

द्वे देवानभाजयदिति, हुतं च प्रहुतं च, तस्माद्देवेभ्यो जुह्वति च प्र च जुह्वत्यथो आहुर्दर्शपूर्णमासाविति। तस्मान्नेष्टियाजुकः स्यात् ॥

दो अन्न देवों के लिए प्रभु ने बांट दिये, एक हुत है—होम है और दूसरा प्रहुत—दान है। इस कारण मनुष्य देवों के लिए अग्निहोत्र करता है और विशेषता से दान देता है। तथा कोई कोई ज्ञानी कहते हैं कि हुत, प्रहुत, अमावस्या और पूर्णमासी के यज्ञ का नाम है। इस कारण ऐसा ज्ञानी सकाम याजक न होवे।

पशुभ्य एकं प्रायच्छदिति, तत्पयः। पयो ह्येवाग्रे मनुष्याश्च पशवश्चोपजीवन्ति, तस्मात्कुमारं जातं घृतं वैवाग्रे प्रतिलेहयन्ति, स्तनं वाऽनुधापयन्त्यथ वत्सं जातमाहुरतृणाद इति। तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च नेति। पयसि हीदं सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न। तद्यदिदमाहुः संवत्सरं पयसा जुह्वदप पुनर्मृत्युं जयतीति न तथा विद्याद्। यदहरेव जुहोति तदहः पुनर्मृत्युमपजयत्येवंविद्वान्सर्वं हि देवेभ्योऽन्नाद्यं प्रयच्छति॥

एक अन्न प्रभु ने पशुओं के लिए दिया। वह दूध है। दूध ही पहले मनुष्य और पशु ग्रहण करते हैं। इस कारण उत्पन्न हुए बालक को पहले घृत ही चटाते हैं और स्तन पिलाते हैं। और जन्मे हुए बछड़े को तृण न खाने वाला कहते हैं। उस भोजन में वह सारा प्राणी-जगत् ठहरा हुआ है जो प्राण लेता है और जो सांस नहीं लेता। दूध में ही यह सारा जगत्-ठहरा हुआ है जो सांस लेता है और जो नहीं लेता। इस कारण जो यह कहते हैं कि वर्ष भर दूध से होम करे तो फिर मृत्यु को जीत लेता है, ऐसा न जाने, किन्तु जिस दिन ही दूध का होम करता है उसी दिन मृत्यु को जीत लेता है। ऐसा जानता हुआ सारा खाद्य—अन्न देवों को प्रदान करता है। याज्ञिक का सारा अन्न शुभ है, अमृत है। दुग्धदान महापुण्यकर्म है। आयुवर्धक है।

कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदेति। पुरुषो वा अक्षितिः, स हीदमन्नं पुनः पुनर्जनयते। यो वै तामक्षितिं वेदेति, पुरुषो वा अक्षितिः, स हीदमन्नं धिया धिया जनयते कर्मभिर्यद्धैतन्न कुर्यात् क्षीयेत ह। सोऽन्नमत्ति प्रतीकेनेति; मुखं प्रतीकम्, मुखेनेत्येतत्। स देवानपि गच्छति, स ऊर्जमुपजीवतीति प्रशंसा॥२॥

श्लोक में जो कहा है कि किस कारण वे अन्न सर्वदा खाए जाते हुए भी नहीं क्षय होते, इसका यह तात्पर्य है कि पुरुष ही अविनाशी है। वह ही इस अन्न को फिर फिर उत्पन्न करता है। जो यह कहा है कि जो ही उस अविनाश को जानता है, इसका आशय है कि आत्मा ही अविनाश है। वह ही इस अन्न को बुद्धि से और कर्म से उत्पन्न करता है, यदि वह कर्मों से—स्वाभाविकी क्रियाओं से यह अन्न उत्पन्न न करे तो यह क्षय हो जाए। जो यह कहा है कि वह अन्न को खाता है प्रतीक से, इसका आशय है कि मुख प्रतीक है। मुख से ही यह खाता है। वह देवों को भी प्राप्त होता है और वह बल को प्राप्त करता है, यह प्रशंसा है।

त्रीण्यात्मनेऽकुरुतेति । मनो वाचं प्राणं तान्यात्मनेऽकुरुत; अन्यत्रमना अभूवं नादर्शम्, अन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषमिति । मनसा ह्येव पश्यति, मनसा शृणोति ॥

परमेश्वर ने तीन अन्न—भोग के साधन आत्मा के लिए नियत किये । उन मन, वाणी, प्राण को उसने आत्मा के लिए नियत किया । आत्मा के ये तीन अन्न हैं । मन मुख्य है । यही कारण है कि मनुष्य कहा करता है—मैं अन्यत्र मनवाला था इस कारण नहीं देख सका, मैं अन्यत्र मनवाला था इस कारण नहीं सुन सका । मनुष्य मन से ही देखता है और मन से ही सुनता है । मन दूसरे कार्य वा विषय में हो तो देखे सुने का ज्ञान नहीं होता । ये तीनों अन्न आत्मसत्ता से उत्पन्न होते हैं ।

कामः, संकल्पः, विचिकित्सा, श्रद्धाऽश्रद्धा, धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव । तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति । यः कश्च शब्दो वागेव सा । एषा ह्यन्तमायत्तैषा हि न । प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानोऽन इत्येतत्सर्वं, प्राण एवैतन्मयो वा अयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः ॥३॥

कामना, संकल्प, संशय, आस्तिक्यबुद्धि, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, बुद्धि, भय यह सब मन के भाव ही हैं । इस कारण कोई पीठ से छूए जाने पर भी मन से जान जाता है । मन बिना देखे सुने को भी बता देता है । जो कोई शब्द है वह वाणी ही है । यह वाणी ही निर्णय के अन्त को पहुंची हुई है; यह वाणी ही अन्त को नहीं पहुंचती । वाणी में सन्देह आ जाय तो निर्णय नहीं होता । प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान ये सब प्राण के ही नाम है । यह सब जीवन ही है । प्राण ही यह आत्मा एतन्मय है, आत्मा ही वाणीमय है, आत्मा ही मनोमय है और आत्मा ही प्राण-मय है । तात्पर्य यह है कि आत्मा की तीन ही शक्तियां सुखभोग के साधन हैं, वे प्राण, मन और वाणी हैं । सन्देह आत्मा की इनमें ही अभिव्यक्ति होती है ।

त्रयो लोका एत एव । वागेवायं लोको मनोऽन्तरिक्षलोकः प्राणोऽसौ लोकः ॥४॥

ये वाणी, मन, प्राण ही तीन लोक हैं । वाणी ही यह पृथिवी लोक है, मानुषी प्रजा के कार्यों का निर्वाह वाणी से ही होता है । मन अन्तरिक्ष लोक है, आकाशस्थ दैवी जीवन मन से चलता है । प्राण द्युलोक है, प्राण के साथ प्रकाशमय लोक का संबन्ध है । जीवन-शक्ति द्युलोक तक को आवृत करती है ।

त्रयो वेदा एत एव । वागेवर्ग्वेदो मनो यजुर्वेदः प्राणः सामवेदः ॥५॥

देवाः पितरो मनुष्या एत एव । वागेव देवा, मनः पितरः, प्राणो मनुष्याः ॥६॥
पिता माता प्रजैत एव । मन एव पिता, वाङ् माता, प्राणः प्रजा ॥७॥

ये ही तीन वेद हैं । वाणी ही ऋग्वेद है; ऋग्वेद का सौन्दर्य उसकी वाणी है । मन यजुर्वेद है; यजुर्वेद का विषय मनन का समझा गया है । प्राण सामवेद है, सामवेद का संगीत—गायन प्राण से, स्वर से और सांस से किया जाता है । ये ही देव, पितर और मनुष्य हैं । वाणी ही देव है, देवों का देवत्व वाणी, नाद तथा शब्द के आश्रित हैं, आकाश में तरङ्ग नाद से होते हैं । मन पितर हैं; पितर मानसशक्ति संपन्न होते हैं । प्राण ही मनुष्य हैं; मनुष्यों में श्वास-प्रश्वास का सामर्थ्य है । ये ही पिता, माता और प्रजा हैं । मन ही पिता है, पालन का भाव मन में ही होता है । वाणी ही माता है, सम्मान करना वाणी का काम है । प्राण ही प्रजा है; प्राण से—शारीरिक शक्ति से प्रजा की प्राप्ति होती है ।

विज्ञातं विजिज्ञास्यमविज्ञातमेत एव । यत्किंच विज्ञातं वाचस्तद्रूपम् । वाग्घि विज्ञाता; वागेनं तद् भूत्वाऽवति ॥८॥ यत्किंच विजिज्ञास्यं मनसस्तद्रूपम् । मनो हि विजिज्ञास्यं, मन एनं तद् भूत्वाऽवति ॥९॥ यत्किंचाऽविज्ञातं प्राणस्य तद्रूपम् । प्राणो ह्यविज्ञातः, प्राण एनं तद् भूत्वाऽवति ॥१०॥

ये ही विज्ञात—जाना हुआ, विजिज्ञास्य—जानने योग्य और अविज्ञात— न जाना हुआ है । जो कुछ विज्ञात है वह वाणी का रूप है, वाणी ही जानी हुई है । वाणीद्वारा ही ज्ञान होता है । वाणी ही इस जानने वाले को ज्ञान होकर पालती है । जो कुछ जानने योग्य है वह मन का रूप है, मानस विचारों में ऊहापोहरूप में तथा जिज्ञासा के रूप में मन हुआ करता है । मन ही जानने योग्य है, मन ही जानना चाहने वाले को जिज्ञासा होकर पालता है । जो कुछ अविज्ञात है वह प्राण का रूप है, प्राण की क्रिया है । प्राण ही अविज्ञात—अगम्य है; इस के व्यापारों का भेद जानना कठिन है । प्राण ही इस जानने वाले को रहस्य होकर पालता है । प्राण अपार है ।

तस्यै वाचः पृथिवी शरीरं, ज्योतीरूपमयमग्निः । तद्यावत्येव वाक्, तावती पृथिवी, तावानयमग्निः ॥११॥

उस वाणी का पृथिवी शरीर है, पृथिवी पर मनुष्य ही इसे बोलते हैं । वह वाणी प्रकाशात्मक यह अग्नि है, वाणी मानुषी तेज है । तथा जितनी ही वाणी है, उतनी ही पृथिवी है; उतनी ही यह अग्नि है । वाणी के बल से ही शरीररूपा भूमि सुरक्षित होती

है और तेज भी तदनुसार ही हुआ करता है। पृथिवी के सारे व्यवहार वाणी से सिद्ध होते हैं। वाणी का ओज-तेज भूमि को सुरक्षित रखता है। भूमिरक्षण में वाणी-बल बड़े काम की वस्तु है।

अथैतस्य मनसो द्यौः शरीरं, ज्योतीरूपमसावादित्यः। तद्यावदेव मनस्तावती द्यौस्तावानसावादित्यः। तौ मिथुनं समैतां ततः प्राणोऽजायत। स इन्द्रः, स एषोऽसपत्नो द्वितीयो वै सपत्नः, नास्य सपत्नो भवति य एवं वेद ॥१२॥

और इस मन का द्यौः शरीर है, द्युलोक तक मन की गति है, यह मन प्रकाशात्मक यह सूर्य है। तथा जितना ही मन है उतना ही द्युलोक है, उतना ही यह सूर्य है; मन की गति सौरलोक को व्याप्त करती है। वे मन और वाणी जब इकट्ठे हो जाते हैं तो उससे प्राण उत्पन्न होता है; देह में आत्मा के प्रवेश पर ही प्राण की गति होने लगती है। वह प्राणस्वरूप शक्ति इन्द्र है, वह यह शत्रुरहित है। दूसरा ही शत्रु होता है, देह में दूसरा होता ही नहीं; केवल एक आत्मा ही होता है। जो उपासक प्राण को आत्मशक्तिरूप इस प्रकार जानता है इसका कोई शत्रु नहीं होता।

अथैतस्य प्राणस्याऽऽपः शरीरं, ज्योतीरूपमसौ चन्द्रः। तद्यावानेव प्राणस्तावत्य आपस्तावानसौ चन्द्रः। त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः। स यो हैतानन्तवत उपास्तेऽन्तवन्तं स लोकं जयति। अथ यो हैताननन्तानुपास्तेऽनन्तं स लोकं जयति ॥१३॥

अथ—मन के निरूपण के अनन्तर प्राण की उत्पत्ति कह कर प्राण का स्वरूप वर्णन किया जाता है। इस प्राण का शरीर—आश्रय जल है, जीवन जलाश्रित है। यह चन्द्रमा प्राण का प्रकाशमय रूप है, चन्द्र से प्राण प्रकाश पाता है। सो जितना ही प्राण है उतना ही जल है और उतना ही यह चन्द्र है। वे ये प्राणादि सब ही तुल्य हैं और सब अनन्त हैं। प्राण जल और चन्द्र ये तीनों अनन्त हैं। प्राणधारी अनन्त हैं, जल अनन्त हैं, और जलाश्रय चन्द्र भी अनन्त हैं। वह उपासक जो इनको अन्त वाले जानता है वह अन्तवाले लोकों को पाता है। और जो इनको अनन्त जानता है वह ज्ञानी नाशरहित लोकों को प्राप्त करता है। चन्द्रलोक भी अनन्त है।

स एष संवत्सरः, प्रजापतिः षोडशकलः। तस्य रात्रय एव पञ्चदश कला ध्रुवैवास्य षोडशी कला। स रात्रिभिरेवा च पूर्यतेऽप च क्षीयते। सोऽमावास्यां रात्रिमेतया षोडश्या कलया सर्वमिदं प्राणभृदनुप्रविश्य ततः प्रातर्जायते। तस्मादेतां रात्रिं प्राणभृतः प्राणं न विच्छिन्द्यादपि कृकलासस्यैतस्या एव देवताया अपचित्यै ॥१४॥

वह यह वर्ष—काल ही सोलह कला वाला प्रजापति है। उसकी रात्रियां ही पन्द्रह कलाएं हैं, पन्द्रह रातों द्वारा ही काल घटता बढ़ता है। इसकी सोलहवीं कला ध्रुव—अपरिवर्तनशील ही है। वह संवत्सर रातों से ही (आपूर्यते) पूर्ण होता है और (अपक्षीयते) घटता है। वह अमावस्या की रात को इसी ध्रुवरूपा सोलहवीं कला से इस सारे प्राणधारी जगत् में प्रवेश करके उससे प्रातः उत्पन्न होता है, सोलहवीं कला ही वास्तविक प्राण है और काल की स्थिति है। इस कारण इस रात्रि को प्राणधारी के प्राण को न विच्छेदन करे। इस ही कालदेवता की पूजा के लिए गिरगिट का भी बलिदान न करे। अमावस्या को पशु का बलिदान वर्जित करने का तात्पर्य है कि जीवों का बलिदान न करे, जीवों का बलिदान करना देवतापूजन न माने।

यो वै स संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलोऽयमेव स योऽयमेवंवित्पुरुषः। तस्य वित्तमेव पञ्चदश कलाः। आत्मैवास्य षोडशी कला। स वित्तेनैवा च पूर्यतेऽप च क्षीयते। तदेतन्नभ्यं यदयमात्मा, प्रधिर्वित्तम्, तस्माद्यद्यपि सर्व-ज्यानिं जीयत आत्मना चेज्जीवति। प्रधिनाऽगादित्येवाऽऽहुः ॥१५॥

जो ही वह संवत्सर सोलह कला वाला प्रजापति, है, अध्यात्मवाद में यह ही वह है, जो यह ऐसा जानने वाला पुरुष है। अध्यात्मवाद में आत्मा ही सोलह कला वाला है। उसका धन ही—इन्द्रिय और प्राणमय शरीर ही पन्द्रह कलाएं हैं। इसकी सोलहवीं कला आत्मा ही है। वह ज्ञानी शरीर से ही बढ़ता है और घटता है। जो यह सोलहवीं कला रूप आत्मा है वह यह नाभिस्थानीय है—अपरिवर्तन-शील है और शरीर उसकी प्रधि है—उसका चक्र है। इस कारण यद्यपि कोई सर्वनाश को प्राप्त हो जाय परन्तु यदि वह आत्मा से जीता है तो जीवित है, परिधि से ऐसा हुआ—मर गया यह ही उसको कहते हैं।

अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः, पितृलोकः, देवलोक इति। सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा। कर्मणा पितृलोको विद्यया देव-लोकः। देवलोको वै लोकानां श्रेष्ठस्तस्माद्विद्यां प्रशंसन्ति ॥१६॥

तथा तीन ही लोक हैं—मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक। वह यह मनुष्य-लोक पुत्र से ही—सन्तान-उत्पादन से ही जीता जाता है, अन्य कर्म से नहीं जीता जाता। शुभ कर्म से पितृलोक और विद्या से देवलोक जीता जाता है। देवलोक ही लोकों में उत्तम लोक है, वह विद्या से प्राप्त होता है इस कारण ज्ञानी जन विद्या की प्रशंसा करते हैं।

अथातः संप्रत्तिर्यदा प्रैष्यन्मन्यतेऽथ पुत्रमाह—त्वं ब्रह्म, त्वं यज्ञस्त्वं लोक इति। स पुत्रः प्रत्याह—अहं ब्रह्माहं यज्ञोऽहं लोक इति। यद्वै किंचानूक्तं तस्य सर्वस्य ब्रह्मेत्येकता; ये वै के च यज्ञास्तेषां सर्वेषां यज्ञ इत्येकता, ये वै के च लोकास्तेषां सर्वेषां लोक इत्येकता। एतावद्वा इदं सर्वम्, एतन्मा सर्वं सन्नयमितोऽभुनजदिति। तस्मात्पुत्रमनुशिष्टं लोक्यमाहुस्तस्मादेनमनुशासति ॥

अब इससे आगे (संप्रत्तिः) संप्रदान कहते हैं। अन्त समय पिता अपना प्रतिनिधि बना कर पुत्र को जो कुछ देता है वह संप्रदान है। जब कोई श्रेष्ठ पिता इस लोक से अपना जाना समझता है तब पुत्र को कहता है—तूं अब मेरे स्थान में वेद है—वेदाध्ययनकर्ता है, तूं यज्ञ है और तूं लोक है—वंशवृद्धि का कर्ता है। वह पुत्र उत्तर में कहता है—मैं वेद हूं, मैं यज्ञ हूं और मैं लोक हूं। ये तीन संपत्तियां ही पिता संप्रदान करता है। जो ही कुछ पढ़ा हुआ है उस सारे की ब्रह्म में—वेद में एकता है; जो कोई यज्ञकर्म हैं उन सब को यज्ञशब्द में एकता है। और जो कोई लोक हैं उन सब की लोक में एकता है। इतना ही यह सब है, यह मेरा सब संप्रदान होता हुआ, अब यह पुत्र मुझ को इस लोक से पालेगा—तार देगा। पिता, यह ऊपर की भावना करता है। इसी कारण पिता द्वारा उपदेशप्राप्त पुत्र को, पिता के लोक का—गति का कारण कहते हैं; इसी कारण अन्त समय पिता इसको उपदेश देता है।

स यदैवंविदस्माल्लोकात्प्रैत्यथैभिरेव प्राणैः सह पुत्रमाविशति। स यद्यनेन किंचिदक्ष्णयाऽकृतं भवति तस्मादेनं सर्वस्मात्पुत्रो मुञ्चति, तस्मात्पुत्रो नाम। स पुत्रेणैवास्मिंल्लोके प्रतितिष्ठति। अथैनमेते दैवाः प्राणा अमृता आविशन्ति ॥१७॥

जब वह ऐसा जानने वाला पिता इस लोक से मर कर जाता है तब इन ही प्राणों के साथ—संस्कारों के साथ पुत्र में प्रवेश करता है, पिता अपने शुभ संस्कारों से पुत्र को अपने जैसा बना लेता है। यदि वह ज्ञानी पिता इस से—पुत्र से विघ्नवश छिद्र से कुछ न करने वाला हो जाता है, कुछ उपदेशादि पुत्र को नहीं दे पाता है तो पुत्र इसको इस सारे अकृत कर्म से छुड़ा देता है। इस कारण ही पुत्र शब्द प्रसिद्ध है। वह शुभकर्मी पिता पुत्र से ही इस लोक में स्थिर रहता है। तदनन्तर पिता के आशीर्वाद से पुत्र में ये संस्काररूप दैवी अमृतमय प्राण प्रविष्ट होते हैं; उसका जीवन दैवी बन जाता है।

पृथिव्यै चैनमग्नेश्च दैवी वागाविशति । सा वै दैवी वाग्यया यद्यदेव वदति तत्तद्भवति ॥१८॥

पिता से उपदेश पाये हुए शुभसंस्कारयुक्त पुत्र में, पृथिवी से और अग्नि से—तप और ज्ञान से दैवी वाणी प्रवेश करती है। वह ही दैवी वाणी है जिस से सिद्ध जो जो ही कहता है वह वह ही हो जाता है।

दिवश्चैनमादित्याच्च दैवं मन आविशति । तद्वै दैवं मनो येनाऽऽनन्द्येव भवत्यथो न शोचति ॥१९॥

द्युलोक से और आदित्य से—भगवान् के आशीर्वाद से तथा आत्मप्रकाश से इस उपासक सुपुत्र में दैवी मन प्रवेश करता है। इसको दैवी मानसशक्ति प्राप्त हो जाती है। वह ही दैवी मन है जिस से उपासक आनन्दवान् ही हो जाता है और तदनन्तर नहीं शोक करता।

अद्भ्यश्चैनं चन्द्रमसश्च दैवः प्राण आविशति । स वै दैवः प्राणो यः संचरंश्चासंचरंश्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति ॥

जलों से और चन्द्रमा से इस उपासक में दैवी प्राण—जीवन प्रवेश करता है। वह ही दैवी प्राण है जो चलता हुआ और न चलता हुआ कभी भी नहीं व्याकुल होता और न नष्ट होता है। उसे अमर जीवन प्राप्त होता है।

स एवंवित् सर्वेषां भूतानामात्मा भवति । यथैषा देवतैवं सः । यथैतां देवतां सर्वाणि भूतान्यवन्त्येवं हैवंविदं सर्वाणि भूतान्यवन्ति । यदु किंचेमाः प्रजाः शोचन्त्यमैवाऽऽसां तद् भवति, पुण्यमेवामुं गच्छति, न ह वै देवान् पापं गच्छति ॥२०॥

वह ऐसा जानने वाला उपासक सारे प्राणियों का आत्मा हो जाता है, सब का अपना बन जाता है। जैसा यह प्राण देवता प्रिय है ऐसा ही वह प्रिय हो जाता है। जैसे इस प्राण देवता को सारे प्राणी सुरक्षित रखते हैं। ऐसे ही ऐसा जानने वाले उपासक को सारे प्राणी सुरक्षित रखते हैं। और जो कुछ ये प्रजाएं दुःख भोगती हैं, इनका आत्मा ही – अपना आप ही वह दुःख अनुभव करता है। उपासक को तो पुण्य ही—आनन्द ही प्राप्त होता है; निश्चय से देवों को पाप—दुःख नहीं प्राप्त होता।

अथातो व्रतमीमांसा । प्रजापतिर्ह कर्माणि ससृजे; तानि सृष्टान्यन्योन्येनास्पर्धन्त । वदिष्याम्येवाहमिति वाग् दध्रे द्रक्ष्याम्यहमिति चक्षुः; श्रोष्याम्यहमिति श्रोत्रम्, एवमन्यानि कर्माणि यथाकर्म । तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे ।

तान्याप्नोत्, तान्याप्त्वा मृत्युरवारुन्धत्। तस्माच्छ्राम्यत्येव वाक्, श्राम्यति चक्षुः, श्राम्यति श्रोत्रम्।

उपासक के दैवी जीवन का वर्णन करने के पश्चात् अब इसके आगे व्रतविचार—नियमविचार किया जाता है। प्रजापति ने इन्द्रियों को रचा; वे रची हुई इन्द्रियां एक दूसरी इन्द्रिय के साथ स्पर्धा करने लगीं। मैं बोलूंगी ही ऐसा वाणी ने व्रत धारण किया, मैं देखूंगी ऐसा चक्षु ने व्रत धारा और मैं सुनूंगा ऐसा श्रोत्र ने व्रत धारा। ऐसे ही दूसरी इन्द्रियों ने जैसे कर्म थे उनके अनुसार व्रत धारा। उस समय उनको मृत्यु ने थकावट होकर पकड़ लिया। वह उनको प्राप्त हुआ, उनको प्राप्त होकर मृत्यु ने उनको घेर लिया। इसी कारण वाणी थक जाती है; आंखें थक जाती है और श्रोत्र थक जाता है। इन्द्रियों को श्रम के रूप में काल पकड़ लेता है, ये मृत्यु से ग्रस्त हैं।

अथेममेव नाऽऽप्नोद्योऽयं मध्यमः प्राणस्तानि ज्ञातुं दध्रिरे। अयं वै नः श्रेष्ठो यः संचरंश्चासंचरंश्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति, हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति। त एतस्यैव सर्वे रूपमभवंस्तस्मादेत एतेनाऽऽख्यायन्ते प्राणा इति। तेन ह वाव तत्कुलमाचक्षते यस्मिन्कुले भवति य एवं वेद। य उ हैवंविदा स्पर्धतेऽनुशुष्यत्यनुशुष्य हैवान्ततो म्रियत इत्यध्यात्मम् ॥२१॥

और जो यह सब इन्द्रियों का मध्यवर्ती प्राण है—जैवी शक्ति है, इसको ही मृत्यु न प्राप्त कर सका; वे इन्द्रियां उसी को जानने लगीं। उन्होंने जान लिया कि यह मध्यम प्राण ही हम में उत्तम है, जो चलता हुआ और न चलता हुआ नहीं थकता और नहीं नष्ट होता। अहो! हम सब इसके ही स्वरूप को प्राप्त हो जावें। वे सारी इन्द्रियां इसी का स्वरूप हो गयीं। इसी कारण ये इन्द्रियां इस प्राण के नाम से ही प्राण ऐसा कही जाती हैं। जो उपासक प्राण माहात्म्य को ऐसे जानता है वह जिस कुल में होता है वह कुल उसी से ही कहा जाता है। और जो दुष्ट मनुष्य ऐसा जानने वाले के साथ स्पर्धा करता है—उसका प्रतिपक्षी बन जाता है वह सूख जाता है और सूख कर ही अन्त में मर जाता है। यह अध्यात्म है। इन्द्रियों के मध्य में प्राण-स्वरूप आत्मा अमर है।

अथाधिदैवतम्; ज्वलिष्याम्येवाहमित्यग्निर्दध्रे, तप्स्याम्यहमित्यादित्यो भास्याम्यहमिति चन्द्रमा एवमन्या देवता यथादैवतम्। स यथैषां प्राणानां मध्यमः प्राण एवमेतासां देवतानां वायुः। निम्लोचन्ति ह्यन्या देवता न वायुः, सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः ॥२२॥

अब देवतासंबन्धी वर्णन किया जाता है। मैं जलती रहूंगी ही ऐसा अग्नि ने व्रत धारा, मैं तपता रहूंगा ऐसा आदित्य ने व्रत लिया, मैं चमकता रहूंगा ऐसा चन्द्रमा ने व्रत धारण किया। ऐसे ही अन्य देवताओं ने भी व्रत लिये और जैसा देवत बल था ऐसे व्रत लिये; अपने दैवीनियम में बन्ध गये। जैसे इन इन्द्रियों में वह मध्यम प्राण—जैवी शक्ति है ऐसे ही इन देवताओं में वायु देव है—विश्व का ईश्वर है, विश्व का प्राण है। निश्चय से अन्य देवता अस्त हो जाते हैं परन्तु ईश्वर अस्त नहीं होता। जो विश्व का प्राण भगवान् है वह यह न नाश होने वाला देवता है। उसी देवाधिदेव के आश्रित सब देवता हैं। यहां विश्व की प्राणशक्ति का नाम वायु है। ईश्वर को वायु परोक्षप्रिय-न्याय से ही कहा है।

अथैष श्लोको भवति। यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छतीति, प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेऽस्तमेति, तं देवाश्चक्रिरे धर्मं स एवाद्य स उ श्व इति। यद्वा एतेऽमुर्ह्यध्रियन्त तदेवाप्यद्य कुर्वन्ति। तस्मादेकमेव व्रतं चरेत्प्राण्याच्चैवापान्याच्च; नेन्मा पाप्मा मृत्युराप्नुवदिति, यद्यु चरेत्समापिपयिषेत्तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यं सलोकतां जयति ॥२३॥

अब इस पर यह श्लोक है। जिस से सूर्य उदय होता है और जहां अस्त हो जाता है, वह उत्पत्ति स्थिति और लय का कर्त्ता विश्वप्राण भगवान् है। क्योंकि प्राण से ही यह उदय होता है और प्राण में ही अस्त हो जाता है। देवों ने उसको धर्म—नियम बनाया है, सब का नियामक माना है। वह ही भगवान् आज है और वह ही कल रहेगा वह ही एक रस है। इसी कारण गतकाल में जो ही व्रत इन अग्नि आदि देवों ने धारण किया था वह ही आज भी कर रहे हैं, उस नियम में आज तक चल रहे हैं। इस कारण मनुष्य एक ही व्रत को आचरण करे, वह प्राण लेने से और अपान-त्याग से अर्थात् श्वास-प्रश्वास के साथ सिमरन करे। विचारे कि कहीं (नेत्) ऐसा न हो कि मुझे पापरूप मृत्यु आ प्राप्त होवे। और जो व्रत धारण करे उसको समाप्त करने की इच्छा करे, व्रत अधूरा न रहने दे। निश्चय से दृढ और पूर्णव्रती उपासक उस से इसी प्राणरूप भगवान् की सायुज्य-प्राप्ति और सलोक-प्राप्ति प्राप्त कर लेता है। परमेश्वर के स्वरूप में मग्नता सायुज्य-प्राप्ति है और ब्राह्मी अवस्था का नाम सलोक-प्राप्ति है।

छठा ब्राह्मण

त्रयं वा इदं नाम, रूपं, कर्म। तेषां नाम्नां वागित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्ति। एतदेषां सामैतद्धि सर्वैर्नामभिः समम्, एतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति ॥१॥

नाम, रूप और कर्म यह ही तीन का बना जगत् है। जगत्, नाम रूप और कर्म है। उन देवदत्तादि नामों में वाणी ही मुख्य है. यह वाणी ही इनका उत्पत्ति स्थान है; क्योंकि इससे ही सारे नाम उत्पन्न होते हैं। यह वाणी ही इन नामों का साम है. यह वाणी ही सारे नामों से सम है, सारे नामों में एक सी है। यह इनमें ब्रह्म है—बड़ी है; यह वाणी ही सारे नामों को धारण करती है। नाम वाणी के आश्रित हैं। नाममय जगत् वाणी से प्रकाशित होता है।

अथ रूपाणां चक्षुरित्येतदेषामुक्थम्, अतो हि सर्वाणि रूपाण्युत्तिष्ठन्ति। एतदेषां सामैतद्धि सर्वै रूपैः समम्, एतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति ॥२॥

और इन श्वेत कृष्ण आदि रूपों का यह आंख ही उत्पत्तिस्थान है. रूपज्ञान इसी से होता है; इस आंख से ही सारे रूप उत्पन्न होते हैं. यह आंख इनका साम है, यह ही सारे रूपों से सम है, यह सब रूपों में सम रहती है। यह इनमें ब्रह्म है, यह ही सारे रूपों को धारण करती है। रूपमय जगत् आंख से प्रकाशित होता है।

अथ कर्मणामात्मेत्येतदेषामुक्थम्, अतो हि सर्वाणि कर्माण्युत्तिष्ठन्ति, एतदेषां सामैतद्धि सर्वैः कर्मभिः समम्, एतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति ॥

तथा इन गमनागमनादि कर्मों का यह आत्मा ही उत्पत्तिस्थान है, इस आत्मा से ही सारे कर्म उत्पन्न होते हैं। कर्ता आत्मा है, क्रिया का प्रेरक भी वही है। यह इन कर्मों का साम है, यह ही सारे कर्मों से सम है। यह इन कर्मों में महान् है; यह ही सब कर्मों को धारण करता है।

तदेतत् त्रयं सदेकमयमात्मा। आत्मो एकः सन्नेतत् त्रयम्। तदेतदमृतं सत्येनच्छन्नं, प्राणो वा अमृतं, नामरूपे सत्यं, ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः ॥३॥

सो यह नाम, रूप, कर्म तीन होने पर भी एक है, वह एक यह आत्मा है। सब नाम वाणी से प्रकाशित होते हैं, रूप नेत्र से प्रकाशित होते हैं, वाणी और नेत्र का आश्रय तथा प्रेरक आत्मा है इस कारण तीनों आत्मा में आश्रित हैं। और एक आत्मा होने पर यह तीन हैं; आत्मा ही वक्ता द्रष्टा और कर्ता है। वह यह आत्मा अमृत है और सत्य से—होने से आच्छादित है। प्राण—जीवनस्वरूप आत्मा ही अविनाशी है, नाम-रूप दोनों सत्य हैं; नाम-रूप का शरीर है, उन दोनों नाम-रूपों से यह प्राणस्वरूप आत्मा आच्छादित है; ये उसके आवरण हैं। शरीरी आत्मा नाम-रूप से घिरा हुआ है।

दूसरा अध्याय, पहला ब्राह्मण

दृप्तबालाकिर्हानूचानो गार्ग्य आस। स होवाचाजातशत्रुं काश्यं ब्रह्म ते

ब्रवाणीति । स होवाचाजातशत्रुः सहस्रमेतस्यां वाचि दद्मो जनको जनक इति वै जना धावन्तीति ॥१॥

यह एक इतिहास की कथा है कि गर्गगोत्रोत्पन्न वेदज्ञ दृप्तबालाकि नामक एक पुरुष था। वह एक दिन काशी के राजा अजातशत्रु को बोला – तुझे मैं ब्रह्मोपासना कहूँ। उस अजातशत्रु ने कहा—इस वचन के हेतु एक सहस्र गायें मैं आपको देता हूँ। जनक, जनक ऐसे शब्द पुकारते हुए ही जन मिथिला को दोड़े जाते हैं; परन्तु ब्रह्म-चर्चा में दक्षिणा तो मैं भी देने को समुद्यत हूँ।

स होवाच गार्ग्यो य एवासावादित्ये पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति । स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा अतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजेति वा अहमेतमुपास इति । स य एतमेवमुपास्तेऽतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजा भवति ॥२॥

उस गार्ग्य ने कहा—आदित्य में जो ही यह पुरुष है मैं इसी को ब्रह्म जान कर आराधता हूं। यह सुन कर उस अजातशत्रु ने कहा—इस आदित्योपासना में मत, मत संवाद कर। यह आदित्यगत शक्ति सब से श्रेष्ठ है, सारे भूतों का सिर—प्रेरक है और सब का राजा है। मैं इसी को आराधता हूं। वह जो इसको ऐसे जान कर उपासता है वह सब से ऊपर हो जाता है, सारे प्राणियों का सिर और राजा हो जाता है।

स होवाच गार्ग्यो य एवासौ चन्द्रे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति । स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठाः । बृहत्पाण्डरवासाः सोमो राजेति वा अहमेतमुपास इति । स य एतमेवमुपास्तेऽहरहर्ह सुतः प्रसुतो भवति, नास्यान्नं क्षीयते ॥३॥

वह गार्ग्य बोला—जो ही यह चन्द्रमा में शक्ति है मैं इसको ही ब्रह्म जान कर उपासता हूं। उस अजातशत्रु ने कहा—इस में मत संवाद करो। यह परमेश्वर नहीं, यह तो बड़ा श्वेतवस्त्रधारी—श्वेतकिरणवान् सोम राजा है; मैं इसको जानता हूं। वह जो इसको ऐसे जानता है उसके घर में दिन-दिन यज्ञ महायज्ञ होता है; उसका अन्न कदापि नहीं क्षय होता।

स होवाच गार्ग्यो य एवासौ विद्युति पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति । स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठास्तेजस्वीति वा अहमेतमुपास इति । स य एतमेवमुपास्ते तेजस्वी ह भवति, तेजस्विनी हास्य प्रजा भवति ॥४॥

फिर गार्ग्य ने कहा— जो यह विद्युत् में शक्ति है मैं इसी को ब्रह्म जानता हूं।

अजातशत्रु ने कहा—इसमें न संवाद कर। मैं इसको तेजस्वी जानता हूं. परमात्मा के विधान में यह तेजस्वी पदार्थ है। जो इसको ऐसा जानता है वह तेजस्वी हो जाता है, इसकी सन्तति तेजस्विनी होती है।

स होवाच गार्ग्यो य एवायमाकाशे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति। स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठाः पूर्णमप्रवर्तीति वा अहमेतमुपास इति। स य एतमेवमुपास्ते पूर्यते प्रजया पशुभिर्नास्यास्माल्लोकात्प्रजोद्वर्तते ॥५॥

गार्ग्य ने कहा—जो ही यह आकाश में शक्ति है इसी को मैं ब्रह्म जान कर उपासता हूं। अजातशत्रु ने कहा—इस में संवाद न कर। मैं इसको पूर्ण और अचल जानता हूं। जो इसको ऐसा जानता है वह प्रजा से और पशुओं से पूर्ण हो जाता है, इस लोक से इसकी सन्तति नहीं नष्ट होती।

स होवाच गार्ग्यो य एवायं वायौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति। स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा इन्द्रो वैकुण्ठोऽपराजिता सेनेति वा अहमेतमुपास इति। स य एतमेवमुपास्ते जिष्णुर्हापराजिष्णुर्भवत्यन्यतस्त्यजायी।६।

वह गार्ग्य बोला—जो ही यह वायु में शक्ति है मैं इसको ब्रह्म जान कर उपासता हूं। वह अजातशत्रु बोला—इस में संवाद न कर। मैं इसको ऐश्वर्यवान्, अनिरुद्धगति, और दूसरे से न जीते जाने वाली सेना—शक्ति जानता हूं। वह जो इसको ऐसा जानता है वह विजेता, न हारने वाला और शत्रुओं को जीतने वाला हो जाता है। शत्रु से जो उत्पन्न हो वह "अन्यतस्त्यः" कहा है। उसको जीतने वाले को अन्यतस्त्य-जायी कहते हैं।

स होवाच गार्ग्यो य एवायमग्नौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति। स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा विषासहिरिति वा अहमेतमुपास इति। स य एतमेवमुपास्ते विषासहिर्ह भवति, विषासहिर्हास्य प्रजा भवति ॥७॥

वह गार्ग्य बोला—जो ही यह अग्नि में शक्ति है इसको मैं ब्रह्म जान कर उपासता हूं। तब उस अजातशत्रु ने कहा—इस में संवाद न कर। मैं इसको विषासहि—सब को सहन करने वाला जानता हूं, यह सबको भस्म कर देता है यह मैं समझता हूं। वह जो इसको ऐसा जानता है वह सब को सहन करने वाला हो जाता है; इसकी सन्तति भी सब को सहन करने वाली होती है।

स होवाच गार्ग्यो य एवायमप्सु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति। स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठाः प्रतिरूप इति वा अहमेतमुपास इति। स य एतमेवमुपास्ते प्रतिरूपं हैवैनमुपगच्छति, नाप्रतिरूपमथो प्रतिरूपोऽस्माज्जायते ॥८॥

वह गार्ग्य बोला—जो ही यह जलों में शक्ति है मैं इसको ब्रह्म जान कर उपासता हूं। तब उस अजातशत्रु ने कहा—इस में संवाद न कर। मैं इस को अनुकूल जानता हूं। जल जीवनाधार होने से सब जीवों को अनुकूल है। वह जो इसको ऐसे जानता है इसको अनुकूल पदार्थ ही प्राप्त होता है प्रतिकूल पदार्थ नहीं प्राप्त होता और इस से अनुकूल पुत्र ही उत्पन्न होता है।

स होवाच गार्ग्यो य एवायमादर्शे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति। स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा रोचिष्णुरिति वा अहमेतमुपास इति। स य एतमेवमुपास्ते रोचिष्णुर्ह भवति, रोचिष्णुर्हास्य प्रजा भवत्यथो यैः संनिगच्छति सर्वांस्तानतिरोचते ॥९॥

इस उपासनाप्रकरण में आदित्य से जलपर्यन्त दिव्य पदार्थों में निहित पुरुष—देवभाव को गार्ग्य ने ब्रह्म मान कर उपासना करना कहा परन्तु अजातशत्रु ने उनको ब्रह्म स्वीकार नहीं किया। उसने दिव्य तत्त्वों तथा प्राकृत पदार्थों को ब्रह्मस्वरूप नहीं माना किन्तु कहा कि इनको ब्रह्म न कहो। यह तत्त्वोपासना ऐकांशिक है। इसका फल भिन्न है। दिव्य पदार्थों को ब्रह्म समझ कर उपासना करने के प्रकरण के साथ ही गार्ग्य ने कहा कि जो ही यह आदर्श—दर्पण में त्राटक करने पर पुरुष दीखता है, तेजोमय मण्डल दृष्टिगोचर हो आता है मैं इसको ब्रह्म जान कर उपासता हूं। इस पर अजातशत्रु ने कहा—इसमें संवाद न कर। मैं तो इसको दीप्तिमान्—तेजोरूप ऐसों ही जानता हूं। वह तो एक प्रकाशचक्र ही मैं समझता हूं। वह जो इसको ऐसे जानता है वह आराधक दीप्तिमान् हो जाता है, उसकी दृष्टि, त्राटकाभ्यास से बढ़ जाती है और इसकी सन्तति भी दीप्तियुक्त होती है। तथा वह उपासक जिनसे मिलता है उन सब को अधिक अच्छा लगने लग जाता है। त्राटकाभ्यासी में आकर्षणता तथा प्रियता बढ़ जाती है।

स होवाच गार्ग्यो य एवायं यन्तं पश्चाच्छब्दोऽनूदेत्येतमेवाहं ब्रह्मोपास इति। स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा असुरिति वा अहमेतमुपास इति। स य एतमेवमुपास्ते सर्वं हैवास्मिंल्लोक आयुरेति नैनं पुरा कालात्प्राणो जहाति ॥१०॥

उस गार्ग्य ने कहा—जो ही यह चलते हुए—उपासनामार्ग में ध्यान करते हुए उपासक के पीछे शब्द—तिन तिन तथा भीं भीं आदि नाद उदय होता है मैं इसको ब्रह्म जान कर उपासता हूं। अजातशत्रु ने कहा—इस में संवाद न कर। मैं इस को प्राण—ध्वनि ऐसा ही जानता हूं। वह जो इसको ऐसे जानता है वह इस लोक में सम्पूर्ण ही आयु पाता है। इसको समय से पूर्व प्राण नहीं छोड़ता, वह अवध्य बना रहता है।

स होवाच गार्ग्यो य एवायं दिक्षु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति । स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा द्वितीयोऽनपग इति वा अहमेतमुपास इति । स य एतमेवमुपास्ते द्वितीयवान्ह भवति, नास्माद्गणश्छिद्यते ॥११॥

उस गार्ग्य ने कहा—जो ही यह दिशाओं में पुरुष है, ध्यान में जो दिशा-गत, पूर्वादि दिशाओं में आत्मभाव प्रतीत होता है मैं, इस को ब्रह्म जान कर उपासता हूं। तब अजातशत्रु ने कहा -इस में संवाद न कर। मैं इसको दूसरा ने त्यागने वाला-न जाने वाला "आत्मभाव" ऐसा ही जानता हूं। वह जो इस को ऐसे जानता है वह साथी वाला हो जाता है और इससे पुत्रादि का समूह नहीं विच्छिन्न होता। ध्यान में किसी किसी को दिशाओं में तथा आकाश में आत्मभाव प्रतीत होने लग जाता है। मैं विस्तृत हूं ऐसा कोई कोई उपासक समझने लग जाता है। यह आत्मभाव की प्रतीति है।

स होवाच गार्ग्यो य एवायं छायामयः पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति । स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा मृत्युरिति वा अहमेतमुपास इति । स य एतमेवमुपास्ते सर्वं हैवास्मिँल्लोक आयुरेति, नैनं पुरा कालान्मृत्युरागच्छति ॥१२॥

उस गार्ग्य ने कहा—जो ही यह छायामय पुरुष है—त्राटक में बाहर छायामय प्रतिबिम्ब दीखने लगता है मैं इसको ब्रह्म जान कर उपासता हूं। तब अजातशत्रु ने कहा—इस में संवाद न कर। मैं इसको मरने वाला—नाशवान् ही जानता हूं। छायामय पुरुष आत्मा नहीं है। वह जो इसको ऐसे जानता है वह इस लोक में सारी ही आयु पाता है और इसको समय से पूर्व मृत्यु नहीं प्राप्त होता। छायामय की उपासना से काल का ज्ञान हो जाता है। यह भी एक त्राटक ही है।

स होवाच गार्ग्यो य एवायमात्मनि पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति । स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा आत्मन्वीति वा अहमेतमुपास इति । स य एतमेवमुपास्त आत्मन्वी ह भवत्यात्मन्विनी हास्य प्रजा भवति । स ह तूष्णीमास गार्ग्यः ॥१३॥

उस गार्ग्य ने कहा—जो ही यह हृदय में—अपने में शक्ति है मैं इसको ब्रह्म जान कर उपासता हूं। तब अजातशत्रु ने कहा—तू इस में संवाद न कर। मैं इसको अपने वाला ही जानता हूं। हृदयगत शक्ति देही—आत्मा है। वह जो इसको ऐसे जानता है वह आत्मा वाला हो जाता है और इसकी सन्तति आत्मावाली हो जाती है। यह सुन कर वह गार्ग्य चुप हो गया। इसमें आत्मा के प्रकाश को भी ब्रह्म कहा गया है।

स होवाचाजातशत्रुरेतावन्नू३ इत्येतावद्धीति । नैतावता विदितं भवतीति । स होवाच गार्ग्य उप त्वा यानीति ॥१४॥

गार्ग्य को मौन देख कर उस अजातशत्रु ने कहा—गार्ग्य ! क्या इतना ही ब्रह्म-विचार है ? गार्ग्य ने उत्तर दिया—हां, इतना ही है । तब अजातशत्रु बोला—इतने से ब्रह्म नहीं जाना जाता । तब उस गार्ग्य ने कहा—आप अनुमति दें तो मैं आपको "उपयानीति" प्राप्त होऊं, शिष्यभाव से आप को प्राप्त होऊं ।

स होवाचाजातशत्रुः प्रतिलोमं चैतद्यद् ब्राह्मणः क्षत्रियमुपेयाद् ब्रह्म मे वक्ष्यतीति । व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामीति । तं पाणावादायोत्तस्थौ । तौ ह पुरुषं सुप्तमाजग्मतुस्तमेतैर्नामभिरामन्त्रयाञ्चक्रे बृहन्, पाण्डरवासः, सोम, राजन्निति स नोत्तस्थौ । तं पाणिनाऽऽपेषं बोधयाञ्चकार । स होत्तस्थौ ॥१५॥

वह अजातशत्रु बोला—गार्ग्य ! यह विपरीत है कि ब्राह्मण क्षत्रिय के पास इस लिए आये कि यह मुझे ब्रह्म का रहस्य बतायेगा । परन्तु तुझको मैं ब्रह्मरहस्य बताऊंगा । अजातशत्रु उसको हाथ से पकड़ कर खड़ा हो गया । तब वे दोनों एक सोये हुए पुरुष के पास आए । उन्होंने उसको इन नामों से पुकारा—हे बड़े, हे शुक्ल वस्त्रधारी, हे सोम, हे राजन् । परन्तु वह न उठा, न जगा । फिर उन्होंने उसको हाथ से मल कर जगाया । तब वह उठ कर खड़ा हो गया । महान् आदि नाम प्रशंसाबोधक हैं ।

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद् य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाऽभूत्कुत एतदागादिति । तदु ह न मेने गार्ग्यः ॥१६॥

वह अजातशत्रु बोला—गार्ग्य । जो यह चिन्मय आत्मा है, जिस अवस्था में यह सो रहा था, कहां यह तब था ? जागने पर यह कहां से आ गया ? गार्ग्य ने उस भेद को न समझा, गार्ग्य उसको न मनन कर सका ।

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद् य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते । तानि यदा गृह्णात्यथ हैतत्पुरुषः स्वपिति नाम । तद्गृहीत एव प्राणो भवति, गृहीता वाक्, गृहीतश्चक्षुः, गृहीतं श्रोत्रं, गृहीतं मनः ॥१७॥

वह अजातशत्रु बोला—जो यह चैतन्य आत्मा है, जिस अवस्था में यह सो रहा था, तब इन इन्द्रियों के विज्ञान—चेतनभाव को अपनी चेतनसत्ता से ग्रहण करके जो यह अन्तर्हृदय में आकाश है—भीतर जो बुद्धिमय कोश है उसमें सोता है । उन इन्द्रियों को जब बुद्धिमय कोश में समाविष्ट कर लेता है तब यह आत्मा स्वपिति नाम

होता है—अपने में लीन कहा जाता है। तब उसकी घ्राणेन्द्रियें लीन ही होती है, वाणी लीन होती है। आंखें लीन होती है, श्रोत्र लीन होता है और मन लीन होता है।

स यत्रैतत्स्वप्न्यया चरति ते हास्य लोकाः। तदुतेव महाराजो भवत्युतेव महाब्राह्मण उतेवोच्चावचं निगच्छति। स यथा महाराजो जानपदान् गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकामं परिवर्तेत, एवमेवैष एतत्प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते ॥१८॥

जिस अवस्था में वह यह आत्मा स्वप्नलीला से विचरता है, उस अवस्था में वे दृश्य इसके लोक होते हैं, इसके अपने रचित होते हैं। उस समय कभी तो महाराजा वत् हो जाता है, कभी महाब्राह्मण के सदृश हो जाता है और कभी ऊंचे-नीच सदृश भावों को प्राप्त होता है। जैसे कोई महाराजा अपने देश के मनुष्यों को साथ लेकर अपने देश में यथेच्छ फिरे, ऐसे ही यह आत्मा इन इन्द्रियशक्तियों को लेकर अपने शरीर में यथेच्छ भ्रमण करता है। स्वप्नावस्था में आत्मा अपने में ही लीन करता है।

अथ यदा सुषुप्तो भवति, यदा न कस्यचन वेद, हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते; ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते। स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वाऽतिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीत, एवमेवैष एतच्छेते ॥१९॥

तदनन्तर जब जीवात्मा सुषुप्ति में होता है और जब किसी दृश्य के भाव को नहीं जानता, तब जो हिता नाम से बहत्तर सहस्र नाड़ियां हृदय से निकल कर सारे शरीर में फैल कर प्रतिष्ठित हैं, उनसे लौट कर शरीर में सोता है। शरीर में ही आत्म-सत्ता निमग्न होती है। जैसे कोई कुमार वा कोई महाराजा वा कोई विद्यासम्पन्न ब्राह्मण आनन्द की परम काष्ठा को पहुंच कर सोवे, ऐसे ही यह जीवात्मा इस सुषुप्ति में सुख से सोता है। सुषुप्ति में चेतनसत्ता अपने में होती है। जो अवस्था अतिशय से दुःखहन्त्री हो उसको अतिघ्नी कहा है।

स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः, सर्वे लोकाः सर्वे देवाः, सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति। तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति। प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥२०॥

जैसे कोई मकड़ी अपने तार से ऊपर नीचे सब ओर फिरे, जैसे अग्नि से छोटी छोटी चिनगारियां निकलती हैं, ऐसे ही इस देहधारी आत्मा से सारे प्राण—जीवनशक्तियां, सारे लोकचक्र, सारे देव—इन्द्रियां, सारे भूत—देहगत पांच तत्त्व

विविध प्रकार से काम करते हैं। इस आत्मा की चेतना ही सर्वत्र देह में कार्य करती है। उस आत्मा का उपनिषत्—उपनिषत्सम्बन्धी नाम सत्य का सत्य है। प्राण—देहगत चेतना के विकास ही सत्य—जीवनशक्तियां हैं; उनका सत्य—शक्ति वा अमरसत्ता यह आत्मा है।

सुषुप्ति के वर्णन में अजातशत्रु ने बताया कि व्यष्टिगत चेतनसत्ता, जैसे वहीं देह में विद्यमान होने पर भी प्रकट प्रतीत नहीं होती क्योंकि वह अपने में लीन होती है और सब इन्द्रियां भी उसी में समाई हुई होती हैं इसी प्रकार समष्टि की चेतन-सत्ता भी सब तत्त्वों तथा पदार्थों में विद्यमान है। वह सत्ता सर्वथा अपने स्वभाव में सुस्थिर है।

जैसे व्यष्टिगत चेतनसत्ता की जागृति में नाना इन्द्रियों के व्यापार होने लग जाते हैं ऐसे ही समष्टि चेतनसत्ता की संनिधि से सृष्टि के सब कार्य हुआ करते हैं। वह समष्टि का आत्मा—ब्रह्म इस विश्व-देह में ही विद्यमान है।

दूसरा ब्राह्मण

यो ह वै शिशुं साधानं सप्रत्याधानं सस्थूणं सदामं वेद, सप्त ह द्विषतो भ्रातृव्यानवरुणद्धि। अयं वाव शिशुर्योऽयं मध्यमः प्राणः। तस्येदमेवाऽऽधानमिदं प्रत्याधानं; प्राणः स्थूणाऽन्नं दाम ॥१॥

जो ही उपासक आधान—आधारसहित, प्रत्याधानसहित, खूंटसहित और बांधने की रज्जुसहित कुमार को जानता है वह द्वेष करने वाले, पांच ज्ञानेन्द्रियों और मन, बुद्धि, चित्त के दुष्ट संस्काररूप सात शत्रुओं को रोक देता है। जो यह मध्यम प्राण है—केन्द्रित जीवनशक्ति है, आत्म-विकास है, यह ही कुमार है, सदा युवक रहने वाला है। उस आत्मशक्ति का यह स्थूलशरीर ही अधिष्ठान है, यह शरीर ही विशेष रहने का स्थान है। प्राण—आयु खूंटा है और कर्मफल-भोग रज्जु है, जिस से यह कुमार बन्धा हुआ है।

तमेताः सप्ताक्षितय उपतिष्ठन्ते। तद्या इमा अक्षन् लोहिन्यो राजयस्ताभिरेनं रुद्रोऽन्वायत्तोऽथ या अक्षन्नापस्ताभिः पर्जन्यो या कनीनका तयाऽऽदित्यो यत्कृष्णं तेनाग्निर्यच्छुक्लं तेनेन्द्रोऽधरयैनं वर्तन्या पृथिव्यन्वायत्ता, द्यौरुत्तरया। नास्यान्नं क्षीयते य एवं वेद ॥२॥

उस कुमार को ये सात अक्षितियां—अमर तुष्टियां प्राप्त होती हैं। वह जो आंख में ये लाल लाल धारियां हैं उन से इस को रुद्र—वीरभाव प्राप्त होता है। और जो आंख में संजलता है—पानी है उस से इसको मेघ—प्रेम प्राप्त होता है। जो

नेत्र का तारा है उस से इसको सूर्यदर्शन प्राप्त होता है; ध्यानगत उपासक को आदित्यदर्शन होते हैं। नेत्र में जो कृष्ण भाग है उससे इसको तेज प्राप्त होता है। नेत्र में जो शुक्ल भाग है उस से इसको इन्द्र—स्वामित्व प्राप्त होता है। नीचे के पलक से इसको पृथिवी प्राप्त होती है और ऊपर के पलक से इसको स्वर्ग प्राप्त होता है। वह इस लोक और परलोक के सुख प्राप्त करता है। आंख में आत्मशक्ति का विशेष प्रकाश है, इस कारण ध्यानी को इसके वश करने से महालाभ होता है। जो उपासक ऐसे जानता है इसका शुभ भोग नहीं क्षय होता। वह जीवनभर सुखी रहता है।

तदेष श्लोको भवति। अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।
तस्याऽऽसत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना इति॥

इस पर यह श्लोक है—नीचे को छिद्रवाला और ऊपर को सिरवाला जो यह मस्तकरूप चमसा है उसमें अनेक प्रकार का यश स्थित है। उस मस्तकरूप चमसे के पास दो नेत्र, दो श्रोत्र, दो घ्राण और एक स्पर्श ये सात ऋषि रहते हैं, तथा ब्रह्म से बातें करती हुई आठवीं वाणी भी वहीं रहती है। सारे इन्द्रियजन्य ज्ञान और शाब्दिक ज्ञान मस्तक में ही निवास करते हैं। अत एव ज्ञान के साधनों को ऋषि कहा गया है।

अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न इतीदं तच्छिरः। एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः। तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपमिति, प्राणा वै यशो विश्वरूपम्। प्राणानेतदाह। तस्याऽऽसत ऋषयः सप्त तीर इति, प्राणा वा ऋषयः, प्राणानेतदाह। वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति, वाग् ध्यष्टमी ब्रह्मणा संवित्ते॥३॥

नीचे छिद्र और ऊपर मूल वाला जो चमसा कहा है वह यह मनुष्य का सिर है। यह सिर ही नीचे छिद्र और ऊपर मूल वाला चमसा है। उसमें अनेक प्रकार का यश निहित है, इसका तात्पर्य यह है कि इन्द्रियां ही अनेक प्रकार का यश है, इनका सदुपयोग ही यश है। यह प्राणों को ही कहा है कि उस चमसे के समीप सात ऋषि रहते हैं क्योंकि मानुष ज्ञान का साधन होने से इन्द्रियां ही ऋषि हैं; यह इन्द्रियों को ही कहा है। ब्रह्म से संवाद करती हुई आठवीं वाणी जो कही है सो वेद से संवाद करने में—स्वाध्याय में आठवीं वाणी ही है। मानव-मस्तक ज्ञान का महाकोश है।

इमावेव गोतमभरद्वाजावयमेव गोतमोऽयं भरद्वाजः। इमावेव विश्वामित्र-जमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्निः। इमावेव वसिष्ठकश्यपावयमेव

वसिष्ठोऽयं कश्यपः। वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यतेऽत्तिर्ह वै नामैतद्यदत्रिरिति सर्वस्यात्ता भवति, सर्वमस्यान्नं भवति य एवं वेद ॥४॥

जैसे महर्षि गोतम और भरद्वाज यज्ञकर्ता हुए हैं ऐसे ही उपासनायज्ञ में, उपासक के ये दोनों कान ही गोतम और भरद्वाज हैं; उन में यह ही दक्षिण श्रोत्र गोतम है और यह वाम भरद्वाज है। ये ही दोनों नेत्र विश्वामित्र और जमदग्नि हैं; यह ही दक्षिण नयन विश्वामित्र है, यह वाम नयन जमदग्नि है। ये ही दोनों नासिकाएँ वसिष्ठ और कश्यप हैं; यह ही दक्षिण नासिका वसिष्ठ है, यह वाम नासिका कश्यप है। वाणी ही अत्रि ऋषि है क्योंकि वाणी से ही अन्न खाया जाता है, इस कारण वाणी का अत्ति ही नाम है; इस लिए यह वह अत्रि है। जो उपासक इन देहस्थ सात ऋषियों को ऐसे जानता है वह सब भोजनों का भोक्ता हो जाता है, इसका सारा भोग्य पदार्थ अन्न हो जाता है।

इस पाठ में वाणी को सातवां ऋषि कहा है। उपासना में, जप, ध्यान, कीर्त्तन और स्वाध्यायादि में ये ऋषि परम उपयोगी होते हैं। जिस उपासक के उक्त सात ऋषि शुद्ध तथा प्रबल हों वह खाद्य मात्र का भोक्ता हो जाता है, वह भोजनभेद न मान कर सब भोजन जीर्ण कर लेता है।

तीसरा ब्राह्मण

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे, मूर्त्तं चैवामूर्त्तञ्च, मर्त्यं चामृतं च, स्थितञ्च, यच्च, सच्च, त्यच्च ॥१॥

महान् का वर्णन करते हुए ऋषि कहता है—दो ही महान् के रूप—पक्ष हैं; एक मूर्त्त—मूर्तिमान् है और दूसरा अमूर्ति—निराकार है। मूर्त्तामूर्त्त के क्रमशः विशेषण देते हुए कहा कि एक नाशवान् है, दूसरा अविनाशी है। एक स्थिर है, दूसरा चलने वाला है। एक व्यक्त है और दूसरा अव्यक्त है।

तदेतन्मूर्त्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्चैतन्मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सत्; तस्यैतस्य मूर्त्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत एष रसो य एष तपति। सतो ह्येष रसः ॥२॥

वह यह मूर्त्त है जो वायु से और आकाश से भिन्न प्राकृत पदार्थ है। यह ही नाशवान् है, यह स्थित—कठोर वा ठोस है, यह व्यक्त है। उस इस मूर्त्त का, इस नाशवान् का, इस स्थित का, इस व्यक्त का यह सार है जो यह सूर्य तप रहा है। व्यक्त जगत् का ही यह सूर्य सार है। सारे अभिव्यक्त पदार्थों का सार, पोषक, प्रकाशक सूर्य है। सूर्य इन सबके पोषण आकर्षण का केन्द्र है।

अथामूर्त्तं वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतमेतद्यदेतत्त्यत्। तस्यैतस्यामूर्त्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः। त्यस्य ह्येष रस इत्यधिदैवतम् ॥३॥

अब अधिदैवत पक्ष में वायु और आकाश अमूर्त्त हैं, इन दोनों का आकार नहीं है। यह अविनाशी है, इस अमूर्त्त में सब मूर्त्त पदार्थ लय होते हैं। यह सूक्ष्म क्रियावान् है, यह अप्रत्यक्ष है। उस इस अमूर्त्त का, इस अविनाशी का, इस क्रियाशील का, इस परोक्ष का यह सार है जो यह इस सूर्य मण्डल में तेज है। उस परोक्ष का ही यह सार है। यह अधिदैवत वर्णन है।

इस पाठ में वायु और आकाश से प्रकृति की अव्यक्त अवस्था से भी तात्पर्य है। सूर्यमण्डल के प्रकाशपुञ्ज को पुरुष इस कारण कहा कि परम पुरुष का संकल्प ही उस में तेजोमय हो रहा है। वही इसमें उद्‌भूत है।

अथाध्यात्मम्। इदमेव मूर्त्तं यदन्यत्प्राणाच्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाशः। एतन्मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सत्, तस्यैतस्य मूर्त्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत एष रसो यच्चक्षुः। सतो ह्येष रसः ॥४॥

अब अध्यात्म पक्ष वर्णन किया जाता है। जो यह शरीर के भीतर आत्मा है इस से और जो प्राण-वायु से भिन्न—भूत हैं यह ही मूर्त्त है। यह नाशवान् है, यह स्थिर है, यह व्यक्त है। उस इस मूर्त्त का, इस नाशवान् का, इस स्थिर का, इस व्यक्त का यह सार है जो यह नेत्र है। व्यक्त का ही यह नेत्र सार है। देह में नेत्र सार है।

अथामूर्त्तं, प्राणश्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाशः। एतदमृतमेतद्यदेतत्त्यत्, तस्यैतस्यामूर्त्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः। त्यस्य ह्येष रसः ॥५॥

अब अध्यात्म पक्ष में जो यह शरीर के भीतर आत्मा है और प्राणरूप पवन है यह अमूर्त्त है। यह अमृत है, यह प्राण, क्रियाशील है और यह आत्मा ज्ञानवान् है, यह परोक्ष पदार्थ है। उस इस अमूर्त्त का, इस अमृत का, इस ज्ञानक्रियाशील का, इस परोक्ष का यह सार है जो यह दक्षिण चक्षु में आत्मप्रकाश है। परोक्ष आत्मा का ही यह नेत्रगत प्रकाश सार है। आत्मा का प्रकाश दक्षिण नेत्र में इस कारण कहा है कि दक्षिण शिरोभाग में आत्मसत्ता विशेषता से स्फुरित होती है।

तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथा माहारजनं वासः, यथा पाण्ड्वाविकं, यथेन्द्रगोपो यथाऽग्न्यर्चिः, यथा पुण्डरीकं, यथा सकृद्विद्युत्तम्। सकृद्विद्युत्तेव

ह वा अस्य श्रीर्भवति य एवं वेद । अथात आदेशो नेति नेति; न ह्येतस्मा-
दिति, नेत्यन्यत्परमस्त्यथ नामधेयं, सत्यस्य सत्यमिति । प्राणा वै
सत्यं, तेषामेष सत्यम् ॥६॥

उस इस आत्मा का ध्यान-समाधि में उपासकों को ऐसा रूप— चमत्कार दीखा करता है, जैसे कुसुम्भे से रंगा हुआ वस्त्र हो, जैसे श्वेत मेष के लोम हों, जैसे इन्द्र-गोप का रंग हो, जैसे अग्निज्वाला हो, जैसे श्वेत कमल हो और जैसे एक बार विद्युत्प्रकाश हो। जो उपासक आत्मा के परिचायक चमत्कारों को ऐसे जानता है उसकी लक्ष्मी वा शोभा प्रबलता से एक बार चमकती हुई विद्युत्-ज्योतिर्वत् ही हो जाती है। अब इससे आगे आत्म-संबन्धी उपदेश नहीं है, नहीं है। क्योंकि इस वर्णन से अधिक वर्णन नहीं है और इससे परम उपदेश दूसरा नहीं है। तथा इस आत्मा का नाम सत्य का सत्य है। इन्द्रियों में जो चेतना के विकास हैं वह ही सत्य है; उनका यह आत्मा सत्य है; अमर सत्ता है। आत्मा प्रकाशस्वरूप है। वह स्वतःसिद्ध सत्य है तथा स्वाश्रित निरपेक्ष तत्त्व है।

चौथा ब्राह्मण

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य उद्यास्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि । हन्त,
तेऽनया कात्यायन्याऽन्तं करवाणीति ॥१॥

ब्रह्मविद्यासंबन्धी याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी के संवाद का वर्णन करता हुआ ऋषि कहता है कि—याज्ञवल्क्य ने कहा—अरी मैत्रेयी! मैं इस स्थान से—स्वगृह और ग्राम से जा ही रहा हूं, संन्यास लेकर गृह त्यागने लगा हूं। इस कारण तुम दोनों की अनुमति से मैं चाहता हूं तेरी इस कात्यायनी से निर्णय कर दूं, तेरा संपत्ति का भाग तुझे दिलवा दूं।

सा होवाच मैत्रेयी—यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्
कथं तेनामृता स्यामिति । नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं
तथैव ते जीवितं स्यात् । अमृतत्वस्य तु नाऽऽशाऽस्ति वित्तेनेति ॥२॥

वह मैत्रेयी बोली—हे भगवन्! यदि यह धन से पूर्ण सारी पृथिवी मेरी हो जाय तो मैं कैसे उससे अमृत—मुक्त हो जाऊंगी? याज्ञवल्क्य ने कहा—तू धनपूर्ण पृथिवी से अमृत नहीं हो सकती। किन्तु जैसा ही धन, गृह, भूमि आदि उपकरण वालों का जीवन है वैसा ही तेरा जीवन होगा, क्योंकि धन से मोक्ष की आशा नहीं है। सपंत्ति से परम पद नहीं प्राप्त होता।

सा होवाच मैत्रेयी—येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्। यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति ॥३॥

तब वह मैत्रेयी बोली—जिस धनादि की प्राप्ति से मैं मुक्त नहीं होऊँगी उस धन से मैं क्या करूं; उससे मुझे कुछ भी प्रयोजन नहीं। इस कारण मोक्ष का जो ही उपाय भगवान्—आप जानते हैं वह ही उपाय मुझे कहो।

स होवाच याज्ञवल्क्यः—प्रिया बतारे नः सती प्रियं भाषसे। एह्यास्स्व व्याख्यास्यामि ते, व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति ॥४॥

मैत्रेयी की जिज्ञासा देख कर वह याज्ञवल्क्य अनुकम्पा से बोला—अरी मैत्रेयी! मुझे प्यारी होती हुई तू आत्मज्ञान की जिज्ञासा का प्रिय वचन कह रही है। आ, यहां मेरे समीप बैठ, तुझे मैं आत्मतत्त्वका व्याख्यान दूंगा। और मेरे वर्णन किए जाते विषय का निदिध्यासन कर— निश्चय से ध्यान करने की इच्छा कर।

स होवाच—न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति ॥

समीप बैठी मैत्रेयी को उस याज्ञवल्क्य ने कहा—अरी! निश्चय से पति की कामना के लिए—सांसारिक संबन्ध के लिए भार्या को पति प्यारा नहीं होता किन्तु आत्मा की कामना के लिए—आत्मसंम्बन्ध से—आत्मसन्तोष के लिए पत्नी को पति प्यारा होता है। अरी! निश्चय से भार्या की कामना से पति को पत्नी प्यारी नहीं होती किन्तु आत्मा की कामना के लिए—आत्मसन्तोष के लिए पति को पत्नी प्यारी होती है।

आत्मा को उक्त संबन्ध आत्म-भाव से प्यारे लगते हैं क्योंकि आत्मा स्वयं ही प्रियस्वरूप है और वह सम्बन्धों में अपना आप कल्पित कर लेता है।

न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति। न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति। न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति। न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति। न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया

भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति । न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति । न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति ॥

अरी मैत्रेयी! पुत्रों की कामना के लिए पुत्र प्यारे नहीं होते किन्तु आत्ममता से पुत्र प्यारे होते हैं । अरी! धन की कामना के लिए धन प्यारा नहीं होता किन्तु आत्मा का सुखसाधन होने से धन प्यारा होता है । अरी! ब्रह्म की कामना के लिए—वेद की इच्छा के लिए वेद प्यारा नहीं होता किन्तु आत्मा की कल्याण कामना के लिए वेद प्यारा होता है। अरी! क्षत्रकर्म की कामना के लिए क्षेत्रकर्म प्यारा नहीं होता किंतु आत्मा के भावों के लिए क्षत्रकर्म प्यारा होता है । अरी! पृथिवी आदि लोकों की इच्छा से लोक प्यारे नहीं होते किंतु आत्मा के पुण्यमय जन्मस्थान होने से लोक प्यारे होते हैं । अरी! देवों की इच्छा से देव प्यारे नहीं होते किंतु आत्मा के उच्च धामों की कामना से देव प्यारे होते हैं । अरी ! प्राणियों की इच्छा से प्राणी प्यारे नहीं होते किंतु सदृश आत्मभाव से प्राणी प्यारे होते हैं । अरी ! सब की कामना के लिए सर्व-वस्तु-संग्रह प्यारा नहीं होता किन्तु आत्मा की तृप्ति के लिए सब प्यारा होता है । जिन वस्तुओं से आत्मा को सन्तोष होता है उनमें उसका ममत्व से संकल्प हुआ करता है इस कारण वे वस्तुएं आत्मा को प्यारी होती हैं । वास्तव में प्रियरूप आत्मा स्वयं ही है ।

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः । मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम् ॥५॥

अरी! ऐसा प्रियस्वरूप आत्मा ही देखने योग्य है—जानने योग्य है श्रवण करने योग्य है, मनन करने योग्य है और निश्चय से ध्यान करने योग्य है । अरी मैत्रेयी! आत्मा के ही दर्शन से, श्रवण से, मनन से और विशेषज्ञान से यह सारा रहस्य जाना हुआ हो जाता है ।

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद, क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद, लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान्वेद, देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान्वेद, भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद, सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद । इदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदं सर्वं यदयमात्मा ॥६॥

उस मनुष्य को वेद वा ब्राह्मणकर्म दूर कर देता है—छोड़ देता है, जो मनुष्य आत्मा से दूसरे स्थान वेदज्ञान वा ब्राह्मणकर्म जानता है । उसको क्षत्रियकर्म छोड़ देता

है जो आत्मा से अन्यत्र क्षत्रियकर्म जानता है। ये उत्तम भाव और कर्म आत्मभाव तथा आत्मशक्ति के प्रकाशक हैं। उसको लोक छोड़ देते हैं जो आत्मा से अन्यत्र लोकों को—लोकों की प्राप्ति को जानता है। उसको देव छोड़ देते हैं जो आत्मा से अन्यत्र देवों—देवभावों को जानता है। उसको प्राणी छोड़ देते हैं जो आत्मा से अन्यत्र प्राणियों को जानता है, जो सब प्राणियों में आत्मा नहीं मानता। उस को सब कुछ छोड़ देता है, जो आत्मा से अन्यत्र सब को जानता है, जो सब पदार्थों में आत्मेच्छा काम करती हुई नहीं मानता। यह ब्रह्म, यह क्षत्र ये लोक, ये देव, ये प्राणी, यह सब जो कुछ भी है यह आत्मा ही है; आत्मा की शक्तियों का ही सर्वत्र प्रकाश है। आत्म-परमात्मसत्ता से ही सब नियन्त्रित है।

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद् ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः ॥७॥

इस आत्मा को कैसे जाना जाय, इस पर वह प्रसिद्ध दृष्टान्त है—जैसे बजती हुई दुन्दुभि के बाहर निःसृत शब्दों—ध्वनियों को कोई मनुष्य पकड़ नहीं सकता परन्तु दुन्दुभि के पकड़ने से दुन्दुभि बजने का शब्द पकड़ा जाता है, ऐसे ही घट-पटादि पदार्थों के ज्ञान से आत्मज्ञान नहीं होता किन्तु आत्मज्ञान से अन्य सब वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है। आत्मसत्ता से देह इन्द्रिय आदि का प्रकाश होता है और परमात्मसत्ता से विश्व का विकास होता है।

स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद् ग्रहणाय, शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्खध्मस्य वा शब्दो गृहीतः ॥८॥

इस पर दूसरा वह प्रसिद्ध दृष्टान्त है—जैसे बजते हुए शंख के पकड़ने से उससे बाहर निकले हुए शब्दों को कोई नहीं पकड़ सकता परन्तु शंख के पकड़ने से शंख बजने का शब्द पकड़ा जाता है ऐसे ही आत्मा को जानने से सारे रहस्य जाने जाते हैं। आत्मतत्त्व से ही सब पदार्थ प्रकाशित हैं।

स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद् ग्रहणाय, वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः ॥९॥

इस पर तीसरा वह प्रसिद्ध दृष्टान्त है—जैसे बजती हुई वीणा के ग्रहण करने से उस से बाहर निकले शब्दों को कोई पकड़ नहीं सकता परन्तु वीणा के पकड़ लेने से वीणा बजने का शब्द पकड़ा जाता है ऐसे ही आत्मा को जानने से सब कुछ जाना जाता है। वस्तुतः विश्वात्मा से विश्व-विकास है।

स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः,

पुराणं, विद्या, उपनिषदः, श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि, व्याख्यानान्यस्यै-वैतानि निःश्वसितानि ॥१०॥

इस पर वह चौथा दृष्टान्त है—जैसे लकड़ियों पर भली भांति स्थापित, गीली समिधा वाली आग से धूंएं पृथक्-पृथक् आप ही आप निकलते हैं, अहो मैत्रेयी ! ऐसे ही इस महान् अस्तित्व—परमेश्वर के यह उच्छ्वासवत् ही हैं जो ऋग्वेद है, यजुर्वेद है, सामवेद है, अथर्ववेद है, इतिहास है, पुराण है, तत्त्वविद्या है, उपनिषद् हैं, काव्य-श्लोक हैं, सूत्र हैं, अनुव्याख्यान हैं और विस्तृत व्याख्यान हैं। ये सब इस परमेश्वर के निःश्वास ही हैं, परमात्मा के संकल्प-आशीर्वाद से ही ज्ञान का स्रोत प्रकट हुआ है। वाणी और ज्ञान का आदि प्रेरक परमेश्वर है।

स यथा सर्वासामपां समुद्र एकायनमेवं सर्वेषां स्पर्शानां त्वगेकायनमेवं सर्वेषां रसानां जिह्वैकायनमेवं सर्वेषां गन्धानां नासिके एकायनमेवं सर्वेषां रूपाणां चक्षुरेकायनमेवं सर्वेषां शब्दानां श्रोत्रमेकायनमेवं सर्वेषां संकल्पानां मन एकायनमेवं सर्वासां विद्यानां हृदयमेकायनमेवं सर्वेषां कर्मणां हस्तावेकायनमेवं सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनमेवं सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनमेवं सर्वेषामध्वनां पादावेकायनमेवं सर्वेषां वेदानां वागेकायनम् ॥११॥

इस पर वह प्रसिद्ध दृष्टान्त है—जैसे सारे जलों का समुद्र एकाश्रय है ऐसे ही सारे शीतादि स्पर्शों का त्वचा एकाश्रय है, ऐसे ही सारे रसों का जिह्वा एकाश्रय है, ऐसे ही सारे गन्धों का घ्राणेन्द्रिय एकाश्रय है, ऐसे ही सारे रूपों का नेत्र एकाश्रय है, ऐसे ही सारे शब्दों का श्रोत्र एकाश्रय है, ऐसे ही सारे संकल्पों का मन एकाश्रय है, ऐसे ही सारी विद्याओं का हृदय एकाश्रय है, ऐसे ही सारे कर्मों के हाथ एकाश्रय हैं, ऐसे ही सारे आनन्दों का उपस्थ एकाश्रय है, ऐसे ही सारे मल-त्यागों का पायु एकाश्रय है, ऐसे ही सारे मार्गों के पांव ही एकाश्रय हैं, ऐसे ही सारे वेदों का वाणी एकाश्रय है; वाणी में ही सारे वेद आश्रित हैं। वह परा वाणी भगवान् का उच्छ्वास है।

स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयेत न हास्योद्ग्रहणा-येव स्यात्। यतो यतस्त्वाददीत लवणमेवैवं वा अर इदं महद् भूतमनन्त-मपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति। न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः ॥१२॥

इस विषय पर वह प्रसिद्ध दृष्टान्त है—जैसे जल में डाला हुआ लवण का ढेला

जल में ही मिल जाय, जल में ही मिल जाता है, फिर इसका ग्रहण ही नहीं हो सकता। जल को जहां जहां से कोई लेवे उसे लवण ही प्रतीत होगा। अरी मैत्रेयी! ऐसे ही यह अनन्त, अपार, परमात्म-तत्त्व ज्ञानमय ही है। इन पांच तत्त्वों से प्रकट हो कर सृष्टिरचना से जाना जाकर, तार्किकों के संमुख उन ही भूतों में अदृश्य हो जाता है; वह तर्क से अगम्य है। उसकी प्रेत्य संज्ञा नहीं है—उसका नास्तित्व—मरण नहीं है। वह अमर, अविनाशी परमेश्वर है। याज्ञवल्क्य ने कहा—अरी मैत्रेयी! यह ही मैं कह रहा हूं।

सा होवाच मैत्रेयी। अत्रैव मा भगवानमूमुहन्न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति। स होवाच न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यलं वा अर इदं विज्ञानाय ॥१३॥

वह मैत्रेयी बोली—यहां ही—इस विषय में ही भगवान् मुझ को मोह गये कि प्रेत्य संज्ञा नहीं है। वह बोला—अरी! निश्चय मैं मोहके वार्त्ता नहीं कहता। अरी! विज्ञान के लिए यह कथन पर्याप्त है। परमात्मा का इतना वर्णन ही बहुत है।

परमेश्वर अनन्त, अपार और अचिन्त्य है। पांच तत्त्वों के ज्ञान से वह परम पुरुष पूर्णतया जाना नहीं जाता। यह कार्यजगत् उसकी महिमा है।

यत्र हि द्वैतमिव भवति, तदितर इतरं जिघ्रति, तदितर इतरं पश्यति, तदितर इतरं शृणोति, तदितर इतरमभिवदति, तदितर इतरं मनुते, तदितर इतरं विजानाति। यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं शृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कं मन्वीत, तत्केन कं विजानीयाद् येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति ॥१४॥

निश्चय से जिस अवस्था में दूसरे की भांति होता है, आत्मा प्रकृति में बद्ध, वृत्तिवश होता है, वहां अन्य अन्य को सूंघता है, वहां अन्य अन्य को देखता है, वहां अन्य अन्यको सुनता है, वहां इतर इतरको कहता है, वहां इतर इतरको मनन करता है, वहां इतर इतरको जानता है। जिस अवस्था में ही इसका सारा स्वरूप शुद्ध आत्मा ही हो गया, वहां किससे किसको सूंघे, वहां किससे किसको देखे, वहां किससे किसको सुने, वहां किससे किसको कहे, वहां किससे किसको मनन करे, वहां किससे किसको जाने। मनुष्य जिस आत्मा से इस सारे जगत् को जानता है उसको किस अन्य से जाने। जानने वाले को अरी! किससे जाने। आत्मा स्वयं ज्ञाता है, मुक्तावस्था में उसे स्व-स्वरूप में ज्ञातृ-ज्ञेयत्व प्रतीत नहीं होता। वहां केवल निर्वात दीपशिखावत् आत्मा की अवस्था होती है। वहां वह निरपेक्ष-सत्य-स्वरूप होता है।

पांचवां ब्राह्मण

इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु। यश्चाय-मस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं शारीरस्तेजोमयोऽमृत-मयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मा; इदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥१॥

मधुविद्या का वर्णन करता हुआ ऋषि कहता है—यह पृथिवी सब प्राणियों का मधु है—मधुवत् प्रिय और सुखकर है। इस पृथिवी के लिए सब प्राणी मधु हैं—मधुकोश-समान हैं; पृथिवी सर्व प्राणियों की पालना करती है। और इस पृथिवी में जो यह प्रकाशमय, अमृतमय, भगवान् स्वसत्ता से विद्यमान है वह और जो यह आत्मा शरीर वान्, तेजोमय, अमृतरूप पुरुष है, यह ही वह है जो यह यहां आत्मा कह कर वर्णन किया गया; आत्मा शब्द से आत्मा परमात्मा दोनों कहे गये हैं। यह आत्मपद ही अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सब कुछ है, इसी से अन्य पदार्थ प्रकाशित हैं।

इमा आपः सर्वेषां भूतानां मध्वासामपां सर्वाणि भूतानि मधु। यश्चायमास्व-प्सु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं रैतसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽय-मेव स योऽयमात्मा। इदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥२॥

ये जल सब प्राणियों का मधु हैं—सुखकर पदार्थ हैं; इन जलों का सब जीव मधु है—मधुकोशसमान प्रिय है। जो यह इन जलों में स्वसत्ता से विद्यमान, प्रकाश-स्वरूप, अमृतमय, परमेश्वर है और जो यह रेतस् से बने शरीर में रहने वाला आत्मा तेजोमय, सुखरूप पुरुष है यह ही वह है जो यह आत्मा है—आत्मपद-वाच्य है। यह आत्मपद ही सुखमय है, यह महान् है, यह सब है।

अयमग्निः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याग्नेः सर्वाणि भूतानि मधु। यश्चायमस्मि-न्नग्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं वाङ्मयस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मा। इदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥३॥

यह अग्नि सब प्राणियों का मधु है, इस अग्नि का सब प्राणी मधु हैं, इस अग्नि में जो चिदानन्द पुरुष विद्यमान है और जो यह वाणी में प्रकाशित आत्मा ज्ञान सुखमय है, यह ही आत्मपद-वाच्य है। शेष पूर्ववत्।

अयं वायुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य वायोः सर्वाणि भूतानि मधु। यश्चा-यमस्मिन्वायौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं प्राणस्तेजोमयोऽमृत-मयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मा। इदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥४॥

यह वायु सब प्राणियों का मधु है, इस वायु का सब जीव मधु हैं। जो यह इस

वायु में प्रकाशानन्दमय परमेश्वर विद्यमान है और जो यह प्राणधारी आत्मा है वह यह ही आत्मपद-वाच्य है। शेष पूर्ववत्।

अयमादित्यः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याऽऽदित्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु। यश्चायमस्मिन्नादित्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं चाक्षुषस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मा। इदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥५॥

यह सूर्य सब प्राणियों का मधु है, इसका सब प्राणी मधु हैं। जो इस सूर्य में प्रकाशानन्दमय पुरुष विद्यमान है और जो यह आंख में प्रकट आत्मा तेजोमय अमृतमय है यह ही आत्मपद-वाच्य है।

इमा दिशः सर्वेषां भूतानां मध्वासां दिशां सर्वाणि भूतानि मधु। यश्चायमासु दिक्षु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं श्रौत्रः प्रातिश्रुत्कस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मा। इदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥६॥

ये दिशाएं सभी प्राणियों का मधु है, इन दिशाओं का सब प्राणी मधु हैं। जो यह इन दिशाओं में प्रकाशानन्दमय भगवान् है वह और जो यह श्रोत्रेन्द्रिय में प्रकट होने वाला, स्मृति का साक्षी, आत्मा तेजोमय सुखमय पुरुष है, यह ही वह है जो यह आत्मपद-वाच्य है।

अयं चन्द्रः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य चन्द्रस्य सर्वाणि भूतानि मधु। यश्चायमस्मिश्चन्द्रे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं मानसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मा। इदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥७॥

यह चन्द्र सब भूतों का मधु है, इस चन्द्र का सारे भूत मधु हैं। जो यह इस चन्द्र में प्रकाशानन्दमय परमेश्वर विद्यमान है वह और जो यह मन में—मनोवृत्ति में प्रकट आत्मा तेजोमय सुखमय पुरुष है, यह ही वह है जो यह आत्मपद-वाच्य है।

इयं विद्युत्सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै विद्युतः सर्वाणि भूतानि मधु। यश्चायमस्यां विद्युति तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं तैजसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मा। इदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥८॥

यह विद्युत् सब प्राणियों का मधु है, इस विद्युत् का सब प्राणी मधु हैं। इस विद्युत् में जो यह प्रकाशानन्दमय भगवान् विद्यमान है वह और जो यह सूक्ष्मशरीर में होने वाला आत्मा तेजोमय सुखरूप है, यह ही वह जो यह आत्मपद-वाच्य है। सूक्ष्मशरीर तेजोमय है, इस कारण उस में विद्यमान आत्मा को तैजस कहा है।

अयं स्तनयित्नुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य स्तनयित्नोः सर्वाणि भूतानि मधु। यश्चायमस्मिन्स्तनयित्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं शाब्दः सौवर-स्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मा। इदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥९॥

यह गर्जनशील मेघ सब प्राणियों का मधु है, इस गर्जनशील का सब प्राणी मधु हैं। जो यह इस गर्जनशील में तेजोमय अमृतमय भगवान् विद्यमान है वह और जो यह शब्द से—ज्ञान से और स्वर से—आत्मनाद से ज्ञात आत्मा तेजोमय सुखरूप पुरुष है यह ही वह है जो यह आत्मपद-वाच्य है।

अयमाकाशः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याऽऽकाशस्य सर्वाणि भूतानि मधु। यश्चायमस्मिन्नाकाशे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं हृद्याकाशस्तेजो-मयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मा। इदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥१०॥

यह आकाश सब प्राणियों का मधु है और इस आकाश का सब प्राणी मधु हैं। इस आकाश में जो यह प्रकाशानन्दमय परम पुरुष है वह और जो यह मानव हृदय में आकाशवत् निराकार आत्मा तेजोमय सुखरूप पुरुष है यह ही वह है, जो यह आत्मपद-वाच्य है।

इस मधुविद्या का तात्पर्य है कि पृथिवी आदि सभी पदार्थ स्वभाव से अमृत हैं, निर्दोष हैं तथा मधुर हैं। इन में जो कटुता—कष्ट, क्लेश—विकार है वह इन पदार्थों का स्वरूप नहीं है। उक्त पदार्थों में अमृत भावना स्थापित करके उनका उपयोग करना सुखद है, सुधा-सम है और मधुर है। प्राकृतिक तत्त्व और आत्मतत्त्व जब मधुरूप है तो विकार केवल विपरीतभावना, मिथ्याकल्पना भ्रमजन्य भय और सांस्कारिक प्रभाव ही रह जाते हैं जो वास्तव में अभावरूप ही होते हैं। सब पदार्थों को मधुमय मानना और निश्चय से जानना वस्तुज्ञान है, भावरूप समझ है, और सत्य है। इस लिए मधुविद्या के वेत्ता की विचारदृष्टि में सृष्टि सुधा-सरित् है, सरसा है, सुखदा है तथा मधुमयी है, इस कारण भी कि इसमें अमृतमय, तेजोमय और मधुमत्तम आत्मतत्त्व विद्यमान है।

अयं धर्मः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य धर्मस्य सर्वाणि भूतानि मधु। यश्चायम-स्मिन्धर्मे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं धार्मस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मा। इदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥११॥

यह धर्म सब प्राणियों का मधु है, इस धर्म का सब जीव मधु हैं। इस धर्म में जो यह प्रकाशानन्दमय भगवान् विद्यमान है वह और जो यह धर्म से प्रकट—उद्बुद्ध होने वाला आत्मा तेजोमय सुखरूप पुरुष है यह ही वह है जो यह आत्मपद-वाच्य है।

इदं सत्यं सर्वेषां भूतानां मध्वस्य सत्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु। यश्चायमस्मिन्सत्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं सात्यस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मा। इदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥१२॥

यह सत्य—अविनाशीभाव सब प्राणियों का मधु है, इस सत्य का सब प्राणी मधु है। इस सत्य में जो यह प्रकाशानन्दमय भगवान् विद्यमान है वह और जो यह सत्य से—अविनाशीभाव से प्रकट होने वाला आत्मा तेजोमय सुखरूप पुरुष है यह ही वह है जो यह आत्मपद-वाच्य है।

इदं मानुषं सर्वेषां भूतानां मध्वस्य मानुषस्य सर्वाणि भूतानि मधु। यश्चायमस्मिन्मानुषे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं मानुषस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मा। इदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥१३॥

यह मनुष्यभाव सब प्राणियों का मधु है, इस मनुष्यभाव का सब प्राणी मधु है। जो यह इस मनुष्यभाव में प्रकाशानन्दमय परमेश्वर विद्यमान है वह और जो यह मनुष्य में आत्मा, तेजोमय सुखरूप पुरुष है वह यही है जो यह आत्मपद-वाच्य है।

अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मध्वस्यात्मनः सर्वाणि भूतानि मधु। यश्चायमस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमात्मा तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मा। इदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥१४॥

यह आत्मा सब प्राणियों का मधु है; इस आत्मा का सब प्राणी मधु है। जो यह इस आत्मा में स्वनियम तथा ज्ञान से प्रकाशानन्दमय परमेश्वर विद्यमान है वह और जो यह मुक्त आत्मा तेजोमय सुखरूप है, यह ही वह है जो यह आत्मा कहा गया है।

स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः, सर्वेषां भूतानां राजा। तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाऽराः सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि, सर्वे देवाः, सर्वे लोकाः, सर्वे प्राणाः, सर्व एत आत्मानः, समर्पिताः ॥१५॥

वह ही परमेश्वर सब भूतों—प्राणियों का स्वामी है और सब प्राणियों का राजा है। सो जैसे रथ की नाभि में अथवा रथ की नेमि में सारे अरे लगे हुए होते हैं, ऐसे ही इस परमात्मा में सारे प्राणी वा तत्त्व, सारे देव, सारे लोक, सारे जीवन और सब ये मुक्त आत्माएं समर्पित हैं। सारा विश्व उसकी इच्छा में और नियति में जुड़ा हुआ है।

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच। तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत्—"तद्वां नरा सनये दंस उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिम्। दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाचेति" ॥१६॥

यह ही वह मधु विद्या है जो अथर्वणगोत्रोत्पन्न दध्यङ् ने अश्वियों को कही थी। वह ऋषि यह मधुमर्म जानता हुआ बोला—आप नराकार दोनों को—आप दोनों पर, जगत् के लाभ के लिए उग्र कर्म प्रकट करता हूं, इस प्रकार जैसे बिजली वृष्टि को प्रकट करती है। अथर्वणगोत्री दध्यङ् ने जो मधुविद्या आप दोनों को अश्व के सिर से कही—तीव्र मस्तक से वर्णन की, वह ही यह है। वही मधुविद्या मस्तकगत बुद्धि से धारण करने योग्य है।

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच। तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत्—"आथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्व्यं शिरः प्रत्यैरयतम्। स वां मधु प्रवोचदृतायन्त्वाष्ट्रं यद्दस्रावपि कक्ष्यं वामिति" ॥१७॥

यह ही वह मधु उपदेश है जो अथर्वणगोत्री दध्यङ् ने अश्वियों को दिया। वह ऋषि यह रहस्य जानता हुआ बोला—हे अश्वियो! अथर्वणगोत्री दध्यङ् के लिए अश्वसंबन्धी सिर प्रेरित किया—तीव्रभाव उत्तेजित किया, तब सत्य को पालन करते हुए उस ऋषि ने शत्रुनाशक तुम दोनों को, जो गोपनीय सूर्यसंम्बन्धी मधु उपदेश है वह वर्णन किया।

यह मधु उपदेश भावनावान् भक्त के लिए सब पदार्थों को मधुमय बना देता है। उसे हरिलीला मधुमती प्रतीत हुआ करती है।

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच। तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत्—"पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः। पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशद्" इति। स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयो नैनेन किंचनानावृतं नैनेन किंचनासंवृतम् ॥१८॥

यह वह मधु उपदेश है जो अथर्वणगोत्रोत्पन्न दध्यङ् ने अश्वियों को कहा। वह ऋषि यह जानता हुआ बोला—उस भगवान् ने पहले दो पैर वाले जीवों को बनाया, पहले चार पैर वालों को बनाया। पहले वह भगवान् पक्षी होकर—संकल्प बन कर पुरों में पुरुषरूप से—ईश्वरभाव से प्रविष्ट हुआ। सबसे पहले ईश्वरेच्छा प्रकृति में प्रविष्ट हुई। वह ही आदि प्रेरक यह ईश्वर सारे लोकों में पुरिशय—पुरियों में शयन करने वाला है। इस ईश्वर से कोई भी वस्तु अनावृत्त—अनाच्छादित नहीं है; इससे कोई भी वस्तु असंवृत—बिना घेरे के नहीं है। वह सर्वत्र विद्यमान है।

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच । तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत्—"रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव, तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय । इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश" इति । अयं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि च बहूनि चानन्तानि च । तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम् । अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम् ॥१९॥

यह ही मधु उपदेश अथर्वणगोत्रोत्पन्न दध्यङ् ने अश्वियों को कहा । वह ऋषि यह जानता हुआ बोला—वह भगवान् इस विश्व के स्वरूप को प्रकाशित—वर्णन करने के लिए रूप रूप को प्रतिरूप हो गया, सब वस्तुओं में स्वेच्छा से—संकल्प से विद्यमान हो गया। इन्द्र—इन्द्रियधारी आत्मा मायाओं—अज्ञानों और कर्मों से बहुरूप प्रतीत होता है—अनेक जन्मों को प्राप्त होता है । इसके देह में एक सौ दस घोड़े जुते हुए हैं। यह ही सौ नाडीसमूह घोड़े हैं; यह ही इन्द्रियां दस घोड़े हैं। ये इन्द्र सहस्रों, बहुत और अनन्त हैं। और वह यह ब्रह्म है । जो अपूर्व है—पूर्व कारण जिसका नहीं है, जिसका अपर दूसरा कारण नहीं है, जो अनन्तर है; जिसके मध्य में कोई नहीं है, जो अबाह्य है। यह ही आत्मा परमेश्वर है और सर्वानुभव कर्ता—सर्वज्ञ है ! यह ही आत्मोपदेश है ।

छठा ब्राह्मण

अथ वंशः । पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः पौतिमाष्यात्, पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः कौशिकात्, कौशिकः कौण्डिन्यात्कौण्डिन्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कौशिकाच्च, गौतमाच्च गौतमः ॥१॥

इसके अनन्तर वंश का वर्णन है। पौतिमाष्य ने गौपवन से यह विद्या प्राप्त की; गौपवन ने पौतिमाष्य से, पौतिमाष्य ने गौपवन से, गौपवन ने कौशिक से, कौशिक ने कौण्डिन्य से, कौण्डिन्य ने शाण्डिल्य से, शाण्डिल्य ने कौशिक से और गौतम ने गौतम से यह विद्या सीखी ।

आग्निवेश्यादाग्निवेश्यः शाण्डिल्याच्चानभिम्लाताच्चानभिम्लात आनभिम्लातादानभिम्लातः, आनभिम्लातादानभिम्लातः, गौतमाद्गौतमः, सैतवप्राचीनयोग्याभ्यां सैतवप्राचीनयोग्यौ, पाराशर्यात्पाराशर्यः भारद्वाजाद् भारद्वाजः, भारद्वाजाच्च गौतमाच्च गौतमः, भारद्वाजाद् भारद्वाजः, पाराशर्यात् पाराशर्यः, बैजवापायनाद्बैजवापायनः, कौशिकायनेः कौशिकायनिः ॥२॥

आग्निवेश्य से आग्निवेश्य ने, शाण्डिल्य से और आनभिम्लात से आनभिम्लात ने, आनभिम्लात से आनभिम्लात ने, आनभिम्लात से आनभिम्लात ने, गौतम से गौतम

ने, सैतव और प्राचीनयोग्य से सैतव और प्राचीनयोग्य ने, पाराशर्य से पाराशर्य ने, भारद्वाज से भारद्वाज ने, भारद्वाज से और गौतम से गौतम ने, भारद्वाज से भारद्वाज ने, पाराशर्य से पाराशर्य ने, बैजवापायन से बैजवापायन ने, कौशिकायनि से कौशिकायनि ने यह विद्या प्राप्त की।

घृतकौशिकाद् घृतकौशिकः, पाराशर्यायणात् पाराशर्यायणः, पाराशर्यात्पाराशर्यो जातूकर्ण्याज्जातूकर्ण्य आसुरायणाच्च यास्काच्चाऽऽसुरायणस्त्रैवणेस्त्रैवणिरौपजन्धनेरौपजन्धनिरासुरेरासुरिर्भारद्वाजाद् भारद्वाज आत्रेयादात्रेयो माण्टेर्माण्टिर्गौतमाद्गौतमो गौतमाद्गौतमो वात्स्याद्वात्स्यः, शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः, कैशोर्यात्काप्यात्कैशोर्यः काप्यः कुमारहारितात्कुमारहारितो गालवाद्गालवो विदर्भीकौण्डिन्याद्विदर्भीकौण्डिन्यो वत्सनपातो बाभ्रवाद्वत्सनपाद् बाभ्रवः, पथः सौभरात् पन्थाः सौभरोऽयास्यादाङ्गिरसादयास्य आङ्गिरस आभूतेस्त्वाष्ट्रादाभूतिस्त्वाष्ट्रो विश्वरूपात्त्वाष्ट्राद्विश्वरूपस्त्वाष्ट्रोऽश्विभ्यामश्विनौ, दधीच आथर्वणाद्दध्यङ्ङाथर्वणोऽथर्वणो दैवादथर्वा दैवो मृत्योः प्राध्वंसनान्मृत्युः प्राध्वंसनः, प्रध्वंसनात्प्रध्वंसन एकर्षेरेकर्षिर्विप्रचित्तेर्विप्रचित्तिर्व्यष्टेर्व्यष्टिः, सनारोः सनारुः, सनातनात्सनातनः, सनगात्सनगः, परमेष्ठिनः परमेष्ठी, ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयंभु, ब्रह्मणे नमः ॥३॥

घृतकौशिक से घृतकौशिक ने, पाराशर्यायण से पाराशर्यायण ने, पाराशर्य से पाराशर्य ने, जातूकर्ण्य से जातूकर्ण्य ने, आसुरायण यास्क से आसुरायण ने, त्रैवणि से त्रैवणि ने, औपजन्धनि से औपजन्धनि ने, आसुरि से आसुरि ने, भारद्वाज से भारद्वाज ने, आत्रेय से आत्रेय ने, माण्टि से माण्टि ने, गौतम से गौतम ने, गौतम से गौतम ने, वात्स्य से वात्स्य ने शाण्डिल्य से शाण्डिल्य ने, कैशोर्य काप्य से कैशोर्य काप्य ने, कुमारहारित से कुमारहारित ने, गालव से गालव ने, विदर्भीकौण्डिन्य से विदर्भीकौण्डिन्य ने, वत्सनपात् बाभ्रव से वत्सनपात् बाभ्रव ने, पंथि सौभर से पंथि सौभर ने, अयास्य आङ्गिरस से अयास्य आङ्गिरस ने, आभूति त्वाष्ट्र से आभूति त्वाष्ट्र ने, विश्वरूप त्वाष्ट्र से विश्वरूप त्वाष्ट्र ने, अश्विनों से दोनों अश्वियों ने, दध्यङ् आथर्वण से दध्यङ् आथर्वण ने, अथर्वण दैव से अथर्वा दैव ने, मृत्यु प्राध्वंसन से मृत्यु प्राध्वंसन ने, प्रध्वंसन से प्रध्वंसन ने, एकर्षि से एकर्षि ने, विप्रचित्ति से विप्रचित्ति ने, व्यष्टि से व्यष्टि ने, सनारु से सनारु ने, सनातन से सनातन ने, सनग से सनग ने, परमेष्ठी से परमेष्ठी ने, ब्रह्म से ब्रह्म स्वयंभु ने यह विद्या ग्रहण की। इस विद्या के आदिगुरु ब्रह्म को नमस्कार हो।

तीसरा अध्याय, पहला ब्राह्मण

जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे । तत्र ह कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवुस्तस्य ह जनकस्य वैदेहस्य विजिज्ञासा बभूव, कः स्विदेषां ब्राह्मणानामनूचानतम इति । स ह गवां सहस्रमवरुरोध, दश दश पादा एकैकस्याः शृङ्गयोराबद्धा बभूवुः ॥१॥

यह पुरातन ऐतिहासिक वार्ता है कि वैदेह जनक ने बहुत दक्षिणावाले यज्ञ से यज्ञ किया। उस यज्ञ में कुरुदेश और पञ्चालदेशों के ब्राह्मण चहुं ओर से संमिलित हुए। उस समय उस वैदेह जनक को जानने की इच्छा हुई कि इन ब्रह्मवेत्ताओं में कौन अतिशय वेदज्ञ है ? तब उसने गौओं का एक सहस्र समूह रोका—इकट्ठा किया। एक एक गाय के दोनों सींगों के साथ दस दस पाद—दस दस सुवर्णमुद्राएं राजआज्ञा से बन्ध गईं । पल के चौथे भाग का नाम पाद है।

तान् होवाच—ब्राह्मणा भगवन्तो ! यो वो ब्रह्मिष्ठः, स एता गा उदजतामिति । ते ह ब्राह्मणा न दधृषुः । अथ ह याज्ञवल्क्यः स्वमेव ब्रह्मचारिणमुवाचैताः सोम्योदज सामश्रवा ३ इति । ता होदाचकार । ते ह ब्राह्मणाश्चुक्रुधुः, कथं नो ब्रह्मिष्ठो ब्रुवीतेति । अथ ह जनकस्य वैदेहस्य होताऽश्वलो बभूव, स हैनं पप्रच्छ, त्वं नु खलु नो याज्ञवल्क्य ब्रह्मिष्ठोऽसी३ इति, स होवाच नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मो गोकामा एव वयं स्म इति । तं ह तत ह एव प्रष्टुं दध्रे होताऽश्वलः ॥२॥

उस समय जनक उन ब्राह्मणों को बोला—हे पूज्य ब्राह्मणो ! आप में से जो अतिशय ब्रह्मवित् है वह ये गौएं स्वस्थान को ले जाय। यह सुन कर वे ब्राह्मण न प्रगल्भ हुए—वे अपने आप को ब्रह्मवादी कह कर धृष्ट नहीं हुए। तदनन्तर याज्ञवल्क्य ने अपने ही ब्रह्मचारी को कहा—प्यारे सामश्रवा ! ये गौएं ले चल ! वह उनको ले चला। तब वे ब्राह्मण क्रुद्ध हुए और बोले—हमारे में कैसे कोई अतिशय ब्रह्मवित् कहे; यह हमारे में अपने आप को ब्रह्मज्ञानी नहीं कह सकता। तब वैदेह जनक का अश्वल नामक होता था। उस ने इस याज्ञवल्क्य को पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! हम में निश्चय क्या तू अतिशय ब्रह्मवित् है ? यह सुन कर वह बोला-हम अतिशय ब्रह्मवित् को नमस्कार करते हैं । गौओं की कामना वाले ही हम हैं; हमें ब्रह्मज्ञान का अभिमान नहीं है। होता अश्वल उसको तब से ही पूछने लग गया।

याज्ञवल्क्येति होवाच—यदिदं सर्वं मृत्युनाऽऽप्तं, सर्वं मृत्युनाऽभिपन्नं, केन

यजमानो मृत्योराप्तिमतिमुच्यत इति ? होत्रर्त्विजाऽग्निना वाचा। वाग्वै यज्ञस्य होता। तद्येयं वाक्सोऽयमग्निः, स होता, स मुक्तिः, साऽतिमुक्तिः ॥३॥

वह होता अश्वल बोला—हे याज्ञवल्क्य ! जो यह सारा दृश्यमान जगत् है वह मृत्यु से प्राप्त है, सारा मृत्यु को पहुँचा हुआ है; तब किस कर्म से यजमान मृत्यु की प्राप्ति से मुक्त हो जाता है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—होता ऋत्विक् से, अग्नि से, वाणी से। वाणी ही— स्तोत्र पाठ ही यज्ञ का होता है। वह जो यह वाणी—स्तुति पाठ है वह ही यह आध्यात्मिक अग्नि है; वह होता है, वह मुक्ति है, वह सर्वथा मुक्ति है। वह अध्यात्मभाव ही सर्वथा मुक्ति है। अध्यात्मभाव यज्ञ ही मुक्ति-मार्ग है।

याज्ञवल्क्येति होवाच—यदिदं सर्वमहोरात्राभ्यामाप्तं, सर्वमहोरात्राभ्यामभिपन्नं, केन यजमानोऽहोरात्रयोराप्तिमतिमुच्यत इति ? अध्वर्युणर्त्विजा चक्षुषाऽऽदित्येन। चक्षुर्वै यज्ञस्याध्वर्युः। तद्यदिदं चक्षुः सोऽसावादित्यः, सोऽध्वर्युः, स मुक्तिः साऽतिमुक्तिः ॥४॥

होता अश्वल ने फिर कहा—हे याज्ञवल्क्य ! जो यह सारा दृश्यमान जगत् दिन-रात से प्राप्त है, सारा दिन-रात से घिरा हुआ है, तब किस कर्म से यजमान दिन-रात की प्राप्ति को लांघ जाता है ? किस कर्म से यजमान काल-चक्र से पार पा जाता है। उस ने उत्तर दिया—अध्वर्यु ऋत्विज् से, चक्षु से, आदित्य से। चक्षु—शास्त्राध्ययन ही यज्ञका अध्वर्यु है। वह जो यह चक्षु—दर्शनशक्ति है वह ही यह सूर्य है—वह ही सूर्य का द्योतक है। वह अध्वर्यु है, वह मुक्ति है, वह सर्वथा मुक्ति है; यज्ञ का अध्यात्मभाव ही मुक्ति है।

याज्ञवल्क्येति होवाच—यदिदं सर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामाप्तं, सर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामभिपन्नं, केन यजमानः पूर्वपक्षापरपक्षयोराप्तिमतिमुच्यत इति ? उद्गात्रर्त्विजा वायुना प्राणेन। प्राणो वै यज्ञस्योद्गाता। तद्योऽयं प्राणः स वायुः, स उद्गाता, स मुक्तिः, साऽतिमुक्तिः ॥५॥

होता अश्वल ने फिर कहा—हे याज्ञवल्क्य ! जो यह सारा दृश्यमान जगत् शुक्ल-कृष्णपक्ष से प्राप्त है, सारा दोनों पक्षों से घिरा हुआ है—कालचक्र के प्रभाव में है, तब किस कर्म से यजमान पूर्व-अपर पक्षों की प्राप्ति को लांघ जाता है ? उसने उत्तर दिया—उद्गाता ऋत्विज् से, वायु से, प्राण से। प्राण ही यज्ञ का उद्गाता है। वह जो यह प्राण—जीवनशक्ति है वह ही वायु है; वह ही स्तोत्रों को गाने वाला है, वह मुक्ति है वह ही सर्वथा मुक्ति है। अध्यात्मभाव ही कल्याण का मार्ग है।

याज्ञवल्क्येति होवाच—यदिदमन्तरिक्षमनारम्भणमिव केनाक्रमेण यजमानः

स्वर्गं लोकमाक्रमत इति ? ब्रह्मणर्त्विजा मनसा चन्द्रेण। मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा, तद्यदिदं मनः सोऽसौ चन्द्रः स ब्रह्मा, स मुक्तिः साऽतिमुक्तिरित्यतिमोक्षाः। अथ सम्पदः ॥६॥

फिर होता अश्वल ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! जो यह आकाश निरालम्ब सा है, उसमें से किस सोपान – पथ से यजमान स्वर्ग लोक को जाता है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—ब्रह्मा ऋत्विज् से, मन से, चन्द्र से। मन ही—एकाग्रभाव ही यज्ञकर्म का ब्रह्मा है। वह जो यह एकाग्र-मन है वह यह प्रियरूप चन्द्र है, वह ही ब्रह्मा है, वह मुक्ति है, वह अतिमुक्ति है। ऐसे अध्यात्मभावना वाले यजमान अत्यन्त मुक्त होते हैं। अब आगे यज्ञ की सम्पत्तियां वर्णन की जाती हैं।

याज्ञवल्क्येति होवाच—कतिभिरयमद्यर्ग्भिर्होताऽस्मिन् यज्ञे करिष्यति ? तिसृभिरिति। कतमास्तास्तिस्र इति ? पुरोनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया। किं ताभिर्जयतीति ? यत्किंचेदं प्राणभृदिति ॥७॥

संपत्प्रकरण आरम्भ करते हुए होता अश्वल ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! इस यज्ञ में आज यह होता कितनी ऋचाओं से शंसनकार्य करेगा ? उसने कहा—तीन से। होता अश्वल ने कहा—वे तीन कौन हैं ? उसने उत्तर दिया—पहली ऋचा पुरोनुवाक्या है, दूसरी याज्या है और तीसरी शस्या है। यज्ञ के पूर्वपाठ को पुरोनुवाक्य, मध्य में कर्मयुक्त पाठ याज्य और अन्तिम कर्म के पाठ को शस्य कहा है। होता अश्वल ने पूछा—उनसे यजमान क्या प्राप्त करता है ? उसने कहा—जो कुछ यह प्राणिजात है उसको लाभ करता है। अच्छे प्राणियों में जन्म-धारण करता है।

याज्ञवल्क्येति होवाच—कत्ययमद्याध्वर्युरस्मिन् यज्ञे आहुतीर्होष्यतीति ? तिस्र इति। कतमास्तास्तिस्र इति ? या हुता उज्ज्वलन्ति, या हुता अतिनेदन्ते या हुता अधिशेरते। किं ताभिर्जयतीति ? या हुता उज्ज्वलन्ति देवलोकमेव ताभिर्जयति; दीप्यत इव हि देवलोकः। या हुता अतिनेदन्ते पितृलोकमेव ताभिर्जयति; अतीव हि पितृलोकः। या हुता अधिशेरते मनुष्यलोकमेव ताभिर्जयत्यध इव हि मनुष्यलोकः ॥८॥

होता अश्वल ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! इस यज्ञ में आज यह अध्वर्यु कितनी आहुतियां होम करेगा ? उसने कहा—तीन। फिर होता अश्वल ने पूछा—वे तीन कौन हैं ? उसने उत्तर दिया—जो आहुतियां कुण्ड में डाली हुई जलती हुई ऊपर को उठती हैं, जो हवन की हुई नाद करती हैं, और जो हवन की हुई नीचे बैठ जाती

हैं। होता अश्वल ने पूछा—उन से यजमान क्या प्राप्त करता है? उसने उत्तर दिया—जो हवन की हुई ऊपर को जलती हैं उन से देवलोक को ही प्राप्त करता है; निश्चय से देवलोक चमकता ही है। जो हवन की हुई अतिनाद करती हैं उनसे यजमान पितृलोक को ही पाता है निश्चय से पितृलोक अतिनादवाला है। जो आहुतियां हवन की हुई नीचे बैठ जाती हैं उन से यजमान मनुष्यलोक को ही प्राप्त करता है; निश्चय से मनुष्यलोक नीचे स्थित ही है।

याज्ञवल्क्येति होवाच—कतिभिरयमद्य ब्रह्मा यज्ञं दक्षिणतो देवताभिर्गोपायतीति ? एकयेति । कतमा सैकेति ? मन एवेति, अनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति ॥९॥

होता अश्वल ने पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! आज यह ब्रह्मा दक्षिणभाग में बैठ कर कितने देवताओं से यज्ञ को सुरक्षित करता है ? उसने उत्तर दिया—एक से। होता अश्वल ने पूछा—वह एक कौन है ? उसने बताया—वह मन ही है—ध्यान तथा एकाग्रता ही है। मानस एकाग्रता से यज्ञ की निर्विघ्नता तथा सिद्धि होती है। निश्चय, वृत्तिमय मन अनन्त है, वृत्तियां अनगिनत हैं। और विश्वेदेव भी अनन्त हैं, इस कारण सब देवताओं के यज्ञ में मन की एकाग्रता से ही यज्ञ की रक्षा होती है। वह उस शुद्ध मन से अनन्त ही लोक को प्राप्त करता है।

याज्ञवल्क्येति होवाच—कत्ययमद्योद्गाताऽस्मिन् यज्ञे स्तोत्रियाः स्तोष्यतीति ? तिस्र इति। कतमास्तास्तिस्र इति ? पुरोनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया। कतमास्ता या अध्यात्ममिति ? प्राण एव पुरोनुवाक्याऽपानो याज्या व्यानः शस्या। किं ताभिर्जयतीति ? पृथिवीलोकमेव पुरोनुवाक्यया जयत्यन्तरिक्षलोकं याज्यया द्युलोकं शस्यया। ततो ह होताऽश्वल उपरराम ॥१०॥

होता अश्वल ने पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! इस यज्ञ में आज यह उद्गाता कितने स्तोत्र गायेगा ? उसने कहा—तीन। होता अश्वल ने पूछा—वे तीन स्तोत्र कौन हैं ? उस ने उत्तर दिया—पुरोनुवाक्या, याज्या और तीसरी शस्या। फिर होता अश्वल ने पूछा—वे तीन जो अध्यात्म स्तुतियां हैं वे कौन हैं ? उसने उत्तर दिया—प्राण ही पुरोनुवाक्या है, अपान याज्या है और व्यान शस्या है। फिर होता अश्वल ने पूछा—उन से यजमान क्या फल प्राप्त करता है ? उसने उत्तर दिया—पुरोनुवाक्या से पृथिवीलोक को ही जीतता है। याज्या से अन्तरिक्ष लोक को और शस्या से द्युलोक को जीतता है। उसके पश्चात् होता अश्वल चुप हो गया।

दूसरा ब्राह्मण

अथ हैनं जारत्कारव आर्तभागः पप्रच्छ । याज्ञवल्क्येति होवाच—कति ग्रहाः कत्यतिग्रहा इति ? अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहा इति । ये ते ऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः कतमे त इति ॥१॥

तदनन्तर इस याज्ञवल्क्य को जरत्कारु के पुत्र आर्तभाग ने पूछा—आर्तभाग बोला—हे याज्ञवल्क्य ! कितने ग्रह हैं ? कितने अतिग्रह हैं ? उसने उत्तर दिया—आठ ग्रह हैं और आठ अतिग्रह हैं । आर्त्तभाग ने पूछा—जो वे आठ ग्रह और आठ अतिग्रह हैं वे कौन हैं ?

प्राणो वै ग्रहः सोऽपानेनातिग्राहेण गृहीतोऽपानेन हि गन्धाञ्जिघ्रति ॥२॥

उसने कहा—घ्राणेन्द्रिय ही ग्रह है । वह अपानवायुरूप अतिग्रह से पकड़ा हुआ अन्तर्मुख श्वास से ही गन्धों को सूंघता है ।

आत्मा के लिए इन्द्रिय एक प्रकार से ग्रह—पकड़ने वाला है; इन्द्रिय के लिए विषय अतिग्रह है । प्रवृत्ति-प्रवाह में इन्द्रिय विषयाधीन हो जाती है ।

वाग्वै ग्रहः स नाम्नाऽतिग्राहेण गृहीतो वाचा हि नामान्यभिवदति ॥३॥

वाणी ही—वागिन्द्रिय ही ग्रह है, वह नाम—शब्द अतिग्रह से गृहीत हुआ वाणी से ही नामों को बोलता है ।

जिह्वा वै ग्रहः स रसेनातिग्राहेण गृहीतो जिह्वया हि रसान्विजानाति ॥४॥
चक्षुर्वै ग्रहः स रूपेणातिग्राहेण गृहीतश्चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति ॥५॥

श्रोत्रं वै ग्रहः स शब्देनातिग्राहेण गृहीतः श्रोत्रेण हि शब्दाञ् छृणोति ॥६॥

रसना इन्द्रिय ही ग्रह है, वह रस अतिग्रह से गृहीत होकर जिह्वा से ही रसों को जानता है । चक्षु इन्द्रिय ही ग्रह है वह रूप—विषयरूप अतिग्रह से पकड़ा हुआ आंख से ही रूपों को देखता है । श्रोत्र इन्द्रिय ही ग्रह है वह शब्दरूप अतिग्रह से पकड़ा हुआ कान से ही शब्दों को सुनता है ।

मनो वै ग्रहः स कामेनातिग्राहेण गृहीतो मनसा हि कामान्कामयते ॥७॥
हस्तौ वै ग्रहः स कर्मणाऽतिग्राहेण गृहीतो हस्ताभ्यां हि कर्म करोति ॥८॥
त्वग्वै ग्रहः स स्पर्शेनातिग्राहेण गृहीतस्त्वचा हि स्पर्शान्वेदयत इत्यतेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः ॥९॥

मन ही ग्रह है, वह संकल्प-विकल्परूप मनोमय ग्रह कामनारूप अतिग्रह से पकड़ा हुआ मन से ही अभिवाञ्छित पदार्थों को चाहता है। दोनों हाथ ही ग्रह हैं, वह कर्म—क्रियारूप अतिग्रह से गृहीत हुआ हाथों से ही कर्म करता है। त्वचा ही ग्रह है, वह स्पर्शरूप अतिग्रह से गृहीत हुआ त्वचा से ही शीतोष्णादि स्पर्शों को अनुभव करता है। ये आठ ग्रह हैं और आठ अतिग्रह हैं; इन्हीं इन्द्रियरूप ग्रहों और विषयरूप अतिग्रहों से देहधारी आत्मा बन्धा हुआ है। इन द्वारा ही जानता, सुनता तथा मनन आदि करता है।

याज्ञवल्क्येति होवाच—यदिदं सर्वं मृत्योरन्नं, का स्वित्सा देवता, यस्या मृत्युरन्नमिति ? अग्निर्वै मृत्युः, सोऽपामन्नम्, अप पुनर्मृत्युं जयति ॥१०॥

दूसरा प्रश्न पूछता हुआ आर्तभाग बोला – हे याज्ञवल्क्य! जो यह सारा दृश्यमान जगत् मृत्यु का अन्न है—नाशवान् है; तो वह कौन देवता है, मृत्यु जिसका अन्न है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—अग्नि ही मृत्यु है, तेज सब को भक्षण करता है। वह अग्नि जलों का अन्न है, सूक्ष्मवाष्पीय अवस्था में अग्नि का भी लय हो जाता है। यहां प्रकृति की सूक्ष्म अवस्था को ही जल कहा है। जो मनुष्य ऐसा जानता है वह फिर मरने को जीत लेता है।

याज्ञवल्क्येति होवाच—यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मात्प्राणाः क्रामन्त्याहो३नेति ? नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रैव समवनीयन्ते। स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेते ॥११॥

आर्तभाग ने फिर पूछते हुए कहा—हे याज्ञवल्क्य ! जिस अवस्था में यह पुरुष मरता है तो क्या उसके प्राण—श्वास-प्रश्वास या इन्द्रियां उसके साथ निकल कर ऊपर जाते हैं वा नहीं जाते ? याज्ञवल्क्य ने कहा—साथ नहीं जाते किन्तु यहां ही अपने कारण में भली भांति लय होजाते हैं। मरते हुए मनुष्य का वह देह शून्यता को प्राप्त हो जाता है, बाहर की वायु से पूर्ण होजाता है और पवन से पूर्ण हुआ मरा पड़ा सोता है, निश्चेष्ट होजाता है। प्राण और इन्द्रियां देह में ही लय हो जाती हैं।

याज्ञवल्क्येति होवाच—यत्रायं पुरुषो म्रियते किमेनं न जहातीति ? नामेति। अनन्तं वै नामानन्ता विश्वे देवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति ॥१२॥

चौथा प्रश्न पूछते हुए आर्तभाग ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! जिस अवस्था में यह ज्ञानी पुरुष मरता है इसको क्या वस्तु नहीं छोड़ती ? उसने कहा—नाम—परमेश्वर के नाम का ध्यान इसको नहीं त्यागता। इन्द्रियां और प्राण तो यहीं लय हो जाते हैं परन्तु नाम-सिमरन परलोक को भी साथ जाता है। निश्चय नाम अनन्त है—नाम की महिमा अपार है; विश्व देव भी अनन्त हैं, —लोक शक्तियां भी अनन्त हैं, वह भगवद्भक्त

उस नामचिन्तन से असंख्य लोकों को लांघ कर नाशरहित—न अन्त वाले धाम को ही प्राप्त करता है। भगवन्नाम का सहारा सदा बना रहता है और निश्चय से, अन्त में अनन्त-धाम तक पहुंचा देता है।

याज्ञवल्क्येति होवाच—यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति, वातं प्राणश्, चक्षुरादित्यं, मनश्चन्द्रं, दिशः श्रोत्रं, पृथिवीं शरीरम्, आकाशमात्मा, ओषधीर्लोमानि, वनस्पतीन्केशा, अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयते; क्वायं तदा पुरुषो भवतीति? आहर सोम्य! हस्तमार्तभाग! आवामेवैतस्य वेदिष्यावो न नावेतत्सजन इति। तौ होत्क्रम्य मन्त्रयांचक्राते। तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुः, अथ यत्प्रशशंसतुः कर्म हैवं तत्प्रशशंसतुः, पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेनेति। ततो ह जारत्कारव आर्तभाग उपरराम ॥१३॥

आर्तभाग ने पांचवा प्रश्न पूछते हुए कहा—हे याज्ञवल्क्य! जिस अवस्था में इस मरे हुए पुरुष की वाग् इन्द्रिय अग्नि में लय हो जाती है, प्राण—सांस वायु को प्राप्त होता है, आंख सूर्य में लीन हो जाती है, मन चन्द्र में लय हो जाता है, श्रोत्रेन्द्रिय दिशाओं में लीन हो जाती है, शरीर पृथ्वी को प्राप्त हो जाता है, आत्मा आकाश में स्थित हो जाता है, देह के लोम ओषधियों में जा मिलते हैं, केश वनस्पतियों में मिल जाते हैं, लहू और रेतस् पानियों में मिल जाते हैं तो उस काल में यह पुरुष कहां होता है? उस अवस्था में यह पुरुष कैसे जन्म लेता है? इसकी क्या गति होती है? याज्ञवल्क्य ने कहा—हे प्यारे आर्तभाग! मेरे हाथ को ग्रहण कर, हम दोनों ही एकान्त में जा कर इसका रहस्य जानेंगे। इस जनसमूह में हम दोनों इसको नहीं समझ सकेंगे। वे दोनों वहां से बाहर निकल कर विचार करने लगे। उन दोनों ने विचार कर जो कुछ कहा कर्म ही वह जन्म तथा गति का कारण कहा; और उन्हों ने जिस की प्रशंसा की कर्म ही की वह प्रशंसा की। उन्होंने निर्णय किया—निश्चय शुभ कर्म से मनुष्य पवित्र हो जाता है। और पाप कर्म से पापी बन जाता है। तत्पश्चात् जारत्कारव आर्तभाग चुप हो गया। उन्होंने जीवात्मा का परगति-गमन कर्मानुसार निर्णय किया। यही यहां मर्म है।

तीसरा ब्राह्मण

अथ हैनं भुज्युर्लाह्यायनिः पप्रच्छ। याज्ञवल्क्येति होवाच—मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजाम। ते पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहानैम, तस्यासीद् दुहिता गन्धर्वगृहीता, तमपृच्छाम कोऽसीति? सोऽब्रवीत्सुधन्वाऽऽङ्गिरस इति। तं यदा लोकानामन्तानपृच्छामाथैनमब्रूम क्व पारिक्षिता अभवन्निति? क्व पारिक्षिता अभवन्, स त्वा पृच्छामि याज्ञवल्क्य! क्व पारिक्षिता अभवन्निति? ॥१॥

तदनन्तर इस याज्ञवल्क्य को लाह्यायनि भुज्यु ने पूछा। वह बोला—हे याज्ञवल्क्य ! एक बार हम अनेक विद्यार्थी, मद्रप्रान्तों में अध्ययनार्थ व्रताचरण करते हुए पर्यटन कर रहे थे। विचरते हुए वे हम काप्य पतञ्चल के घरों में जा पहुंचे। उस पतञ्चल की कन्या गन्धर्व-गृहीता थी। उस गन्धर्व को हमने पूछा—तू कौन है ? वह बोला—मैं गोत्र से आङ्गिरस सुधन्वा हूं। उसको जब लोकों के अन्त हम पूंछ रहे थे तो हमने इसको कहा—बताइए पारिक्षित कहां होंगे ? पारिक्षित कहां होंगे ? हे याज्ञवल्क्य ! वह पूछने वाला मैं आज तुझ को पूछता हूं—पारिक्षित कहां होंगे ?

जिस कर्म से पाप सर्वथा क्षय हो जायें उस पुण्यमय अश्वमेध को परिक्षित् कहते हैं। परिक्षित्-कर्म करने वालों को पारिक्षित कहा जाता है।

स होवाचोवाच वै सोऽगच्छन्वै ते तद्यत्राश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति। क्व न्वश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति ? द्वात्रिंशतं वै देवरथाह्न्यान्ययं लोकस्तं समन्तं पृथिवी द्विस्तावत्पर्येति, तां समन्तं पृथिवीं द्विस्तावत्समुद्रः पर्येति, तद्यावती क्षुरस्य धारा यावद्वा मक्षिकायाः पत्रं तावानन्तरेणाकाशस्तानिन्द्रः सुपर्णो भूत्वा वायवे प्रायच्छत्, तान्वायुरात्मनि धित्वा तत्रागमयद्यत्राश्वमेधयाजिनोऽभवन्निति। एवमिव वै स वायुमेव प्रशशंस, तस्माद्वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिः। अप पुनर्मृत्युं जयति य एवं वेद। ततो ह भुज्युर्लाह्यायनि-रुपरराम ॥२॥

वह याज्ञवल्क्य बोला—निश्चय उस गन्धर्व ने तुमको कहा था—निश्चय वे वहां चले गये जहां अश्वमेध-यजन करने वाले जाते हैं। भुज्यु ने पूछा—अश्वमेध-यजन करने वाले कहां जाते हैं ? सूर्य के चक्र को देवरथ कहते हैं, एक अहोरात्र का नाम देवरथाह्न्य है। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—निश्चय यह लोक बत्तीस देवरथाह्न्य है—बत्तीस रात-दिन की सूर्यगति का है। उसके चारों ओर दुगुनी पृथिवी विस्तृत है, उस चहुं ओर विस्तृत पृथिवी को सब ओर दुगुना समुद्र फैले रहा है। वहां, जितनी पतली उस्तरे की धारा होती है अथवा जितना पतला मक्खी का पङ्ख होता है उतना सूक्ष्म पृथिवी और समुद्र के मध्य में आकाश है। इन्द्र ने सुपर्ण हो कर उनको वहां वायु के प्रति समर्पित कर दिया। ईश्वर-नियम उन निष्पापों को सूक्ष्म लोक में ले गया। वायु—सूक्ष्म तत्त्व ने उन को अपने में—वायवीय लोक में धारण कर वहां पहुंचाया जहां अश्वमेध याजी रहते थे। निश्चय उसने इस प्रकार वायु की ही प्रशंसा की। इस कारण वायु ही व्यष्टि—विविध प्रकार से अष्टि व्याप्त है और वायु ही समष्टि—समानता से व्याप्त है। फिर मरण को वह जीत लेता है जो ज्ञानी ऐसे जानता है। तत्पश्चात् भुज्यु लाह्यायनि मौन हो गया।

चौथा ब्राह्मण

अथ हैनमुषस्तश्चाक्रायणः पप्रच्छ। याज्ञवल्क्येति होवाच—यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म, य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेति। एष त आत्मा सर्वान्तरः। कतमो याज्ञवल्क्य! सर्वान्तरः? यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो, योऽपानेनापानिति स त आत्मा सर्वान्तरो, यो व्यानेन व्यानिति स त आत्मा सर्वान्तरो, य उदानेनोदानिति स त आत्मा सर्वान्तरः। एष त आत्मा सर्वान्तरः ॥१॥

तदनन्तर चक्र मुनि के पुत्र उषस्तमुनि ने इस याज्ञवल्क्य को पूछा। उषस्त बोला—हे याज्ञवल्क्य! जो साक्षात् प्रत्यक्ष ब्रह्म—आत्मा है और जो आत्मा सब अङ्गों में परिपूर्ण है वह मुझको बता—उसका उपदेश मुझे दे। याज्ञवल्क्य ने कहा—यह प्रत्यक्ष तेरा आत्मा ही सर्वान्तर है, सर्वाङ्गव्यापी है। फिर उषस्त ने पूछा—हे याज्ञवल्क्य! वह कौन सा आत्मा सर्वान्तर है। उसने उत्तर दिया—जो प्राणेन्द्रिय से श्वास लेता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है, जो अपानशक्ति से—सांस फेंकने की शक्ति से प्रश्वास निकालता है वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है। जो व्यानशक्ति से व्यान-क्रिया करता है वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है। जो उदानशक्ति से उदान-क्रिया करता है, जिससे देह के सब व्यवहार हो रहे हैं वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है। यह ही सकल क्रियाओं का कर्ता, भीतर के व्यावहारों का संचालक तेरा आत्मा सर्वान्तर है। आत्मा से ही सब व्यवहार होते हैं क्योंकि वह सब अङ्गों के भीतर विद्यमान है।

स होवाचोषस्तश्चाक्रायणो यथा विब्रूयादसौ गौरसावश्व इति; एवमेवैतद् व्यपदिष्टं भवति। यदेव साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेति। एष त आत्मा सर्वान्तरः। कतमो याज्ञवल्क्य! सर्वान्तरः? न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं शृणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः। एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तम्। ततो होषस्तश्चाक्रायण उपरराम ॥२॥

वह चाक्रायण उषस्त बोला—हे याज्ञवल्क्य! जैसे कोई किसी को यह गौ है, यह घोड़ा है ऐसे कहे, ऐसे ही यह साक्षात् प्रत्यक्ष उपदेश किया हुआ होता है; वह गौ अश्व की भांति बताया जाना चाहिए। इस कारण जो ही साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, जो आत्मा सर्वान्तर है, वह मुझे तू बता। याज्ञवल्क्य ने कहा—यह सर्वेन्द्रियों का संचालक तेरा आत्मा सर्वान्तर है। उषस्त ने पूछा—हे याज्ञवल्क्य! कौनसा आत्मा सर्वान्तर है? उसने उत्तर दिया—हे उषस्त! तू दृष्टि के देखने वाले को नहीं

देखता है, श्रवणशक्ति के सुनने वाले को नहीं सुनता है, मननशक्ति के मनन करने वाले को नहीं मनन करता है और बुद्धि के बोद्धा को नहीं जानता है अर्थात् द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, बोद्धा तेरा आत्मा है। उस ज्ञातृ-रूप तुझ में ही अपने लिए ज्ञेयत्व कैसे हो। ज्ञेयत्व तो अपने से भिन्न ज्ञाता के लिए होता है। यह ही तेरा आत्मा दर्शन, श्रवण, मनन और बोधन वाला सर्वान्तर है। इस से भिन्न आर्त—दुःख है। तत्पश्चात् उषस्त चाक्रायण मौन हो गया।

पांचवां ब्राह्मण

अथ हैनं कहोलः कौषीतकेयः पप्रच्छ। याज्ञवल्क्येति होवाच—यदेव साक्षाद-परोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेति। एष त आत्मा सर्वान्तरः। कतमो याज्ञवल्क्य! सर्वान्तरः। योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति। एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च, वित्तैषणायाश्च, लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति। या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा, या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः। तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्। बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च, मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः। स ब्राह्मणः केन स्याद्येन स्यात्तेनेदृश एव। अतोऽन्यदार्तम् ततो ह कहोलः कौषीतकेय उपरराम॥ १॥

तत्पश्चात् कुषीतक मुनि के पुत्र कहोल ने इस याज्ञवल्क्य को पूछा। कहोल बोला—हे याज्ञवल्क्य! जो ही साक्षात् प्रत्यक्ष ब्रह्म है, जो आत्मा सर्वान्तर है—वह मुझे बता। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—यह तेरा आत्मा सर्वान्तर है। कहोल ने पूछा—हे याज्ञवल्क्य! कौनसा आत्मा सर्वान्तर है! उस ने बताया—जो आत्मा भूख-प्यास को, शोक को, मोह को, जरा को, मृत्यु को लांघ जाता है। इस ही उस आत्मा को जान कर ब्राह्मण लोग पुत्रैषणा से, वित्तैषणा से, और लोकैषणा से ऊपर उठ कर—एषणाओं को त्याग कर, तदनन्तर भिक्षावृत्ति को धारण करते हैं। जो ही पुत्रैषणा है वह वित्तैषणा है, जो वित्तैषणा है वह लोकैषणा है। दोनों ये एषणाएं ही हैं। इस कारण ब्राह्मण पाण्डित्य को निःशेष कर—पूर्ण विद्वान् हो कर, सरलता से निरभिमान हो कर, बालभाव से ठहरने—जीने की इच्छा करे सरलता स्वरूप बाल्य को और पाण्डित्य को भली भांति पा कर फिर मुनि—मौनावलम्बी होने की इच्छा करे। अमौन और मौन दोनों को निःशेष करके फिर पूर्ण ब्राह्मण है। वह ब्राह्मण किस से हो—किस जप, तप, संयम से हो, जिस से भी हो उस से ऐसा ही होगा। इस से भिन्न ब्राह्मण-लक्षण समझना आर्त है—केवल कष्ट है। तत्पश्चात् कुषीतक का पुत्र कहोल मौन हो गया। पुत्र की, धन की तथा मान-यश की कामना—तीव्र अभिलाषा एषणा है। ज्ञानी, सरल स्वभाववान् और संयमी होना ही ब्राह्मणपन है।

छटा ब्राह्मण

अथ हैनं गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ। याज्ञवल्क्येति होवाच—यदिदं सर्वम-प्स्वोतं च प्रोतं च, कस्मिन्नु खल्वाप ओताश्च प्रोताश्चेति ? वायौ गार्गीति। कस्मिन्नु खलु वायुरोतश्च प्रोतश्चेति ? अन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति। कस्मिन्नु खल्वन्तरिक्षलोका ओताश्च प्रोताश्चेति ? गन्धर्वलोकेषु गार्गीति। कस्मिन्नु खलु गन्धर्वलोका ओताश्च प्रोताश्चेति ? आदित्यलोकेषु गार्गीति। कस्मिन्नु खल्वादित्य-लोका ओताश्च प्रोताश्चेति ? चन्द्रलोकेषु गार्गीति। कस्मिन्नु खलु चन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति ? नक्षत्रलोकेषु गार्गीति ॥

तदनन्तर याज्ञवल्क्य को वचक्नु नामी विद्वान् की पुत्री गार्गी ने पूछा, वह बोली—हे याज्ञवल्क्य! 'जो यह सब पार्थिव जगत् जलों में ओत प्रोत है तो निश्चय जल किस में ओत प्रोत हैं? उसने उत्तर दिया—हे गार्गि! वायु में। फिर वह बोली—निश्चय वायु किस में ओत प्रोत है? उसने कहा—गार्गि! अन्तरिक्षलोकों में। वह बोली—निश्चय अन्तरिक्षलोक किस में ओत प्रोत हैं? उसने कहा—गार्गि! गन्धर्वलोकों में। वह बोली—निश्चय गन्धर्वलोक किस में ओत प्रोत हैं? उसने कहा—गार्गि! आदित्यलोकों में। वह बोली—निश्चय आदित्यलोक किस में ओत प्रोत हैं? उसने कहा—गार्गि! चन्द्र पृथिवीलोकों में। वह बोली—निश्चय पृथिवीलोक किसे में ओत प्रोत हैं? उस ने कहा—गार्गि! नक्षत्रलोकों में।

कस्मिन्नु खलु नक्षत्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति ? देवलोकेषु गार्गीति। कस्मिन्नु खलु देवलोका ओताश्च प्रोताश्चेति ? इन्द्रलोकेषु गार्गीति। कस्मिन्नु खल्विन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति ? प्रजापतिलोकेषु गार्गीति। कस्मिन्नु खलु प्रजापतिलोका ओताश्च प्रोताश्चेति ? ब्रह्मलोकेषु गार्गीति। कस्मिन्नु खलु ब्रह्म-लोका ओताश्च प्रोताश्चेति ? स होवाच—गार्गि! माऽतिप्राक्षीर्मा ते मूर्धा व्य-पप्तदनतिप्रश्न्यां वै देवतामतिपृच्छसि। गार्गि! माऽतिप्राक्षीरिति। ततो ह गार्गी वाचक्नव्युपरराम ॥१॥

वह बोली—निश्चय नक्षत्रलोक किस में ओत प्रोत हैं? उस ने कहा—गार्गि! देवलोकों में। वह बोली—निश्चय देवलोक किस में ओत प्रोत हैं? उसने कहा—गार्गि! इन्द्रलोकों में। वह बोली—निश्चय इन्द्रलोक किस में ओत प्रोत हैं? उसने कहा—गार्गि! प्रजापतिलोकों में। वह बोली—निश्चय प्रजापतिलोक किस में ओत प्रोत हैं? उसने कहा—गार्गि! ब्रह्मलोकों में। वह बोली—निश्चय ब्रह्मलोक किस में ओत प्रोत

हैं? उसने कहा—गार्गि! मत अति पूछ। अति पूछने से तेरा सिर न गिर पड़े—तेरी बुद्धि भ्रम में न पड़ जाय। निश्चय तू न अति पूछने योग्य देवता को पूछ रही है—तू उस प्रश्न को बार बार पूछती है जो प्रश्न उस देवता के सम्बन्ध में है जिसे अधिक पूछना अच्छा नहीं है। हे गार्गि! मत बहुत पूछ। तत्पश्चात् वाचक्नवी गार्गी मौन हो गई है। सूक्ष्म वस्तुओं में अतिप्रश्न वर्जित है, अधिक प्रश्नमाला अनवस्थादोष और कल्पना का कारण हो जाती है। इस आधाराधेय और कार्यकारण के क्रम में अतिप्रश्न करना उचित नहीं है। यह विचार मनन का विषय है। ऊपर के पाठ में लोकों से तात्पर्य अवस्थाओं से है। ब्रह्म अवस्था सर्वाश्रयभूत है। ओत प्रोत से तात्पर्य आश्रित से है।

सातवां ब्राह्मण

अथ हैनमुद्दालक आरुणिः पप्रच्छ। याज्ञवल्क्येति होवाच—मद्रेष्ववसाम पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहेषु यज्ञमधीयानाः। तस्यासीद् भार्या गन्धर्वगृहीता। तमपृच्छाम कोऽसीति? सोऽब्रवीत्कबन्ध आथर्वण इति।

तदनन्तर इस याज्ञवल्क्य को अरुणमुनि के पुत्र उद्दालक ने पूछा। वह बोला—हे याज्ञवल्क्य! एकदा हम बहुत से विद्यार्थी मद्रप्रान्तों में पतञ्चल काप्य के गृहों में यज्ञ को—वेद को पढ़ते हुए रहते थे। उस पतञ्चल की भार्या गन्धर्वगृहीता थी। उस गन्धर्व को हमने पूछा—तू कौन है? उस ने कहा—मैं अथर्वा मुनि का पुत्र कबन्ध हूँ।

सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकांश्च—वेत्थ नु त्वं काप्य! तत्सूत्रं, येनायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्तीति। सोऽब्रवीत्पतञ्चलः काप्यो नाहं तद् भगवन्! वेदेति। सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकांश्च—वेत्थ नु त्वं काप्य! तमन्तर्यामिणं, य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयतीति? सोऽब्रवीत्पतञ्चलः काप्यो नाहं तं भगवन्! वेदेति। सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकांश्च—यो वै तत्काप्य! सूत्रं विद्यात्तं चान्तर्यामिणमिति स ब्रह्मवित्स लोकवित्स देववित्स वेदवित्स भूतवित्स आत्मवित्स सर्वविदिति॥

वह गन्धर्व कपिगोत्री पतञ्चल को और हम यज्ञाध्ययन करने वालों को लक्ष्य करके बोला—हे काप्य! क्या तू उस सूत्र—नियम को जानता है जिससे यह लोक, पर लोक, सारे प्राणी संग्रथित हो रहे हैं? वह कपिगोत्री पतञ्चल बोला—भगवन्! मैं उस सूत्र को नहीं जानता। फिर उस गन्धर्व ने कपिगोत्री पतञ्चल को और यज्ञाध्ययन करने वालों को कहा—हे काप्य! क्या तू उस अन्तर्यामी को जानता है जो अन्तर्यामी इस लोक को, पर लोक को, सब प्राणियों को संयमन करता है और जो भीतर होकर

संयमन करता है ? उस कपिगोत्री पतञ्चल ने उत्तर दिया—भगवन् ! मैं उसको नहीं जानता। फिर उस गन्धर्व ने, कपिगोत्री पतञ्चल को और वेदपाठियों को कहा—हे काप्य ! जो ही ज्ञानी उस सूत्र को और उस अन्तर्यामी को जान ले वह ब्रह्म-ज्ञाता है, वह लोकों का ज्ञाता है, वह देवों का ज्ञाता है, वह वेद-ज्ञ है, वह भूतों का ज्ञाता है, वह आत्म-ज्ञाता है और वह सर्व भेदों का जानने वाला है।

तेभ्योऽब्रवीत्तदहं वेद, तच्चेत्त्वं याज्ञवल्क्य ! सूत्रमविद्वांस्तं चान्तर्यामिणं ब्रह्मगवीरुदजसे मूर्धा ते विपतिष्यतीति। वेद वा अहं गौतम ! तत्सूत्रं तं चान्तर्यामिणमिति। यो वा इदं कश्चिद् ब्रूयाद्वेद वेदेति यथा वेत्थ तथा ब्रूहीति ॥१॥

उस गन्धर्व ने उनको कहा—वह रहस्य मैं जानता हूं। हे याज्ञवल्क्य ! यदि तू उस सूत्र को और उस अन्तर्यामी को न जानता हुआ ब्राह्मणों के निमित्त लाई हुई गौओं को ले जायगा तो तेरा सिर गिर पड़ेगा। याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गौतम ! मैं उस सूत्र को और उस अन्तर्यामी को जानता हूं। उद्दालक ने कहा—जो कोई यह कहे कि मैं, जानता हूं, मैं जानता हूं तो उसे चाहिए बताये भी। इस कारण जैसा तू जानता है वैसा कह—वर्णन कर।

स होवाच वायुर्वै गौतम ! तत्सूत्रं, वायुना वै गौतम ! सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति। तस्माद्वै गौतम ! पुरुषं प्रेतमाहुर्व्यस्रंसिषतास्याङ्गानीति। वायुना हि गौतम ! सूत्रेण संदृब्धानि भवन्तीति। एवमेवैतद्याज्ञवल्क्यान्तर्यामिणं ब्रूहीति ॥२॥

वह याज्ञवल्क्य बोला—हे उद्दालक! वायु ही वह सूत्र है, वह कारण वा नियम है; हे गौतम! वायुरूप सूत्र से ही यह लोक और दूसरा लोक तथा सब भूत संग्रंथित हो रहे हैं। सबका बन्धन सूत्रात्मा वायु ही है। इसलिए ही, हे गौतम मरे पुरुष को कहा करते हैं कि इसके अङ्ग ढीले हो गये। हे गौतम! वायुरूप सूत्र से ही अङ्ग भी संग्रंथित होते हैं। उद्दालक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! ऐसा ही यह भेद है। अब अन्तर्यामी को वर्णन कर—उसका भेद कहो। यहां वायु से वह कारणावस्था जाननी चाहिए जिसमें ईश्वरेच्छा स्फुरित होती है। अथवा ईश्वरीय नियम समझना समुचित है।

यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं, यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥३॥ योऽप्सु

तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यमापो न विदुर्यस्यापः शरीरं, योऽपोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥४॥

अन्तर्यामी का वर्णन करता हुआ याज्ञवल्क्य बोला—जो आत्मा पृथिवी में रहता हुआ पृथिवी के बाहर भी है जिसको पृथिवी नहीं जानती, पृथिवी जिसका शरीर है—देहवत् है; जो भीतर रहता हुआ पृथिवी को नियम में रखता है यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी है और अमृत है। जो आत्मा जलों में रहता हुआ, जलों से बाहर भी है, जिसको जल नहीं जानते, जल जिसका शरीर हैं जो भीतर विद्यमान होकर जलों को नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी, अमृत है।

योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरो यमाग्निर्न वेद, यस्याग्निः शरीरं, योऽग्निमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥५॥ योऽन्तरिक्षे तिष्ठन्नन्तरिक्षादन्तरो यमन्तरिक्षं न वेद, यस्यान्तरिक्षं, शरीरं, योऽन्तरिक्षमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥६॥ यो वायौ तिष्ठन्वायोरन्तरो यं वायुर्न वेद, यस्य वायुः शरीरं, यो वायुमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥७॥ यो दिवि तिष्ठन्दिवोऽन्तरो यं द्यौर्न वेद, यस्य द्यौः शरीरं यो दिवमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥८॥

जो आत्मा अग्नि में, अन्तरिक्ष में, वायु में और द्युलोक में रहता हुआ इनके बाहर भी है, जिसको ये नहीं जानते, ये जिसका शरीर हैं जो भीतर विद्यमान, इनको नियम में रखता है यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी, अमृत है।

य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद, यस्यादित्यः शरीरं, य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥९॥ यो दिक्षु तिष्ठन्दिग्भ्योऽन्तरो यं दिशो न विदुर्यस्य दिशः शरीरं, यो दिशोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥१०॥ यश्चन्द्रतारके तिष्ठंश्चन्द्रतारकादन्तरो यं चन्द्रतारकं न वेद, यस्य चन्द्रतारकं शरीरं, यश्चन्द्रतारकमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥११॥ य आकाशे तिष्ठन्नाकाशादन्तरो यमाकाशो न वेद, यस्याकाशः शरीरं, य आकाशमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१२॥

जो आत्मा सूर्य में रहता हुआ, दिशाओं में रहता हुआ, चन्द्र-तारक में रहता हुआ और आकाश में रहता हुआ इनसे बाहर भी है, जिसको ये नहीं जानते, ये

जिसके शरीर हैं जो अन्तर विद्यमान, इनको नियम में रखता है यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

यस्तमसि तिष्ठंस्तमसोऽन्तरो यं तमो न वेद, यस्य तमः शरीरं, यस्तमोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१३॥ यस्तेजसि तिष्ठंस्तेजसोऽन्तरो यं तेजो न वेद, यस्य तेजः शरीरं, यस्तेजोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१४॥ इत्यधिदैवतमथाधिभूतम् ।

जो आत्मा आवरणात्मक पदार्थों में रहता हुआ और प्रकाशों में रहता हुआ, इनसे बाहर भी है, जिसको ये नहीं जानते, ये जिसका शरीर हैं, जो भीतर विद्यमान, इनको नियम में रखता है यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। यह अन्तर्यामीपद का देवता-संबन्धी वर्णन है; अब अधिभूत का वर्णन होगा।

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं, यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१५॥ इत्यधिभूतमथाध्यात्मम् ॥

जो आत्मा सब भूतों में—सब प्राणियों में रहता हुआ, सब भूतों से बाहर भी है, जिसको सब भूत नहीं जानते जिसका शरीर सब भूत हैं, जो भीतर विद्यमान, सब भूतों को नियम में रखता है। यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। यह अन्तर्यामी का वर्णन भूतसंम्बन्धी है; अब अध्यात्मवर्णन होगा। अन्तर्यामी का आधिदैविक और आधिभौतिक वर्णन परमेश्वर की ओर लक्ष्य रखता है। उक्त दोनों वर्णनों में परमेश्वर की सत्ता की महिमा है।

आधिदैवत तथा आधिभौतिक वर्णन में वर्णित अन्तर्यामी आत्मा, विश्व चेतना है। वह स्वमहिमा से सब पदार्थों के भीतर-बाहर विद्यमान है। वह प्रत्येक पदार्थ को भीतर से नियमन तथा संचालन करती है। अखिल विश्व उसकी देह है—देहवत् देह है। वह चेतना सारे जगत् के समष्टि शरीर का आत्मा है। अगले अध्यात्मवर्णन में देहस्थ—व्यष्टि शरीर के अभिमानी आत्मा का वर्णन है।

यः प्राणे तिष्ठन्प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद, यस्य प्राणः शरीरं, यः प्राणमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१६॥

जो आत्मा प्राण में—जीवनसहित सांस में रहता हुआ प्राण से बाहर भी है—अन्य अङ्गों में भी है, जिसको प्राण नहीं जानता, जिसका शरीर प्राण है, जो भीतर स्थित, प्राण को नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

यो वाचि तिष्ठन्वाचोऽन्तरो यं वाङ् न वेद, यस्य वाक् शरीरं, यो वाचमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१७॥ यश्चक्षुषि तिष्ठंश्चक्षुषोऽन्तरो यं चक्षुर्न वेद, यस्य चक्षुः शरीरं, यश्चक्षुरन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१८॥ यः श्रोत्रे तिष्ठञ्श्रोत्रादन्तरो यं श्रोत्रं न वेद, यस्य श्रोत्रं शरीरं, यः श्रोत्रमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१९॥ यो मनसि तिष्ठन्मनसोऽन्तरो यं मनो न वेद, यस्य मनः शरीरं, यो मनोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥२०॥ यस्त्वचि तिष्ठंस्त्वचोऽन्तरो यं त्वङ् न वेद, यस्य त्वक् शरीरं, यस्त्वचमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥२१॥ यो विज्ञाने तिष्ठन्विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद, यस्य विज्ञानं शरीरं, यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥२२॥ यो रेतसि तिष्ठन्रेतसोऽन्तरो यं रेतो न वेद, यस्य रेतः शरीरं, यो रेतोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥२३॥

जो आत्मा वाणी में—वागिन्द्रिय में रहता हुआ वाणी से बाहर—भिन्न अर्थों में भी है, जिसको वागिन्द्रिय नहीं जानती, जिसका शरीर वाणी है, जो भीतर स्थित, वाणी को नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। ऐसे ही जो आंख में, श्रोत्र में, मन में, त्वचा में, बुद्धि में तथा रेतस् में रहता हुआ इन से बाहर भी है, जिसको ये नहीं जानते जिसका शरीर नेत्रादिक हैं, जो अभ्यन्तर विराजमान, इनको नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता, नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा, नान्योऽतोऽस्ति श्रोता, नान्योऽतोऽस्ति मन्ता, नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तम्। ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम ॥२४॥

यह अमृत आत्मा, आंख से न दीखता हुआ देखने वाला है, कान से न सुना जाता हुआ सुनने वाला है, मन से न मनन किया जाने वाला स्वयं मनन करने वाला है, बुद्धि से अज्ञात होता हुआ पदार्थों का ज्ञाता है। देह में इससे अन्य देखने वाला नहीं है, इससे अन्य श्रोता नहीं है, इससे अन्य मनन करने वाला नहीं है, इससे अन्य विज्ञाता नहीं है। हे उद्दालक! यह ही तेरा आत्मा अन्तर्यामी और अमृत है। इससे अन्य आत्मभाव आर्त—दुःख है। तत्पश्चात् अरुण का पुत्र उद्दालक मौन हो गया। इन्द्रियां तथा अन्तःकरण की वृत्तियां आत्मा नहीं है किन्तु इनका साक्षी और प्रेरक जो है वह देही आत्मा है।

दर्शन, श्रवण आदि उसकी शक्तियां हैं। वह स्वतः शक्तिस्वरूप है। कर्म-बन्धन के कारण वह देह में बद्ध है। वह इस बन्धनगृह में बन्धा हुआ इन्द्रियों के द्वारों द्वारा ही देखता, सुनता आदि है। परन्तु यदि वह बन्धन से बाहर हो जाय अथवा सूक्ष्म स्वरूप में विद्यमान हो पाय तो वह अपने ज्ञान शक्ति-स्वरूप से ही दर्शन, श्रवणादि में समर्थ हो जाता है। निज स्वरूप में स्थित आत्मा सत्य, नित्य, शुद्ध चैतन्य, शक्ति-स्वरूप ही है।

आठवां ब्राह्मण

अथ ह वाचक्नव्युवाच—ब्राह्मणा भगवन्तो हन्ताहमिमं द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि। तौ चेन्मे वक्ष्यति, न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद् ब्रह्मोद्यं जेतेति। पृच्छ गार्गीति ॥१॥

तदनन्तर वचक्नु की पुत्री गार्गी ने कहा—अहो! पूज्य ब्राह्मणो! अब मैं इस याज्ञवल्क्य को दो प्रश्न पूछूंगी। यदि यह वे दोनों उत्तर मुझे कह देगा तो तुम्हारे में कोई भी पण्डित इस ब्रह्मज्ञानी को कदाचित् भी नहीं जीतने योग्य है। उन्होंने कहा—गार्गि! पूछ।

सा होवाचाहं वै त्वा याज्ञवल्क्य! यथा काश्यो वा वैदेहो वोग्रपुत्र उज्ज्यं धनुरधिज्यं कृत्वा द्वौ बाणवन्तौ सपत्नातिव्याधिनौ हस्ते कृत्वोपोत्तिष्ठेदेवमेवाहं त्वा द्वाभ्यां प्रश्नाभ्यामुपोदस्थाम्। तौ मे ब्रूहीति। पृच्छ गार्गीति ॥२॥

वह बोली—हे याज्ञवल्क्य! निश्चय मैं तुझ को दो प्रश्न पूछूंगी। प्रश्नों का महत्त्व दर्शाती हुई बोली—जैसे काशीदेश का शूरवीर वा वैदेह देश का उग्रपुत्र वीरवंशज, ज्यारहित धनुष को ज्यायुक्त करके और शत्रुओं को बीन्धने वाले लोह की नोकें वाले "दो तीर हाथ में पकड़ कर शत्रु के संमुख खड़ा होवे, ऐसे ही मैं "दो प्रश्नों से—दो प्रश्न लेकर तेरे संमुख खड़ी होती हूं। उन प्रश्नों के वे उत्तर तू मुझे बता। उस ने कहा—गार्गि! पूछ! (जो रस्सी धनुष के आगे कस कर बांधी जाती है उस का नाम ज्या है। तीर के अग्रभाग के लोहखण्ड का नाम बाण है)।

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य! दिवो यदवाक्पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे, यद् भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते, कस्मिंस्तदोतं च प्रोतं चेति ॥३॥

वह बोली—हे याज्ञवल्क्य! जो वस्तु द्युलोक से ऊपर है, जो वस्तु पृथिवी से नीचे है, जो वस्तु इस द्युलोक और पृथिवीलोक के मध्य में है, और जो भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् ऐसी कहा जाता है, वह सब किस में ओत प्रोत है? । ताने-बाने की भांति जो वस्तु हो उसे ओत-प्रोत कहा जाता है।

स होवाच—यदूर्ध्वं गार्गि ! दिवो यदवाक्पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे, यद् भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाशे तदोतं च प्रोतं चेति ॥४॥

उस याज्ञवल्क्य ने उत्तर में कहा-हे गार्गि ! जो कुछ चराचर जगत् द्युलोक से ऊपर है; जो पृथिवी से नीचे है, जो इस द्यावापृथिवी के मध्य में है, जो भूत, वर्तमान और भविष्यत् कहा जाता है, वह आकाश में ओत प्रोत है—आकाश में आश्रित है।

सा होवाच—नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्य ! यो म एतं व्यावोचोऽपरस्मै धारयस्वेति ! पृच्छ गार्गीति ॥ ५ ॥

उत्तर प्राप्त कर के वह बोली—हे याज्ञवल्क्य ! तुझे नमस्कार हो। जिस तूने मुझे इस उत्तर को कहा। दूसरे प्रश्न के लिए अपने आप को धारण—सज्जित कर। उस ने कहा—गार्गि ! पूछ।

सा होवाच—यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य ! दिवो यदवाक्पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे, यद् भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिंस्तदोतं च प्रोतं चेति ॥६॥

स होवाच—यदूर्ध्वं गार्गि ! दिवो यदवाक्पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे, यद् भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याक्षत आकाश एव तदोतं च प्रोतं चेति । कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ॥७॥

छठी कण्डिका तीसरी कण्डिका के समान है और सातवीं चौथी के समान है। प्रश्न यह है कि निश्चय आकाश किस में ओत प्रोत है।

स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ! ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम-लोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवाग-मनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यं, न तदश्नाति किंचन न तद-श्नाति कश्चन ॥ ८ ॥

उत्तर में वह याज्ञवल्क्य बोला—हे गार्गि ! निश्चय ब्राह्मण लोग यह वह अक्षर कहते हैं, आकाश के आश्रय को अविनाशी वर्णन करते हैं। उस अक्षर को अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, अदीर्घ, न लाल, न चिकना, छायारहित, अन्धकाररहित, अवायु, आकाशरहित, असङ्ग, रसरहित, गन्धरहित, नेत्ररहित, श्रोत्ररहित, वाणीरहित, मन-रहित, अग्नि आदि के उष्णभावरहित, प्राणरहित, मुखरहित, परिमाणरहित, अन्तर-रहित, बाहररहित ब्राह्मण वर्णन करते हैं। वह अविनाशी कुछ भी नहीं खाता, इसको कोई भी नहीं खाता। वह अविनाशी भगवान् परमशुद्धस्वभाव और निराकार है।

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्ति । एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्या यां यां च दिशमन्वेतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! ददतो मनुष्याः प्रशंसन्ति यजमानं देवा दर्वीं पितरो-ऽन्वायत्ताः ॥९॥

हे गार्गि ! निश्चय इसी अक्षर की आज्ञा में—इसी अविनाशी परमेश्वर के नियम में, सूर्य और चन्द्र नियमित होकर रहते हैं। इसी ही परमेश्वर की आज्ञा में हे गार्गि ! द्युलोक और पृथिवीलोक नियमित होकर रहते हैं। हे गार्गि ! इसी ही परमेश्वर की आज्ञा में निमेष, मुहूर्त्त, दिन-रात, अर्द्धमास, मास, ऋतुएं और वर्ष धारण किए हुए रहते हैं; काल का नियन्ता भी वह ही है। हे गार्गि ! इसी ही परमेश्वर की आज्ञा में अनेक नदियां श्वेत पर्वतों से नीचे पूर्व को बहती हैं, अनेक पश्चिम को बहती हैं और जिस जिस दिशा को अनुसरण करती हैं उसी के नियम में करती हैं। हे गार्गि ! इसी परमेश्वर की आज्ञा में मनुष्य दानशीलों की प्रशंसा करते हैं, देवगण यजमान की प्रशंसा करते हैं और पितर-जन दर्वी—कड़छी के अनुगामी होते हैं, पितर आदरातिथ्य के चिह्न भोजन को आश्रित करते हैं। सर्व लोक लोकान्तर श्रीभगवान् के शासन में हैं, सभी परिवर्तनों में उसका नियम काम करता है और पुण्यकर्म भी उसी के नियत किये नियम में होते हैं।

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिंल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राणि, अन्तवदेवास्य तद् भवति। यो वा एतदक्षरं गार्गि ! अविदित्वा-ऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गि ! विदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः ॥१०॥

हे गार्गि ! निश्चय जो मनुष्य इस ईश्वर को न जान कर—न आराध कर, इस लोक में बहुत सहस्रवर्षों तक होम करता है; यजन करता है और तप तपता है तो भी इस का वह कर्म अन्त—नाश वाला ही होता है। हे गार्गि ! निश्चय जो मनुष्य इस परमेश्वर को न जान कर—न आराध कर, इस लोक से मर कर जाता है वह दीन है, जूए में जीते हुए दासवत् है। और हे गार्गि ! जो मनुष्य इस परमेश्वर को जान कर—आराधन करके इस लोक से मर कर जाता है वह ब्राह्मण है, वह परमार्थ का ज्ञाता है। बहुत वर्षसहस्र से जन्म-जन्मान्तर अभिप्रेत है।

तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्ट्रश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ । नान्य-दतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ, नान्यदतोऽस्ति मन्तृ, नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ । एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ॥११॥

हे गार्गि ! वह ही यह अक्षर अदृष्ट—नेत्र से न देखा हुआ सब का द्रष्टा है, कान से न सुना गया सबका सुनने वाला है, मन से न मनन किया गया सबका मनन करने वाला है और बुद्धि से अगम्य सबका ज्ञाता है। इससे अन्य विश्व का द्रष्टा कोई नहीं है, इससे अन्य सबका श्रोता नहीं है, इससे अन्य सबका मनन करने वाला कोई नहीं है, इस से अन्य सबका ज्ञाता नहीं है। हे गार्गि ! निश्चय इसी ही अक्षर—भगवान् में आकाश—जगत् का आदि कारण ओत प्रोत है। सर्वाश्रय ईश्वर ही है।

सा होवाच ब्राह्मणा भगवन्तस्तदेव बहु मन्येध्वम्, यदस्मान्नमस्कारेण मुच्येध्वम् । न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद् ब्रह्मोद्यं जेतेति । ततो ह वाचक्नव्युपरराम ॥१२॥

अपने प्रश्न का यथेष्ट उत्तर प्राप्त करके वह बोली—हे पूजनीय ब्राह्मणो ! यदि नमस्कार करने से इस याज्ञवल्क्य से तुम छूट जाओ—पराजय से बच जाओ तो इसी को बहुत मानो। इसका ज्ञान अगाध है। तुम में से इस ब्रह्मवेत्ता को कोई कभी भी नहीं जीत सकेगा। तत्पश्चात् वचक्नु की पुत्री मौन हो गई।

नवां ब्राह्मण

अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ । कति देवा याज्ञवल्क्येति । स हैतयैव निविदा प्रतिपेदे, यावन्तो वैश्वदेवस्य निविद्युच्यन्ते, त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेत्योमिति होवाच ।

तदनन्तर इस याज्ञवल्क्य को शाकलमुनि के पुत्र विदग्धनामी ने पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ? जितने देव वैश्वदेव की निविद् में कहे गये हैं उसने उतने इस निविद् से जाने—उसको बताये। तीन और तीन सौ, तीन और तीन सहस्र। उत्तर सुन कर विदग्ध ने कहा—ठीक है, स्वीकार है। (जिस मन्त्र-पद से संख्या जानी जाय या देवता के संमुख निवेदन किया जाय उस मन्त्रपद का नाम निविद् है)।

कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति । त्रयस्त्रिंशदित्योमिति होवाच । कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति । षडित्योमिति होवाच । कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति । त्रय इत्योमिति होवाच । कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति । द्वावित्योमिति होवाच । कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति । अध्यर्द्ध इत्योमिति होवाच । कत्येव देवा

याज्ञवल्क्येति । एक इत्योमिति होवाच । कतमे ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेति ॥१॥

विदग्ध ने पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ? उसने कहा—तीन और तीस—तैंतीस हैं। विदग्धने कहा—ठीक है। विदग्धने पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ? उसने कहा—छः हैं। विदग्ध ने कहा—हां, ठीक है। फिर विदग्ध ने पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ? उसने कहा - तीन हैं। विदग्ध ने कहा—हां ठीक है। फिर उसने पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ? वह बोला—दो हैं। उसने कहा—हां, ठीक है। फिर विदग्ध ने पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ? वह बोला—अध्यर्द्ध है। उसने कहा—हां, ठीक है। विदग्ध ने फिर पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ? वह बोला—एक है। उसने कहा—हां, ठीक है। विदग्ध ने फिर प्रश्न पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! वे तीन और तीन सौ, तीन और तीन सहस्र देव कौन से हैं ?

स होवाच—महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवा इति । कतमे ते त्रयस्त्रिंशदिति ? अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति ॥२॥

उस याज्ञवल्क्य ने उत्तर में कहा - वास्तव में तैंतीस ही देव हैं। ये अन्य तो इनकी महिमा ही हैं—दिव्य शक्तियां तैंतीस ही हैं अन्य शक्तियां इन्हीं की महिमा हैं। फिर विदग्ध ने पूछा—वे तैंतीस देव कौनसे हैं ? उसने कहा—आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य वे इकतीस और इन्द्र तथा प्रजापति मिल कर तैंतीस हैं।

कतमे वसव इति ? अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एतेषु हीदं वसु सर्वं हितमिति, तस्माद्वसव इति ॥३॥

विदग्ध ने पूछा—वे वसु कौन से हैं ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर में कहा—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, सूर्य, द्युलोक, चन्द्रमा और नक्षत्रगण ये वसु हैं। इनमें ही यह सब वसु वस्तुमात्र निहित है, सारा बसने योग्य संसार इनमें आश्रित है। इसी कारण ये वसु कहे गये हैं।

कतमे रुद्रा इति ? दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः । ते यदाऽस्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति, तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति ॥४॥

विदग्ध ने पूछा - हे याज्ञवल्क्य ! रुद्र कौन से हैं ? उसने बताया—पुरुष में जो ये दस प्राण हैं और ग्यारहवां आत्मा है ये एकादश रुद्र हैं। वे रुद्र जब इस मरणशील

शरीर से बाहर निकलते हैं तो मृत मनुष्य के बन्धुओं को रुलाते हैं; वे जो रुलाते हैं इस कारण रुद्र हैं।

कतम आदित्या इति ? द्वादश वै मासाः संवत्सरस्यैत आदित्याः। एते हीदं सर्वमाददाना यन्ति, ते यदिदं सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति ॥५॥

विदग्ध ने फिर पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! आदित्य कौन से हैं ? उसने कहा—निश्चय, वर्ष के बारह मास ही ये आदित्य हैं। ये बारह मास ही इस सारे कार्य-जगत् को और जीवों की आयु को नाश की ओर लिये हुए जाते हैं। वे आदित्य जो इस सारे कार्य-जगत् को क्षय की ओर लिये हुए जाते हैं, इसी कारण आदित्य कहे गये हैं।

कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति ? स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति। कतमः स्तनयित्नुरिति ? अशनिरिति। कतमो यज्ञ इति ? पशव इति ॥६॥

विदग्ध ने पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! इन्द्र कौन है, प्रजापति कौन है ? उसने उत्तर दिया—गर्जने वाला बादल ही इन्द्र है और यज्ञ प्रजापति है। फिर उसने पूछा—गर्जने वाला कौन है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—बिजली है। फिर उसने पूछा—यज्ञ कौन है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—यज्ञ पशु हैं। पशु यज्ञ-कर्म का साधन हैं।

कतमे षडिति ? अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्चैते षट्, एते हीदं सर्वं षडिति ॥७॥

विदग्ध ने पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! षड् देव कौन हैं ? उसने कहा—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, सूर्य और द्युलोक ये षद् हैं। ये छः ही इस सब को षद् बनाते हैं। चन्द्र और नक्षत्रों को छोड़ कर छः वसु ही षद् देव हैं।

कतमे ते त्रयो देवा इति ? इम एव त्रयो लोकाः। एषु हीमे सर्वे देवा इति। कतमा तौ द्वौ देवाविति ? अन्नं चैव प्राणश्चेति। कतमोऽध्यर्द्ध इति ? योऽयं पवत इति ॥८॥

विदग्ध ने प्रश्न किया—हे याज्ञवल्क्य ! वे तीन देव कौन हैं ? उसने उत्तर दिया—ये ही तीन लोक तीन देव हैं। इनमें ही ये सब पृथिवी आदि देव हैं। इनमें सब देव निवास करते हैं। विदग्ध ने फिर प्रश्न किया—वे दो देव कौन हैं ? उसने उत्तर दिया—निश्चय अन्न और प्राण दो देव हैं। जो खाया जाय वह अन्न है, भोग्य है और जो खाये वह भोक्ता तथा प्राण है। प्राण और अन्न ही में सारा जगत् विभक्त है। विदग्ध ने पूछा—अध्यर्द्ध कौन है ? उसने बताया—जो यह वायु बहती है यह अध्यर्द्ध है।

तदाहुर्यदयमेक इवैव पवतेऽथ कथमध्यर्द्ध इति ? यदस्मिन्निदं सर्वमध्यार्ध्नोत्तेनाध्यर्द्ध इति । कतम एको देव इति ? प्राण इति । स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते ॥९॥

विदग्ध ने कहा—उस वायु को तत्त्वज्ञ जन कहते हैं कि यह वायु एकाकी सी ही चलती है—अपने में पूर्ण है, तो इसको कैसे अध्यर्द्ध कहते हैं? उसने उत्तर दिया—जिसके कारण इस वायु में यह सारा जङ्गमाजङ्गम जगत् वृद्धि को प्राप्त होता है, तिससे यह अध्यर्द्ध कही गयी है। फिर विदग्ध ने पूछा – एक देव कौन है? उसने कहा—प्राण एक देव है, वह प्राण ब्रह्म है। उसको अप्रत्यक्ष होने से वह है ऐसा भी कहते हैं। सब देवों का देव एक भगवान् है। वह सब का जीवन है और वह "तत् =वह" कह कर पुकारा जाता है।

पृथिव्येव यस्यायतनमग्निर्लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य! वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ । य एवायं शारीरः पुरुषः स एषः । वदैव शाकल्य ! तस्य का देवतेत्यमृतमिति होवाच ॥१०॥

जिस आत्मा का आयतन—स्थान पृथिवी ही है, अग्नि जिसका लोक है—देखने का साधन है, मन जिसकी ज्योति—प्रकाश है, हे याज्ञवल्क्य! सर्व जीव-राशि के परमाश्रय-रूप उस आत्मा को जो जन ही जाने हे याज्ञवल्क्य! वह ही जानने वाला—ज्ञानी होवे। क्या तू उसे जानता है? याज्ञवल्क्य ने कहा हे विदग्ध! जिस को सर्व जीव-राशि का आश्रय तू कहता है उस पुरुष आत्मा को मैं जानता हूं। जो ही यह देहधारी पुरुष—आत्मा है वह यह है। हे शाकल्य! और पूछ। उसने पूछा—उसका कौन देवता है—कौन उसका पद है? याज्ञवल्क्य ने कहा—अमृत—अविनाशी उस का पद है। वह अमर सत्ता है।

काम एव यस्यायतनं हृदयं लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य । वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ । य एवायं काममयः पुरुषः स एषः । वदैव शाकल्य ! तस्य का देवतेति ! स्त्रिय इति होवाच ॥११॥

जिस सकाम जीव का कामना ही स्थान है—सकाम-भाव ही स्थान है, हृदय जिसका लोक है—अभिलाषाओं में जो रहता है, मन जिसकी ज्योति है, उस सर्व जीव-धारियों के आत्मा के आश्रयरूप पुरुष को—सकाम आत्मा को जो जन ही जाने,

हे याज्ञवल्क्य ! वह ही ज्ञाता हो—वह ही ज्ञानी कहा जाय। याज्ञवल्क्य ने कहा—जिस सर्व देह के आश्रय को तू वर्णन करता है उस आत्मा को मैं जानता हूं। जो ही यह काममय पुरुष है वह ही यह है। शाकल्य ! और पूछ। उसने पूछा—उसका कौन देवता है? याज्ञवल्क्य ने कहा—स्त्रियां उसका देवता अर्थात् पद—जन्मस्थान हैं। सकाम आत्मा बार बार जन्म धारण करता है। यह कामनारूप का वर्णन है।

रूपाण्येव यस्यायतनं चक्षुर्लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य ! वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ । य एवासावादित्ये पुरुषः स एषः । वदैव शाकल्य ! तस्य का देवतेति ? सत्यमिति होवाच ॥१२॥

जिस ध्यानी देवस्वरूप जन का नाना-दिव्यरूप-दर्शन ही घर है—जिसको दिव्य दर्शन उपलब्ध हैं; नेत्र जिसका लोक है—दिव्य-दृष्टि के पद में जो रहता है; मन जिसकी ज्योति है उस सर्व देहधारी आत्मा के आश्रयरूप पुरुष को जो जन ही जाने, हे याज्ञवल्क्य ! वह ही ज्ञाता कहाये। क्या तू उसको जानता है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—जिस सर्व देहधारी आत्मा के आश्रयरूप को तू वर्णन करता है उस आत्मा को मैं जानता हूं। जो ही यह सूर्य में—दिव्यदृष्टि के प्रकाश में द्रष्टा पुरुष है वह ही यह है। हे शाकल्य ! और बोल। उसने कहा—उसका कौन देवता—पद है ? वह बोला—सत्य उसका पद है। सत्य उसका आराध्य तथा धाम है।

आकाश एव यस्यायतनं श्रोत्रं लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य ! वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ । य एवायं श्रोत्रः प्रातिश्रुत्कः पुरुषः स एषः । वदैव शाकल्य ! तस्य का देवतेति ? दिश इति होवाच ॥१३॥

जिसका आकाश ही घर है, श्रोत्र जिसका लोक है, मन जिसकी ज्योति है उस सर्व सूक्ष्मशरीर के आत्मा के आश्रयरूप पुरुष को जो जन ही जान ले, हे याज्ञवल्क्य ! वह ही ज्ञाता होवे। क्या तू उसे जानता है ? उसने कहा—जिसको सर्व सूक्ष्मशरीर के आत्मा के आश्रय को तूने वर्णन किया है, उस पुरुष को मैं जानता हूं। जो ही यह श्रोत्र में प्रकट होने वाला और अपनी ध्वनि को आप सुनने वाला पुरुष है वह यह आत्मा है। हे शाकल्य ! और कहो। उसने पूछा—उसका कौन देवता है ? वह बोला—उस सूक्ष्मशरीरी का स्थान तथा धाम दिशाएं है। स्थूल शरीर से पृथक् होकर सूक्ष्मशरीरी आकाश में रहता है। यह सूक्ष्मशरीरी देवात्मा का वर्णन है।

तमं एव यस्यायतनं हृदयं लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य ! वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ । य एवायं छायामयः पुरुषः स एषः । वदैव शाकल्य ! तस्य का देवतेति ? मृत्युरिति होवाच ॥१४॥

जिसका अन्धकार—अज्ञान ही घर है, हृदय—कामना जिसका लोक है, मन जिसकी ज्योति है उस सर्व स्थूलशरीर के आत्मा के आश्रयरूप भोगी जीव को जो जन ही जान ले, हे याज्ञवल्क्य ! वह ही ज्ञानी होवे। क्या तू उसको जानता है ? उसने कहा—जिसको सर्व आत्मा के आश्रय को तू वर्णन करता है उस पुरुष को मैं जानता हूं। जो ही यह छायामय—स्थूलदेहधारी पुरुष है वह ही यह है। हे शाकल्य ! और कहो। उसने कहा—कौन उसका देवता है ? वह बोला—उसका देवता—स्थान मृत्यु है। वह जन्म-मरण के चक्र में रहता है।

रूपाण्येव यस्यायतनं चक्षुर्लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य ! वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ । य एवायमादर्शे पुरुषः स एषः । वदैव शाकल्य ! तस्य का देवतेति ? असुरिति होवाच ॥१५॥

जिसका रूप ही स्थान है—नाना दृश्य देखना ही जिसका कर्म है, नेत्र जिसका लोक है, मन जिसकी ज्योति है, उस सर्व आत्मा के आश्रय को जो ही पुरुष जान जाय, हे याज्ञल्वय ! वह ही ज्ञानी होवे। क्या तू उसे जानता है ? उसने कहा—जिसको सर्व आत्मा के आश्रय को तू वर्णन करता है उस पुरुष को मैं जानता हूं। जो ही यह दर्पण में प्रतिबिम्बरूप पुरुष है—प्रतिबिम्ब को जानने वाला है, वह ही यह है। हे शाकल्य ! और कहो। उसने कहा—उसका कौन देवता है ? याज्ञवल्क्य ने बताया—प्राण ही उसका देवता—जीवन स्थान है, रूपों का लोभी प्रतिबिम्ब के समान असार होता है और केवल प्राणों में ही रहता है, आत्मदर्शी नहीं होता।

आप एव यस्यायतनं हृदयं लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य ! वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ । य एवायमप्सु पुरुषः स एषः । वदैव शाकल्य ! तस्य का देवतेति ? वरुण इति होवाच ॥१६॥

जिसका जल ही स्थान है, हृदय लोक है, मन ज्योति है उस सर्व आत्मा के आश्रय पुरुष—जलीय देहधारी को जो जन ही जान ले वह ही ज्ञानी होवे। क्या तू उसे जानता है ? उसने कहा—जिसको सब आत्मा के आश्रयरूप पुरुष को—

जलीय जगत् को तू वर्णन करता है उस पुरुष को मैं जानता हूं। जो ही यह जलों में—जलीय देह में पुरुष है वह ही यह है। हे शाकल्य! और कहो। उसने कहा—उसका कौन देवता है? वह बोला—उसका स्थान वरुण है, जलीय जीव समुद्र में रहते हैं।

रेत एव यस्यायतनं हृदयं लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य! वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ। य एवायं पुत्रमयः पुरुष स एषः। वदैव शाकल्य! तस्य का देवतेति? प्रजापतिरिति होवाच ॥१७॥

जिसका रेतस् ही घर है— जिसकी रेतस् से उत्पत्ति है, हृदय जिसका लोक है, मन जिसकी ज्योति है उस सब आत्मा के आश्रय पुरुष को जो जन ही जान जाय, हे याज्ञवल्क्य! वह ही ज्ञानी होवे। क्या तू उसे जानता है? उसने कहा—जिस सब आत्मा के आश्रय पुरुष को तू वर्णन करता है उस पुरुष को मैं जानता हूं। जो ही यह पुत्रमय पुरुष है—सन्तान है वह ही यह है। हे शाकल्य! और कहो। उसने कहा—उसका कौन देवता है? वह बोला—उसका पालक देवता प्रजापति है। रेतस् से उत्पत्ति के नियम का नियन्ता ईश्वर है।

शाकल्येति होवाच याज्ञवल्क्यस्त्वां स्विदिमे ब्राह्मणा अङ्गारावक्षयणमक्रता३ इति ॥१८॥

याज्ञवल्क्य ने कहा—हे शाकल्य! निश्चय, इन ब्राह्मणों ने तुझे अंगीठी बना दिया। अंगारे जिस में डाले जायें वह अङ्गारावक्षयण है। ब्राह्मणों ने तुझे अंगीठी की भांति गर्म कर दिया है।

याज्ञवल्क्येति होवाच शाकल्यो यदिदं कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणानत्यवादीः किं ब्रह्म विद्वानिति? दिशो वेद सदेवाः सप्रतिष्ठा इति। यद्दिशो वेत्थ सदेवाः सप्रतिष्ठाः ॥१९॥

शाकल्य ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! जो यह कुरुपञ्चाल के ब्राह्मणों को तूने निरादरसूचक वचन कहा—उन पर आक्षेप किया, तो क्या ब्रह्म को जानते हुए कहा? अङ्गारावक्षयण ही निरादरसूचक वचन है। याज्ञवल्क्य ने कहा—हे विदग्ध! ब्रह्मवेत्ता को तो नमस्कार है, मैं तो देवसहित, प्रतिष्ठासहित दिशाओं को जानता हूं। उसने कहा—यदि देवसहित, प्रतिष्ठासहित दिशाएं तू जानता है तो बता—

"किंदेवतोऽस्यां प्राच्यां दिश्यसीति? आदित्यदेवत इति। स आदित्यः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति? चक्षुषीति। कस्मिन्नु चक्षुः प्रतिष्ठितमिति? रूपेष्विति,

चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति। कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठितानीति ? हृदय इति होवाच, हृदयेन हि रूपाणि जानाति। हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि भवन्तीति। एवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ! ॥२०॥

इस पूर्व दिशा में तू कौन देवता वाला है ? उसने कहा—पूर्व दिशा में आदित्य देवता है। शाकल्य ने पूछा—वह सूर्य किस में प्रतिष्ठित है—महिमायुक्त है ? उसने कहा—आंख में सूर्य महिमावान् है—आंख से सूर्य की महिमा जानी जाती है। शाकल्य ने पूछा—आंख किस में प्रतिष्ठा को प्राप्त है ? उसने कहा—रूपों में, आंख की महिमा नाना रूपों में प्रकट होती है। नेत्र से ही मनुष्य नाना रूपों को देखता है। शाकल्य ने पूछा—रूप किस में प्रतिष्ठित हैं ? वह बोला—हृदय में, रसिक और प्रशंसक हृदय द्वारा ही दर्शक रूपों को जानता है। हृदय में ही रूप प्रतिष्ठित हो रहे हैं। उसने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! यह वर्णन ऐसा ही है।

किंदेवतोऽस्यां दक्षिणायां दिश्यसीति ? यमदेवत इति। स यमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति ? यज्ञ इति। कस्मिन्नु यज्ञः प्रतिष्ठित इति ? दक्षिणायामिति। कस्मिन्नु दक्षिणा प्रतिष्ठितेति ? श्रद्धायामिति। यदा ह्येव श्रद्धत्तेऽथ दक्षिणां ददाति। श्रद्धायां ह्येव दक्षिणा प्रतिष्ठितेति। कस्मिन्नु श्रद्धा प्रतिष्ठितेति ? हृदय इति होवाच, हृदयेन हि श्रद्धां जानाति; हृदये ह्येव श्रद्धा प्रतिष्ठिता भवतीति। एवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ! ॥२१॥

शाकल्य ने पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! इस दक्षिण दिशा में कौन देवतावाला तू है ? दक्षिण दिशा में तू कौन देवता मानता है ? उसने कहा—दक्षिण दिशा में यम देवता है। शाकल्य ने पूछा—वह यम किस में प्रतिष्ठित है ? उसने कहा—यज्ञ में, भगवान् की नियमन शक्ति की उपासना यज्ञ में होती है। शाकल्य ने पूछा—यज्ञ किस में प्रतिष्ठित है ? फलवान् तथा शोभावान् है ? उसने कहा—दक्षिणा में। शाकल्य ने पूछा—दक्षिणा किस में प्रतिष्ठित है ? उसने कहा—श्रद्धा में, जब ही कोई मनुष्य श्रद्धा करता है तब दक्षिणा को देता है, इस कारण श्रद्धा में ही दक्षिणा प्रतिष्ठित है ? शाकल्य ने पूछा—श्रद्धा किस में प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य बोला—हृदय में, हृदयगत आस्तिकभावना में श्रद्धा रहती है; हृदय से ही प्रेमी श्रद्धा को जानता है, इस कारण हृदय में ही श्रद्धा प्रतिष्ठित हो रही है। शाकल्य ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! यह वर्णन जैसा तू ने कहा, ऐसा ही है।

किंदेवतोऽस्यां प्रतीच्यां दिश्यसीति ? वरुणदेवत इति। स वरुणः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति ? अप्स्विति। कस्मिन्न्वापः प्रतिष्ठिता इति ? रेतसीति। कस्मिन्नु

रेतः प्रतिष्ठितमिति ? हृदय इति, तस्मादपि प्रतिरूपं जातमाहुर्हृदयादिव सृप्तो हृदयादिव निर्मित इति; हृदये ह्येव रेतः प्रतिष्ठितं भवतीति । एवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ! ॥२२॥

शाकल्य ने पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! इस पश्चिम दिशा में कौन देव वाला तू है ? उसने कहा—पश्चिम दिशा का वरुण देवता है । शाकल्य ने कहा—वह वरुण किस में प्रतिष्ठित है ? उस ने कहा—जलों में वरुण स्थित है । शाकल्य ने पूछा—जल किस में प्रतिष्ठित है ? उसने कहा—मनुष्य देह के कारण रेतस् में जल प्रतिष्ठित है । शाकल्य ने पूछा—रेतस् किस में प्रतिष्ठित है ? उसने बताया—हृदय में—हृदयगत प्रेम में । इस कारण ही माता-पिता के तुल्य स्वरूप वाले, जन्मे हुए सन्तान को लोग कहा करते हैं—यह हृदय से मानों निकला है; हृदय से मानों बनाया गया है । इस कारण हृदय में ही रेतस् प्रतिष्ठित हो रहा है । शाकल्य ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! यह वर्णन जैसा तू ने किया वैसा ही है ।

किंदेवतोऽस्यामुदीच्यां दिश्यसीति ? सोमदेवत इति । स सोमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति ? दीक्षायामिति । कस्मिन्नु दीक्षा प्रतिष्ठितेति ? सत्य इति । तस्मादपि दीक्षितमाहुः—सत्यं वदेति, सत्ये ह्येव दीक्षा प्रतिष्ठितेति । कस्मिन्नु सत्यं प्रतिष्ठितमिति ? हृदय इति होवाच, हृदयेन हि सत्यं जानाति, हृदये ह्येव सत्यं प्रतिष्ठितं भवतीति । एवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ! ॥२३॥

शाकल्य ने पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! इस उत्तर दिशा में तू किस देवता वाला है ? उसने कहा—उत्तर दिशा का सोम देवता है । फिर शाकल्य ने पूछा—वह सोम—प्रियरूप ईश्वरीय शक्ति किस में प्रतिष्ठित है ? उसने कहा—दीक्षा में—धर्म-कर्म के साधन में, भक्ति-धर्म में प्रवेश करते समय जो व्रत-नियम धारण करने की क्रिया की जाती है उसका नाम दीक्षा है । शाकल्य ने पूछा—दीक्षा किस में प्रतिष्ठित है ? उसने कहा—सत्य में, सत्य हो तो ही दीक्षा सफलता देती है । इस कारण ही दीक्षित को गुरुजन कहा करते हैं—सत्य ही बोलें । सत्य में ही दीक्षा स्थिर है । शाकल्य ने कहा—सत्य किस में प्रतिष्ठित है ? उसने उत्तर दिया—हृदय में—श्रद्धायुक्त मानस-भावना में । हृदय से ही मनुष्य सत्य को जानता है, इस कारण हृदय में ही सत्य स्थिर हो रहा है । उसने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! यह ऐसा ही है ।

किंदेवतोऽस्यां ध्रुवायां दिश्यसीति ? अग्निदेवत इति । सोऽग्निः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति ? वाचीति ? कस्मिन्नु वाक् प्रतिष्ठितेति ? हृदय इति । कस्मिन्नु हृदयं प्रतिष्ठितमिति ? ॥२४॥

शाकल्य ने पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! इस ध्रुवा दिशा में तू किस देव वाला है ? उस ने कहा—ध्रुवा दिशा का अग्नि देवता है । शाकल्य ने पूछा—वह अग्नि किस में प्रतिष्ठित है ? उस ने कहा—वाणी में, वाणी में तेज रहता है । शाकल्य ने पूछा—वाणी किस में प्रतिष्ठित है ? उस ने कहा—तेजोमय हृदय में, साहस तथा ओज में वाणी रहती है । फिर शाकल्य ने पूछा—हृदय किस में प्रतिष्ठित है ?

अहल्लिकेति होवाच याज्ञवल्क्यो यत्रैतदन्यत्रास्मन्मन्यासै यद्ध्येतदन्यत्रा-स्मत्स्याच्छ्वानो वैनदद्युर्वयांसि वैनद्विमथ्नीरन्निति ॥२५॥

याज्ञवल्क्य ने उत्तर में कहा—अहल्लिक—अरे प्रेत ! यदि यह हृदय हम से—हमारे देह से कहीं अन्यत्र मानता है ? यदि यह हम से अन्यत्र हो तो निश्चय इस को कुत्ते खा जायें, निश्चय इस को गीध आदि पक्षी नोच कर मथन कर डालें । यह हृदय देह में ही है । श्रद्धावृत्तियों की स्फूर्ति के स्थान का नाम हृदय है । (अह में—दिन में जो लय हो जावे—छुप जावे उस का नाम अहल्लिक है जान बूझ कर कुतर्क-कर्ता को यहां अहल्लिक कहा है) ।

कस्मिन्नु त्वं चात्मा च प्रतिष्ठितौ स्थ इति ? प्राण इति । कस्मिन्नु प्राणः प्रतिष्ठित इति ? अपान इति । कस्मिन्न्वपानः प्रतिष्ठित इति ? व्यान इति । कस्मिन्नु व्यानः प्रतिष्ठित इति ? उदान इति । कस्मिन्नूदानः प्रतिष्ठित इति ? समान इति । स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति ॥

शाकल्य ने फिर पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! तू—देह और आत्मा—देही किस में प्रतिष्ठित हैं ? उसने कहा—प्राण में प्रतिष्ठित हैं । शाकल्य ने पूछा—प्राण किस में प्रतिष्ठित है ? उसने कहा—अपान में । शाकल्य ने पूछा—अपान किस में प्रतिष्ठित है ? उसने कहा—व्यान में । शाकल्य ने पूछा—व्यान किसमें प्रतिष्ठित है ? उसने कहा—उदान में । शाकल्य ने पूछा—उदान किसमें प्रतिष्ठित है ? उसने कहा—समान में स्थिर है। वह यह देह में रहने वाला आत्मा 'नेति नेति' शब्द से बताया जाता है—देह तथा प्राणादि वह नहीं है यह कह कर वर्णन किया जाता है । वास्तव में वह आत्मा ग्रहण करने योग्य नहीं है क्योंकि इन्द्रियों से तथा तर्क से नहीं ग्रहण किया जा सकता, अविनाशी है क्योंकि नहीं नष्ट किया जा सकता, असङ्ग—निर्लेप है क्योंकि स्वभाव से नहीं आसक्त होता, बन्धन रहित है, यह नहीं पीडित होता और न हनन होता है ।

एतान्यष्टावायतनान्यष्टौ लोका अष्टौ देवा अष्टौ पुरुषाः । स यस्तान्पुरुषा-न्निरुह्य प्रत्युह्यात्यक्रामत्तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि तं चेन्मे न विवक्ष्यसि

मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति । तं ह न मेने शाकल्यस्तस्य ह मूर्द्धा विपपातापि हास्य परिमोषिणोऽस्थीन्यपजह्रुरन्यन्मन्यमानाः ॥२६॥

याज्ञवल्क्य ने कहा—हे शाकल्य ! ये पृथिवी आदि आठ आयतन हैं, अग्नि आदि आठ लोक हैं, अमृत आदि आठ देव हैं और शरीर आदि आठ पुरुष हैं । वह जो उन पुरुषों को भली प्रकार जान कर, मननपूर्वक समझ कर ऊपर चला जाता है—विशुद्ध आत्मा हो जाता है तुझको उसी औपनिषद पुरुष के संबन्ध में मैं पूछता हूं । यदि वह मुझे नहीं बतायेगा तो तुझ अभिमानी का सिर गिर जायगा । शाकल्य ने उस विशुद्ध आत्मा को नहीं जाना, इस कारण उसका सिर गिर पड़ा, हार से उसकी मृत्यु हो गई । निश्चय उसके शिष्यों से उसकी अस्थियों को, चोर कुछ अन्य धन मानते हुए अपहरण कर ले गये ।

अथ होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वः कामयते स मा पृच्छतु सर्वे वा मा पृच्छत । यो वः कामयते तं वः पृच्छामि सर्वान्वा वः पृच्छामीति । ते ह ब्राह्मणा न दधृषुः ॥२७॥

शाकल्य के परास्त हो जाने पर याज्ञवल्क्य ने ब्राह्मणों को अभिमुख करके कहा—हे पूज्य ब्राह्मणो ! अब तुम में से जो चाहता हो वह मुझको प्रश्न पूछे, अथवा आप सभी मुझको पूछें । यदि आप प्रश्न पूछना नहीं चाहते हैं तो तुम्हारे में से जो चाहता हो, तुम में से उसको मैं प्रश्न पूछता हूं अथवा आप सबको पूछता हूं । यह सुन कर भी उन ब्राह्मणों ने नहीं धृष्टता की—प्रश्न पूछने का साहस नहीं किया ।

तान् हैतैः श्लोकैः पप्रच्छ—

यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा ।
तस्य लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका बहिः ॥१॥
त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः ।
तस्मात्तदातृण्णात् प्रैति रसो वृक्षादिवाहतात् ॥२॥
मांसान्यस्य शकराणि कीनाटं स्नाव तत्स्थिरम् ।
अस्थीन्यन्तरतो दारूणि मज्जा मज्जोपमा कृता ॥३॥

उस याज्ञवल्क्य ने इन श्लोकों से उन ब्राह्मणों को पूछा—सत्य है कि जैसे वन का बड़ा वृक्ष है ऐसा ही मनुष्य-शरीर है । उसके तन के रोम पत्ते हैं, इसकी त्वचा बाहर का छिलका है । इसकी त्वचा से ही रक्त बहता है जैसे वृक्ष की त्वचा से उत्पट—रस निकलता है । हनन किये गए वृक्ष की भांति ही इस हनन किये हुए मनुष्य से वह रस—रक्त निकलता है । इस मनुष्य के मांस—मांसपेशियां वृक्ष के शकल हैं—

त्वचा के भीतर के भाग हैं। पुरुष का वह स्थिर जो नाड़ीजाल है वह वृक्ष का कीनाट—लकड़ी से लगा हुआ कोमल भाग है। इसकी हड्डियां ही अन्दर की लकड़ियां हैं, इसकी मज्जा मज्जा के समान है[४४]।

यद् वृक्षो वृक्णो रोहति मूलान्नवतरः पुनः ।
मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति ॥४॥
रेतस इति मा वोचत जीवतस्तत् प्रजायते ।
धानारुह इव वै वृक्षोऽञ्जसा प्रेत्य संभवः ॥५॥
यत्समूलमावृहेयुर्वृक्षं न पुनराभवेत् ।
मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति[४२] ॥६॥
जात एव न जायते को न्वेनं जनयेत्पुनः ।
विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणं तिष्ठमानस्य तद्विद इति ॥७॥२८॥

जब कटा हुआ वृक्ष फिर मूल से नवतर फूट निकलता है तो मृत्यु से कटा—मरा हुआ मनुष्य किस मूल से फिर जन्म लेता है? वीर्य से जन्म लेता है ऐसा न कहो, क्योंकि वह वीर्य तो जीवित मनुष्य से उत्पन्न होता है; परन्तु जो मर गया उस के जन्म का कारण क्या है? निश्चय बीज से उत्पन्न वृक्ष वत् तुरन्त मर कर जन्म होता है। यदि मूलसहित वृक्ष को उखाड़ दें तो वह फिर नहीं उत्पन्न होता, ऐसे ही मृत्यु से कटा हुआ मनुष्य किस मूल से उत्पन्न होता है? जन्मा हुआ ही नहीं जन्म लेता है; जब जन्म लेता है तो इस को कौन फिर जन्म देता है? याज्ञवल्क्य के प्रश्न को सुन कर सभी ब्राह्मण चुप रहे, किसी ने उत्तर देने का साहस नहीं किया। तब याज्ञवल्क्य स्वयं बोला—धन के देने वाले, दृढनिश्चयवान्, तत्त्वदर्शी का परम आश्रय, विज्ञान और आनन्दमय ब्रह्म है। उसी की प्रेरणा से जन्म-व्यवस्था होती है। जन्म-व्यवस्था कर्मानुसार भगवान् के विधान से होती है।

चौथा अध्याय, पहला ब्राह्मण

जनको ह वैदेह आसांचक्रेऽथ ह याज्ञवल्क्य आवव्राज। तं होवाच याज्ञवल्क्य! किमर्थमचारीः? पशूनिच्छन्नण्वन्तानिति? उभयमेव सम्राडिति होवाच ॥१॥

यह ऐतिहासिक वार्ता है कि एकदा वैदेह देश का महाराजा जनक अपने सभा-स्थान में बैठा हुआ था, उस समय वहां याज्ञवल्क्य आगया। उसको राजा ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! किस प्रयोजन के लिए तू यहां आया है? क्या पशुओं को चाहता हुआ

अथवा सूक्ष्म सिद्धान्तों को जानना चाहता हुआ आया है ? उस ने कहा-हे महाराज ! दोनों को ही चाहता हुआ मैं आया हूँ ।

यत्ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेति । अब्रवीन्मे जित्वा शैलिनिर्वाग्वै ब्रह्मेति । यथा मातृमान् पितृमानाचार्यवान् ब्रूयात्तथा तच्छैलिनिरब्रवीद्वाग्वै ब्रह्मेति । अवदतो हि किं स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्याऽयतनं प्रतिष्ठाम् ? न मेऽब्रवीदिति । एकपाद्वा एतत्सम्राडिति । स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य ! वागेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा प्रज्ञेत्येतदुपासीत । का प्रज्ञता याज्ञवल्क्य ? वागेव सम्राडिति होवाच । वाचा वै सम्राड् बन्धुः प्रज्ञायते । ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टं हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः, सर्वाणि च भूतानि वाचैव सम्राट् प्रज्ञायन्ते, वाग्वै सम्राट् परमं ब्रह्म । नैनं वाग् जहाति, सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति, देवो भूत्वा देवानप्येति, य एवं विद्वानेतदुपास्ते । हस्त्यृषभं सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः । स होवाच याज्ञवल्क्यः—पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥८॥

याज्ञवल्क्य ने कहा—तुझे जो कुछ किसी ने कहा-बताया वह मैं सुनूं तो फिर आगे वर्णन करूं । जनक ने कहा—जित्वा शैलिनि ने मुझे कहा—वाणी ही ब्रह्म है । याज्ञवल्क्य बोला—जैसा माता से सुशिक्षित, पिता से सुशिक्षित, आचार्य से सुशिक्षित इस तत्त्व को बताये वैसा ही शैलिनि ने वह बताया कि वाणी ही ब्रह्म है । क्योंकि मूक को क्या लाभ है । परन्तु तुझे उस ने उसका स्थान और उस की प्रतिष्ठा भी बताई ? जनक ने कहा—मुझे उस ने नहीं कहा । उस ने कहा—हे महाराज ! यह एक भाग ही है । जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! यह ही हम को कहो शब्दब्रह्म का—शब्द बोल कर उपासना करने का स्थानादि बता । उस ने कहा—वाणी-शक्ति ही उस का स्थान है । और आकाश उस की प्रतिष्ठा है । यह शब्दब्रह्म बुद्धि जान कर उपासक आराधे । जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! कौन प्रज्ञा है ? उस ने कहा—हे राजन् ! वाणी ही प्रज्ञा है । हे राजन् ! वाणी से ही बन्धु जाना जाता है । ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषदें, काव्य, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान, यज्ञ, हवन खान, पान, यह लोक, पर लोक और सब जीव, हे राजन् ! वाणी से ही जाने जाते हैं; इस कारण हे महाराज ! वाणी ही परम ब्रह्म है । नामोपासना, कीर्तन, स्तुति ही ब्रह्मज्ञान का साधन होने से परम ब्रह्म है; वाचक ही वाच्य पद है । जो उपासक ऐसे जानता हुआ इस वाचक ब्रह्म को उपासता है, इस उपासक को नहीं वाणी छोड़ती—शब्द उस में स्फुरित हो जाता है—नाम उस में प्रकट हो जाता है । इस को सब प्राणी

सुरक्षित रखते हैं, वह देव होकर देवों को प्राप्त होता है। यह सुन कर जनक वैदेह ने विनय से कहा—हे याज्ञवल्क्य ! इस उपदेश के उपलक्ष्य में मैं हाथीतुल्य वृषभ सहित सहस्र गायें देता हूं। वह याज्ञवल्क्य बोला—मेरा पिता मानता था कि उपदेश न दे कर न दक्षिणा ले। अभी मैंने तुझ को पूर्ण उपदेश नहीं दिया।

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेति। अब्रवीन्म उदङ्कः शौल्बायनः—प्राणो वै ब्रह्मेति। यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान् ब्रूयात्तथा तच्छौल्बायनोऽब्रवीत्प्राणो वै ब्रह्मेति। अप्राणतो हि किं स्यादिति। अब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठाम् ? न मे ऽब्रवीदिति एकपाद्वा एतत्सम्राडिति। स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य ! प्राण एवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा, प्रियमित्येनदुपासीत। का प्रियता याज्ञवल्क्य ! प्राण एव सम्राडिति होवाच, प्राणस्य वै सम्राट् ! कामायायाज्यं याजयत्यप्रतिगृह्यस्य प्रतिगृह्णात्यपि तत्र वधाशङ्कं भवति, यां दिशमेति प्राणस्यैव सम्राट् ! कामाय प्राणो वै सम्राट् ! परमं ब्रह्म। नैनं प्राणो जहाति, सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति, देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते। हस्त्यृषभं सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः। स होवाच याज्ञवल्क्यः—पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥३॥

याज्ञवल्क्य ने कहा—राजन् ! तुझे जो कुछ ही किसी ने बताया वह मैं सुनूं—वह मैं सुनना चाहता हूं। उसने कहा—मुझे शुल्वमुनि के पुत्र उदङ्क ने कहा था कि प्राण ही ब्रह्म है—जीवनशक्ति ही ब्रह्म है। ब्रह्म की उपासना प्राणायाम से और आत्मा के जागरण से की जाती है अत एव प्राण ही ब्रह्म है। याज्ञवल्क्य ने कहा—जैसा मातृमान् पितृमान् और आचार्यवान् कहे वैसा ही उस शौल्बायन ने कहा कि प्राण ही ब्रह्म है। क्यों कि प्राण न लेते हुए क्या उपासना हो। परन्तु तुझे उस ने, उसका स्थान और उसकी प्रतिष्ठा भी कही ? उसने कहा—मुझे उसने अन्य कुछ नहीं कहा। याज्ञवल्क्य बोला—हे महाराज ! यह प्राणोपासना का एक चरण ही है। उसने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! वह ही हम को कहो—संपूर्ण उपासना बता। उसने कहा—प्राणपवन का प्राण—आत्मजीवन ही स्थान है आकाश प्रतिष्ठा है। प्राण आकाश में स्थिर रहता है, इसको प्रियरूप जान कर उपासे—आत्मजीव को प्रियस्वरूप समझ कर आराधे। जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! कौन प्रियता है ? वह बोला—हे राजन् ! आत्मिक जीवन ही प्रियरूप है। हे राजन् ! प्राण की ही कामना के लिए मनुष्य दुष्कर यजन कराता है, कठिनता से ग्रहण करने योग्य वस्तु को ग्रहण करता है, वहां हनन-शङ्का सहित भी मार्ग हो तो भी जिस दिशा को जाता है, हे राजन् ! प्राण की ही कामना के लिए जाता है। इस कारण प्राण प्रिय है। हे राजन् ! प्राण ही परम ब्रह्म है—आत्मजीवन ही परम महान्

है जो उपासक ऐसे जानता हुआ प्राणोपासना करता है इसको प्राण नहीं छोड़ता—वह अमर हो जाता है; इसको सब प्राणी पालते हैं, वह देव होकर देवों को प्राप्त होता है। यह उपदेश सुन कर जनक ने कहा—मैं तुझे हस्तिसम बैल और एक सहस्र गायें देता हूं। वह याज्ञवल्क्य बोला—मेरा पिता मानता था कि शिक्षा दिये बिना दान न ले।

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे बर्कुर्वार्ष्णश्चक्षुर्वै ब्रह्मेति। यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान् ब्रूयात्तथा तद्वार्ष्णोऽब्रवीच्चक्षुर्वै ब्रह्मेति। अपश्यतो हि किं स्यादिति। अब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठाम्? न मेऽब्रवीदिति। एकपाद्वा एतत्सम्राडिति। स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य! चक्षुरेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा, सत्यमित्येनदुपासीत। का सत्यता याज्ञवल्क्य! चक्षुरेव सम्राडिति होवाच। चक्षुषा वै सम्राट्! पश्यन्तमाहुरद्राक्षीरिति, स आहाऽद्राक्षमिति तत्सत्यं भवति। चक्षुर्वै सम्राट्! परमं ब्रह्म। नैनं चक्षुर्जहाति, सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते। हस्त्यृषभं सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः। स होवाच याज्ञवल्क्यः—पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥४॥

फिर याज्ञवल्क्य ने कहा—हे जनक! तुझे जो कुछ किसी ने कहा वह मैं सुनूं। उस ने कहा—मुझे वृष्ण ऋषि के पुत्र बर्कु ने कहा था कि आंख ही ब्रह्म है। स्वाध्याय का साधन होने से नेत्र ब्रह्म है। याज्ञवल्क्य ने कहा जैसा मातृमान्, पितृमान् और आचार्यवान् कहे वैसा ही उस वार्ष्ण ने कहा कि नेत्र ही ब्रह्म है। शास्त्र को न देखते हुए को क्या प्राप्त हो। परन्तु उसने तुझे उसका स्थान, प्रतिष्ठा भी कहा? वह बोला—मुझे उसने नहीं बताया। याज्ञवल्क्य ने कहा—हे राजन्! यह ब्रह्मोपदेश एकपाद ही है। वह बोला—हे याज्ञवल्क्य! वह ही संपूर्ण उपदेश हमको कहो। उसने कहा—नेत्र ही स्थान है और आकाश प्रतिष्ठा है, इसको सत्य जान कर आराधे। जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! कौन सत्यता है? उसने कहा—राजन्! नेत्र ही—देखने की शक्ति ही सत्यता है। हे राजन्! नेत्र से ही देखते हुए मनुष्य को लोग कहते हैं, क्या तूने देखा? वह उत्तर में कहे—मैंने देखा तो वह सत्य होता है। राजन्! नेत्र ही—दर्शन-शक्ति ही परम ब्रह्म है—ब्रह्मप्राप्ति का साधन है इत्यादि।

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेति। अब्रवीन्मे गर्दभीविपीतो भारद्वाजः, श्रोत्रं वै ब्रह्मेति। यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान् ब्रूयात्तथा तद् भारद्वाजोऽब्रवीच्छ्रोत्रं वै ब्रह्मेति। अशृण्वतो हि किं स्यादिति। अब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठाम्? न मेऽब्रवीदिति। एकपाद्वा एतत्सम्राडिति। स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य! श्रोत्रमेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठाऽनन्त इत्येनदुपासीत। काऽनन्तता

याज्ञवल्क्य ! दिशं एव सम्राडिति होवाच, तस्माद्वै सम्राडपि यां कां च दिशं गच्छति नैवास्या अन्तं गच्छति । अनन्ता हि दिशो दिशो वै सम्राट् ! श्रोत्रम् । श्रोत्रं वै सम्राट् ! परमं ब्रह्म । नैनं श्रोत्रं जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते । हस्त्यृषभं सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः । स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥५॥

याज्ञवल्क्य ने फिर कहा—हे जनक ! तुझे जो कुछ किसी ने कहा वह मैं सुनूं। वह बोला—मुझे भरद्वाजगोत्री गर्दभीविपीत ने कहा था कि श्रोत्र ही ब्रह्म है—श्रवण करना ही ब्रह्मज्ञान का साधन है। जैसा मातृमान्, पितृमान् और आचार्यवान् कहे वैसा ही उस भारद्वाज ने कहा कि श्रोत्र ही ब्रह्म है, क्योंकि न सुनते हुए को क्या लाभ हो ? परन्तु उसने तुझे उस का स्थान, प्रतिष्ठा भी कहा ? जनक बोला—उसने मुझे नहीं कहा। उसने कहा—हे राजन् ! यह एक भाग ही है। वह बोला--हे याज्ञवल्क्य ! वह संपूर्ण उपदेश हमको कहो। उसने कहा—श्रोत्र ही स्थान है, आकाश प्रतिष्ठा है; इसको अनन्त जान कर आराधे। उसने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! कौन अनन्तता है ? वह बोला—हे राजन् ! दिशाएं ही अनन्त हैं। इस कारण ही राजन् ! कोई जिस किसी दिशा को जाता है तो वह इसके अन्त को नहीं पाता। अनन्त ही दिशाएं हैं और राजन् ! दिशाएं ही श्रोत्र हैं। हे सम्राट् ! श्रोत्र ही—ब्रह्म का कीर्तन श्रवण ही परम ब्रह्म है इत्यादि। इन पाठों में ब्रह्म से तात्पर्य ब्रह्मप्राप्ति का साधन तथा महान् है।

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेति । अब्रवीन्मे सत्यकामो जाबालो मनो वै ब्रह्मेति । यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान् ब्रूयात्तथा तज्जाबालोऽब्रवीन्मनो वै ब्रह्मेति । अमनसो हि किं स्यादिति । अब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठाम् ? न मेऽब्रवीदिति । एकपाद्वा एतत्सम्राडिति । स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य ! मन एवायतनमाकाशः प्रतिष्ठाऽऽनन्द इत्येनदुपासीत । काऽऽनन्दता याज्ञवल्क्य ! मन एव सम्राडिति होवाच, मनसा वै सम्राट् ! स्त्रियमभिहार्यते, तस्यां प्रतिरूपः पुत्रो जायते, स आनन्दः । मनो वै सम्राट् ! परमं ब्रह्म । नैनं मनो जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते । हस्त्यृषभं सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः । स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥६॥

याज्ञवल्क्य ने पुनः कहा—हे राजन् ! तुझे जो कुछ किसी ने कहा वह मैं सुनूं।

उसने कहा—मुझे जबाला के पुत्र जाबाल सत्यकाम ने कहा था कि मन ही ब्रह्म है—ब्रह्म चिन्तन का, ध्यान का साधन है अथवा महान् है। याज्ञवल्क्य ने कहा—जैसे मातृमान्, पितृमान् तथा आचार्यवान् कहे वैसा ही उस जाबाल ने कहा कि मन ही ब्रह्म है। क्योंकि मनरहित से क्या हो। परन्तु तुझको उसने उसका आयतन, प्रतिष्ठा भी कहा? वह बोला—मुझे यह नहीं बताया। उसने कहा—राजन्! यह एक भाग है। वह बोला—हे याज्ञवल्क्य! वह संपूर्ण ज्ञान हमको कहो। उसने बताया—मन ही स्थान है और आकाश प्रतिष्ठा है, इसको आनन्द जान कर आराधे। उसने कहा—हे याज्ञवल्क्य! कौन आनन्दता है? वह बोला— राजन्! मन ही आनन्दता है। हे राजन्! मन से ही प्रेमी पति अपनी पत्नी को स्वसमीप लाता है, मन के प्रभाव से उस से माता-पिता के तुल्य पुत्र उत्पन्न होता है, संसार में वह पुत्रलाभ ही आनन्द है, इस कारण राजन्! मन ही परम ब्रह्म है। मानस पूजन, श्रद्धा तथा विश्वास ब्रह्मप्राप्ति का परम साधन है इत्यादि।

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेति। अब्रवीन्मे विदग्धः शाकल्यो हृदयं वै ब्रह्मेति। यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान् ब्रूयात्तथा तच्छाकल्योऽब्रवीद् हृदयं वै ब्रह्मेति। अहृदयस्य हि किं स्यादिति। अब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठाम्? न मेऽब्रवीदिति। एकपाद्वा एतत्सम्राडिति। स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य! हृदयमेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा, स्थितिरित्येनदुपासीत। का स्थितता याज्ञवल्क्य! हृदयमेव सम्राडिति होवाच। हृदयं वै सम्राट्! सर्वेषां भूतानामायतनं, हृदयं वै सम्राट्! सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा। हृदये ह्येव सम्राट्! सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठितानि भवन्ति! हृदयं वै सम्राट् परमं ब्रह्म। नैनं हृदयं जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति, देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते। हस्त्यृषभं सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः। स होवाच याज्ञवल्क्यः—पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति॥७॥

याज्ञवल्क्य ने फिर कहा—हे जनक! तुझको जो कुछ किसी ने कहा वह मैं सुनूं। उसने कहा—मुझे शाकल मुनि के पुत्र विदग्ध ने कहा था कि हृदय ही ब्रह्म है; ध्यान का स्थान है वा महान् है। याज्ञवल्क्य ने कहा—जैसा मातृमान्, पितृमान् और आचार्यवान् कहे वैसा ही उस शाकल्य ने कहा कि हृदय ही ब्रह्म है। क्योंकि शून्य हृदय का क्या हो? परन्तु तुझको उसने उसका आयतन, प्रतिष्ठा भी कहा? उसने कहा—मुझको नहीं बताया। याज्ञवल्क्य ने कहा—राजन्! यह ज्ञान एक पाद ही है। उसने कहा—याज्ञवल्क्य! वह ही हमको कहो। वह बोला—हृदय ही स्थान है, आकाश प्रतिष्ठा है, इसको स्थित जान कर आराधे। उसने कहा—हे याज्ञवल्क्य! कौन

स्थिरता है ? वह बोला—राजन् ! हृदय ही स्थिरता है। हृदय में ही भक्ति, श्रद्धा विश्वास, निर्भयतादि स्थिर भाव रहते हैं। हे राजन् ! हृदय ही सब प्राणियों का स्थान है, हे राजन् ! हृदय ही सारे प्राणियों की प्रतिष्ठा है। हे राजन् ! हृदय में ही सब प्राणी रहते हैं। इस कारण, हे राजन् ! हृदय ही परम ब्रह्म है। हृदय ही हरिमन्दिर है। जिन जिन अङ्गों में मनोवृत्ति की स्फूर्ति, स्थिरता और एकाग्रता होती है और जिन इन्द्रियों द्वारा परमात्मपूजन किया जाता है, ऊपर के पाठ में, उनको ब्रह्म तथा महान् बताया गया है।

दूसरा ब्राह्मण

जनको ह वैदेहः कूर्चादुपावसर्पन्नुवाच—नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्यानु मा शाधीति। स होवाच—यथा वै सम्राण् ! महान्तमध्वानमेष्यन् रथं वा नावं वा समाददीतैवमेवैताभिरुपनिषद्भिः समाहितात्माऽसि। एवं वृन्दारक आढ्यः सन्नधीतवेद उक्तोपनिषत्क इतो विमुच्यमानः क्व गमिष्यसीति ? नाहं तद् भगवन् ! वेद यत्र गमिष्यामीति। अथ वै तेऽहं तद्वक्ष्यामि यत्र गमिष्यसीति। ब्रवीतु भगवानिति ॥१॥

यह ऐतिहासिक वार्ता है—एकदा विदेह देश का राजा जनक सिंहासन से उठ कर महात्मा याज्ञवल्क्य को बोला—हे याज्ञवल्क्य ! तुझे नमस्कार हो। मुझको अनुशाधि—शिक्षा प्रदान कर, मुझे उपदेश दे। वह मुनि बोला—सम्राट् ! जैसे ही कोई जन, स्थलमय किसी लम्बे मार्ग को जाता हुआ रथ को वा नौका को आश्रय रूप से लेवे ऐसे ही तू इन उपनिषदों से युक्तात्मा है—तू उपनिषदों के ज्ञान से परिपूर्ण है। और ऐसा पूज्य तथा धनाढ्य होता हुआ तू वेदाध्ययनकर्ता और गुरुजनों द्वारा उपनिषद्-उपदिष्ट है। तू यह बता कि यहां से मर कर कहां जायगा ? जनक ने कहा—भगवन् ! जहां जाऊंगा वह मैं नहीं जानता। याज्ञवल्क्य ने कहा—राजन् ! निश्चय, अब मैं वह तुझे कहूंगा—जहां तू जायगा। जनक ने कहा—भगवान् कहें।

इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषस्तं वा एतमिन्धं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेणैव। परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः ॥२॥

याज्ञवल्क्य ने कहा—जो यह दाहिनी आंख में पुरुष है निश्चय यह इन्ध—दीप्तनामवान् है—इसको इन्ध कहा गया है। उसको ही इसको इन्ध होते हुए परोक्ष से ही इन्द्र ऐसा कहते हैं। निश्चय, देव परोक्षप्रिय—परोक्ष से प्रेम करने वाले ही होते हैं और प्रत्यक्ष के द्वेषी होते हैं। देवजन अपने ध्यान, जप को प्रकट नहीं करते, रहस्यज्ञान को भी गुप्त रखते हैं। आंख में पुरुष से तात्पर्य नेत्रस्थ आत्मा है।

अथैतद्वामेऽक्षणि पुरुषरूपमेषाऽस्य पत्नी विराट्, तयोरेष संस्तावो य एषोऽन्तर्हृदय आकाशोऽथैनयोरेतदन्नं य एषोऽन्तर्हृदये लोहितपिण्डोऽथैनयोरेतत्प्रावरणं यदेतदन्तर्हृदये जालकमिवाऽथैनयोरेषा सृतिः संचरणी यैषा हृदयादूर्ध्वा नाड्युच्चरति । यथा केशः सहस्रधा भिन्न एवमस्यैता हिता नाम नाड्योऽन्तर्हृदये प्रतिष्ठिता भवन्ति । एताभिर्वा एतदास्रवदास्रवति, तस्मादेष प्रविविक्ताहारतर इवैव भवत्यस्माच्छारीरादात्मनः ॥३॥

और जो यह बांई आंख में पुरुषरूप है—वाम नेत्र में आत्म-प्रकाश है, इस आत्मा की यह विराट् पालन करने वाली शक्ति है, वाम मस्तक में मानस शक्ति की विशेष स्फूर्ति होती है। जो यह भीतर हृदय में आकाश है—आत्मस्थान है, यह दक्षिण और वाम आत्म-सत्ता का संगम-स्थान है। जो यह भीतर हृदय में मांसमय लाल पिण्ड है, यह इन शक्तियों का अन्न है—उससे दक्षिण-वाम शक्तियों को पोषण प्राप्त होता है। और जो यह भीतर हृदय में—नाभिचक्र में जालवत् झिल्ली है यह इनका आच्छादन है—इस वस्त्र में आत्मसत्ता सोई पड़ी है। और जो यह हृदय से ऊपर नाड़ी सुषुम्णा उठ कर जाती है यह दक्षिण-वाम शक्तियों का विचरण मार्ग है; इस नाड़ी द्वारा मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक आत्मसत्ता विस्तृत है। जैसे केश सहस्र प्रकार से कांटा हुआ अतिसूक्ष्म हो जाता है ऐसी ही सूक्ष्म, इस देह की ये हिता नाम नाड़ियां, भीतर हृदय में प्रतिष्ठित हो रही हैं। इनसे ही यह अन्न का रस सारे देह में बहता हुआ पहुंचता है। इसी कारण यह मनुष्य अपने इस स्थूल शरीर से स्थूलाहार की अपेक्षा नाड़ी—आहार में, शुद्धाहार वाला ही मानो होता है।

तस्य प्राची दिक् प्राञ्चः प्राणा दक्षिणा दिग् दक्षिणे प्राणाः, प्रतीची दिक् प्रत्यञ्चः प्राणा उदीची दिगुदञ्चः प्राणा ऊर्ध्वा दिगूर्ध्वाः प्राणा अवाची दिगवाञ्चः प्राणाः, सर्वाः दिशः सर्वे प्राणाः । स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते, न रिष्यति । अभयं वै जनक ! प्राप्तोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः ! स होवाच जनको वैदेहोऽभयं त्वा गच्छताद् याज्ञवल्क्य ! यो नो भगवन्नभयं वेदयसे, नमस्तेऽस्त्विमे विदेहा अयमहमस्मि ॥४॥

उस आत्मा के पूर्व को—संमुख जाने वाले प्राण पूर्व दिशा है, दाहिनी ओर के प्राण दक्षिण दिशा है, पश्चिम को—पीठ को जाने वाले प्राण पश्चिम दिशा है, उत्तर को जाने वाले प्राण उत्तर दिशा है, ऊपर के प्राण ऊर्ध्वा दिशा है, नीचे को जाने वाले प्राण अधो दिशा है, सब प्राण सब दिशाएं हैं। यह देह प्राणमय है, आत्मा इससे भिन्न है।

वह यह आत्मा 'नहीं ऐसा, नहीं ऐसा' करके जाना जाता है, प्राणादि आत्मा नहीं है इस विवेक से जाना जाता है। वास्तव में आत्मा ग्रहण करने अयोग्य है क्योंकि इन्द्रियों से नहीं ग्रहण किया जा सकता, अक्षय है क्योंकि नहीं क्षय किया जा सकता, स्वभाव से पाप—लेप रहित है क्योंकि वह नहीं आसक्त होता। वह यह आत्मा स्वरूप से बन्धनरहित है, नहीं दुःखी होता और नहीं मरता। हे जनक! निश्चय तू अभय—मुक्ति को प्राप्त हो गया है, तू अब जन्मान्तर में नहीं जायगा। यह सुन कर वह विदेह देश का राजा जनक बोला—हे याज्ञवल्क्य! तुझको अभय पद प्राप्त हो; भगवन्! जो तू हमको अभय पद सिखाता है उस तुझको नमस्कार हो। ये विदेह देश आपकी भेंट हैं और यह मैं आपके चरणों में समर्पित हूं।

इस पाठ में प्राणों से तात्पर्य देहगत जीवन से है। मज्जा-तन्तुजाल में तथा सर्वावयवों में जो जीवन-शक्ति है। उसे ही यहां प्राण कहा है। यह आत्मा नहीं है। जो इन प्राणों का आधार, प्राणों का प्राण है वह आत्मा है। वह विवेक से जाना जाता है।

तीसरा ब्राह्मण

जनकं ह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम। स मेने न वदिष्य इति। अथ ह यज्जनकश्च वैदेहो याज्ञवल्क्यश्चाग्निहोत्रे समूदाते। तस्मै ह याज्ञवल्क्यो वरं ददौ। स ह कामप्रश्नमेव वव्रे, तं हास्मै ददौ। तं ह सम्राडेव पूर्वं पप्रच्छ ॥१॥

यह ऐतिहासिक प्रसङ्ग है कि एकदा विदेह देश के राजा जनक के पास याज्ञवल्क्य गया। उस याज्ञवल्क्य ने विचारा कि मैं रहस्य-वार्ता नहीं कहूंगा। तदनन्तर विदेह देश का राजा जनक और याज्ञवल्क्य जब मिल कर अग्निहोत्र-स्थान पर गये तो परस्पर कर्म-काण्ड का संवाद करने लगे। ज्ञानचर्चा से प्रसन्न हो उसको याज्ञवल्क्य ने वरदान दिया। उस जनक ने यथेष्ट प्रश्न पूछना ही वरा। उसको वह ही उसने प्रदान किया। तब उस याज्ञवल्क्य को महाराजा ने ही पहले प्रश्न पूछा।

याज्ञवल्क्य! किंज्योतिरयं पुरुष इति? आदित्यज्योतिः सम्राडिति होवाचादित्येनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते, पल्ययते, कर्म कुरुते विपल्येतीति। एवमेवैतद्याज्ञवल्क्य! ॥२॥

हे याज्ञवल्क्य! यह पुरुष—देहनगरी में प्रसुप्त आत्मा किस ज्योति वाला है, इसका प्रकाश क्या है? उसने उत्तर में कहा—राजन्! यह पुरुष आदित्य ज्योति वाला है, क्योंकि सूर्य के प्रकाश से ही यह पुरुष स्थान देख कर बैठता है, कार्यक्षेत्र में जाता है, वहां कर्म करता है और स्वस्थान को लौट आता है। यह सुन कर जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! यह ऐसा ही है।

अस्तमित आदित्ये, याज्ञवल्क्य ! किंज्योतिरेवायं पुरुष इति ? चन्द्रमा एवास्य ज्योतिर्भवतीति । चन्द्रमसैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते, पल्ययते, कर्म कुरुते विपल्येतीति । एवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ! ॥३॥ अस्तमित आदित्ये, याज्ञवल्क्य ! चन्द्रमस्यस्तमिते, किंज्योतिरेवायं पुरुष इति ? अग्निरेवास्य ज्योतिर्भवतीति । अग्निनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते, पल्ययते, कर्म कुरुते, विपल्येतीति । एवमेवैतद्याज्ञ-वल्क्य ! ॥४॥

फिर जनक ने पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! सूर्य के अस्त हो जाने पर यह पुरुष, निश्चय किस ज्योति वाला होता है ? उसने कहा—उस समय चन्द्रमा ही इस की ज्योति होती है। क्योंकि चन्द्रमा की ज्योति से ही यह बैठता है, जाता है, कर्म करता है और पीछे लौट आता है। राजा ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! यह ऐसा ही है। जनक ने फिर पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! सूर्य के अस्त हो जाने पर, चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर यह पुरुष किस ज्योति वाला होता है ? उसने उत्तर दिया—अग्नि ही इसकी ज्योति होती है। अग्निरूप ज्योति से ही यह बैठता है, जाता है, कर्म करता है और पीछे आ जाता है। राजा ने कहा—याज्ञवल्क्य ! यह ऐसा ही है।

अस्तमित आदित्ये, याज्ञवल्क्य ! चन्द्रमस्यस्तमिते, शान्तेऽग्नौ, किंज्योति-रेवायं पुरुष इति ! वागेवास्य ज्योतिर्भवतीति । वाचैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते, पल्ययते, कर्म कुरुते, विपल्येतीति । तस्माद्वै सम्राडपि यत्र स्वः पाणिर्न विनिर्ज्ञायतेऽथ यत्र वागुच्चरत्युपैव तत्र न्येतीति । एवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ! ॥५॥

फिर जनक ने पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! सूर्य के अस्त हो जाने पर, चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर और अग्नि के शान्त हो जाने पर यह पुरुष किस ज्योति वाला होता है ? उसने उत्तर दिया—उस समय वाणी ही इसकी ज्योति होती है। यह वाणी-रूप ज्योति से ही बैठता है, जाता है, कर्म करता है और कार्य करके पीछे आ जाता है। इस कारण ही राजन् ! जिस अन्धकारावस्था में अपना हाथ भी नहीं जाना जाता—नहीं दीखता, तब जहां कोई, वाणी बोलता है—पुकारता है, मनुष्य वहीं समीप चला जाता है। राजा ने कहा—हे याज्ञवल्क्य यह ऐसा ही है।

अस्तमित आदित्ये, याज्ञवल्क्य ! चन्द्रमस्यस्तमिते, शान्तेऽग्नौ, शान्तायां वाचि, किंज्योतिरेवायं पुरुष इति ? आत्मैवास्य ज्योतिर्भवतीति । आत्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते, पल्ययते, कर्म कुरुते, विपल्येतीति ॥६॥

जनक ने पुनः पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! सूर्य, चांद के अस्त हो जाने पर, अग्नि और वाणी के शान्त हो जाने पर, इस पुरुष का क्या प्रकाश होता है ? उसने उत्तर

दिया—बाहर के प्रकाशाभाव के समय आत्मा ही इसकी ज्योति होता है, ज्ञानस्वरूप होने से आत्मा स्वतःप्रकाशरूप है। यह आत्मरूप ज्योति से ही—अपने स्वाभाविक ज्ञान से ही बैठता है, जाता है, कर्म करता है और लौट आता है। वास्तव में आत्मा की ज्योति, आत्मा का अपना ज्ञानमय स्वरूप ही है। आत्मा प्रकाशमय है, अन्य का प्रकाशक है।

कतम आत्मेति ? योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु, हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः। स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव। स हि स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणि ॥७॥

जनक ने पूछा—भगवन्! आत्मा कौन है ? उसने उत्तर दिया—जो यह विशेष चैतन्य, ज्ञानमय है, जो प्राणों में चेतन है, जो हृदय में जीवन है जो अन्तःकरण में प्रकाश है और जो सारे शरीर में विद्यमान है वह ही आत्मा है। वह पुण्य-पाप में समान हुआ हुआ—रमा हुआ, दोनों लोकों को चाहता हुआ सा ललचाता हुआ सा जन्म-जन्मान्तरों में विचरता है। वह ही, कर्मनाश करके, स्वप्न हो कर—समाधि में स्थिरता पाकर, इस बन्धमय लोक को लांघ जाता है और मृत्यु के रूपों को जन्मान्तरों को अतिक्रमण कर जाता है।

स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसंपद्यमानः पाप्मभिः संसृज्यते, स उत्क्रामन्म्रियमाणः पाप्मनो विजहाति ॥८॥

वह ही यह आत्मा कर्मवश जन्म लेता हुआ और शरीर को प्राप्त होता हुआ पापों से लिप्त हो जाता है; जन्मधारण करने पर पापकर्म से संयुक्त हो जाता है। फिर वह ही आत्मा ज्ञान से मरता हुआ और ऊंची गति को जाता हुआ पापकर्म को सर्वथा त्याग देता है। जन्मधारी से—सशरीर से ही, रागद्वेषवश पापकर्म होता है।

तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत इदं च परलोकस्थानं च, सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्। तस्मिन्सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यति, इदं च परलोकस्थानं च। अथ यथाक्रमोऽयं परलोकस्थाने भवति, तमाक्रममा-क्रम्योभयान्पाप्मन आनन्दांश्च पश्यति। स यत्र प्रस्वपित्यस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय, स्वयं विहत्य, स्वयं निर्माय, स्वेन भासा, स्वेन ज्योतिषा, प्रस्वपिति। अत्रायं ज्योतिर्भवति ॥९॥

उस इस पुरुष के दो ही स्थान होते हैं—बद्धावस्था में आत्मा के दो ही लोक होते हैं। एक तो यह लोक और दूसरा परलोक। तीसरा मध्य में स्वप्नस्थान है—

समाधिवत् दैवी जीवन है। उस मध्य के स्थान में रहता हुआ आत्मा इन दोनों स्थानों को देखता है, इस स्थान को और परलोक स्थान को। अर्थात् उसे जन्मान्तरों का ज्ञान हो जाता है। और यह आत्मा जिस कर्मक्रम वाला होकर परलोक स्थान में होता है उस कर्मक्रम को लांघ कर तीसरे स्थान में पापों और आनन्दों दोनों को देखता है—दैवी अवस्था में शुभाशुभ कर्म का द्रष्टा हो जाता है। वह आत्मा जिस निर्बन्ध अवस्था में अपने स्वरूप में लीन होता है तब इस सर्ववान् लोक की एक मात्रा—अंश को ले कर—संपूर्ण जगत् के एकांश में रह कर, स्वयं कर्मनाश कर, स्वयं अपनी मुक्ति निर्माण कर, अपनी स्वरूपशोभा से और अपनी ज्योति से, स्वरूप में मग्न हो जाता है। इस अवस्था में यह आत्मा ज्योतिर्मय होता है।

न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति। अथ रथान् रथयोगान्पथः सृजते। न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्त्यथानन्दान् मुदः प्रमुदः सृजते। न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान्पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते। स हि कर्ता ॥१०॥

उस ब्राह्मी अवस्था में न रथ होते हैं, न रथों में युक्त होने वाले अश्वादि होते हैं और न ही मार्ग होते हैं। परन्तु वह ज्योतिर्मय पुरुष रथों को, रथयोगों को और मार्गों को संकल्प से रच लेता है। वहां न सुखमय साधन होते हैं, न हर्ष होते हैं, न विशेष हर्ष होते हैं। परन्तु वह आनन्दों को, हर्ष को, विशेष हर्ष को रच लेता है। वहां न सरोवर होते हैं, न तालाब होते हैं, न नदियां होती हैं। परन्तु वह स्वसंकल्प से, सरोवरों को, तालाबों को और नदियों को रच लेता है। उस अवस्था में वह ही आत्मा कर्ता होता है। सूक्ष्म अवस्था में संकल्प से आकार बन जाते हैं। ऊपर के वर्णन में यह लोक, परलोक, दैवी जीवन और मुक्तावस्था का निरूपण है।

तदेते श्लोका भवन्ति। स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्यासुप्तः सुप्तानभिचाकशीति।
शुक्रमादाय पुनरैति स्थानं, हिरण्मयः पुरुष एकहंसः ॥११॥

उस विषय पर ये श्लोक हैं—वह आत्मा समाधि—देव जीवन से शरीर के भावों को त्याग कर न सोता हुआ, सोए हुए देहादिकों को देखता है। फिर जन्म के कारण तेज को ले कर इस लोक-परलोकरूप स्थान को प्राप्त होता है। निर्बन्ध आत्मा तो तेजोमय पुरुष एकहंस—निर्द्वन्द्व स्वतन्त्र होता है।

प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा।
स ईयतेऽमृतो यत्र कामं हिरण्मयः पुरुष एकहंसः ॥१२॥

वह हंस निकृष्ट—मानवदेहरूप घोंसले को प्राण से पालता हुआ रहता है। वह जब अमृत हो जाता है तो घोंसले से बाहर विचर कर वह अविनाशी, प्रकाशमय, सर्वथा स्वतन्त्र आत्मा जहां चाहे वहीं पहुंच जाता है। मुक्त आत्मा के लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं रहता।

स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि।
उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन् ॥१३॥

स्वप्नावस्था में ऊंचे देवादि और नीचे पशु आदि भावों को प्राप्त होता हुआ देव—आत्मा, बहुत रूपों को रच लेता है। तथा स्त्रियों के साथ हर्ष मनाता हुआ सा और मित्रों के साथ हंसता हुआ सा, ऐसे ही भयों को देखता हुआ प्रतीत होता है।

आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चनेति। तं नायतं बोधयेदित्याहुः। दुर्भिषज्यं हास्मै भवति यमेष न प्रतिपद्यते। अथो खल्वाहुर्जागरितदेश एवास्यैष इति, यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति तानि सुप्त इति। अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति। सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहीति ॥१४॥

अब स्वप्न-सुषुप्ति-जाग्रतरूप, अवस्था-त्रय का वर्णन करता हुआ ऋषि कहता है—स्वप्न में वा देवजीवन में, इसके आराम को - क्रीडा को ही जन देखते हैं। परन्तु उस आत्मा को कोई भी नहीं देखता। इसी कारण विद्वान् लोग ऐसा कहते हैं कि उस अयत—सोये हुए आत्मा को न जगावे, ऐसा न हो कि सहसा जागने से इसके किसी अङ्ग में चेतना लुप्त हो जाय क्योंकि जिस अङ्ग को यह आत्मा नहीं प्राप्त होता, वह अङ्ग इसके लिए कठिनता से चिकित्सायोग्य हो जाता है। और निश्चय से आत्मवेत्ता यह भी कहते हैं कि स्वप्न में इसकी यह जागृत अवस्था ही होती है, स्वप्न में भी आत्मा जागते के सदृश होता है। क्योंकि जिन वस्तुओं को ही यह जागता हुआ देखता है उनको ही सोया हुआ देखता है। इस अवस्था में यह आत्मा स्वयंप्रकाश होता है। जनक ने कहा —वह मैं भगवान् को एक सहस्र गायें देता हूं, मुक्ति के लिए इससे ऊपर उपदेश मुझे कहो।

स वा एष एतस्मिन्संप्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नायैव, स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन

भवति । असङ्गो ह्ययं पुरुष इति । एवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ! सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥१५॥

याज्ञवल्क्य ने कहा—वह ही यह आत्मा इस प्रसन्नता में—सुषुप्ति में, अपने में रमण कर, स्व-स्वरूप में विचरण कर, पुण्य को और पाप को देख कर ही फिर यथा-नियम, स्वप्न के लिए प्रतियोनि—स्वप्नस्थान को जाता है। वह जो कुछ उस अवस्था में देखता है उस दृष्ट से अननुबद्ध होता है—उस में बन्धा हुआ नहीं होता। क्योंकि यह आत्मा वास्तव में असङ्ग है—किसी अवस्था में सक्त नहीं है। जनक ने कहा— हे याज्ञवल्क्य! यह ऐसा ही है। वह मैं भगवान् के लिए एक सहस्र गौएं देता हूं। कल्याण के लिए इससे अधिक उपदेश कहो।

स वा एष एतस्मिन्स्वप्ने रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव। स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवति । असङ्गो ह्ययं पुरुष इति । एवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ! सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥१६॥

वह ही यह आत्मा इस स्वप्न अवस्था में रमण कर, विचरण कर और पुण्य को तथा पाप को देख कर ही—शुभाशुभ को जान कर ही, फिर यथाक्रम, जागरण के लिए जागृत अवस्था को जाता है। वह जो कुछ उस अवस्था में देखता है उस से असक्त ही होता है। क्यों कि यह आत्मा असङ्ग है। जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य यह ऐसा ही है। वह मैं आपको एक सहस्र गौएं देता हूं। कल्याण के लिए इस से अधिक उपदेश कहो।

स वा एष एतस्मिन्बुद्धान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नान्तायैव ॥१७॥

वह ही यह आत्मा इस जागृत अवस्था में रमण कर विचरण कर पुण्य को और पाप को देख कर फिर यथाक्रम स्वप्नावस्था के लिए स्वप्नावस्था को जाता है।

तद्यथा महामत्स्य उभे कूले अनुसंचरति पूर्वं चापरं चैवमेवायं पुरुष एतावुभावन्तावनुसंचरति, स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च ॥१८॥

वह इस पर उदाहरण है, जैसे महामच्छ, स्वतन्त्रता से नदी के दोनों किनारों को विचरता है, पूर्व किनारे को और पश्चिम किनारे को। ऐसे ही यह आत्मा इन दोनों अवस्थाओं को जाता है स्वप्नावस्था को और जागृत अवस्था को। आत्मा अपनी स्वतन्त्रता से अवस्थान्तर को जाता है।

तद्यथाऽस्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य, श्रान्तः संहत्य पक्षौ, संलयायैव ध्रियत एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति । यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति ॥१९॥

अवस्थाओं पर यह भी उदाहरण है—सो जैसे श्येन वा गरुड़ इस विस्तीर्ण आकाश में नाना प्रकार से उड़ कर, थका हुआ दोनों पंक्षों को सिकोड़ कर, घोंसले के लिए ही धारण करता है—घोंसले में जा बैठता है; ऐसे ही यह आत्मा जागृत और स्वप्न में दौड़ता हुआ थक कर विश्राम के लिए, इस अन्तावस्था के लिए—सुषुप्ति के लिए दौड़ता है। उस अन्तावस्था में जाता है जिसे में सोया हुआ किसी भी इच्छित वस्तु को नहीं चाहता, किसी भी स्वप्न को नहीं देखता, सुखसम्पन्न होता है।

ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्यो यथा केशः सहस्रधा भिन्नस्तावताऽणिम्ना तिष्ठन्ति, शुक्लस्य नीलस्य पिङ्गलस्य हरितस्य लोहितस्य पूर्णाः । अथ यत्रैनं घ्नन्तीव जिनन्तीव हस्तीव विच्छायति गर्तमिव पतति । यदेव जाग्रद् भयं पश्यति तदत्राविद्यया मन्यतेऽथ यत्र देव इव राजेवाहमेवेदं सर्वोऽस्मीति मन्यते सोऽस्य परमो लोकः ॥२०॥

वे ही ये इस सशरीरी की हिता नाम नाड़ियां हैं जिन में आत्मसत्ता स्फुरित होती है। जैसे एक केश सहस्र बार काटा हुआ हो जितना उसका खण्ड सूक्ष्म होता है उतनी सूक्ष्म वे हैं। वे श्वेत, नीले, पीले, हरे और लाल रङ्ग वा प्रभाव वाले रस से पूर्ण हैं, उक्त रङ्ग की सूर्यकिरणों से प्रभावित हैं। और जिसे स्वप्नावस्था में इस देही को मानों शत्रु मारते हैं, मानों वश में करते हैं, मानों हस्ती भगा रहा है, मानों गढ़े में गिर रहा है यह सब कुछ जो ही जागृत में भय देही देखता है वह ही इसमें अविद्या से मानता तथा जानता है। और जिसे स्वप्न में देववत् अथवा राजावत् मैं हूं, यह सब ऐश्वर्यस्वरूप मैं हूं ऐसा जानता है इस स्वप्नद्रष्टा का वह परम सुखस्थान है।

अविद्या के कारण देही सुखमय स्वप्न को उत्तम मानता है। देवजीवन में यह ही सम्पत्ति है।

तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माऽभयं रूपम् । तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नाऽऽन्तरम् । एवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नाऽऽन्तरम् । तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाम-मकामं रूपं शोकान्तरम् ॥२१॥

मुक्ति में वह ही, यह इसका, रूप—स्वरूप कामनारहित, पापरहित और निर्भय होता है। सो जैसे कोई विलासी अपनी प्यारी स्त्री से मिला हुआ बाहर के जगत् को कुछ भी नहीं जानता और न अन्यवासनामय आन्तरिक जगत् को जानता है। ऐसे ही यह आत्मा बुद्धिगत आत्मा में लीन हुआ बाहर के व्यवहार को कुछ भी नहीं जानता और न वासनामय आन्तरिक को जानता है; वह ज्ञानावस्था में स्व-स्वरूप-सम्पन्न होता है। वह ही इसका यह स्वरूप प्राप्त-मनोरथ, आत्मकाम आत्मानन्द कामनारहित और शोकशून्य है।

स्वप्नावस्था देव अवस्था सदृश है और सुषुप्ति मुक्तिसदृश है। सुषुप्ति में आत्मा अज्ञानावस्था में होता है और मुक्ति में पूर्णतया प्रबुद्ध माना गया है।

अत्र पिताऽपिता भवति, माताऽमाता, लोका अलोका देवा अदेवा वेदा अवेदाः। अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति, भ्रूणहाऽभ्रूणहा, चाण्डालोऽचाण्डालः, पौल्कसोऽपौल्कसः, श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापसोऽनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन, तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान् हृदयस्य भवति ॥२२॥

इस अवस्था में पिता अपिता हो जाता है, माता अमाता हो जाती है, संबन्ध-मात्र का बोध नहीं रहता; कर्मभोग-स्थान लोक, लोक नहीं रहते, देव अदेव हो जाते हैं और स्मृति शान्त हो जाने से वेद अवेद हो जाते हैं। इस अवस्था में चोर चोर नहीं रहता, घोर हत्यारा हत्यारा नहीं रहता, नीचकर्मी अनीच हो जाता है, दोगला दोगला नहीं रहता, संन्यासी असंन्यासी हो जाता है, तापस अतापस हो जाता है; उस अवस्था में पुण्यकर्म से असंबद्ध होता है, और पाप से भी असंबद्ध होता है; कर्म-फलों का ज्ञान उस में नहीं रहता। निश्चय उस समय मुक्त पुरुष हृदय के सारे शोकों को तैरा हुआ होता है।

यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति, न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्। न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत् ॥२३॥

मुक्तावस्था में वह जो ही वस्तु नहीं देखता उस अवस्था में देखता हुआ ही नहीं देखता है, क्योंकि देखने वाले की दर्शनशक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता। दर्शनशक्ति अविनाशी होने से आत्मभाव बना ही रहता है। और उस अवस्था में एक आत्मभाव से भिन्न दूसरा नहीं होता जो द्रष्टा उससे दूसरा भिन्न देखे। सुषुप्ति, समाधि और मुक्ति में आत्मा अपने आप में होता है; प्रपञ्च को देखने की उसमें स्फुरणा ही नहीं होती। परन्तु उसकी चेतना-चन्द्रिका, एकरसता में, पूर्णचन्द्रवत् सदा अखण्ड चमकती रहती है। आत्मभाव का ज्ञान इन्द्रियजन्य ज्ञान से सर्वथा भिन्न होता है।

यद्वै तन्न जिघ्रति जिघ्रन्वै तन्न जिघ्रति, न हि घ्रातुर्घ्रातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात् । न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यज्जिघ्रेत् ॥२४॥ यद्वै तन्न रसयते रसयन्वै तन्न रसयते, न हि रसयितू रसयतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात् । न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्रसयेत् ॥२५॥

उस अवस्था में वह जो ही गन्ध नहीं सूंघता उस में सूंघता हुआ "ही नहीं सूंघता, क्योंकि घ्राता की घ्राणशक्ति का सर्वथा लोप नहीं है"; अविनाशी होने से शक्ति बनी ही रहती है। और उसमें दूसरा नहीं है जो उससे दूसरे भिन्न को सूंघे। उस अवस्था में वह जो ही वस्तु नहीं स्वादन करता उसमें स्वाद लेता हुआ ही नहीं स्वाद लेता क्योंकि रसज्ञान अविनाशी होने से रस लेने वाले की स्वादज्ञान शक्ति का सर्वथा लोप नहीं होती। और उसमें दूसरा नहीं है जो उससे दूसरे भिन्न को आस्वादन करे।

मुक्ति में विषयवासना का तो अभाव होता है परन्तु आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप होता है।

यद्वै तन्न वदति वदन्वै तन्न वदति, न हि वक्तुर्वक्तेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्। न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्वदेत् ॥२६॥ यद्वै तन्न शृणोति शृण्वन्वै तन्न शृणोति, न हि श्रोतुः श्रुतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात् । न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यच्छृणुयात् ॥२७॥

उसमें वह जो ही वचन नहीं बोलता उसमें बोलता हुआ ही नहीं बोलता, क्योंकि शक्ति अविनाशिनी होने से वक्ता की वचनशक्ति का सर्वथा लोप नहीं है इत्यादि। उसमें जो ही वाक्य वह नहीं सुनता उसमें सुनता हुआ ही नहीं सुनता, क्योंकि श्रवणशक्ति अविनाशिनी होने से श्रोता की श्रवणशक्ति का सर्वथा लोप नहीं है।

यद्वै तन्न मनुते मन्वानो वै तन्न मनुते, न हि मन्तुर्मतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात् । न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यन्मन्वीत ॥२८॥ यद्वै तन्न स्पृशति स्पृशन्वै तन्न स्पृशति, न हि स्प्रष्टुः स्पृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्। न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्स्पृशेत् ॥२९॥ यद्वै तन्न विजानाति विजानन्वै तन्न विजानाति, न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात् । न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात् ॥३०॥

उसमें जो ही विषय वह नहीं मनन करता, मनन करता हुआ ही नहीं मनन करता क्योंकि मननशक्ति अविनाशी होने से मन्ता की मति का सर्वथा लोप नहीं होती। उसमें जो ही वस्तु वह नहीं छूता उसमें छूता हुआ ही नहीं छूता, क्योंकि स्पर्शनशक्ति अविनाशिनी होने से छूने वाले की स्पर्शन शक्ति का सर्वथा लोप नहीं होती। उसमें जो ही विषय वह नहीं जानता उस में जानता हुआ ही नहीं जानता, क्योंकि बोधनशक्ति अविनाशिनी होने से ज्ञाता की ज्ञानशक्ति का सर्वथा लोप नहीं होती। उक्त सर्वशक्तियां आत्मा का स्वरूप ही हैं। इस कारण किसी अवस्था में भी उनका लोप नहीं होता।

यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येदन्योऽन्यज्जिघ्रेदन्योऽन्यद्रसयेदन्योऽन्यद्वदेदन्योऽन्यच्छृणुयादन्योऽन्यन्मन्वीतान्योऽन्यत्स्पृशेदन्योऽन्यद्विजानीयात् ॥३१॥

जिस ही जागरित वा स्वप्नादि अवस्था में अपने से भिन्न ही कोई वस्तु प्रतीत होवे, उस अवस्था में अन्य, अन्य वस्तु देखे; अन्य, अन्य वस्तु को सूंघे, अन्य, अन्य वस्तु का रस लेवे; अन्य, अन्य वचन बोले; अन्य, अन्य शब्द सुने; अन्य, अन्य विषय को मनन करे; अन्य, अन्य पदार्थ को छूए; अन्य, अन्य विषय को जाने; परन्तु जहां एकान्त आत्मभाव वा शून्यावस्था हो वहां दूसरे को देखने आदि का संकल्प ही स्फुरित नहीं होता। मुक्तावस्था में निर्द्वन्द्व, कैवल्य-पद-प्राप्त आत्मा स्वरूप में प्रकाशमान होता है।

सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राडिति। हैनमनुशशास याज्ञवल्क्य एषाऽस्य परमा गतिरेषाऽस्य परमा संपदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्दः। एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ।३२।

ऊपर वर्णित शुद्धात्मा निर्मल जलवत् विशुद्ध, एक—पाप-दोष-रहित, द्रष्टा और स्वगत भेदरहित हो जाता है, मुक्तावस्था में संकल्प-विकल्प-रहित हो जाता है। याज्ञवल्क्य ने कहा—हे राजन्! यह ही ब्रह्मस्थान है, ऐसी अवस्था ही ब्रह्म-धाम है। याज्ञवल्क्य ने इस जनक को उपदेश दिया कि इस आत्मा की यह निर्विकल्प अवस्था ही परम गति है, परम-पद-प्राप्ति है; इसकी यह ही परम सम्पत्ति है, इसका यह ही परम लोक है, इसका यह ही परम आनन्द है। हे राजन्! इसी ही शुद्ध आत्मसत्ता-रूप, आनन्द की मात्रा—अंश को अन्य सारे बद्धजीव भोगते हैं; परमशुद्ध आत्मसत्ता के आंशिक प्रकाश से ही जैवी जगत् जीवित है।

स यो मनुष्याणां राद्धः समृद्धो भवत्यन्येषामधिपतिः सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः

संपन्नतमः, स मनुष्याणां परम आनन्दः । अथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः पितॄणां जितलोकानामानन्दः । अथ ये शतं पितॄणां जितलोकानामानन्दाः स एको गन्धर्वलोक आनन्दः । अथ ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाः स एकः कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसंपद्यन्ते । अथ ये शतं कर्मदेवाना-मानन्दाः स एक आजानदेवानामानन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतः । अथ ये शतमाजानदेवानामानन्दाः स एकः प्रजापतिलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियो-ऽवृजिनोऽकामहतः । अथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः स एको ब्रह्मलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतः । अथैष एव परम आनन्द एष ब्रह्म-लोकः सम्राडिति होवाच याज्ञवल्क्यः । सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति । अत्र ह याज्ञवल्क्यो बिभयांचकार मेधावी राजा सर्वेभ्यो माऽन्तेभ्य उदरौत्सीदिति ॥३३॥

आनन्द की मीमांसा करते हुए ऋषि ने कहा – वह मनुष्य, जो मनुष्यों में सर्व भोगसाधनों से और देह की हृष्टता-पुष्टता संसिद्ध, धनैश्वर्य से समृद्ध, दूसरों का स्वामी, सारे मनुष्यभोगों से संपन्नतम होता है, उसका वह सुख मनुष्यों का परम आनन्द है । और जो मनुष्यों के ऐसे सौ आनन्द हैं उनके बराबर जिन्होंने जन्म जीत लिया है उन जितलोक पितरों का वह एक आनन्द है । और जो जितलोक पितरों के सौ आनन्द हैं गन्धर्वलोक में वह एक आनन्द है । और जो गन्धर्वलोक में सौ आनन्द हैं वह कर्मदेवों का एक आनन्द है; जो कर्म से देवपन को प्राप्त करते हैं वे कर्मदेव हैं । और जो कर्मदेवों के सौ आनन्द हैं वह, आजानदेवों का एक आनन्द है और जो जन वेदवेत्ता, निष्पाप और कामना से हनन नहीं हुआ, उसको भी वही आनन्द है । और जो आजानदेवों के सौ आनन्द हैं; वह प्रजापतिलोक में एक आनन्द है; जो वेदवित् निष्पाप और निष्काम है उसका वह ही आनन्द है । और जो प्रजापतिलोक में सौ आनन्द हैं वह ब्रह्मलोक में वह आनन्द है और जो जन देववित् निष्पाप तथा जितकाम है उसको भी वह ही आनन्द प्राप्त है । तब याज्ञवल्क्य ने कहा– हे राजन् ! वह ही ब्रह्मलोकसंबन्धी आनन्द परम आनन्द है, यह आनन्द ही ब्रह्म-लोक है । यह सुन कर जनक ने कहा—वह जिज्ञासु मैं भगवान् को सहस्र गायें देता हूं; कृपया इससे ऊपर—अधिक उपदेश मुक्ति के लिए मुझको कहो । यहां आकर याज्ञ-वल्क्य डर गया कि बुद्धिशाली राजा ने मुझको सब प्रश्ननिर्णयों से—सब तत्त्वनिर्णय प्राप्त करके भी, फिर कहने के लिए अनुरोध किया । यह तो ज्ञान की पराकाष्ठा है ।

मुक्ति के आनन्द और परम शुद्ध प्रकाशमान स्वरूप से अधिक ज्ञान पूछना विषयान्तर ही है ।

स वा एष एतस्मिन्स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव ॥३४॥

जन्मान्तरगमन तथा निर्वाणगमन का अवतरण करता हुआ ऋषि बोला—वह ही यह बद्धजीव इस स्वप्नावस्था में रमण कर, विचरण कर और पुण्य को तथा पाप को देख कर ही, फिर यथानियम जाग्रद् अवस्था के लिए ही स्थान स्थान को दौड़ता है, ऐसे ही जन्मान्तर अवस्था को जाता है । जाग्रत् आदि अवस्थावत् जन्मान्तर भी अवस्था ही है ।

तद्यथाऽनः सुसमाहितमुत्सर्जद्यायादेवमेवायं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढ उत्सर्जन्याति; यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति ॥३५॥

परलोकगमन पर वह प्रसिद्ध दृष्टान्त है—जैसे बोझे से भली भान्ति भरा हुआ छकड़ा खड़-खड़ नाद करता हुआ जाय, ऐसे ही यह शरीरगत आत्मा मरण समय अपने ज्ञानमय आत्मा से वासना-आरूढ होकर शब्द करता हुआ जाता है, उस समय जाता है जिस काल में यह ऊर्ध्व उच्छ्वास वाला हो जाता है जब लम्बे सांस लेने लग जाता है । पुनर्जन्म को जाता हुआ आत्मा, साक्षी आत्मसत्ता के प्रभाव से प्रयाण करता है ।

स यत्रायमणिमानं न्येति जरया वोपतपता वाऽणिमानं निगच्छति, तद्यथाऽऽम्रं वोदुम्बरं वा पिप्पलं वा बन्धनात्प्रमुच्यत एवमेवायं पुरुष एभ्योऽङ्गेभ्यः संप्रमुच्य पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति प्राणायैव ॥३६॥

वह यह शारीरी जिस अवस्था में बुढ़ापे से कृशता को प्राप्त होता है अथवा उपताप—ज्वरादिरोग से दुर्बलता को प्राप्त होता है उस समय सो जैसे पका हुआ आम वा गूलर अथवा पीपलफल बन्धन—डंठल से गिरता है ऐसे ही यह आत्मा इन शरीरावयवों से छूट कर फिर यथानियम जीवन के लिए ही जन्मान्तर—जन्मस्थान को दौड़ता है । आयुसमाप्ति पर कर्मानुसार पुनर्जन्म धारण करता है ।

तद्यथा राजानमायन्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽन्नैः पानैरावसथैः प्रतिकल्पन्तेऽयमायात्ययमागच्छतीति, एवं हैवंविदं सर्वाणि भूतानि प्रतिकल्पन्त इदं ब्रह्मायातीदमागच्छतीति ॥३७॥

श्रेष्ठतर जन्म में आने वाले के लिए वह प्रसिद्ध दृष्टान्त है—जैसे आते हुए राजा को—उग्र—सेनापति लोग, एन—पाप वालों को शासन करने वाले अधिकारी वर्ग, भाट और ग्रामनेता जन, यह कहते हुए—यह राजा आता है यह आता है भोज्यपदार्थों से, जलों से और उतारे के प्रसादों से सत्कृत करते हैं ऐसे ही ऐसा जानने वाले तत्त्वज्ञ को; यह ब्रह्मवित् आरहा है यह आरहा है कहते हुए सब प्राणी देवजन सत्कृत करते हैं। उत्तम कर्मों का जन्मान्तर में समादर होता है।

तद्यथा राजानं प्रयियासन्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽभिसमायन्त्येवमेवे-
ममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति, यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति ॥३८॥

सो जैसे जाना चाहते हुए राजा के संमुख सेनापतिजन, शासकवर्ग, सूत और ग्राम के नेता लोग, संमान से आते हैं, ऐसे ही मरणकाल में इस आत्मा के संमुख सब प्राण सर्वथा आजाते हैं। मरणकाल में दर्शन श्रवण आदि शक्तियां आत्मा में एकीभूत हो जाती है। मरणकाल वह है जिस में यह शरीरी लम्बे उच्छ्वास वाला होता है। मरणकाल में इन्द्रियों में काम करने वाली चेतना आत्मा में लीन हो जाती है और स्थूल शरीर की जीवनज्योति सूक्ष्मशरीर में समाविष्ट हो जाती है।

चौथा ब्राह्मण

स यत्रायमात्माऽबल्यं न्येत्य संमोहमिव न्येत्यथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति। स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति। स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ् पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति ॥१॥

किस अवस्था में प्राण आत्मा में एकीभूत होजाते हैं यह चौथे ब्राह्मण में ऋषि ने कहा—वह यह आत्मा जिस मरणकाल में दुर्बलता को अतिशय से प्राप्त होकर अतिसंमूढभाव को मानो प्राप्त होता है उस समय इसको ये प्राण सर्वथा आ मिलते हैं; उस समय सर्व शक्तियां आत्मभाव में आजाती हैं। वह मरणाभिमुखी आत्मा ये दर्शनादि प्रकाश—ज्ञानांश सम्यक् प्रकार से लेता हुआ हृदय को ही—चित्त को ही जाता है; चित्त में शान्त होता है। जिस अवस्था में वह यह म्रियमाण, आंख में रहने वाला आत्मा बाह्य विषयों से पीछे लौटता है उस अवस्था में अरूपज्ञ—रूप का न जानने वाला हो जाता है। जिनसे रूपादि विषय मिने, तोले वा जाने जायें वह चक्षु आदि करण यहां मात्रा कहे गये हैं।

एकीभवति न पश्यतीत्याहुरेकीभवति न जिघ्रतीत्याहुरेकीभवति न

रसयत इत्याहुरेकीभवति न वदतीत्याहुरेकीभवति न शृणोतीत्याहुरेकी-भवति न मनुत इत्याहुरेकीभवति न स्पृशतीत्याहुरेकीभवति न विजाना-तीत्याहुः । तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते, तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः, तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति, प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति । सविज्ञानो भवति, सविज्ञानमेवान्व-वक्रामति । तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च ॥२॥

मरणकाल में इसका दर्शनज्ञान आत्मा में एकीभूत होजाता है इस कारण ज्ञानी कहते हैं कि यह नहीं देखता, घ्राणज ज्ञान एकीभूत होजाता है इसलिए कहते हैं नहीं सूंघता, रसज्ञान एकीभूत होजाता है इस लिए कहते है नहीं रस लेता, कथनज्ञान एकी-भूत होजाता है इसलिए कहते हैं नहीं बोलता, श्रोत्रजन्यज्ञान एकीभूत होजाता है इस लिए कहते हैं नहीं सुनता, मननज्ञान एकीभूत हो जाता है इसलिए कहते हैं नहीं मनन करता; स्पर्शज्ञान एकीभूत होजाता है इसलिए कहते हैं नहीं छूता, बुद्धिगत ज्ञान आत्मा में एकीभूत होजाता है इसलिए कहते हैं कि यह अब नहीं जानता। उस मरण-कालीन मूर्च्छा के समय, उस इस परलोकगमन करने वाले आत्मा के हृदय—चित्त का अग्रभाग—शुद्धस्वरूप विशेषता से प्रकाशमान होजाता है—आत्मा का स्वाभाविक ज्ञान जग जाता है। उस प्रकाश से यह आत्मा, आंख से वा मुख से अथवा अन्य शरीरावयवों से देह से बाहर निकलता है। उस निकलते हुए के पीछे मुख्यवृत्ति अहंभाव तथा देह में रहने का भाव बाहर निकल जाता है, अहंभाव निकलते हुए के साथ सर्व इन्द्रियगत शक्तियां बाहर निकल जाती हैं। उस समय वह आत्मा ज्ञान-सहित होता है, मूर्च्छित नहीं होता। वह ज्ञानसहित ही जाता है। उस प्रयाण करते हुए को विद्या और कर्म ये दोनों मिलते हैं, उसके साथ ज्ञानसंस्कार और शुभाशुभकर्म संस्कार ही जाते हैं। और तीसरी पहली बुद्धि—जन्मजन्मान्तर की उपार्जित धार्मिक वृत्ति साथ जाती है।

तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरत्ये-वमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुप-संहरति ॥३॥

एक देह से दूसरे लोक में जाने का यह दृष्टान्त है—तो जैसे तृणजलायुका नाम कीड़ा एक तृण के किनारे पर पहुंच कर दूसरे सहारे को पाकर—पकड़ कर फिर अपने आप को उस पर लाता है, ऐसे ही यह आत्मा इस शरीर को छोड़ कर, धन बन्धु आदिकों

की ममता अथवा मरणकालीन मूर्च्छा को दूर कर, दूसरे पहुंचने के लोक को अवलम्बन करके, वहां अपने आप को ले जाता है।

तद्यथा पेशस्करी पेशसो मात्रामपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुत एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वाऽन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते, पित्र्यं वा गान्धर्वं वा, दैवं वा प्राजापत्यं वा, ब्राह्मं वाऽन्येषां वा भूतानाम् ॥४॥

परलोक में आत्मा अपने देह को अथवा जन्म को जैसे बनाता है इस पर यह प्रसिद्ध दृष्टान्त है—जैसे सुवर्णकार सोने की मात्रा को लेकर उससे दूसरा अतिनूतन और अतिशय सुन्दर सुरूप रचता है, सुन्दर आभूषणादि बनाता है, ऐसे ही यह आत्मा इस शरीर को निश्चेष्ट बना कर अविद्या को दूर करके, जन्मान्तर में दूसरे नवीनतर और कल्याणतर रूप—देह को रचता है। उस पुण्यकर्मी का सुखतर स्वरूप पितरसंबन्धी, गन्धर्वों का, देवसंबन्धी, प्रजापत्य वा ब्रह्मज्ञानसंबन्धी होता है, अथवा निकृष्टकर्मी का आकार अन्य अधम प्राणियों का होता है। यथाकर्म परलोक में देहादि आकार प्रकार होता है।

स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयो-ऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयस्तद्यदेतदिदंमयो-ऽदोमय इति। यथाकारी यथाचारी तथा भवति, साधुकारी साधुर्भवति। पाप-कारी पापो भवति। पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन। अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति। स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति। यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते ॥५॥

वह ही जन्म-जन्मान्तर में जाने वाला यह आत्मा ब्रह्मवित् है, बुद्धिमय है, मनो-मय है, प्राणमय है, नेत्रमय है, श्रोत्रमय है अर्थात् उक्त सब ज्ञान आत्मा का स्वरूप है। शरीर आत्मा देहाध्यास से पृथिवीमय है, जलमय है, वायुमय है, आकाशमय है, तेजोमय और अतेजोमय है, पांच भूतों के शरीर में, अविद्यावश तन्मय हो जाता है और अतेजोमय कहने से तद्रूप नहीं भी होता, सर्वथा शून्य भी नहीं हो जाता। अतेजो-मय शब्द से अपृथिवीमयादि भी समझना चाहिए। वह कामनामय है, अकामनामय है, क्रोधमय है, अक्रोधमय है, धर्म—शुभकर्ममय है, अशुभकर्ममय है, वह जो यह है वह सर्वमय है, इस लोकसंबन्धी अभिलाषमय है और उस लोकसंबन्धी कामनामय है,

आवेश में क्रोधादिवृत्तिमय होता हुआ भी स्वसत्ता से क्रोधादिकों से भिन्न है। जैसा कर्म करने वाला जैसे आचरण वाला हो वैसा ही हो जाता है, भला कर्म करने वाला श्रेष्ठ हो जाता है और पापकर्मकर्ता पापी हो जाता है। पुण्य कर्म से पवित्र हो जाता है और पाप से पापी हो जाता है। निश्चय और भी पण्डितजन कहते हैं—यह आत्मा इच्छामय ही है। वह जैसी अभिलाषावाला होता है उस संकल्प वा प्रयत्नवाला हो जाता है, जिस संकल्प वा प्रयत्नवाला होता है वह ही कर्म करता है, जो कर्म करता है वह ही फल प्राप्त करता है। कर्मानुसार ही कर्ता को कर्मफल प्राप्त होता है।

तदेष श्लोको भवति—तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य। प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम्। तस्माल्लोकात्पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मण इति नु कामयमानोऽथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति ॥६॥

इस सकाम जीव का लिङ्गशरीररूप मन जिस वासना में वा पदार्थ में विशेष आसक्त होता है वह ही पदार्थ आसक्त जीव, कर्म के साथ प्राप्त करता है। यह इस लोक में जो कुछ कर्म करता है उस कर्म के अन्त को पाकर, उसका फलभोग समाप्त कर उस लोक से कर्म के लिए इस लोक में फिर आता है और कामना करता हुआ आता है। और न कामना करता हुआ जो कामना रहित है, निष्काम है, प्राप्तकाम—तृप्त है और आत्मकाम है, आत्मा ही जिसके सुखानन्द का मनोरथ है, उस जीवनमुक्त के प्राण बाहर नहीं निकलते, वह नहीं मरता। वह तो ब्रह्मवित् ही होकर ब्रह्म को ही प्राप्त होता है।

तदेष श्लोको भवति—यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते, कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति।
तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेतेऽथाय-मशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव। सोऽहं भगवते सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः ॥७॥

इस ब्राह्मी अवस्था पर यह श्लोक है—जो मनोरथ इस के हृदय में आश्रित हैं जब वे सब छूट जाते हैं—इसका चित्त जब निष्काम हो जाता है, तब मरणशील मनुष्य अमृत—अविनाशी हो जाता है। इस निर्लेप अवस्था में ही वह ब्रह्म के आनन्द को प्राप्त करता है इस पर वह प्रसिद्ध दृष्टान्त है—जैसे सांप की केंचुली वल्मीक में निश्चेष्ट, फेंकी हुई सोये—रहे, ऐसे ही मुक्त आत्मा का यह शरीर त्यागा हुआ सोता है।

तदनन्तर यह अशरीर आत्मा, अमृत प्राण—अमृत आत्मा हो जाता है और ब्रह्मवित् तथा तेजोमय ही हो जाता है। यह सुन कर वैदेह जनक ने कहा—यह मैं भगवान् को एक सहस्र गौएं देता हूं।

तदेते श्लोका भवन्ति—अणुः पन्था विततः पुराणो मां स्पृष्टोऽनुवित्तो मयैव।
तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः ॥८॥

उस मोक्ष मार्ग पर ये श्लोक हैं, किसी सन्त के कहे छन्द हैं। अतिसूक्ष्म, सर्वत्र विस्तृत और पुरातन मोक्षपन्थ मुझ को छुआ है—मुझको साक्षात् अनुभव हुआ है, वह मार्ग मैंने ही भली भांति जाना है। ब्रह्मज्ञानी, धीरजन इस देह से ऊपर—अनन्तर सर्वथा मुक्त होकर उसी मार्ग से ही स्वर्ग लोक को जाते हैं, आनन्द का वह ही मार्ग है।

तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितं च।
एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्च ॥९॥

उस मार्ग में अत्यन्त श्वेत तथा आकाशवत् नील, सुवर्णसदृश पिङ्गल, हरित और रक्तवर्ण प्रकाश ध्यानी लोग कहते हैं। यह आदित्य धाम का पन्थ ब्रह्म ने—आत्मवेत्ता ने भली भांति जाना है। आत्मभाव से जो प्रकाश हो वह तेजस् कहा है, उस तेज में जो हो वह तैजस—आत्मस्वरूप है। तैजस, पुण्यकर्मी, ब्रह्मवेत्ता उसी मार्ग से परम पद को प्राप्त होता है।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥१०॥

जो जन केवल नैमित्तिक कर्म को ही साधते हैं—ज्ञान से सर्वथा विमुख हैं वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं, उन को उक्त आत्मिक आदित्य का प्रकाश उपलब्ध नहीं होता। उस से भी बहुतरवत् अन्धकार में वे प्रविष्ट होते हैं जो कर्मकाण्ड और उपासना से विमुख हो कर केवल विद्या में—शास्त्रज्ञान में ही रत हैं।

आत्मिक आदित्य का प्रकाश प्राप्त करने के लिए कर्मोपासना और ज्ञान दोनों सिद्ध करने चाहिएं।

अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वांसोऽबुधो जनाः ॥११॥

कर्मोपासना और ज्ञान से रहित की गति का वर्णन करता हुआ ऋषि कहता है—

जिसमें कुछ भी न सूझे वह अन्ध है ऐसे गाढतर अप्रकाश से घिरे हुए जो लोक—भुवन हैं वे आनन्दरहित—दुःखयुक्त प्रसिद्ध हैं। उन लोकों को वे मनुष्य मर कर जाते हैं जो अविद्वान्, आत्म-परमात्म-तत्त्व में अबुध जन हैं। ज्ञानोपासना तथा कर्म-रहित जनों के जन्म अज्ञानग्रस्त दुःखमय लोकों में होते हैं।

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥१२॥

यह आत्मा मैं हूं, ऐसा यदि अपने आपको मनुष्य जान जाए तो क्या चाहता हुआ और किस फल की कामना के लिए शरीर को तपावे। जिस जन को आत्मा का साक्षात् हो जावे उसको फिर तन तपाने की अवश्यकता नहीं रहती; वह पूर्णकाम हो जाता है।

यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्माऽस्मिन्संदेह्ये गहने प्रविष्टः ।
स विश्वकृत्स हि सर्वस्य कर्ता तस्य लोकः स उ लोक एव ॥१३॥

अग्नि आदि भूतों से जो उपचय किया जाय वह संदेह्य देह है। इस गहन देह में प्रविष्ट हुआ जिसका आत्मा जाना हुआ है, सर्वथा प्रबुद्ध है, वह मुक्तात्मा सर्वकर्म-कृत् है, वह ही सर्व शुभ का कर्ता है, उसका ही मोक्ष लोक है और वह मोक्ष-धाम—आनन्दस्वरूप ही है।

इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं, न चेदवेदिर्महती विनष्टिः ।
ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥१४॥

इस जन्म में ही रहते हुए हम उसे आत्मतत्त्व को जानते हैं; यह ही उत्तम बात है। यदि मैं न जानता तो बड़ी हानि होती, जन्म निष्फल हो जाता। जो उपासक इसी जन्म में उस आत्मतत्त्व को जानते हैं वे अमृत हो जाते हैं और दूसरे अज्ञानी जन दुःखं को ही प्राप्त होते हैं।

यदैतमनुपश्यत्यात्मानं　देवमञ्जसा ।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥१५॥

यस्मादर्वाक्संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते ।
तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ॥१६॥

आत्मज्ञानी जब साक्षात्पन से, इस देव आत्मा को, जो भूत-भविष्यत् का ईश्वर है, देखता है—सब परिवर्तनों के ईश्वर को जानता है, तो फिर उससे नहीं निन्दा करता।

परमात्मा का भक्त परमात्मज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर किसी का निन्दक नहीं रहता। जिस परमेश्वर से, दिन-रातों के साथ वर्षकाल पीछे ही फिरता है, उसको स्पर्श नहीं करता, वह ईश्वर सब ज्योतियों की ज्योति है, विश्वजीवन, अमृत है, उसी को देवजन आराधते हैं।

> यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः ।
> तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥१७॥
> प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः ।
> ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यम् ॥१८॥

जिसमें पांच पांच जन—पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, सजीव जगत् और आकाश स्थिर है, मैं अमर आत्मा उस ही अविनाशी आत्मा को जानता हुआ ब्रह्म मानता हूं। उस प्राण के प्राण को और नेत्र के नेत्र को, तथा श्रोत्र के श्रोत्र को, मन के मन को जो जन जानते हैं, उन्होंने ही सनातन, मुख्य, ब्रह्म को जाना है, विचार और अनुभव से निश्चित किया है।

> मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानाऽस्ति किंचन ।
> मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥१९॥

यह ब्रह्म मन से ही देखने योग्य है, इस ब्रह्म में अनेकपन कुछ भी नहीं है—वह ईश्वर एक है। परन्तु जो मनुष्य ब्रह्मस्वरूप में अनेक ब्रह्म ही देखता है—जो अनेक परमेश्वर मानता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है—मरण से मरण में चक्कर लगाता रहता है।

> एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम् ।
> विरजः पर आकाशादज आत्मा महान्ध्रुवः ॥२०॥
> तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
> नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तदिति ॥२१॥

यह अप्रमेय—अमित निश्चल ब्रह्म एकधा से ही—एकत्व से ही जानना चाहिए। वह पापरजरहित परमेश्वर आकाश से उत्कृष्ट है, अजन्मा है, महान् है और परम स्थिर आत्मा है। धीर ब्राह्मण उस ही भगवान् को जान कर अपनी प्रज्ञा को—धारणा को स्थिर करे—निष्ठा सुनिश्चित बनावे। परमेश्वर में बुद्धि सुस्थिर हो जाने पर अनेक ग्रन्थों और वितर्कों के बहुत शब्दों को न चिन्तन करे। क्योंकि वह वाक्यजाल-चिन्तन केवल वाणी का ग्लानिकर ही है।

स वा एष महानज आत्मा, योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु, य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते । सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः, स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयानेष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय ॥

वह ही यह महान्, अजन्मा—अनुत्पन्न आत्मा है। जो यह इन्द्रियों में विज्ञानमय है—विशेष चैतन्य है। जो यह अन्तर्हृदय में आकाश—अन्तःकरण है उसमें वह सोता है। और जो सब का वशकर्ता है, सब का शासन करने वाला है तथा सब का राजा है। वह भगवान् न तो श्रेष्ठ कर्मों से बड़ा बना है और न ही अशुभ कर्म से छोटा है; ईश्वर का ईश्वरत्व स्वभावसिद्ध सनातन है, शुभाशुभकर्मजन्य नहीं है। यह ही स्वतःसिद्ध सनातन भगवान् सर्वेश्वर है, यह भूतों का राजा है, यह भूतों का रक्षक है तथा इन पृथिवी आदि लोकों के अनाश—न टूटने के लिए यह धारण करने वाला दृढ बाँध है। लोक-लोकान्तर भगवान् के आश्रय में आश्रित हैं।

तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति, यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेनै-तमेव विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति । एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते, किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोक इति । ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति, या ह्येव पुत्रैषणा, सा वित्तैषणा, या वित्तैषणा सा लोकैषणा, उभे ह्येते एषणे एव भवतः ॥

उसी इस परमेश्वर को ब्राह्मण लोग वेदाध्ययन से जानना चाहते हैं, यज्ञ से, दान से, तप से तथा अनशन—उपवास से इस को ही जान कर उपासक मुनि हो जाता है और मोक्षलोक को चाहते हुए संन्यासीजन, इस को ही पहुंचते हैं। निश्चय, यह ही कारण है कि वे पूर्वकाल के ज्ञानीजन सन्तान को नहीं (कामयन्ते स्म) चाहते थे; यह विचारते थे कि जिन का हमारा यह आत्मा और यह मोक्षलोक है वे हम प्रजा से क्या करेंगे। ऐसे वे ही पुत्रकामना से, धनकामना से और लोककामना से ऊपर उठ कर तदनन्तर भिक्षावृत्ति को (चरन्ति स्म) धारण करते थे। जो ही पुत्रकामना है वह धनकामना है, जो धनकामना है वह लोककामना है, ये दोनों कामनाएं ही हैं।

स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति । एतमु हैवैते न तरत इत्यतः पापमकरवमित्यतः कल्याणमकरवमित्युभे उ हैवैष एते तरति, नैनं कृताकृते तपतः ॥२२॥

वह यह आत्मा 'नेति नेति' से जाना हुआ, इन्द्रियों से ग्रहण करने अयोग्य है क्योंकि इन से नहीं ग्रहण किया जाता, अहिंसनीय है क्योंकि नहीं मारा जा सकता, असङ्ग है क्योंकि पाप से नहीं लिप्त होता, बन्धन रहित है, नहीं दुःखी होता और न ही नष्ट होता है। पाप मैंने किया अतः भोगूँगा, मैंने कल्याण कर्म किया इस से सुखी हो जाऊंगा ये दोनों ही सन्ताप इस को—निष्पाप आत्मा को नहीं प्राप्त होते, यह इन दोनों सन्तापों को ही अतिक्रमण कर जाता है। इस को किये हुए और न किये हुए कर्म नहीं तपाते। मुक्त आत्मा पुण्य-पाप के फलों को पार कर जाता है।

तदेतदृचाऽभ्युक्तम्—एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्द्धते कर्मणा नो कनीयान्। तस्यैव स्यात् पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेनेति। तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति, सर्वमात्मानं पश्यति। नैनं पाप्मा तरति, सर्वं पाप्मानं तरति। नैनं पाप्मा तपति, सर्वं पाप्मानं तपति। विपापो विरजोऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवति। एष ब्रह्मलोकः सम्राडेनं प्रापितोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः। सोऽहं भगवते विदेहान्ददामि मां चापि सह दास्यायेति ॥२३॥

वह यह भाव ऋचा द्वारा भी कहा गया—ब्राह्मण की यह ऊपर वर्णित महिमा नित्य है—विनाश रहित है। वह कर्म से नहीं बढ़ती, न छोटी होती है। मनुष्य उस महिमा का ही पदवित्—स्थान-ज्ञाता होवे। उसको जान कर आत्मा फिर पाप कर्म से नहीं लिप्त होता। इस लिए ऐसा जानने वाला शान्त, जितेन्द्रिय, पाप से उपरत तितिक्षु-सहनशील, संयमी होकर अपने आत्मा में ही अपने आत्मा को देखता है और अखण्ड आत्मा को देखता है। इस को पाप नहीं तरता—नहीं लगता। यह सारे पाप-सागर को तर जाता है। इस को पाप नहीं तपाता, किन्तु यह सारे पाप को तपाता है—भस्म कर देता है। यह पापरहित, मलरहित और संशयरहित ब्राह्मण हो जाता है। अन्त में याज्ञवल्क्य ने कहा—हे राजन्! यह मोक्षपद है, इसको तू प्राप्त हो गया है। यह सुन कर राजा ने कहा—वह मैं भगवान् को सारे विदेह देश देता हूं और साथ अपने आप को भी सेवा के लिए समर्पण करता हूँ।

स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदानो विन्दते वसु य एवं वेद ॥२४॥

वह ही यह महान्, अजन्मा, आत्मा सर्वान्न का अत्ता है—सारे जगत् का संहारक है अथवा सब प्रकार से अन्नदाता है, और धनदाता है। जो ऐसे जानता है वह धन को प्राप्त करता है।

स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयं ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद ॥२५॥

वह ही यह महान् अजन्मा आत्मा अजर है, अमर है, अविनाशी है और अभय है, निश्चय ब्रह्म अभय है जो ऐसे ब्रह्म को अभय जानता है वह ब्रह्म को ही प्राप्त होता है।

पांचवां ब्राह्मण

अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च। तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव स्त्रीप्रज्ञैव तर्हि कात्यायनी। अथ ह याज्ञवल्क्योऽन्यद् वृत्तमुपाकरिष्यन् ॥१॥ मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः प्रव्रजिष्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्याऽन्तं करवाणीति ॥२॥

इसके अनन्तर अब एक ऐतिहासिक बात कही जाती है—याज्ञवल्क्य की दो भार्याएं थीं, एक मैत्रेयी और दूसरी कात्यायनी। उन में मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी थी—ज्ञान-ध्यान-वेदाध्ययन-परायणा ब्रह्मचारिणी थी और तब दूसरी कात्यायनी स्त्रीप्रज्ञा—गृहकर्मरता थी। एकदा याज्ञवल्क्य गृहस्थ आचार से अन्य वृत्त को—संन्यास को धारण करता हुआ सर्वत्याग करने लगा। उस समय याज्ञवल्क्य ने कहा—हे मैत्रेयी अरी! मैं इस गृह से अब संन्यास में जा रहा हूं, यदि तू चाहे तो इस कात्यायनी से तेरा निर्णय—बटवारा करदूं।

सा होवाच मैत्रेयी यन्नु म इयं भगोः! सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्स्यां न्वहं तेनामृताऽऽहो३ नेति, नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यादमृतत्वस्य तु नाऽऽशास्ति वित्तेनेति ॥३॥ सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्। यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति ॥५॥

इस पाठ का अर्थ इसी उपनिषद् के दूसरे अध्याय के चौथे ब्राह्मण में लिखा जा चुका है।

स होवाच याज्ञवल्क्यः—प्रिया वै खलु नो भवति! सती प्रियमवृधद्धन्त तर्हि भवत्येतद् व्याख्यास्यामि ते, व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति ॥५॥

वह याज्ञवल्क्य बोला—हे भवति! निश्चय हमें पहले से प्यारी होती हुई ही तूने अब अधिक प्यार को बढ़ाया। तब हे भवति! यह प्रियपथ तुझे व्याख्या से कहूंगा। मेरे व्याख्यान का तू विचारपूर्वक निश्चय कर।

स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति। न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति। न वा अरे पशूनां कामाय पशवः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पशवः प्रिया भवन्ति। न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति। न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति। न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्ति। आत्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे वेदानां कामाय वेदाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय वेदाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति। न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम् ॥६॥

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद, क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद, लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान्वेद, देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान्वेद, वेदास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो वेदान् वेद, भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्रा-त्मनो भूतानि वेद, सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद। इदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमे वेदा इमानि भूतानीदं सर्वं यदयमात्मा ॥७॥ स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद् ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः ॥८॥ स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद् ग्रहणाय शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्खध्मस्य वा शब्दो गृहीतः ॥९॥ स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद् ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः ॥१०॥

स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो

भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टं हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि ॥११॥ स यथा सर्वासामपां समुद्र एकायनमेवं सर्वेषां स्पर्शानां त्वगेकायनमेवं सर्वेषां गन्धानां नासिके एकायनमेवं सर्वेषां रसानां जिह्वैकायनमेवं सर्वेषां रूपाणां चक्षुरेकायनमेवं सर्वेषां शब्दानां श्रोत्रमेकायनमेवं सर्वेषां संकल्पानां मन एकायनमेवं सर्वासां विद्यानां हृदयमेकायनमेवं सर्वेषां कर्मणां हस्तावेकायनमेवं सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनमेवं सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनमेवं सर्वेषामध्वनां पादावेकायनमेवं सर्वेषां वेदानां वागेकायनम् ॥१२॥ स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवैतेभ्यः भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति, न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः ॥१३॥

सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवान्मोहान्तमापीपिपन्न वा अहमिमं विजानामीति। स होवाच—न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा ॥१४॥

वह मैत्रेयी बोली—यहां ही भगवान् मुझ को मोह में प्राप्त कर रहा है। मैं इस को नहीं जानती। उस ने कहा—अरी! मैं मोह की बात नहीं कहता; अरी! यह अविनाशी और अखण्ड स्वभाववान् आत्मा है।

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति, तदितर इतरं जिघ्रति, तदितर इतरं रसयते, तदितर इतरमभिवदति, तदितर इतरं शृणोति, तदितर इतरं मनुते, तदितर इतरं स्पृशति, तदितर इतरं विजानाति। यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं रसयेत्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कं शृणुयात्तत्केन कं मन्वीत तत्केन कं स्पृशेत्तत्केन कं विजानीयाद् येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्। स एष नेति नेत्यात्मागृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति। विज्ञातारमरे केन विजानीयादित्युक्तानुशासनाऽसि मैत्रेय्येतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार ॥१५॥

उक्त सारे पाठ का अर्थ दूसरे अध्याय के चौथे ब्राह्मण में लिखा गया है।

छठा ब्राह्मण

अथ वंशः—पौतिमाष्यो गौपवनाद् गौपवनः, पौतिमाष्यात्पौतिमाष्यो गौपवनाद् गौपवनः कौशिकात्कौशिकः, कौण्डिन्यात्कौण्डिन्यः, शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कौशिकाच्च गौतमाच्च गौतमः ॥१॥ आग्निवेश्यादाग्निवेश्यो गार्ग्याद् गार्ग्यो गार्ग्याद् गार्ग्यो गौतमाद्गौतमः, सैतवात्सैतवः, पाराशर्यायणात्पाराशर्यायणो गार्ग्यायणाद् गार्ग्यायण उद्दालकायनादुद्दालकायनो जाबालायनाज्जाबालायनो माध्यन्दिनायनान्माध्यन्दिनायनः, सौकरायणात् सौकरायणः, काषायणात् काषायणः, सायकानात् सायकायनः, कौशिकायनेः कौशिकायनिः ॥२॥ घृतकौशिकाद् घृतकौशिकः, पाराशर्यायणात्पाराशर्यायणः, पाराशर्यात्पाराशर्यो जातूकर्ण्याज्जातूकर्ण्य आसुरायणाच्च यास्काच्चाऽऽसुरायणस्त्रैवणेस्त्रैवणिरौपजन्धनेरौपजन्धनिरासुरेरासुरिर्भारद्वाजाद् भारद्वाज आत्रेयादात्रेयो माण्टेर्माण्टिर्गौतमाद् गौतमो गौतमाद्गौतमो वात्स्याद्वात्स्यः, शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः, कैशोर्यात्काप्यात् कैशोर्यः काप्यः, कुमारहारितात्कुमारहारितो गालवाद्गालवो विदर्भीकौण्डिन्याद् विदर्भीकौण्डिन्यो वत्सनपातो बाभ्रवाद् वत्सनपाद् बाभ्रवः, पथः सौभरात्पन्थाः सौभरोऽयास्यादाङ्गिरसादयास्य आङ्गिरस आभूतेस्त्वाष्ट्रादाभूतिस्त्वाष्ट्रो विश्वरूपात्त्वाष्ट्राद्विश्वरूपस्त्वाष्ट्रोऽश्विभ्यामश्विनौ दधीच आथर्वणाद्दध्यङ्ङाथर्वणोऽथर्वणो दैवादथर्वा दैवो मृत्योः प्राध्वंसनान्मृत्युः प्राध्वंसनः, प्रध्वंसनात्प्रध्वंसन एकर्षेरेकर्षिर्विप्रचित्तेर्विप्रचित्तिर्व्यष्टेर्व्यष्टिः सनारोः सनारुः, सनातनात्सनातनः, सनगात्सनगः, परमेष्ठिनः परमेष्ठी, ब्रह्मणो ब्रह्म, स्वयंभु ब्रह्मणे नमः ॥३॥

पांचवां अध्याय, पहला ब्राह्मण

ओ३म् पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ओम् खं ब्रह्म । खं पुराणं वायुरं खमिति ह स्माह कौरव्यायणीपुत्रो वेदोऽयं ब्राह्मणा विदुर्वेदैनेन यद्वेदितव्यम् ॥१॥

वह परमेश्वर पूर्ण—अखण्ड है, यह जगत् स्वसत्ता में पूर्ण है—कुछ भी ऊना नहीं है, पूर्ण भगवान् से ही यह पूर्ण जगत् उदय होता है। पूर्ण परमेश्वर का पूर्ण स्वरूप

ले कर—पूर्ण स्वरूप को अपने में धारण कर, फिर भी सर्वत्र पूर्ण ही रह जाता है, परमेश्वर स्वसत्ता से सर्वत्र पूर्ण स्वरूप से ही विद्यमान है। खं ब्रह्म है—ब्रह्म आकाशवत् निराकार है। यह सनातन है, वायुवान् आकाश भी खं है। कौरव्यायणीपुत्र ने (आह स्म) कहा था—कि मैं खं ब्रह्म को जानता हूं, यह भेद ब्राह्मण जानते हैं। जो परमेश्वर जानने योग्य है हे शिष्य! तू उसे इस खं से ही जान। खं शब्दोपासना से ही परमेश्वर का ध्यान कर।

दूसरा ब्राह्मण

त्रयाः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्देवा मनुष्या असुराः। उषित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति। तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच "द" इति। व्यज्ञासिष्टा३इति? व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दाम्यतेति न आत्थेति। ओमिति होवाच—व्यज्ञासिष्टेति ॥१॥

देव, मनुष्य और असुर इन तीनों प्रजापति के पुत्रों ने प्रजापति पिता के समीप जाकर ब्रह्मचर्य को सेवन किया। ब्रह्मचर्य को सेवन करके प्रजापति को देवों ने कहा—आप हम को उपदेश कहें। उसने उनको यह "द" अक्षर कहा। "द" अक्षर कह कर पूछा—क्या तुम जान गये, समझ गये हो? वे बोले हम जान गये हैं—'दमन करो' ऐसा हमें तू कह रहा है। प्रजापति ने कहा—हां, तुमने जान लिया है।

अथ हैनं मनुष्या ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति। तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच "द" इति। व्यज्ञासिष्टा३इति? व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दत्तेति न आत्थेति। ओमिति होवाच—व्यज्ञासिष्टेति ॥२॥

तदनन्तर इसको मनुष्यों ने कहा—भगवान् हमें उपदेश कहें। उस प्रजापति ने उनको "द" यह ही अक्षर कहा—इसी अक्षर का उपदेश दिया और पूछा—क्या तुम जान गये हो? वे बोले हम जान गये हैं—'दिया करो' यह हमको तू कह रहा है। वह बोला—हां, मेरा भाव तुमने जान लिया है।

अथ हैनमसुरा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति। तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच "द" इति। व्यज्ञासिष्टा३इति? व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दयध्वमिति न आत्थेति। ओमिति होवाच—व्यज्ञासिष्टेति। तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द, द, द इति—दाम्यत दत्त दयध्वमिति। तदेतत् त्रयं शिक्षेद्दमं दानं दयामिति।

तत्पश्चात् इसको असुरों ने कहा—भगवान् हमें उपदेश कहें। प्रजापति ने उनको यह ही अक्षर "दं" कहा और पूछा—क्या तुम जान गये हो? वे बोले हम जान गये हैं—'दया किया करो' यह हमें तू कह रहा है। वह बोला—हां, मेरा भाव तुमने जान लिया है। अनुभवी ऋषि कहता है—वह यह प्रजापति का उपदेश ही यह दैवी वाणी, गर्जने वाला नाद बोल रहा है; वह दैवी वाणी कह रही है—दं दं दं; जिसका यह भाव है—दमन करो, दो और दया करो। इसी कारण यह तीन कर्म सिखावे—इन्द्रियदमन, दान और दया। उक्त तीनों कर्मों का उपदेश देना चाहिए।

तीसरा ब्राह्मण

एष प्रजापतिर्यद् हृदयमेतद् ब्रह्मैतत्सर्वं तदेतत्त्र्यक्षरं हृदयमिति। 'हृ', इत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद। 'द' इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद। 'यम्' इत्येकमक्षरमेति स्वर्गं लोकं य एवं वेद ॥१॥

जो यह मनुष्य का हृदय है—शुद्धचित्त है, देह में यह ही प्रजापति है; यह शुद्ध चित्त महान् है और यह सब कुछ है; आत्मा सर्वस्व है। सो यह वह हृदय शब्द तीन अक्षर वाला है। उस में "हृ" यह एक अक्षर है, जिस का अर्थ अभिहरण करना—लाना है। जो चित्तोपासक ऐसा जानता है उस के लिए अपने बन्धुजन और दूसरे जन भेटें लाते हैं। दूसरा "द" यह एक अक्षर है, जिस का अर्थ देना है; जो हृदयोपासक ऐसा जानता है उसी के लिए अपने बन्धुजन और दूसरे लोग धनादि देते रहते हैं। तीसरा "यम्" यह एक अक्षर है; यह 'इण्' धातु से बना है; इस का अर्थ प्राप्त होना—जाना है; जो हृदयोपासक ऐसा जानता है वह स्वर्ग लोक को प्राप्त होता है, वह मर कर सुखमय लोक को जाता है।

हृदय का अर्थ, आकर्षण करना—प्रेम करना, ज्ञानादि गुण दान करना और श्रद्धा, भक्ति, उपासना से परमेश्वर को प्राप्त होना है।

चौथा ब्राह्मण

तद्वै तदेतदेव तदास सत्यमेव। स यो हैतं महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति जयतीमाँल्लोकान् जित इन्न्वसावसद्य एवमेतं महद्यक्षं प्रथमजं वेद, सत्यं ब्रह्मेति सत्यं ह्येव ब्रह्म ॥१॥

वह हृदय ही वह यह सत्य ही है—चित्तसत्ता सत्य ही है। वह जो उपासक इस महान् पूजनीय, सब से प्रथम सत्य ब्रह्म को जानता है—परमेश्वर को भी महान् पूज्य

सनातन और सत्यस्वरूप समझता है वह इन लोकों को जीतता है। इसी प्रकार जो ऐसे इस महान् यक्ष, सनातन को जानता है उसने यह असत्—नाश वा मृत्यु जीत लिया। ब्रह्म सत्य है; ब्रह्म सत्य ही है।

पांचवां ब्राह्मण

आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त, सत्यं ब्रह्म, ब्रह्म प्रजापतिम्, प्रजापतिर्देवांस्ते देवाः सत्यमेवोपासते। तदेतत् त्र्यक्षरं सत्यमिति। 'स' इत्येकमक्षरम्, 'ति' इत्येकमक्षरम्, 'यम्' इत्येकमक्षरम्, प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यं, मध्यतोऽनृतम्, तदेतदनृतमुभयतः सत्येन परिगृहीतं सत्यभूयमेव भवति। नैवं विद्वांसमनृतं हिनस्ति ॥१॥

जल ही यह पहले थे, उन जलों ने ही सत्य को रचा—स्थूल जगत् में ही सत्य अभिव्यक्त हुआ। सत्य ने ब्रह्म—अव्यक्त को दर्शाया। ब्रह्म—अव्यक्त सत्ता ने ईश्वरभाव को प्रकट किया। परमेश्वर ने देवों को जन्म दिया। यह ही कारण है कि वे देवजन सत्यस्वरूप भगवान् को ही आराधते हैं वह यह सत्य तीन अक्षर वाला है—सत्यशब्द में तीन अक्षर हैं। 'स' यह एक अक्षर है, 'ति' यह एक अक्षर है, और 'यम्' यह एक अक्षर है। प्रथम और अन्तिम दोनों अक्षर सत्य हैं, प्रथम 'स' और अन्तिम 'यम्' सस्वर हैं, स्वर अविनाशी सत्य है। मध्य में 'त्' व्यञ्जन अनृत है—असत्य है, नाशवान् है। वह यह अनृत 'त्' दोनों ओर से सत्य से—स्वर से अच्छी प्रकार पकड़ा हुआ सत्यरूप ही हो जाता है—व्यञ्जन अक्षर दोनों ओर के स्वरों से ही बोला जाता है; ऐसे ही सत्यस्वरूप आत्मा परमात्मा दोनों से कार्य जगत् पकड़ा हुआ है, इन से अभिव्यक्त हो रहा है। ऐसा भेद जानने वाले उपासक को अनृत—झूठ—काल नहीं मार सकता।

तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तावेतावन्योऽन्यस्मिन्प्रतिष्ठितौ, रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः प्राणैरयममुष्मिन्। स यदोत्क्रमिष्यन् भवति शुद्धमेवैतन्मण्डलं पश्यति, नैनमेते रश्मयः प्रत्यायन्ति ॥२॥

वह जो वह सत्य है—सर्व संसार का ईश्वर है वह यह आदित्य—अध्यात्म सूर्य है। जो यह इस तेजोमण्डल में पुरुष है और जो यह दक्षिण आंख में आत्मा है—नेत्र में प्रकाशमान पुरुष है, वे ये दोनों एक दूसरे में प्रतिष्ठित हैं। किरणों से यह इस में विराजमान है और प्राणों से यह उस में आश्रित है। परमेश्वर अपनी शक्तियों

से इस में विद्यमान है और यह अपने भावों से उसमें आश्रित है। वह—नेत्र में द्रष्टारूप से प्रतिष्ठित आत्मा, जब देह से बाहर निकलता हुआ होता है—मुक्त होने लगता है, तो शुद्ध ही इस प्रकाशमण्डल को देखता है—उसे तब ईश्वरस्वरूप प्रतीत हो जाता है। फिर इसको ये ईश्वरीय शक्तियां नहीं जन्म में लौटातीं—वह अमर हो जाता है।

य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्य 'भूर्' इति शिरः, एकं शिरः, एकमेतदक्षरम्, 'भुवः' इति बाहू, द्वौ बाहू; द्वे एते अक्षरे। 'स्वर्' इति प्रतिष्ठा, द्वे प्रतिष्ठे, द्वे एते अक्षरे, तस्योपनिषदहरिति। हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद ॥३॥

जो यह इस तेजोमण्डल में—आत्मिक आदित्य में परमेश्वर है उसका सिर 'भूः' है—सत्ता है, सिर एक है और यह 'भूः' अक्षर भी एक है, यह इनकी समानता है। 'भुवः' उस की भुजाएं हैं, बाहु दो हैं और ये 'भुवः' अक्षर भी दो ही हैं। उसकी प्रतिष्ठा—पैर 'स्वर्' है, पैर दो हैं और ये 'स्वर्' अक्षर भी दो हैं। उसका रहस्य दिन है—निरन्तर प्रकाश है। जो उपासक इसको ऐसे जानता है वह पाप को हनन कर देता है और पाप को त्याग देता है—वह निष्पाप हो जाता है।

योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तस्य 'भूर्' इति शिरः, एकं शिरः, एकमेतदक्षरम्, 'भुवः', इति बाहू, द्वौ बाहू, द्वे एते अक्षरे, 'स्वर्' इति प्रतिष्ठा, द्वे प्रतिष्ठे, द्वे एते अक्षरे, तस्योपनिषदहमिति। हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद ॥४॥

जो यह दक्षिण आंख में पुरुष है—नेत्र में द्रष्टा आत्मा है, उसके भी सिर आदि आलङ्कारिक अङ्ग पूर्ववत् हैं परन्तु उसका रहस्य 'अहम्' है—आत्मसत्ता में 'अहम्' भाव, अपने होने की अहन्ता स्वभावसिद्ध है। 'मैं हूं' यह ही आत्मसत्ता की अभिव्यक्ति है।

छठा ब्राह्मण

मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा। स एष सर्वस्येशानः, सर्वस्याधिपतिः, सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्च ॥१॥

उस अन्तर्हृदय में व्रीहि और यव जैसा सूक्ष्म जो यह आत्मा है—मनुष्य के अन्तःकरण में जो यह आत्मसत्ता है, वह मनोमय—ज्ञानमय है, और प्रकाश ही सत्य-स्वरूप है जिसका ऐसा भास्वर सत्य है। और वह यह आदित्यरूप पुरुष—प्रकाशपुञ्ज

परमेश्वर, सब का ईश्वर है, सब का स्वामी है और यह जो कुछ है इस सारे चराचर को शासन करता है। परमेश्वर देही आत्मा से भिन्न है; अनन्तशक्तिमय है।

सातवां ब्राह्मण

विद्युद् ब्रह्मेत्याहुर्विदानाद् विद्युत्। विद्यत्येनं पाप्मनो य एवं वेदं विद्युद् ब्रह्मेति। विद्युद्ध्येव ब्रह्म ॥१॥

उपासक लोग ध्यान में अनुभूत विद्युत् को—विद्युत्वत् प्रकाश को ब्रह्म कहते हैं। पाप-ताप नाश करने से वह विद्युत् है। जो उपासक ऐसे विद्युत् ब्रह्म को जानता है इसको वह विद्युत् ब्रह्म प्राप्त होकर इसके पापों को नाश कर देता है। विद्युत् ही ब्रह्म है।

आठवां ब्राह्मण

वाचं धेनुमुपासीत, तस्याश्चत्वारः स्तनाः—स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकारः स्वधाकारः। तस्यै द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं च वषट्कारं च। हन्तकारं मनुष्याः, स्वधाकारं पितरः। तस्याः प्राण ऋषभो मनो वत्सः ॥१॥

वाणी को धेनु जान कर आराधे। उस वाणीरूपा धेनु के चार स्तन हैं—स्वाहाकार और वषट्कार, हन्तकार और स्वधाकार। उसके दो स्तनों को अवलम्बन कर देवजन जीते हैं—स्वाहाकार को और वषट्कार को। हन्तकार को अवलम्बन कर मनुष्य जीते हैं और स्वधाकार को अवलम्बन कर पितर जीते हैं। प्राण—आत्मभाव उस वाणी का ऋषभ है जिससे वह वाक्यों को जन्म देती है। मन उसका बछड़ा है—मानस प्रेरणा से ही इससे वचन-दुग्ध दोहा जाता है।

नवां ब्राह्मण

अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे, येनेदमन्नं पच्यते, यदिदमद्यते। तस्यैष घोषो भवति यमेतत्कर्णावपिधाय शृणोति। स यदोत्क्रमिष्यन् भवति नैनं घोषं शृणोति ॥१॥

जो यह भीतर पुरुष में—शरीर में है, जिससे यह भुक्त अन्न पचता है और जिससे यह अन्न खाया जाता है, यह तेज वैश्वानर है—वह शक्ति आत्मा की ही है। जिसे इस नाद को उपासक दोनों कान बन्द करके सुनता है यह इसका नाद है। वह आत्मा

जब देह से बाहर निकलता हुआ होता है तो इस घोष को नहीं सुनता। इस में नादोपासना का संकेत है।

दसवां ब्राह्मण

यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति । तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं। तेन स ऊर्ध्व आक्रमते, स आदित्यमागच्छति। तस्मै स तत्र विजिहीते यथा लम्बरस्य खं। तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति। तस्मै स तत्र विजिहीते यथा दुन्दुभे खं । तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स लोकमागच्छति अशोकमहिमं तस्मिन्वसति शाश्वतीः समाः ॥१॥

जब ही पुरुष इस लोक से शरीर छोड़ कर जाता है—आत्मज्ञानी जब मरता है तो वह वायु में—सूक्ष्म आकाश में जाता है। उस के लिए वह वायु वहां, जैसे रथ के चक्र का छिद्र हो ऐसा मार्ग देता है। वह उस से ऊपर निकल जाता है, तब वह आदित्यलोक को प्राप्त होता है। उस के लिए वह सूर्य वहां, जैसे डम्बर नामक वादन-यन्त्र का छिद्र हो ऐसा मार्ग देता है। वह उस से ऊपर निकल जाता है, तब वह चन्द्र को प्राप्त होता है। उस के लिए वह चन्द्र वहां जैसे दुन्दुभि का छिद्र हो ऐसा मार्ग देता है। वह उस मार्ग से ऊपर निकल जाता है और अन्त में वह शोकरहित, हिम-रहित ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है. उसमें अनन्त वर्षों के लिए बसता है, वहां अनन्तकाल तक रहता है। उक्त मार्ग ध्यान की महिमा के प्रदर्शक हैं। वास्तव में यह वर्णन संकेत से मोक्षप्राप्ति का है।

ग्यारहवां ब्राह्मण

एतद्वै परमं तपो यद् व्याहितस्तप्यते, परमं हैव लोकं जयति य एवं वेद । एतद्वै परमं तपो यं प्रेतमरण्यं हरन्ति, परमं हैव लोकं जयति य एवं वेद । एतद्वै परमं तपो यं प्रेतमग्नावभ्यादधति, परमं हैव लोकं जयति य एवं वेद ।

यह ही परम तप है जो मनुष्य व्याधि से तपता है—रोग की पीड़ा को सहना, उस से चलायमान न होना परम तप है। जो जन ऐसा जानता है वह परम ही लोक को जीत लेता है। यह ही परम तप है जिसे मृत मनुष्य को बन्धुवर्ग जंगल को ले जाते हैं; जो ऐसा जानता है वह परम ही लोक को जीत लेता है। यह ही परम तप है जिसे मृत को बन्धुजन अग्नि में रखते हैं, मृत को उठा कर ले जाना उस का दाह कर्म

करना परम तप है, व्याधि, मरण और दाह तप ही जाने। जो ऐसा जानता है वह परम ही लोक को जीत लेता है।

बारहवां ब्राह्मण

अन्नं ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा, पूयति वा अन्नमृते प्राणात् । प्राणो ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा, शुष्यति वै प्राण ऋतेऽन्नात्। एते ह त्वेव देवते एकधाभूयं भूत्वा परमतां गच्छतः। तद्ध स्माह प्रातृदः पितरं किंस्विदेवैवं विदुषे साधु कुर्यां किमेवास्मा असाधु कुर्यामिति। स ह स्माह पाणिना मा प्रातृद! कस्त्वेनेयोरेकधाभूयं भूत्वा परमतां गच्छतीति। तस्मा उ हैतदुवाच 'वी' इति, अन्नं वै वी, अन्ने हीमानि सर्वाणि भूतानि विष्टानि। 'रम्' इति, प्राणो वै रं, प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि रमन्ते। सर्वाणि ह वा अस्मिन् भूतानि विशन्ति सर्वाणि भूतानि रमन्ते य एवं वेद ॥१॥

कई एक विद्वान् अन्न को ब्रह्म कहते हैं, सो वैसा नहीं है, अन्न ब्रह्म नहीं है किन्तु ब्रह्मोपासना में अन्न साधन है। क्योंकि जीवन के विना—सजीव देह के विना अन्न सड़ने लग जाता है। कई एक विद्वान् प्राण को ब्रह्म कहते हैं, सो वैसा नहीं है, प्राण ब्रह्म नहीं है। क्योंकि निश्चय अन्न के विना प्राण—जीवन सूखता जाता है। वास्तव में ये ही दो देवता, एकरूप होकर—मिल कर परमता को जाते हैं। यह ज्ञान ही प्रातृद नामक मुनि ने अपने पिता को (आह स्म) कहा कि अन्न और प्राण के मेल को ऐसे जानने वाले के लिए क्या श्रेष्ठ कर्म मैं करूं और इस के लिए क्या ही अशुभ कर्म मैं करूं अर्थात् ऐसा जानने वाला इष्टानिष्ट को लांघ कर तृप्त हो जाता है। वह—प्रातृद का पिता—उस के कथन का हाथ से निषेध करता हुआ बोला—हे प्रातृद! ऐसा नहीं है. इनमें से कौन एकरूप होकर परमता—ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त करता है? इसने उसको यह कहा—वी ही अन्न है. अन्न में ही ये सारे प्राणी प्रविष्ट हैं और प्राण ही रं है। ये दोनों अक्षर मिल कर वीर शब्द बनता है। रं संज्ञक प्राण में ही ये सारे प्राणी रमते हैं। अन्न—वी और प्राण—र ये दोनों वीर शब्द बन कर ही परमता के साधक होते हैं। जो जन इस वीरमहत्त्व को ऐसे जानता है इसमें सारे ही प्राणी प्रेम से प्रविष्ट होते हैं, इस में सारे भूत रमण करते हैं। जिस में वीरभाव हो वह संसार में परमता प्राप्त करता है।

तेरहवां ब्राह्मण

उक्थं प्राणो वा उक्थं प्राणो हीदं सर्वमुत्थापयति । उद्धास्मादुक्थविद्वीरस्तिष्ठति, उक्थस्य सायुज्यं सलोकतां जयति य एवं वेद ॥१॥ यजुः प्राणो वै यजुः प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते । युज्यन्ते हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय यजुषः सायुज्यं सलोकतां जयति य एवं वेद ॥२॥

देव के स्तोत्र का नाम उक्थ है । यहां उपनिषद् में प्राण ही—आत्मशक्ति ही उक्थ है । उक्थ ही इस सब जैवी जगत् को उठाता है—शक्तियुक्त बनाता है । इस ज्ञानी से शक्तितत्त्व ज्ञाता पुत्र वा शिष्यमण्डल वीर (उत्तिष्ठति) उदय होता है, जो उपासक आत्मशक्ति को ऐसे जानता है वह उक्थ के मिलाप को और उस की सलोकता को जीत लेता है । प्राण—आत्मशक्ति ही यजु है, यजुर्वेदरूप प्राण में ये सारे प्राणी जुड़े रहते हैं । इस के साथ श्रेष्ठता के लिए सारे प्राणी जुड़ते हैं । जो ऐसा जानता है वह यजु के सायुज्य की और यजु की सलोकता को जीत लेता है ।

साम प्राणो वै साम, प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि सम्यञ्चि । सम्यञ्चि हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय कल्पन्ते, साम्नः सायुज्यं सलोकतां जयति य एवं वेद ॥३॥ क्षत्रं प्राणो वै क्षत्रं, प्राणो हि वै क्षत्रं, त्रायते हैनं प्राणः क्षणितोः, प्र क्षत्रमत्रमाप्नोति क्षत्रस्य सायुज्यं सलोकतां जयति य एवं वेद ॥४॥

अब साम का वर्णन है । प्राण ही साम हैं, प्राण में ही ये सारे प्राणी सम्यक् प्रकार से चलते हैं । ऐसे ज्ञानी के लिए श्रेष्ठतार्थ सारे प्राणी सम्यक् प्रकार से चलते हैं तथा सम्यक् होते है । जो ऐसे जानता है वह साम के सायुज्य को तथा साम की सलोकता को जय कर लेता है । प्राण को—आत्मशक्ति को ऋग्, यजु, साम कहा गया है । वास्तव में आत्मा में ही वेद निहित हैं; ज्ञान का प्रकाश आत्मा में ही होता है । अब क्षत्र का वर्णन है । प्राण ही क्षत्र हैं, प्राण ही निश्चय क्षत्र है क्योंकि इस को—देह को घाव से प्राण बचाता है, इस का क्षत पूर्ण कर देता है । जो ऐसे जानता है वह अन्नरूपी त्राण को प्राप्त होता है और क्षत्र के सायुज्य और उस की सलोकता को जीत लेता है । प्राणस्वरूप आत्मा ही क्षत्रभाव से पूर्ण है । वीरभाव आत्मिकशक्ति का प्रकाश है ।

चौदहवां ब्राह्मण

भूमिरन्तरिक्षं द्यौरित्यष्टावक्षराणि । अष्टाक्षरं ह वा एकं गायत्र्यै पदम् । एतदु हैवास्या एतत् । स यावदेषु त्रिषु लोकेषु तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥१॥

गायत्री की उपासना वर्णन करते हुए ऋषि ने कहा—भूमि, अन्तरिक्ष और द्यौ ये आठ अक्षर हैं, द्यौ को 'दिवौ' विश्लेषण करने से ये आठ अक्षर होते हैं। ऐसे आठ अक्षर वाला ही गायत्री मन्त्र का एक पद है; 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' इस पद के आठ अक्षर हैं। यह ही इस का यह त्रिलोकीसार है। जो उपासक इस के इस प्रथम पद को ऐसे जानता है वह जितना इन तीन लोकों में प्राप्तव्य है उतना ही जीत लेता है; वह त्रिलोकी में परम तृप्त हो जाता है।

ऋचो यजूंषि सामानीत्यष्टावक्षराणि । अष्टाक्षरं ह वा एकं गायत्र्यै पदम । एतदु हैवास्या एतत् । स यावतीयं त्रयी विद्या तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥२॥

ऋचः, यजूंषि और सामानि ये वेदत्रयी के आठ अक्षर हैं। और आठ अक्षर वाला ही गायत्री मन्त्र का एक पद है—दूसरा पद है 'भर्गो देवस्य धीमहि' इस पद में आठ अक्षर हैं। यह पद ही इस गायत्री का यह त्रयीज्ञान है, यह त्रयी विद्या का सार है। जो इस के इस पद को ऐसे जानता है वह जितनी यह त्रयी विद्या है उतनी ही प्राप्त कर लेता है; वह वेदत्रयी के सार फल को उपलब्ध कर लेता है।

प्राणोऽपानो व्यान इत्यष्टावक्षराणि । अष्टाक्षरं वा एकं गायत्र्यै पदम् । एतदु हैवास्या एतत् । स यावदिदं प्राणि तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद । अथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति । यद्वै चतुर्थं, तत्तुरीयं; दर्शतं पदमिति ददृश इव ह्येष परोरजा इति सर्वमु ह्येवैष रज उपर्युपरि तपति । एवं हैव श्रिया यशसा तपति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥३॥

प्राण, अपान व्यान आठ ये अक्षर हैं, व्यान का 'वियान' विश्लेषण करने से ये आठ अक्षर होते हैं। आठ अक्षर वाला ही गायत्री का एक—तीसरा पद है, 'धियो यो नः प्रचोद-यात्' इस पद में आठ अक्षर हैं। वह ही इस गायत्री का यह सार है, गायत्री ही आत्मिक सौरलोक का प्राण सब में संचरित करती है। जो उपासक इस के

इस पद को ऐसे जानता है वह जितना यह प्राणिसमूह है उतने को ही जीत लेता है; प्राणी उसके मित्र बन जाते हैं। और इसका यह ही—आगे वर्णित तुरीय; दर्शत और परोरजाः पद है जो यह आदित्यवर्ण भगवान् प्रकाशमान हो रहा है। जो ही चौथा है वह ही तुरीय है, दर्शत पद का अर्थ दृश्यमान सा है, भगवान् भक्तों को दीखते की भांति दीखता है। यह ही परोरजाः है, सारा ही यह विकारमय जगत् रजस् है, कामनामय तथा वृत्तिमय है; परन्तु वह सविता इस रजोमय से ऊपर ऊपर ही प्रकाशमान है। भगवान् सर्वदा निर्लेप है। जो उपासक इसके इस पद को ऐसे जानता है वह ऐसे ही शोभा से यश से प्रकाशमान हो जाता है; गायत्री का उपासक प्रतापशाली बन जाता है।

सैषा गायत्र्येतस्मिंस्तुरीये दर्शते पदे परोरजसि प्रतिष्ठिता, तद्वै तत्सत्ये प्रतिष्ठितम्। चक्षुर्वै सत्यं, चक्षुर्हि वै सत्यं, तस्माद्यदिदानीं द्वौ विवदमानावेयातामहमदर्शमहमश्रौषमिति; य एवं ब्रूयादहमदर्शमिति तस्मा एव श्रद्दध्याम। तद्वै तत्सत्यं बले प्रतिष्ठितं, प्राणो वै बलं, तत्प्राणे प्रतिष्ठितम्। तस्मादाहुर्बलं सत्यादोजीय इत्येवम्वैषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता। सा हैषा गयांस्तत्रे, प्राणा वै गयास्तत्प्राणांस्तत्रे तद्यद्गयांस्तत्रे तस्माद्गायत्री नाम। स यामेवामूं सावित्रीमन्वाहैषैव सा। स यस्मा अन्वाह तस्य प्राणांस्त्रायते ॥४॥

वह ऊपर वर्णित यह गायत्री इस चौथे दर्शत परोरज पद में प्रतिष्ठित है, गायत्री के वाच्य का यह पद है उसी में गायत्री आश्रित है। वह पद उस सत्य में—परमात्मस्वरूप में प्रतिष्ठित है। आंख ही लोक में सत्य है, आंख ही निश्चय सत्य है, इस कारण यदि अब हमारे संमुख झगड़ते हुए दो मनुष्य आ जावें और कहें—मैंने यह दृश्य देखा, मैंने यह सुना तो उनमें जो ऐसा कहे—मैंने यह देखा उसी पर ही हम श्रद्धा करते हैं, दृष्ट में निश्चय होता है; ऐसे ही दर्शत पद—सत्यधाम भक्तों का ज्ञान से तथा आत्मा से देखा हुआ है। वह ही वह सत्य बल में रहता है; जीवनशक्ति ही बल है, इस कारण वह बल प्राण में प्रतिष्ठित है। सार यह है गायत्री सत्य में प्रतिष्ठित है, सत्य बल में प्रतिष्ठित है और प्राण ही बल है—आत्मजीवन ही बल है, अत एव आत्मा में ही सत्य तथा बल है। इसीलिए कहा करते हैं—बल सत्य से ओजस्वी है। (एवम् उ एषा) ऐसे ही यह गायत्री अध्यात्म में—आत्मपद में प्रतिष्ठित है। वह यह गायत्री गयों को बचाती है, प्राण ही गय हैं; वह प्राणों को—जीवनों को बचाती है सो यह गयों को बचाती है, इस कारण ही इसका गायत्री नाम है। वह मन्त्रदाता गुरु जिस ही इस सावित्री को शिष्य के प्रति उपनयन समय कहता है यह गायत्री ही वह सावित्री है। वह गुरु जिसके लिए कहता है इससे उसके प्राणों को

बँचाता है—उसकी आत्मशक्तियों की रक्षा करता है। गायत्री से आत्मा की रक्षा होती है।

तां हैतामेके सावित्रीमनुष्टुभमन्वाहुर्वागनुष्टुबेतद्वाचमनुब्रूम इति, न तथा कुर्यात्। गायत्रीमेव सावित्रीमनुब्रूयात्। यदि ह वा अप्येवंविद्बह्विव प्रतिगृह्णाति न हैव तद्गायत्र्या एकंचन पदं प्रति ॥५॥

कोई कोई आचार्य उस इस सावित्री को अनुष्टुप् कहते हैं, उपनयन समय 'तत्सवितुर्वृणीमहे, वयं देवस्य भोजनं, श्रेष्ठं सर्वधातमं, तुरं भगस्य धीमहि, इस मन्त्र का उपदेश देते हैं और कहते हैं—वाणी अनुष्टुप् है इस कारण इस वाणी को हम कहते हैं, सो विवेकी ऐसा न करे। वह गायत्रीरूप ही सावित्री को उस समय कहे। यदि ही ऐसा जानने वाला बहुत सा भी धन दान में लेता है तो भी गायत्री के एक पद—अंश बराबर भी वह धन नहीं ही है; गायत्री के जाप करने वाले को प्रतिग्रह में दोष नहीं लगता। गायत्री के उपासक में पाप-दोष का संस्कार नहीं जमने पाता।

स य इमांस्त्रींल्लोकान्पूर्णान्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतत्प्रथमं पदमाप्नुयात्। अथ यावतीयं त्रयी विद्या यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतद् द्वितीयं पदमाप्नुयात्। अथ यावदिदं प्राणि यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतत्तृतीयं पदमाप्नुयात्। अथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति, नैव केनचनाप्यं कुत उ एतावत्प्रतिगृह्णीयात् ॥६॥

वह जो उपासक इन धनपूर्ण तीन लोकों को प्रतिग्रह में ग्रहण करे वह इसके इस प्रथम पद को प्राप्त हो, वह दान गायत्री के प्रथम पद की महिमा है। और जितनी यह त्रयी विद्या है जो उपासक उतनी गुरु से ग्रहण करे तो वह ग्रहीता इस गायत्री के इस दूसरे पद को प्राप्त करे—वेदत्रयी का ज्ञान दूसरे पद की महिमा है। तथा जितना यह जीव-समूह है जो उपासक उतना ग्रहण करे तो वह इसके इस तीसरे पद को प्राप्त करे—सारा प्राणि-समूह तीसरे पद की महिमा है। और गायत्री का यह ही चतुर्थ, दर्शत, रजोरहित आदित्यपद है जो यह प्रकाशमान है—जो भगवान् का ज्योतिर्मयस्वरूप है। वह किसी भी धन, ज्ञान वा जनप्रेम तथा जनराज्य से नहीं प्राप्त होने योग्य है तो फिर इतना पद कहां से ग्रहण करे। परमपद-प्राप्ति, केवल भगवान् की कृपा से होती है। उसका कोई भी मूल्य नहीं है।

तस्या उपस्थानं—गायत्र्यस्येकपदी, द्विपदी, त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि न हि पद्यसे। नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोरजसे। असावदो मा प्रापदिति।

यं द्विष्यादसावस्मै कामो मा समृद्धीति । वा न हैवास्मै स कामः समृध्यते यस्मा एवमुपतिष्ठतेऽहमदः प्रापमिति वा ॥७॥

किसी शुभ कर्म से पूर्व जो जपादि किया जाय उसे पुरश्चरण कहते हैं और मुख्यमन्त्रजाप का नाम अनुष्ठान है। पुरश्चरण और अनुष्ठान कर लेने पर इष्टदेव के संमुख ध्यान से खड़े होने का नाम उपस्थान है। उस गायत्री का यह उपस्थान है — हे गायत्री ! तू त्रिलोकी में आराध्य एकपदी है, वेदत्रयी का सार द्विपदी है, प्राणपालिनी त्रिपदी है, वाच्यरूप में चतुष्पदी है, इतना होने पर फिर भी तू अपदी है— अज्ञेय है, क्योंकि अन्तर्मुख हुए बिना नहीं प्राप्त होती है। तेरे चतुर्थ, दर्शित और परम निर्मल पद को नमस्कार हो। हे भगवति ! वह यह विघ्न वा विघ्नकारक प्राणी मुझको न पाये—न मिले। तेरा साधक जिस दुष्ट जन से द्वेष करे उस दुष्टजन का वह मनोरथ उसके लिए न बढ़े—न फूले फले। और हे मातः ! तेरा उपासक जिस दुष्ट के निवारण के लिए ऐसे ध्यान, नमस्कार कर तेरे संमुख खड़ा होता है उसके उस विघ्नकारी का वह मनोरथ नहीं बढ़ता। हे मातः ! मैं तेरा उपासक यह मनोरथ अवश्य प्राप्त करूं।

एतद्ध वै तज्जनको वैदेहो बुडिलमाश्वतराश्विमुवाच—यन्नु हो तद्गायत्री-विदब्रूथा अथ कथं हस्तीभूतो वहसीति। मुखं ह्यस्याः सम्राण् न विदांचकारेति। होवाच—तस्या अग्निरेव मुखम्, यदि ह वा अपि बह्विवाग्नावभ्यादधति सर्व-मेव तत्संदहति। एवं हैवैवंविद्यद्यपि बह्विव पापं कुरुते सर्वमेव तत्संप्साय शुद्धः पूतोऽजरोऽमृतः संभवति ॥८॥

पुरातन काल में जनक वैदेह ने आश्वतराश्वि बुडिल को यह ही वह पापनाशक भेद कहा—हे बुडिल ! आश्चर्य है कि तू अपने आपको गायत्रीज्ञाता कहता है तो अब कैसे हस्तीभूत—हस्तीवत् होकर पाप के भार को ढो रहा है ? बुडिल ने उत्तर दिया — हे सम्राट् ! मैंने इसका—गायत्री का मुख नहीं जाना था। जनक ने कहा—अग्नि ही उस का मुख है। यदि बहुत सा इन्धन भी कोई अग्नि में डालता है तो वह सारा ही अग्नि जला देती है। ऐसे ही गायत्री का ऐसा ज्ञाता यद्यपि बहुत सा ही पाप करता है परन्तु उस सब को ही—सर्व पाप को ही भक्षण कर—जपप्रताप से भस्म कर वह शुद्ध, पवित्र, अजर और अमृत हो जाता है, गायत्री के उपासक को पापस्पर्श नहीं करते। गायत्रीपाठ से सर्वपाप भस्म हो जाते हैं।

पन्द्रहवां ब्राह्मण

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय

दृष्टये ॥ पूषनेकर्ष यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि । योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ वायुरनिलममृ-तमथेदं भस्मान्तं शरीरम् । ओं क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर ॥ अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहु-राणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ॥१॥

सुवर्णमय पात्र से–अत्यन्त लोभ से सत्य का मुख ढका हुआ है, हे पुष्टिकर्ता ईश्वर! उस ढक्कन को तू दूर कर—सत्य पर से उसे उठा दे सत्यधर्म के लिए और सत्यदर्शन के लिए। हे पूषन्, हे एकदर्शक, हे नियामक, हे सूर्य, हे प्रजाओं के ईश्वर! किरणों को दूर कर, तेज को एकत्र कर, जिससे तेरा जो परमकल्याणमय स्वरूप है तेरे उस स्वरूप को मैं देखता हूं। जो वह यह पुरुष है वह मैं हूं, जो यह आदित्यधामको देखता है, ध्यानावस्थित हो जानता है वह मैं हूं। भगवान् के दर्शन से स्वात्मप्रत्यक्ष भी हो जाता है। वायु—प्राण बाह्य वायु अमृत को प्राप्त हो, और यह शरीर भस्मान्त हो जाय, हे कर्म करने वाले वा संकल्पमय! तू भगवान् को स्मरण कर और अपने किए को स्मरण कर। हे अग्नि। तू हमें ऐश्वर्य के लिए सुपथ से ले चल-सुमार्ग से हमारा नेतृत्व कर, हे देव! तू हमारे सारे कर्मों को जानता है, हमारे पापों और हमारी दुर्बलताओं का तुझे ज्ञान है इस कारण हमसे कुटिल पाप दूर कर। तुझे बहुत वार नमस्कारवचन हम समर्पण करते हैं।

छठा अध्याय, पहला ब्राह्मण

यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति। प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च। ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूषति य एवं वेद ॥१॥

जो ही उपासक बड़े और श्रेष्ठ को जानता है वह अपने बन्धुओं में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाता है। देह में आत्मभाव ही—जीवनशक्ति ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। जो उपासक आत्मभाव की ज्येष्ठता और श्रेष्ठता को ऐसे जानता है वह अपने जाति-बन्धुओं में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाता है और भी वह जिनमें विद्यमान होता है उनमें भी ज्येष्ठ श्रेष्ठ हो जाता है।

यो ह वै वसिष्ठां वेद वसिष्ठः स्वानां भवति, वाग्वै वसिष्ठा। वसिष्ठः स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूषति य एवं वेद ॥२॥ यो ह वै प्रतिष्ठां

वेद प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे । चक्षुर्वै प्रतिष्ठा, चक्षुषा हि समे च दुर्गे च प्रतितिष्ठति । प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे य एवं वेद ॥३॥

जो ही वसिष्ठा को जानता है वह अपनों में वसिष्ठ हो जाता है; बसाने वाली होने से वाणी ही वसिष्ठा है। जो ऐसे जानता है वह अपनों में और जिनमें भी विद्यमान होता है, उनमें वसिष्ठ—बसाने वाला हो जाता है। जो ही प्रतिष्ठा को जानता है वह सम में स्थिर रहता है और दुर्गम—विषम में भी स्थिर रहता है। आंख ही प्रतिष्ठा है, आंख से ही मनुष्य सम स्थान वा मार्ग में और विषम में स्थिर रहता है। जो ऐसे जानता है वह सम में स्थिर रहता है और दुर्गम में स्थिर रहता है ऐसा उपासक सम और विषम दशाओं में नहीं डोलता, सदा एकरस रहता है।

यो ह वै सम्पदं वेद सं हास्मै पद्यते यं कामं कामयते, श्रोत्रं वै सम्पत् । श्रोत्रे हीमे सर्वे वेदा अभिसम्पन्नाः । सं हास्मै पद्यते यं कामं कामयते य एवं वेद ॥ ४ ॥ यो ह वा आयतनं वेदाऽऽयतनं स्वानां भवत्यायतनं जनानां, मनो वा आयतनम् । आयतनं स्वानां भवत्यायतनं जनानां य एवं वेद ॥५॥

जो जन ही संपत्ति को जानता है वह जिस अभिलषित वस्तु को चाहता है, उस के लिए वह ही पदार्थ (सम्पद्यते) प्राप्त हो जाता है; श्रोत्रेन्द्रिय ही सम्पत् है, श्रोत्र में ही ये सारे वेद भी भलीप्रकार प्राप्त हैं। वेदज्ञान श्रोत्र में ही आश्रित है। जो ऐसे जानता है वह जिस काम को चाहता है इसको वह ही प्राप्त हो जाता है। जो ही आश्रय को जानता है वह अपनों का आश्रय हो जाता है और अन्य जनों का भी आश्रय हो जाता है; मन ही आश्रय है। मन के आश्रित ही सब व्यवहार हैं। जो ऐसे जानता है वह अपनों का आश्रय हो जाता है और अन्य जनों का भी आश्रय हो जाता है।

यो ह वै प्रजातिं वेद प्रजायते ह प्रजया पशुभी रेतो वै प्रजातिः । प्रजायते ह प्रजया पशुभिर्य एवं वेद ॥६॥

जो जन ही प्रजाति को जानता है वह प्रजा से और पशुओं से सम्पन्न हो जाता है। रेतस् ही, यहां प्रजाति है। जो ऐसे जानता है वह प्रजा से और पशुओं से सम्पन्न हो जाता है।

ते हेमे प्राणा अहंश्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुस्तद्धोचुः—को नो

वसिष्ठ इति ? तद्धोवाच यस्मिन्व उत्क्रान्त इदं शरीरं पापीयो मन्यते ? स वो वसिष्ठ इति ॥८॥

वे ये दर्शन श्रवण आदि शक्तिरूप सारे प्राण, 'मैं कल्याण के लिए हूं—मैं श्रेष्ठतर हूं'—ऐसा विवाद करते हुए ब्रह्म के समीप गये और उस ब्रह्म को बोले—बताइए, हम में से कौन वसिष्ठ है ? उनको वह बोला—तुम में से जिसके निकल जाने पर जनसमूह इस शरीर को पापीय—पापिष्ठ मानता है तुम्हारे में वह वसिष्ठ है।

वाग्घोच्चक्राम, सा संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच—कथमशकत मदृते जीवितुमिति ? ते होचुर्यथाऽकला अवदन्तो वाचा, प्राणन्तः प्राणेन, पश्यन्तश्चक्षुषा, शृण्वन्तः श्रोत्रेण, विद्वांसो मनसा, प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति । प्रविवेश ह वाक् ॥८॥

यह सुन कर पहले देह से वाणी निकल गई। वह वर्ष भर बाहर बस कर, फिर शरीर के समीप आकर अन्य प्राणों को बोली—मेरे बिना कैसे तुम जीने को समर्थ हुए—कैसे तुम जी सके ? वे बोले—जैसे गूंगे मनुष्य वाणी से न बोलते हुए, प्राण से सांस लेते हुए, नेत्र से देखते हुए, कान से सुनते हुए, मन से जानते हुए, और रेतस् से प्रजा उत्पन्न करते हुए जीते रहते हैं ऐसे ही हम जीते रहे। तब अपनी वसिष्ठता न जान कर वाणी ने शरीर में प्रवेश किया।

चक्षुर्होच्चक्राम, तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ? ते होचुर्यथाऽन्धा अपश्यन्तश्चक्षुषा, प्राणन्तः प्राणेन, वदन्तो वाचा, शृण्वन्तः श्रोत्रेण, विद्वांसो मनसा, प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति । प्रविवेश ह चक्षुः ॥९॥ श्रोत्रं होच्चक्राम, तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति । ते होचुर्यथा बधिरा अशृण्वन्तः श्रोत्रेण, प्राणन्तः प्राणेन, वदन्तो वाचा, पश्यन्तश्चक्षुषा, विद्वांसो मनसा, प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति । प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥१०॥ मनो होच्चक्राम, तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ? ते होचुर्यथा मुग्धा अविद्वांसो मनसा, प्राणेन प्राणन्तः, वदन्तो वाचा, पश्यन्तश्चक्षुषा, शृण्वन्त, श्रोत्रेण, प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति । प्रविवेश ह मनः ॥११॥ रेतो होच्चक्राम, तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ? ते होचुर्यथा क्लीबा अप्रजायमाना

रेतसा, प्राणन्तः प्राणेन, वदन्तो वाचा, पश्यन्तश्चक्षुषा, शृण्वन्तः श्रोत्रेण, विद्वांसो मनसैवमजीविष्मेति । प्रविवेश ह रेतः ॥१२॥

रेतस् से यहां प्रजननेन्द्रियभाव ही अभिप्रेत है।

अथ ह प्राण उत्क्रमिष्यन्यथा महासुहयः सैन्धवः पड्वीशशङ्कून्संवृहेदेवं हैवेमान्प्राणान्संववर्ह । ते होचुर्मा भगव उत्क्रमीर्न वै शक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुमिति । तस्यो मे बलिं कुरुतेति तथेति ॥१३॥

तदनन्तर मुख्य प्राण—आत्मसत्ता की वारी आई। जैसे सिन्धुदेश का बड़ा उत्तम घोड़ा दौड़ते समय पैर बांधने के खूंटों को उखाड़ डाले ऐसे ही देह से निकलते हुए प्राण—आत्मभाव ने इन वाणी आदि सारी आत्मशक्तियों को उखाड़ दिया, उस के साथ सभी शक्तियां निकलने लगीं। तब उन प्राणों ने उसको कहा—भगवन्! देह से न निकल; निश्चय तेरे विना हम जी नहीं सकते। उत्तर में उसने कहा—उस श्रेष्ठ मुझको बलि—भेंट करो—मेरी पूजा करो। उन्होंने कहा—बहुत अच्छा।

सा ह वागुवाच यद्वा अहं वसिष्ठाऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति, यद्वा अहं प्रतिष्ठाऽस्मि त्वं तत्प्रतिष्ठोऽसीति चक्षुः, यद्वा अहं संपदस्मि त्वं तत्संपदसीति श्रोत्रं, यद्वा अहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति मनः, यद्वा अहं प्रजातिरस्मि त्वं तत्प्रजातिरसीति रेतः । तस्यो मे किमन्नं ? किं वास इति ? यदिदं किंचा श्वभ्य आ कृमिभ्य आ कीटपतङ्गेभ्यस्तत्तेऽन्नमापो वास इति । न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति नानन्नं प्रतिगृहीतं य एवमेतदनस्यान्नं वेद । तद्विद्वांसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वाऽऽचामन्त्येतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते ॥१४॥

तब वह वाणी बोली—जो ही मैं, बसाने वाली होने से वसिष्ठा हूँ वह वसिष्ठ तू है, नेत्र बोला—जो ही मैं प्रतिष्ठा हूँ वह प्रतिष्ठा तू है, श्रोत्र ने कहा—जो ही मैं सम्पत्ति हूँ वह सम्पद् तू है, मन बोला—जो ही मैं आश्रय हूँ वह आश्रय वास्तव में तू है, रेतस् बोला—जो ही मैं प्रजा देने वाला हूँ वह प्रजोत्पादक तू है। तदनन्तर प्राण बोला—उस मुझको क्या अन्न खाद्य है? और वस्त्र क्या है? उन्होंने कहा—कुत्तों से लेकर, कृमियों से लेकर और कीटपतंगों से आरम्भ कर जो कुछ भी यह खाया जाता है वह सब तेरा भोजन है और जल तेरा वस्त्र है। जो आत्मोपासक प्राण का आराधक इस प्रकार प्राण के इस अन्न को जानता है निश्चय, इसका खाया हुआ अन्न, अनन्न—अभक्ष्य नहीं होता, इसका किसीसे लिया हुआ अन्न वा परिग्रह अभक्ष्य नहीं होता। इसी कारण विद्वान्, श्रोत्रियजन खाते हुए—भोजनारम्भ में आचमन करते हैं और खाकर भी आचमन करते हैं, वे इससे इस ही उस प्राण को अनग्न

करते हुए—आच्छादन करते हुए मानते हैं; प्राण के उपासक तत्त्ववेत्ता, वेदपाठी लोग उपरोक्त अन्नको आच्छादन कर लेते हैं जिससे वे अन्नमात्र के दोष का नाश मानते हैं।

दूसरा ब्राह्मण

श्वेतकेतुर्ह वा आरुणेयः पञ्चालानां परिषदमाजगाम । स आजगाम जैवलिं प्रवाहणं परिचारयमाणं, तमुदीक्ष्याभ्युवाद कुमारा३इति । स भो ३ इति शुश्राव । अनुशिष्टोऽन्वसि पित्रेत्योमिति होवाच ॥१॥

अरुणानामक मुनि का पुत्र श्वेतकेतु एकदा पंचालप्रान्तों की सभा में आगया। वहां वह सेवा करवाते हुए, जीबल के पुत्र प्रवाहण राजा के पास जा पहुंचा। उस मुनिपुत्र को गर्वित देख कर राजा ने कुमार! यह कह कर अभिवादन किया। उसने भी अभिमानवश भो! कह कर उसको उत्तर दिया। राजा ने पूछा—क्या पिता से तू सुशिक्षित हुआ है—क्या तेरे पिता ने तुझे उपदेश दिया है? श्वेतकेतु ने कहा—हां, दिया है।

वेत्थ यथेमाः प्रजाः प्रयत्यो विप्रतिपद्यन्ता३ इति ? नेति होवाच । वेत्थो यथेमं लोकं पुनरापद्यन्ता३ इति । नेति हैवोवाच । वेत्थो यथाऽसौ लोक एवं बहुभिः पुनः पुनः प्रयद्भिर्न संपूर्यता३ इति ? नेति हैवोवाच । वेत्थो यतिथ्यामाहुत्यां हुतायामापः पुरुषवाचो भूत्वा समुत्थाय वदन्ती३ इति ? नेति हैवोवाच । वेत्थो देवयानस्य वा पथः प्रतिपदं पितृयाणस्य वा यत्कृत्वा देवयानं वा पन्थानं प्रतिपद्यन्ते पितृयाणं वा । अपि हि न ऋषेर्वचः श्रुतम् ।

> द्वे सृती अशृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानां,
> ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं चेति ।
> नाहमत एकं चन वेदेति होवाच ॥२॥

राजा ने कहा—हे कुमार! क्या तू जानता है जैसे ये जीव मर कर जाते हुए पृथक् हो जाते हैं! उसने कहा—मैं नहीं जानता। क्या तू जानता है जैसे वे जीव इस लोक को फिर लौट कर प्राप्त होते हैं! उसने कहा—मैं नहीं जानता। नृप ने कहा—क्या तू जानता है जैसे यह लोक ऐसे बार बार बहुत जाने वालों से भी नहीं भरपूर होता? उसने कहा—मैं नहीं जानता। नृप ने पूछा—क्या तू जानता है जिस संख्या वाली आहुति के हवन हो जाने पर जल पुरुषरूप हो खड़े होकर बोलने लग जाते हैं? उसने कहा—मैं नहीं जानता। फिर राजा ने पूछा—क्या तू जानता है देवयान मार्ग के साधन को और पितृयाण के साधन को, जो साधन करके देवयान मार्ग को और पितृयाण

मार्ग को प्राणी अवलम्बन करते है? क्योंकि निश्चय हमने ऋषि के वचन से सुना है—मैंने मनुष्यों के दो मार्ग सुने, उनमें एक पितरों का है और दूसरा देवों का। उन दोनों मार्गों से यह प्राणिजगत् चल रहा है और भली भांति स्थान को जाता है, वे मार्ग द्युलोक और पृथिवीलोक के मध्य में हैं। कुमार ने कहा—मैं इस प्रश्न से एक को भी—एक अंग को भी—नहीं जानता।

अथैनं वसत्योपमन्त्रयांचक्रेऽनादृत्य वसतिं कुमारः प्रदुद्राव। स आजगाम पितरं, तं होवाचेति वाव किल नो भवान्पुराऽनुशिष्टानवोचदिति। कथं सुमेध इति? पञ्च मा प्रश्नान् राजन्यबन्धुरप्राक्षीत्ततो नैकं चन वेदेति। कतमे त इति? इम इति ह प्रतीकान्युदाजहार।

तदनन्तर राजा ने इसको निवास के लिए उपमन्त्रण किया। कुमार वसति का अनादर कर वहां से भाग गया। वह अपने पिता के पास आ पहुंचा और उसको बोला—आपने पहले हमें कहा था कि तुमको शिक्षा दे दी गई। पिता ने कहा—हे सुबुद्धियुक्त पुत्र! यह बात कैसे है? उसने कहा—राजन्यबन्धु ने मुझको पांच प्रश्न पूछे थे, मैं उन में से एकको भी नहीं जानता। उसके पिता ने पूछा—वे प्रश्न कौनसे हैं? उसने कहा—ये हैं। उसने उनकी प्रतीकें कह दीं उसने प्रश्नों के मुख्य अंश सुना दिये।

स होवाच तथा नस्त्वं तात जानीथा यथा यदहं किंच वेद सर्वमहं तत्तुभ्यमवोचं, प्रेहि तु तत्र प्रतीत्य ब्रह्मचर्यं वत्स्याव इति। भवानेव गच्छत्विति। स आजगाम गौतमो यत्र प्रवाहणस्य जैवलेरास, तस्मा आसनमाहृत्योदकमाहारयांचकार, अथ हास्मा अर्घ्यं चकार। तं होवाच—वरं भगवते गौतमाय दद्म इति ॥४॥

वह मुनि बोला—जैसा जो कुछ मैं जानता हूं वह सब मैंने तुझे कह दिया, हे प्यारे! ऐसा तू हम को जान, तुझसे मैंने कोई भेद छुपा कर नहीं रक्खा है। आ मेरे साथ, हम वहां जाकर ब्रह्मचर्यपूर्वक रहें और इन प्रश्नों के उत्तर जानें। कुमार ने कहा—आप ही जायें। वह गौतम वहां आगया जहां जैवलि प्रवाहण की सभा थी। प्रवाहण ने उसके लिए आसन देकर पानी मंगवाया और उसका अर्घ्य किया। तदनन्तर उसको बोला—भगवान् गौतम को हम वर देते हैं।

स होवाच प्रतिज्ञातो म एष वरो यां तु कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तां मे ब्रूहीति ॥५॥ स होवाच दैवेषु वै गौतम तद्वरेषु मानुषाणां ब्रूहीति ॥६॥

गौतम ने कहा—यह वर मुझको तूने दिया—देने की प्रतिज्ञा कर ली, परन्तु जिस वाणी को कुमार के समीप तू बोला था मुझे अब वह ही कहो। वह राजा बोला हे गौतम! निश्चय वह वर दैवे वरों में है—उस वर को देवजन मांगा करते हैं। तू मनुष्य है इस कारण धनादि मानुष वरों में से वर कहो, मनुष्यसंबन्धी वर मांग। वह वर ही तुझे मांगना चाहिए।

स होवाच विज्ञायते हास्ति हिरण्यस्यापात्तं, गोअश्वानां दासीनां प्रवाराणां परिधानस्य। मा नो भवान्बहोरनन्तस्यापर्यन्तस्याभ्यवदान्यो भूदिति। स वै गौतम तीर्थेनेच्छासा इति। उपैम्यहं भवन्तमिति। वाचा ह स्मैव पूर्व उपयन्ति। स होपायनकीर्त्योवास ॥७॥

वह गौतम बोला—आप जानते हैं कि सोने की प्राप्ति मेरे पास है, गौओं, घोड़ों दासियों परिवारों और वस्त्रों की प्राप्ति मुझको है। अब हमारे लिए श्रीमान् बहुत, अनन्त और अपार फल के अदानी वा अनुदार न होवें"। यह सुन कर राजा ने कहा—हे गौतम! वह तू इस वर को निश्चय तीर्थ से—गुरुशिष्य-पद्धति से चाह—मांग। गौतम ने हाथ जोड़ कर कहा—मैं आपको शिष्यभाव से प्राप्त होता हूं—मैं आपका शिष्य बनता हूं। पूर्व पुरुष भी वाणी से [उपयन्ति स्म] प्राप्त हुआ करते थे। वह कह कर उसके पास रहा—उसने सेवा-शुश्रूषा और कीर्ति-वर्णन से उसके निकट निवास किया।

स होवाच तथा नस्त्वं गौतम माऽपराधास्तव च पितामहा यथा। इयं विद्येतः पूर्वं न कस्मिंश्चन ब्राह्मण उवास। तां त्वहं तुभ्यं वक्ष्यामि, को हि त्वैवं ब्रुवन्तमर्हति प्रत्याख्यातुमिति ॥८॥

उस राजा ने कहा—हे गोतम! तू वैसे ही हमारा न अपराध कर जैसे तेरा पितामह नहीं करता था—तू हमारा शिष्य बन कर हमें अपराधी न बना; तेरे दादा की भांति तू भी हमें आदरणीय है। वास्तव में इस समय से पहले यह विद्या किसी भी ब्राह्मण के समीप नहीं रही। आज मैं वह क्षत्रियरक्षित विद्या तुझे कहूंगा। ऐसे विनय से कहते हुए को निश्चय कौन नहीं में उत्तर दे सकता है।

असौ वै लोकोऽग्निर्गौतम! तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुत्यै सोमो राजा सम्भवति ॥९॥

हे गौतम ! वह ही द्युलोक अग्नि है, उसकी समिधा सूर्य ही है, उसका धूम सूर्य की किरणें हैं, उसकी ज्वाला दिन है, उसके अङ्गारे दिशाएं हैं और उसकी चिनगारियां अन्तरदिशाएं हैं। उस इस अग्नि में देवजन श्रद्धा को होमते हैं, उस श्रद्धा की आहुति से सोम राजा उत्पन्न होता है—जल उत्पन्न हो जाता है।

पर्जन्यो वा अग्निर्गौतम ! तस्य संवत्सर एव समिदभ्राणि धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादुनयो विस्फुलिङ्गाः । तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमं राजानं जुह्वति, तस्या आहुत्यै वृष्टिः संभवति ॥१०॥

हे गौतम ! दूसरे स्थान में पर्जन्य—बाष्पसमूह ही अग्नि है; उसकी समिधा वर्ष ही है, उसका धूआं बादल हैं, उसकी ज्वाला चमकने वाली बिजली है, उसके अङ्गारे गिरने वाली बिजली है, उसकी चिनगारियां मेघगर्जनाएं हैं। उस इस अग्नि में देवजन सोम राजा को होमते हैं; उस आहुति से वृष्टि उत्पन्न होती है।

अयं वै लोकोऽग्निर्गौतम ! तस्य पृथिव्येव समिदग्निर्धूमो रात्रिरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वृष्टिं जुह्वति। तस्या आहुत्या अन्नं संभवति ॥११॥

हे गौतम ! यह प्रत्यक्ष समीपस्थ लोक ही अग्नि है, उसकी समिधा पृथिवी ही है, उसका धूम्र अग्नि है, उसकी ज्वाला रात्रि है, उसके अङ्गारे चन्द्रमा हैं और उसकी चिनगारियां नक्षत्र हैं। उस इस अग्निमें देवजन वृष्टि को होमते हैं। उस आहुति से अन्न उत्पन्न होता है।

पुरुषो वा अग्निर्गौतम ! तस्य व्यात्तमेव समित्प्राणो धूमो वागर्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति। तस्या आहुत्यै रेतः संभवति ॥१२॥

हे गौतम ! पुरुष ही चौथी अग्नि है, उसकी समिधा (व्यात्तम्) खुला हुआ मुख ही है उसका धूआं प्राण है, उसकी ज्वाला वाणी है, उसके अङ्गारे आंख हैं, और उसकी चिनगारियां श्रोत्र हैं। उस इस अग्नि में देवजन अन्न को होमते हैं; उस आहुति से रेतस् उत्पन्न होता है।

योषा वा अग्निर्गौतम ! तस्या उपस्थ एव समिल्लोमानि धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति, तस्या आहुत्यै पुरुषः संभवति। स जीवति यावज्जीवत्यथ यदा म्रियते ॥१३॥

हे गौतम! स्त्री ही पांचवीं अग्नि है उसका उपस्थ ही समिधा है, धूआं लोम हैं, ज्वाला योनि है, जो भीतर क्रिया है वे अङ्गारे हैं, चिनगारियां अभिनन्दन हैं। उस इस अग्नि में देवजन रेतस् का होम करते हैं। उस आहुति से मनुष्य जन्म लेता है। वह जीता रहता है जबतक जीता रहता है, प्रारब्धानुसार जीता रहता है और जब मरता है तब—

अथैनमग्नये हरन्ति तस्याग्निरेवाग्निर्भवति, समित्समिद् धूमो धूमोऽर्चिरार्चि-रङ्गारा अङ्गारा विस्फुलिङ्गा विस्फुलिङ्गाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः पुरुषं जुह्वति। तस्या आहुत्यै पुरुषो भास्वरवर्णः संभवति ॥१४॥

इस मृत को बन्धुजन दाह की अग्नि के लिए श्मशान में ले जाते हैं। दाहकर्म में उसकी दाह की अग्नि ही अग्नि होती है, समिध् ही समिध्, धूआं ही धूआं, ज्वाला ही ज्वाला, अङ्गारे ही अङ्गारे और विस्फुलिङ्ग ही विस्फुलिङ्ग होते हैं। उस इस स्वाभाविक अग्नि में देवजन मरे मनुष्य का होम—दाह करते हैं; सर्वसंस्कारों से संस्कृत होकर उस आहुति से आत्मा दीप्तिमान होजाता है। पञ्चाग्नि का उपासक अन्त में तेजोमय हो जाता है। पञ्चाग्नि नाम से कोई उपासना विशेष थी जिससे गर्भाधान होने पर उत्तम पुरुष का उदय होता था। उस उपासना की विधि लुप्त हो गई।

ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिरभि-संभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षण्मासानुदङ्ङादित्य एति, मासेभ्यो देवलोकं, देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं, तान् वैद्युतान्पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति। ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति, तेषां न पुनरावृत्तिः ॥१५॥

वे जो ऐसे यह पञ्चाग्नि-विद्या जानते हैं और जो ये वन में जाकर श्रद्धा को और सत्य को आराधते हैं वे दोनों प्रकार के साधक जन ज्वालादर्शन प्राप्त करते हैं, ज्वाला से दिन को, दिन से शुक्लपक्ष को, शुक्लपक्ष से जिन छः मासों को, उत्तर को, सूर्य आता है उनको, मासों से देवलोक को, देवलोक से सूर्य को, आदित्य से वैद्युत अवस्था को प्राप्त होते हैं, ऐसे उपासक क्रमशः तेजोमय होते जाते हैं। उन वैद्युत दशा प्राप्त उपासकों को मानस—संकल्पमय आत्मा आकर ब्रह्मलोकों को प्राप्त कराता है—भगवान् का संकल्प उनको ब्रह्मलोक में पहुंचाता है। वे उन ब्रह्मलोकों में परम उत्कृष्ट होकर परमोत्कृष्ट पदों में वास करते हैं, उनकी पुनरावृत्ति नहीं है। ज्वाला-दर्शनादि अवस्थाएं आत्मा की उत्तरोत्तर उन्नति परिचायक हैं।

अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्ति ते धूममभिसंभवन्ति, धूमाद्रात्रिं; रात्रेरपक्षीयमाणपक्षम्, अपक्षीयमाणपक्षाद्यान् षण्मासान्दक्षिणाऽऽदित्य एति, मासेभ्यः पितृलोकं, पितृलोकाच्चन्द्रं, ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति । तांस्तत्र देवा यथा सोमं राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनांस्तत्र भक्षयन्ति । तेषां यदा तत्पर्यवैत्यथेममेवाकाशमभिनिष्पद्यन्त आकाशाद्वायुं; वायोर्वृष्टिं, वृष्टेः पृथिवीं; ते पृथिवीं प्राप्यान्नं भवन्ति । ते पुनः पुरुषाग्नौ हूयन्ते, ततो योषाग्नौ जायन्ते, लोकान्प्रत्युत्थायिनस्त एवमेवानुपरिवर्तन्ते । अथ य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम् ॥१६॥

और जो जन होमे से दान से और तप से लोकों को जीतते हैं किन्तु भगवान् की श्रद्धा-भक्ति से रहित हैं वे लोग धूम्र को—धूम्रवत् स्वल्पप्रकाशवान् लोक को प्राप्त होते हैं, धूएं से रात्रि को, रात्रि से कृष्णपक्ष को, कृष्णपक्ष से जिन छ मासों को दक्षिण को सूर्य जाता है उनको, मासों से पितृलोक को, पितृलोक से चन्द्र को जाते हैं। वे चन्द्र को पाकर अन्न-स्थूलकाय हो जाते हैं, उनका पहले सा सूक्ष्मशरीर नहीं रहता। वहां चन्द्र में उनको देव, जैसे सोमराजा को—सोमरस को याजक लोग बढ़, जीर्ण हो कह कर पान करते हैं ऐसे ही इनको वहां भक्षण करते हैं, वहां वे शरीर बदलते रहते हैं। जब उनका वह पितृलोकसंबन्धी कर्म क्षय हो जाता है तब वे इस ही आकाश को प्राप्त होते हैं, आकाश से वायु को, वायु से वर्षा को—जल को, जल से पृथिवी को आते हैं। वे पृथिवी पर पहुंच कर अन्न—स्थूलतरकाय हो जाते हैं। तदनन्तर वे फिर ईश्वरीयनिमय से पुरुषाग्नि में—मानुष शरीर में होमे जाते हैं, तत्पश्चात् योषाग्नि में उत्पन्न होते हैं, फिर उठने—जन्मने और मरने वाले लोकों को वे इस प्रकार ही घूमते रहते हैं—उनकी पुनरावृत्ति होती रहती है। और जो इन दोनों मार्गों को नहीं जानते वे कीट, पतंगे और जो यह दान्तों से काटने वाले हैं वे होते रहते हैं, अर्थात् वे जायस्व म्रियस्व योनियों में घूमते रहते हैं।

तीसरा ब्राह्मण

स यः कामयेत महत्प्राप्नुयामित्युदगयन आपूर्यमाणपक्षस्य पुण्याहे द्वादशाहमुपसद्व्रती भूत्वौदुम्बरे कंसे चमसे वा सर्वौषधं फलानीति संभृत्य, परिसमुह्य परिलिप्याग्निमुपसमाधाय परिस्तीर्याऽऽवृताऽऽज्यं संस्कृत्य पुंसा नक्षत्रेण मन्थं सन्नीय जुहोति । यावन्तो देवास्त्वयि जातवेदस्तिर्यञ्चो घ्नन्ति पुरुषस्य कामान्

तेभ्योऽहं भागधेयं जुहोमि, ते मा तृप्ताः सर्वैः कामैस्तर्पयन्तु स्वाहा। या तिरश्ची निपद्यतेऽहं विधरणी इति तां त्वा घृतस्य धारया यजे संराधनीमहं स्वाहा ॥१॥

वह जो महत्त्व को प्राप्त होऊं ऐसा चाहे वह उत्तरायण में, शुक्लपक्ष के पुण्यदिन में बारह दिन पर्यन्त उपसद्-व्रती होकर—दुग्धपूर्वक उपवास धारण कर, उदुम्बर के वा कंसे के चमसे में-पात्र में तिल, जवादि सर्ववस्तु और फल एकत्र कर, भूमि को साफ कर, वेदी को लीपे कर, अग्नि को स्थापित कर, कुशासन बिछा कर, सामग्री ढक कर घृत को संस्कृत बनाकर-उष्ण कर और पुन कर, पुन्नामक नक्षत्र में सामग्री को अग्नि के समीप लाकर हवन करे। और कहे—हे जातवेद अग्नि! तुझमें—तेरे आश्रित जितने टेढ़े चलने वाले - विघ्नकारी देव उपासक मनुष्य के मनोरथों को हनन करते हैं मैं उनके भाग को हवन करता हूं। वे इस बलि से तृप्त हुए मुझको सारे मनोरथों से तृप्त करें। स्वाहा कह कर आहुति डाले। फिर कहे—हे जातवेद! जो कुटिलगामिनी देवता, मैं सबको धारण करती हूं यह मान कर तुझको प्राप्त होती है उस तुझ सर्वसाधनी को मैं घृत की धारा से यजन करता हूं, ऐसा कह कर स्वाहापूर्वक आहुति देवे।

ज्येष्ठाय स्वाहा, श्रेष्ठाय स्वाहा, इत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति। प्राणाय स्वाहा वसिष्ठायै स्वाहा, इत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति। वाचे स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहा, इत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति। चक्षुषे स्वाहा संपदे स्वाहा, इत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति। श्रोत्राय स्वाहाऽऽयतनाय स्वाहा, इत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति। मनसे स्वाहा प्रजात्यै स्वाहा, इत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति। रेतसे स्वाहा, इत्यग्नौ हुत्वा संस्रवमवनयति ॥२॥

ये आहुतियां देते हुए मन्थ में घृत को सींचता जाय। आहुति प्रदान करने के पश्चात् स्रुवा में लगे हुए घृत को मन्थ में टपकावे।

अग्नये स्वाहा, इत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति। सोमाय स्वाहा, इत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति। भूः स्वाहा, इत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति। भुवः स्वाहा, इत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति। स्वः स्वाहा, इत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति। भूर्भुवः स्वः स्वाहा, इत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति। ब्रह्मणे स्वाहा, इत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति। क्षत्राय स्वाहा, इत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति। भूताय स्वाहा, इत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति। भविष्यते स्वाहा, इत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति।

विश्वाय स्वाहा, इत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति। सर्वाय स्वाहा, इत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति। प्रजापतये स्वाहा, इत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति ॥३॥

उक्त प्रकार से होम करे और स्रुवा से लगा हुआ घृत मन्थ में टपकाता जावे।

अथैनमभिमृशति—भ्रमदसि, ज्वलदसि, पूर्णमसि, प्रस्तब्धमस्येकसभमसि हिंकृतमसि हिंक्रियमाणमस्युद्गीथमस्युद्गीयमानमसि, श्रावितमसि, प्रत्याश्रावितमस्यार्द्रे संदीप्तमसि, विभुरसि, प्रभुरस्यन्नमसि ज्योतिरसि, निधनमसि, संवर्गोऽसीति ॥४॥

तदनन्तर इस मन्थ को स्पर्श करे, अगला मन्त्र पढ़ता हुआ स्पर्श करे। हे देव! तू हिलता है—सक्रिय है, जाज्वल्यमान है, अपने में पूर्ण है, निश्चल—कूटस्थ है, एक सप्रकाश है, यज्ञ में प्रस्तोता जो हिंकृत किया करता है वह हिंकृत तू है, तू हिंक्रियमाण है, तू उद्गीथ है, तू ऊंचे स्वर से गाया जा रहा है, तू सुनाया गया है और तू प्रत्युत्तर सुनाया गया है। मेघ में तू ही विद्युत्रूप से संदीप्त है तू सर्वत्र विद्यमान है, तू समर्थ है तू अन्न—जीवन है, तू ज्योति है, तू लय-स्थान है और तू ही संहारकर्ता है।

अथैनमुद्यच्छति—आमंस्यामंहि ते महि, स हि राजेशानोऽधिपतिः, स मां राजेशानोऽधिपतिं करोत्विति ॥५॥

तदनन्तर इस मन्थ को हाथ में लेवे और यह मन्त्र बोले—हे देव! तू आमंसि—सर्वज्ञ है, तेरे महत्त्व को आमंहि—हम जानते हैं, वह ही तू राजा है, शासनकर्ता है और सब का अधिपति है। वह राजा, शासक और सर्वाधीश मुझको मनुष्यों का अधिपति करे—मनुष्यों का नेता बनावे।

अथैनमाचामति—"तत्सवितुर्वरेण्यम्" "मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः"। भूः स्वाहा। "भर्गो देवस्य धीमहि" मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता"। भुवः स्वाहा। "धियो यो नः प्रचोदयात्"। "मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमां अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः"। स्वः स्वाहेति। सर्वां च सावित्रीमन्वाह सर्वाश्च मधुमतीरहमेवेदं सर्वं भूयासं भूर्भुवः स्वः स्वाहा, इत्यन्तत आचम्य, पाणी प्रक्षाल्य जघनेनाग्निं प्राक्शिराः संविशति। प्रातरादित्यमुपतिष्ठते दिशामेकपुण्डरीकमस्यहं मनुष्याणामेकपुण्डरीकं भूयासमिति यथेतमेत्य जघनेनाग्निमासीनो वंशं जपति ॥६॥

तत्पश्चात् इस मन्थ को चार भाग बना कर चार बार भक्षण करे। "तत्सवितुर्वरेण्यम्" गायत्री का यह पद पढ़ कर यह मन्त्र पढ़े—हे परमेश्वर! चहुं ओर से पवनें मधुस्वरूप होकर चल रही हैं। नदियां मधु बहा रही हैं, हमारे लिए ओषधियां—गोधूमादि अन्न मधुररस वाले हों। भूः स्वाहा, इतना पाठ पढ़ कर प्रथम ग्रास भक्षण करे। फिर "भर्गो देवस्य धीमहि" पद पढ़ कर यह मन्त्र पढ़े—रात्रि और दिन हमारे लिए मधु हों, पृथिवी का जल मधु वाला हो, पालक द्युलोक हमारे लिए मधु हो। भुवः स्वाहा, इतना पाठ पढ़ कर दूसरा ग्रास भक्षण करे। "धियो यो नः प्रचोदयात्" यह पद पढ़ कर यह मन्त्र पढ़े—हमारे लिए वनस्पति मधुयुक्त हो, सूर्य मधुवाला हो और हमारे लिए गौयें मधुवाली हों। स्वः स्वाहा, इतना पाठ पढ़कर तीसरा ग्रास भक्षण करे। फिर सारी सावित्री को उच्चारण करे, और "मधु वाता ऋतायते" इत्यादि सारी मधुमती ऋचाएं पढ़े और मैं ही यह सब हो जाऊं भूर्भुवः स्वः स्वाहा, इतना पाठ पढ़ कर चौथा ग्रास—सम्पूर्ण भक्षण कर, दोनों हाथ धो, अग्नि के पीछे पश्चिम को, पूर्व को शिर करके सो जाय। जग कर प्रातः आदित्य का उपस्थान करे। तू दिशाओं में एक—अद्वितीय कमल है, मैं मनुष्यों में एक—अद्वितीय कमल हो जाऊं। जैसे गया था वैसे ही आकर—पूर्ववत् अग्निसमीप जाकर, अग्निकुण्ड की पश्चिम की ओर आगे बैठ कर आगे कहे वंश को जपे।

तं हैतमुद्दालक आरुणिर्वाजसनेयाय याज्ञवल्क्यायान्तेवासिन उक्त्वोवाचा-पि य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥७॥

उस इस होमअनुष्ठान को अरुण के पुत्र उद्दालक ऋषि ने वाजसनेय याज्ञवल्क्य नामक अपने शिष्य को उपदेश देकर कहा—यदि कोई उपासक इस मन्थ को सूखे वृक्ष पर सींचे तो भी उसमें शाखाएं उत्पन्न हो जायें और पत्र फूट निकलें, नास्तिक मनुष्य भी इसे पान कर आस्तिक हो जाय।

एतमु हैव वाजसनेयो याज्ञवल्क्यो मधुकाय पैङ्ग्यायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥८॥ एतमु हैव मधुकः पैङ्ग्यश्चूलाय भागवित्तयेऽन्तेवासिन उत्क्वोवाचापि य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥९॥ एतमु हैव चूलो भागवित्तिर्जानकय आयस्थूणायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥१०॥ एतमु हैव जानकिरायस्थूणः सत्यकामाय जाबालायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चे-ज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥११॥

एतमु हैव सत्यकामो जाबालोऽन्तेवासिभ्य उक्त्वोवाचापि य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति। तमेतं नापुत्राय वाऽनन्तेवासिने वा ब्रूयात् ॥१२॥

और इस मन्थहोम को ही वाजसनेय याज्ञवल्क्य ने पैङ्ग्य मधुक शिष्य को बताया। और इसको ही मधुक ने चूल भागवित्ति शिष्य के लिए उपदेश दिया। चूल भागवित्ति ने जानकि आयस्थूण को इसका उपदेश दिया। जानकि आयस्थूण ने इसका ही उपदेश अपने शिष्य सत्यकाम जाबाल को दिया। सत्यकाम जाबाल ने इसका ही उपदेश अपने शिष्यों को दिया। उस इस मन्थहोम का अनुष्ठान जिसका पुत्र और शिष्य न हो उसे न कहे। पुत्र और शिष्य ही इस होमभेद के अधिकारी हैं। इस अनुष्ठान से मनुष्य महत्त्व को प्राप्त कर लेता है।

चतुरौदुम्बरो भवत्यौदुम्बरः स्रुव औदुम्बरश्चमस औदुम्बर इध्म औदुम्बर्या उपमन्थन्यौ। दश ग्राम्याणि धान्यानि भवन्ति—व्रीहियवास्तिलमाषा अणुप्रियङ्गवो गोधूमाश्च मसूराश्च खल्वाश्च खलकुलाश्च। तान्पिष्टान् दधनि मधुनि घृत उपसिञ्चत्याज्यस्य जुहोति ॥१३॥

इस विधि के पात्र और हवन के अन्न अब वर्णन किये जाते है। चार प्रकार के गूलर के पात्र होते हैं—गूलर का स्रुवा, गूलर का चमस, गूलर की समिधा और गूलर की दो उपमन्थनियां। दस प्रकार के ग्रामसबंन्धी धान होते हैं—व्रीहि, यव, तिल, माष—उड़द, विन्ध्याचल पर एक अणुनामक धान होता है वह, प्रियङ्गु, गेहूं, मसूर, निष्पाव और कुलत्थ। उन पीसे हुओं को पात्र में डाल कर दही, मधु और घृत उन पर सींचे घृत का होम करे।

चौथा ब्राह्मण

एषां वै भूतानां पृथिवी रसः, पृथिव्या आपोऽपामोषधयः, ओषधीनां पुष्पाणि, पुष्पाणां फलानि, फलानां पुरुषः, पुरुषस्य रेतः ॥१॥

निश्चय, इन चराचर भूतों का पृथिवी सार है, पृथिवी के आश्रित भूत हैं इस कारण उनका यह सार है। पृथिवी का सार जल हैं, जलों का सार ओषधियां हैं, ओषधियों का सार पुष्प हैं, पुष्पों का सार फल हैं, फलों का सार पुरुष—मनुष्यशरीर है, मनुष्यदेह का सार रेतस् है।

स ह प्रजापतिरीक्षांचक्रे हन्तास्मै प्रतिष्ठां कल्पयानीति, स स्त्रियं ससृजे, तां सृष्ट्वाऽधं उपास्त तस्मात्स्त्रियमधं उपासीत। स एतं प्राञ्चं ग्रावाणमात्मन एव समुदपारयत्तेनैनामभ्यसृजत् ॥२॥

उस ईश्वर ने इच्छा की कि इस पुरुषसार के लिए प्रतिष्ठा—उत्तम स्थान बनाऊं। तब उसने स्त्री को रचा। उसको रच कर नीचे उसको आराधा—स्त्री का पद पत्नीरूप नियत किया। इसी कारण स्त्री को पत्नीरूप में पति आराधे। उस ईश्वर ने इस पुरातन शिलावत् कठोर धर्म को अपने ही नियम से पूर्ण किया, ईश्वर ने उसी नियम से—स्त्री पुरुष के स्वाभाविक नियम से इसको रचा।

तस्या वेदिरुपस्थो लोमानि बर्हिश्चर्माधिषवणे समिद्धो मध्यतस्तौ मुष्कौ। स यावान् ह वै वाजपेयेन यजमानस्य लोको भवति तावानस्य लोको भवति। य एवं विद्वानधोपहासं चरत्यासां स्त्रीणां सुकृतं वृङ्क्तेऽथ य इदम-विद्वानधोपहासं चरत्यस्य स्त्रियः सुकृतं वृञ्जते ॥३॥

स्त्री को यज्ञस्थान वर्णन करते हुए ऋषि ने कहा—उसका जननस्थान ही वेदि है, लोम बर्हि है, तन का चर्म वेदि पर बिछने वाले चर्म के समान है। वे मुष्क अधिष-वण हैं और मध्यभाग यज्ञकुण्ड की दीप्त अग्नि है। वह जितना ही वाजपेय से यजमान का लोक ऊंचा होता है उतना ही इस पत्नीव्रती का ऊंचा लोक होता है। जो इस प्रकार पातिव्रत्य और पत्नीव्रत को जानता हुआ गृहस्थ कर्म में रत होता है, सन्तानसंपादनार्थ प्रवृत्त होता है वह इन स्त्रियों के पुण्यकर्म को—धार्मिक भाव को स्वीकार करता है, स्त्री का जीवन कितना सुकृतसंचित है यह मान जाता है और जो इस पातिव्रत्य और पत्नीव्रत धर्म को न जानता हुआ संसर्ग करता है इसके सुकृत को स्त्रियां भोगती हैं; अव्रती पुरुष सुकृतकर्म नाश कर देता है।

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानुद्दालक आरुणिराहैतद्ध स्म वै तद्विद्वान्नाको मौद्गल्य आहैतद्ध स्म वै तद्विद्वान् कुमारहारित आह। बहवो मर्या ब्राह्मणा-यना निरिन्द्रिया विसुकृतोऽस्माल्लोकात्प्रयन्ति य इदमविद्वांसोऽधोपहासं चरन्तीति बहु वा इदं सुप्तस्य वा जाग्रतो वा रेतः स्कन्दति ॥४॥

यह ही गृहस्थी का आचारधर्म, उस भेद को जानता हुआ अरुण का पुत्र उद्दालक (आह स्म) कहा करता था, यह ही धर्म, भेद को जानता हुआ मुद्गल का पुत्र नाक कहा करता था और यह ही धर्म, भेद को जानता हुआ कुमारहारित

(आह स्म) कहा करता था। बहुत से मनुष्य ब्राह्मणें—अयन—स्थान वा पद वाले भी—ब्राह्मण कहलाने वाले भी संयोग को यज्ञ न जानते हुए, दुराचार के कारण इन्द्रियहीन सुकृतरहित होकर इस लोक से अशुभ लोक को जाते हैं; ऐसे वे ही जन होते हैं; जो इस सदाचार के भेद को न जानते हुए संसर्ग करते हैं। सोते हुए का वा जागते का बहुत यह रेतस् बह जाता है वह अच्छा नहीं है।

तदभिमृशेदनु वा मन्त्रयेत्—यन्मेऽद्य रेतः पृथिवीमस्कान्त्सीद्यदोषधीरप्यसरद्यदपः। इदमहं तद्रेत आददे पुनर्मामैत्विन्द्रियं पुनस्तेजः पुनर्भगः। पुनरग्निर्धिष्ण्या यथास्थानं कल्पन्तामित्यनामिकाङ्गुष्ठाभ्यामादायान्तरेण स्तनौ वा भ्रुवौ वा निमृंज्यात् ॥५॥

जिसको स्वप्नादि में यह दोष पीडित करता हो वह उस रेतस्-पात को भली भांति विचारे और पश्चात्ताप करता हुआ दोषनिवारणार्थ (अनुमन्त्रयेत्) तदनन्तर यह मन्त्र जपे। आज जो मेरा रेतस् पृथिवी पर स्रवित हो गया जो ओषधियों की ओर तथा जो जलों की ओर बहा, मैं वह यह सामर्थ्य लेता हूं, निग्रह की शक्ति धारण करता हूं। रेतस्-निग्रह से मुझको फिर इन्द्रियबल (ऐतु) प्राप्त हो; फिर तेज, फिर सौभाग्य प्राप्त हो। अग्नि है स्थान जिसका वे अग्निधिष्ण्य देव—सामर्थ्य फिर मुझको यथास्थान में कर दें, मेरे गये हुए बल को फिर लौटा दें। यह मन्त्र जप कर अनामिका और अंगूठे से जल लेकर दोनों स्तनों और भ्रुवों के मध्य में लिप्त करे।

अथ यद्युदक आत्मानं परिपश्येत्तदभिमन्त्रयेत—"मयि तेज इन्द्रियं यशो द्रविणं सुकृतमिति"। श्रीर्ह वा एषा स्त्रीणां यन्मलोद्वासास्तस्मान्मलोद्वाससं यशस्विनीमभिक्रम्योपमन्त्रयेत ॥६॥

और यदि जल में स्नान करता हुआ अपने आपको—अपनी आकृति को देखे तो रेतस्-निग्रहार्थ जल में स्नान करते समय यह मन्त्र जपे—मुझमें तेज, इन्द्रिय, यश, धन शुभ कर्म हों। स्त्रियों में निश्चय यह पत्नी ही पुरुष की शोभा है जो पत्नी निर्मल वस्त्र वाली है अर्थात् जिसने अपने चरित्र को कदापि दूषित नहीं किया। इस कारण पत्नीव्रती पुरुष सन्तानार्थ निर्मल वस्त्र वाली यशस्विनी भार्या को पाकर उसके पास जाकर उससे वार्त्तालाप करे।

सा चेदस्मै न दद्यात्काममेनामवक्रीणीयात्; सा चेदस्मै नैव दद्यात्काम-

मेनां यष्टया वा पाणिना वोपहत्यातिक्रामेदिन्द्रियेण ते यशसा यश आदद इत्ययशा एव भवति ॥७॥

यदि वह स्त्री कुलटा हो, व्यभिचारिणी हो और पति को भेद न दे तो भद्र पुरुष उसके सुधारार्थ यथेच्छा से—प्रेम से इसको वश कर ले परन्तु बिगड़ने न दे। यदि वह स्त्री इसको अपना भेद कदापि न देवे तो पति उसके सुधारार्थ यथेच्छ-प्रकार से इसको लाठी वा हाथ से तोड़ कर वश कर ले परन्तु वियोग न होने दे। उसको प्रेम से कहे कि इन्द्रिय से और यश से—अपने जितेन्द्रिय कर्म से और पत्नीव्रत यश से मैं तेरा यश लेता हूं—तुझे चरित्रवती बनाता हूं। यदि इतना करने पर भी वह न माने तो अपकीर्ति वाली ही हो जाती है।

सा चेदस्मै दद्यादिन्द्रियेण ते यशसा यश आदधामीति। यशस्विनावेव भवतः ॥८॥

यदि वह स्त्री इसको—पति को अपने कुकर्म का भेद दे देवे तो उसे सुधार कर पति उसको कहे—जितेन्द्रिय कर्म से, यतिपन के यश से, मैं तेरा यश सर्व प्रकार स्थापन करता हूं, तुझे निन्दित नहीं होने दूंगा। इस प्रेम और उदार भाव से वे पति-पत्नी दोनों यश वाले ही हो जाते हैं, उन का अपयश नहीं फैलता।

स यामिच्छेत्कामयेत मेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखं संधायोपस्थ-मस्या अभिमृश्य जपेत्। "अङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादधि जायसे। स त्वमङ्ग-कषायोऽसि दिग्धविद्धामिव मादयेमाममूं मयीति ॥९॥

वह पति जिस भार्या को चाहे कि यह मुझको चाहती रहे सदा प्रेम करती रहे, तो वह उस पत्नी में अपने अर्थ को—प्रयोजन को स्थापित कर, उसके मुखसे मुख मिला कर उसके अंग को विचार कर यह पाठ जपे—प्रेम से वार्त्तालाप करे। 'हे प्रेम! तू अङ्ग अङ्ग से प्रकट हो रहा है, तू हृदय से उदय हो रहा है। वास्तव में वह तू अङ्गों का रस है—मानवतन का सार है। विषलिप्त शर से विद्ध मृगीवत् इस उस मेरी भार्या को हे प्रेम! मेरे लिए मदमयी कर—मुझमें प्रेम-मदवती बना।

अथ यामिच्छेन्न गर्भं दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखं संधायाभि-प्राण्यापान्यात्, इन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदद इत्यरेता एव भवति ॥१०॥ अथ यामिच्छेद्दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखं संधायापान्याभिप्राण्यादिन्द्रि-येण ते रेतसा रेत आदधामीति गर्भिण्येव भवति ॥११॥

और जिस पत्नी को पति चाहे कि वह गर्भ न धारण करे तो उसमें प्रयोजन को—अपने आशय को स्थापन कर, उसके मुख से अपना मुख मिला कर, प्राण वायु बाहर निकाले, प्राण को बाहर अपान में रोक कर संयोग करे और कहे—जनन-अङ्ग के रेतस् से तेरे रेतस् को मैं लेता हूं। इससे अरेत ही हो जाता है। तथा जिस पत्नी को पति चाहे कि यह गर्भ को धारण करे तो उसमें प्रयोजन को—आशय को स्थापन कर, उसको स्वप्रयोजन बता कर, मुख से मुख मिला कर बाहर से भीतर को प्राण ले और कहे—जनन-अङ्ग के रेतस् से तेरे रेतस् को मैं स्थापन करता हूं। इससे भार्या गर्भिणी ही हो जाती है।

अथ यस्य जायायै जारः स्यात्तं चेद्द्विष्यादामपात्रेऽग्निमुपसमाधाय प्रतिलोमं शरबर्हि स्तीर्त्वा, तस्मिन्नेताः शरभृष्टीः प्रतिलोमाः सर्पिषाऽक्ता जुहुयात्। मम समिद्धेऽहौषीः प्राणापानौ त आददेऽसाविति। मम समिद्धेऽहौषीः पुत्रपशूंस्त आददेऽसाविति। मम समिद्धेऽहौषीरिष्टासुकृते त आददेऽसाविति। मम समिद्धेऽहौषीराशापराकाशौ त आददेऽसाविति। स वा एष निरिन्द्रियो विसुकृतोऽस्माल्लोकात्प्रैति यमेवंविद् ब्राह्मणः शपति। तस्मादेवंविच्छ्रोत्रियस्य दारेण नोपहासमिच्छेदुत ह्येवंवित्परो भवति ॥१२॥

और जिसकी भार्या का यदि कोई जार होवे तो वह उससे द्वेष करे और मिट्टी के कच्चे पात्र में अग्नि रख कर, शरसदृश कुशा के तिनके उलटे-सीधे फैला कर रखे; फिर उस आग में ये प्रतिलोम रखे हुए घृतलिप्त शरसदृश कुशा के तिनके होमें करे। 'असौ' इस पद के स्थान उस जार का नाम बोल कर कहे—मेरी प्रदीप्त अग्नि में—यज्ञरूपा पत्नी में तूने होमें किया, उस पाप के दण्ड में मैं तेरे प्राण अपान लेता हूं—तेरे जीवन को नष्ट करता हूं। यह कह कर उन तिनकों को आग में डाले। 'असौ'-उस तूने मेरी प्रदीप्त अग्नि में होमें किया, उसके दण्ड में मैं तेरे पुत्र पशुओं को लेता हूं; इससे दूसरी आहुति दे। 'असौ'—उस तूने मेरी प्रदीप्त अग्नि में होमें किया, उसके दण्ड में मैं तेरे यज्ञ और पुण्यकर्म को लेता हूं; इससे तीसरी आहुति दे। 'असौ'—उस तूने मेरी प्रदीप्त अग्नि में हवन किया—मेरी पवित्र पत्नी से व्यभिचार किया, उसके दण्ड में मैं तेरी आशा और प्रतिज्ञा—प्रतीक्षा दोनों लेता हूं—नाश करता हूं; इससे चौथी आहुति डाले। वह ही यह व्यभिचारी जार, जिसको ऐसा जानने वाला ब्राह्मण शाप देता है, इन्द्रीयहीन और शुभकर्मरहित होकर इस लोक से जाता है। इस कारण ऐसे ज्ञानी, वेदपाठी की भार्या से उपहास करना न चाहे, क्योंकि निश्चय ऐसा ज्ञानी पर—उत्कृष्ट होता है—सामर्थ्यवान् हुआ करता है।

अथ यस्य जायामार्तवं विन्देत्, त्र्यहं कंसे न पिबेदहतवासा नैनां वृषलो न वृषल्युपहन्यात्, त्रिरात्रान्त आप्लुत्य व्रीहीनवघातयेत् ॥१३॥

अब अन्य प्रकार आरम्भ होता है—जिसकी भार्या को ऋतुधर्म प्राप्त होवे वह स्त्री नवीनवस्त्र वाली तीन दिन तक कांस्य पात्र में न जलादि पिये न अन्न खाये। तब तक इसको धर्महीन न छूए और धर्महीना स्त्री भी न छुए। तीन रात के अन्त में—समाप्ति पर स्नान कर वह स्त्री धानों को कूट पीस कर प्रस्तुत करे और उनका भात आदि बना कर खाये।

स य इच्छेत्पुत्रो मे शुक्लो जायेत, वेदमनुब्रुवीत, सर्वमायुरियादिति, क्षीरौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥१४॥

वह पुरुष जो यह इच्छा करे कि मेरा पुत्र गौरवर्ण जन्मे, एक वेद को पढ़े, संपूर्ण आयु को पहुंचे, तो दूध-चावल पकवा कर, घृत डाल कर पति-पत्नी दोनों खायें; तब वे दोनों अभिलषित पुत्र उत्पादन में समर्थ हो सकते हैं।

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे कपिलः पिङ्गलो जायेत, द्वौ वेदावनुब्रुवीत, सर्वमायुरियादिति, दध्योदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥१५॥

और जो यह चाहे कि मेरा पुत्र कपिलवर्ण और पिङ्गलाक्ष उत्पन्न हो, दो वेदों को पढ़े, संपूर्ण आयु को पहुंचे, तो दधि-चावल पकवा कर घृतसहित भर्ता-भार्या खायें; इससे इच्छित पुत्र उत्पादन करने को समर्थ हो सकते हैं।

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे श्यामो लोहिताक्षो जायेत, त्रीन्वेदाननुब्रुवीत, सर्वमायुरियादिति, उदौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥१६॥

और जो कोई चाहे कि मेरा पुत्र श्यामवर्ण और लोहिताक्ष जन्मे, तीन वेदों को पढ़े, संपूर्ण आयु को पावे, तो जल में चावल पकवा कर घृतसहित पति-पत्नी खावें; इससे इच्छित पुत्र जनने को समर्थ हो सकते हैं।

अथ य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता जायेत, सर्वमायुरियादिति, तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥१७॥ अथ य इच्छेत्पुत्रो मे पण्डितो विगीतः समितिंगमः शुश्रूषितां वाचं भाषिता जायेत, सर्वान्वेदाननुब्रुवीत, सर्वमायुरियादिति, मांसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवा औक्ष्णेन वाऽऽर्षभेण वा ॥१८॥

और जो कोई चाहे कि मेरी पुत्री पण्डिता उत्पन्न हो, संपूर्ण आयु को प्राप्त हो, तिल-चावल पकवा कर घृतसहित, भर्ता-भार्या खायें; इससे इच्छित पुत्री जनने को समर्थ हो सकते हैं। और जो कोई चाहे कि मेरा पुत्र पण्डित, सुप्रसिद्ध, ज्ञानियों की सभा में जाने वाला, सुन्दर वाणी को बोलने वाला जन्मे, सारे वेदों को पढ़े, संपूर्ण आयु को प्राप्त हो, तो मांस-चावल पकवा कर, अथवा औक्ष्ण से वा आर्षभ से चावल घृतसहित भर्ता-भार्या दोनों खावें, इससे वे इच्छित पुत्र जनने को समर्थ हो सकते हैं।

अथाभि प्रातरेवं स्थालीपाकावृताऽऽज्यं चेष्टित्वा स्थालीपाकस्योपघातं जुहोति—अग्नये स्वाहानुमतये स्वाहा, देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहेति' । हुत्वोद्धृत्य प्राश्नाति, प्राश्येतरस्याः प्रयच्छति । प्रक्षाल्य पाणी उदपात्रं पूरयित्वा तेनैनां त्रिरभ्युक्षति । 'उत्तिष्ठातो विश्वावसोऽन्यामिच्छ प्रपूर्व्यां सं जायां पत्या सहेति' ॥१९॥

तदनन्तर चौथे दिन प्रातःकाल ही स्थालीपाकविधि से घृत को संस्कृत करके स्थालीपाक के अल्पभाग को ले कर अग्निहोत्र करे—'अग्नये स्वाहा, अनुमतये स्वाहा, देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहा' ये तीन आहुतियां डाले। इस प्रकार होम करके चरु का कुछ भाग ले कर पुरुष आप खाये, आप खा कर फिर पत्नी को दे। तत्पश्चात् हाथ धो कर जलपात्र को जलसे भर कर उस जल से इस भार्या को तीन बार सींचे। तदनन्तर यह मन्त्र कहे—हे विश्वावसो—पुत्रोत्पत्ति में महाविघ्न, सर्व अधन ! यहां से तू उठ, दूर हो; किसी अन्य अभाग्यवती को चाह। मैं इस पुष्टाङ्गा तरुणी भार्या को प्रेम करता हूं, यह मेरी पत्नी मुझ पति के साथ अनन्य भाव से संबद्ध है।

अथैनामभिपद्यते अमोऽहमस्मि, सा त्वम्; सा त्वमस्यमोऽहम्। सामाहमस्मि ऋक्त्वम्, द्यौरहं पृथिवी त्वम्। तावेहि संरभावहै सह रेतो दधावहै पुंसे पुत्राय वित्तय इति ॥२०॥

चरुप्राशन के अनन्तर पति इस पत्नी को मिले। उस समय यह मन्त्र उच्चारण करे—मैं 'प्राण हूं तूं वाणी है, वाणी तूं है'' प्राण मैं हूं, प्राण—जीवनशक्ति और वाणी परस्पर आश्रित हैं, ऐसे ही हम दोनों एक दूसरे पर अवलम्बित हैं। साम मैं हूं, ऋक् तूं है; साम और ऋक्—संगीत और स्तुति परस्पर घनिष्ठ संबन्ध रखते हैं, ऐसे ही हम दोनों धर्म और प्रेम से एकतार, एकस्वर हैं। द्युलोक—सूर्य मैं हूं, पृथिवी तूं है; सूर्य भूमि को जल और उष्णता प्रदान करता है और पृथिवी उससे नाना पदार्थों की सृष्टि करती है। ऐसे ही हम दोनों एक दूसरे को सहायता देने वाले हैं। वीर पुत्र की प्राप्ति के लिए आ, वे हम दोनों उद्यम करें, मिल कर रेतस् धारण करें गर्भाधान की नींव रक्खें।

अथास्या ऊरू विहापयति—'विजिहीथां द्यावापृथिवी इति। तस्यामर्थं निष्ठाय, मुखेन मुखं संधाय, त्रिरेनामनुलोमामनुमार्ष्टि' विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु। आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते। गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि पृथुष्टुके। गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ ॥२१॥

तदनन्तर पत्नी के उरुओं को पृथक् करे और कहे—उरूरूप द्यावापृथिवी पृथक् हों। तत्पश्चात् उसमें प्रयोजन स्थापन कर—आशय प्रकट कर, मुख से मुख मिला कर इस अनुलोमा को तीन बार हाथ से मार्जन करे। फिर यह मन्त्र उच्चारण करे—हे सुन्दरी! विष्णु तेरे गर्भाशय को सन्तानोत्पत्तियोग्य बनावे, सविता उस पुत्र के रूपों को—अवयवों को यथायोग्य रचे, प्रजापति तुझे सुख से सर्व प्रकार सींचे और धारणकर्ता तेरे गर्भ को स्थिर स्थापित करे। हे सुन्दर केशों वाली! तू गर्भ धारण करे, हे विस्तृत कीर्ति वाली! तू गर्भ धारण कर। कमलमाला वाले देव दिन-रात तेरे गर्भ को धारें—सुरक्षित रक्खें।

हिरण्मयी अरणी याभ्यां निर्मन्थतामश्विनौ।
तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतवे॥
यथाऽग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी।
वायुर्दिशां यथा गर्भ एवं गर्भं दधामि तेऽसाविति ॥२२॥

पति-पत्नी दोनों सुवर्णमयी अरणियां हैं जिनसे दिन-रात गर्भ मथन करते हैं; तेरे उस दिन-रात से वर्धित गर्भ को दसवें मास में जन्मने के लिए स्थापन करता हूं। जैसे पृथिवी अग्नि से गर्भवती है—उष्णता से गर्भ वाली उपजाऊ है, जैसे द्युलोक इन्द्र से गर्भयुक्त है, जैसे दिशाओं का गर्भ वायु है, ऐसे ही मैं तेरे गर्भ को स्थापन करता हूं; असौ पद के स्थान अपना नाम उच्चारण करे।

सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति—यथा वायुः पुष्करिणीं समिङ्गयति सर्वतः। एवा ते गर्भ एजतु सहावैतु जरायुणा। इन्द्रस्यायं व्रजः कृतः सार्गलः सपरिश्रयः। तमिन्द्र निर्जहि गर्भेण सावरां सहेति ॥२३॥

प्रसव करती भार्या को पति जल से सींचे। उस समय यह मन्त्र उच्चारण करे—जैसे वायु पुष्करिणी को सब ओर से चलायमान कर देती है, ऐसे ही तेरा गर्भ हिले—चलायमान हो और जरायु सहित (अवैतु) बाहर निकल आवे। इन्द्र प्राण का यह मार्ग विधाता ने सार्गल सपरिवेष्टन किया है, हे प्राण! तू उस मार्ग को गर्भ के साथ खोल दे—उससे बाहर निकल आ और मांसपेशी के साथ बाहर निकल आ।

जातेऽग्निमुपसमाधायाङ्क आधाय, कंसे पृषदाज्यं संनीय, पृषदाज्यस्योपघातं जुहोति—अस्मिन् सहस्रं पुष्यासमेधमानः स्वे गृहे । अस्योपसन्द्यां मा च्छैत्सी-त्प्रजया च पशुभिश्च स्वाहा । मयि प्राणांस्त्वयि मनसा जुहोमि स्वाहा । यत्कर्मणाऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम् । अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्वान्स्विष्टं सुहुतं करोतु नः स्वाहेति ॥२४॥

पुत्र के जन्म ले लेने पर कुण्ड में अग्नि को रख कर, पुत्र को गोदी में लेकर कांस्यपात्र में दधियुक्त घृत डाल कर, दधिमिश्रित घृत का थोड़ा सा भाग लेकर हवन करे। उस समय यह मन्त्र उच्चारण करे—इस अपने गृह में उन्नति करता हुआ मैं सहस्र मनुष्यसमूह को पोषण करूंगा। इस मेरे नवजात पुत्र की सन्तति में प्रजा से और पशुओं से न विच्छेद हो। स्वाहा कह कर आहुति देवे। मेरे में रहने वाले प्राणों को हे पुत्र! तुझमें मन से मैं होमें करता हूं—तेरे में स्थापन करता हूं। फिर स्वाहा से आहुति दे। मैंने कर्म से जो अधिक कर्म किया है, और विधि से जो ही यहां न्यून किया है, सुइष्टकृत, विद्वान् अग्नि वह सब हमारे लिए, सुइष्ट और सुहुत करे।

अथास्य दक्षिणं कर्णमभिनिधाय 'वाग्वागिति' त्रिः, अथ दधि मधु घृतं संनीयानन्तर्हितेन जातरूपेण प्राशयति—भूस्ते दधामि, भुवस्ते दधामि, स्वस्ते दधामि, भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामीति ॥२५॥

तत्पश्चात् इस बालक के दहिने कान को पिता अपने मुख से लगा कर वाक् वाक् तीन बार जपे। फिर दही, मधु और घृत मिला कर, अन्य वस्तु के मेल रहित शुद्ध सोने के चमसे से बालक को खिलाये। 'भूस्ते दधामि' इस से पहला चमच खिलाए, 'भुवस्ते दधामि' इस से दूसरा, 'स्वस्ते दधामि' इस से तीसरा, 'भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामि' इस से चौथी बार खिलाए।

अथास्य नाम करोति वेदोऽसीति—तदस्य तद् गुह्यमेव नाम भवति ॥२६॥

तदनन्तर इसका नाम करे—नाम रक्खे—तू वेद है, शुद्धज्ञानमय है। सो यह इस का नाम गुप्त ही होता है—यह नाम बुलाने में नहीं आता।

अथैनं मात्रे प्रदाय स्तनं प्रयच्छति—यस्ते स्तनः शशयो, यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः। येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवेऽकरिति ॥२७॥

तत्पश्चात् इस बालक को उसकी माता के प्रति दे कर दुग्धपानार्थ स्तन देवे। उस समय यह मन्त्र उच्चारण करे—जो तेरा स्तन श—शं—सुख का शयः—स्थान

है जो सुख देने वाला है, जो आनन्दरूप रत्न धारण करने वाला है, जो धननिधान प्राप्तकर्ता है, जो कल्याणप्रद है और जिस स्तन से तू सारे वरने योग्य पुत्रपुत्रियों को पालती है—जिससे सब का पोषण करती है, हे विद्यावती ! इस समय उस स्तन को पुत्र के पानार्थ सुसज्जित कर ।

अथास्य मातरमभिमन्त्रयते—इलाऽसि मैत्रावरुणी, वीरे वीरमजीजनत् । सा त्वं वीरवती भव याऽस्मान्वीरवतोऽकरदिति । तं वा एतमाहुरतिपिता बताभूरतिपितामहो बताभूः । परमां बत काष्ठां प्रापच्छ्रिया यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवंविदो ब्राह्मणस्य पुत्रो जायत इति ॥२८॥

तत्पश्चात् इसकी—पुत्र की माता को उसका पिता अभिमन्त्रण करे हे प्यारी ! सहनशीलता में तू पृथिवी है, प्रेम और गोपन में तू मैत्रावरुणी है । तूने वीरभाव में, अथवा हे वीरे ! तूने वीरपुत्र को उत्पन्न किया, जिसे तूने हमको वीरपुत्रवाला किया वह तू वीरपुत्रवती सदा हो । तदन्तर उस इस पुत्र को भी कहे—अहो आश्चर्य ! 'अतिपिता अभूः' पिता को अतिक्रमकर है—गुणों से पितासे बढ़ चढ़ कर है । आश्चर्य है कि पितामह से बढ़ कर है । आश्चर्य है कि शोभा से, कीर्ति से और ब्रह्मतेज से यह परम काष्ठा को प्राप्त हुआ है । केवल पुत्र ही ऐसे ऊंचे पद पर नहीं पहुंचा है किन्तु जिस ऐसा जानने वाले ब्राह्मण का जो ऐसा पुत्र जन्मे वह पिता भी उत्तमपदारूढ़ हो जाता है ।

पांचवां ब्राह्मण

अथ वंशः—पौतिमाषीपुत्रः, कात्यायनीपुत्रात्कात्यायनीपुत्रो गौतमीपुत्राद् गौतमीपुत्रो भारद्वाजीपुत्राद्भारद्वाजीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्र औपस्वस्तीपुत्रादौपस्वस्तीपुत्रः, पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्रः, कात्यायनीपुत्रात्कात्यायनीपुत्रः कौशिकीपुत्रात्कौशिकीपुत्र आलम्बीपुत्राच्च वैयाघ्रपदीपुत्राच्च वैयाघ्रपदीपुत्रः काण्वीपुत्राच्च कापीपुत्राच्च कापीपुत्रः ॥१॥ आत्रेयीपुत्रादात्रेयीपुत्रो, गौतमीपुत्राद् गौतमीपुत्रो भारद्वाजीपुत्राद् भारद्वाजीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्रो वात्सीपुत्राद्वात्सीपुत्रः, पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्रो वार्कारुणीपुत्राद्वार्कारुणीपुत्रो वार्कारुणीपुत्राद्वार्कारुणीपुत्र आर्तभागीपुत्रादार्तभागीपुत्रः शौङ्गीपुत्राच्छौङ्गीपुत्रः सांकृतीपुत्रात्सांकृतीपुत्र आलम्बायनीपुत्रादालम्बायनीपुत्र आलम्बीपुत्रादालम्बीपुत्रो जायन्तीपुत्राज्जायन्तीपुत्रो माण्डूकायनीपुत्रान्माण्डूकायनीपुत्रो माण्डूकीपुत्रान्माण्डूकीपुत्रः शाण्डिलीपुत्राच्छाण्डिलीपुत्रो राथीतरी-

पुत्राद्राथीतरीपुत्रो भालुकीपुत्राद् भालुकीपुत्रः क्रौञ्चिकीपुत्राभ्यां क्रौञ्चिकीपुत्रौ, वैदभृतीपुत्राद्वैदभृतीपुत्रः, कार्शकेयीपुत्रात्कार्शकेयीपुत्रः, प्राचीनयोगीपुत्रात्प्राचीनयोगीपुत्रः, सांजीवीपुत्रात्सांजीवीपुत्रः, प्राश्नीपुत्रादासुरिवासिनः प्राश्नीपुत्र आसुरायणादासुरायण आसुरेरासुरिः ॥२॥ याज्ञवल्क्याद्याज्ञवल्क्य उद्दालकादुद्दालकोऽरुणादरुण उपवेशेरुपवेशिः, कुश्रेः कुश्रिर्वाजश्रवसो वाजश्रवा जिह्वावतो बाध्योगाज्जिह्वावान् बाध्योगोऽसिताद्वार्षगणादसितो वार्षगणो हरितात्कश्यपाद्धरितः कश्यपः, शिल्पात्कश्यपाच्छिल्पः कश्यपः, कश्यपान्नैध्रुवेः कश्यपो नैध्रुविर्वाचो वागम्भिण्या अम्भिण्यादित्यादादित्यानीमानि, शुक्लानि यजूंषि, वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाऽऽख्यायन्ते ॥३॥ समानमा सांजीवीपुत्रात्सांजीवीपुत्रो माण्डूकायनेर्माण्डूकायनिर्माण्डव्यान्माण्डव्य,: कौत्सात्कौत्सो माहित्थेर्माहित्थिर्वामकक्षायणाद्वामकायणः, शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यो वात्स्याद्वात्स्यः, कुश्रेः कुश्रिर्यज्ञवचसो राजस्तम्बायनाद्यज्ञवचा राजस्तम्बायनस्तुरात्कावषेयात्तुरः कावषेयः, प्रजापतेः प्रजापतिर्ब्रह्मणो ब्रह्म, स्वयंभुब्रह्मणे नमः ॥४॥

इति यजुर्वेदीया बृहदारण्यकोपनिषत्समाप्ता ॥

यजुर्वेदीया

पहला अध्याय,

ब्रह्मवादिनो वदन्ति ।

किं कारणं ब्रह्म: कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः ।

अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥१॥

एकदा एक परिषद् में वार्तालाप करते हुए ब्रह्मवादी परमेश्वर के उपासक बोले—विचारिए, कि कारण ब्रह्म —जगत्कर्ता ईश्वर क्या है ? हम कहां से—किसकी प्रेरणा से (जाताः स्म) उत्पन्न हुए हैं ? किससे हम जीते हैं ? हमारी पालना कौन करता है । और किसमें हम भली भांति स्थित हैं ? हम ब्रह्मवेत्ता जन किससे अधिष्ठित होकर, किसके नियम-न्याय में सुखों तथा दुःखों की व्यवस्था में वर्तते हैं ।

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम् ।

संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥२॥

उन्होंने कहा—काल, स्वभाव—वस्तुओं का धर्म, नियति, यह ऐसा ही होता है इसका नाम नियति है, वह, अकस्मात्, पांच भूत, योनि—जन्म कारण कर्म और आत्मा ये कारण हैं यह विचारणीय है । इन पूर्व कहे कारणों का संयोग—मिलाप आत्मभाव से कारण नहीं है क्योंकि आत्मा भी सुख दुःख भोग के कारण ईश्वर नहीं है, स्वाधीन नहीं है ।

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।

यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥३॥

उन्होंने ध्यानयोग में लीन होकर अपने स्वाभाविक गुणों से छिपी हुई अप्रकट देवकी आत्मशक्ति को देखा अर्थात् उस परमेश्वर को उन्होंने देखा जो

भगवान्, उन—पूर्वोक्त—कालात्मासहित सारे सातों कारणों को एक ही अधिकृत कर रहा है; परमेश्वर अकेला ही सातों कारणों का अधिष्ठाता, शासक हो रहा है। ध्यान में लीन हो कर उन ब्रह्मवादियों ने परमेश्वर को उत्पत्ति, पालना और प्रलय का कारण जाना।

तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥४॥

उन्होंने ध्यान में उस ब्रह्मचक्र को—ईश्वर के चलाये रथचक्र को देखा, जिसकी एक नेमि है—एक प्रकृति ही परिधि—रथ का घेरा है, जो तीन गुणों के वृत वाला है—तीन गुण ही जिसकी तीन पट्टियां हैं। सोलह जिसके अन्त हैं—प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, ज्योति, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम। उन्होंने उस चक्र को देखा जिसके पचास अरे हैं, बीस छोटे अरों से जो जुड़ा हुआ है, छः अष्टकों से जो अखिलबन्धन है, त्रिमार्ग भेद वाला है और जो दो निमित्त एक मोह वाला है। पांच सूक्ष्म भूत, और पांच स्थूल भूत। आत्मसंशय परमात्मसंशय, प्रकृतिसंशय; धर्मसंशय और अधर्मसंशय ये पांच संशय। पांच क्लेश—काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार; जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज और स्वेदज ये चार योनियां, षद् ऋतुएं; बारह मास; मन, वचन और काया ये तीन करण ये सब पचास अरे हैं। दश इन्द्रियां, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, वचन, आदान, विचरण, उत्सर्ग और आनन्द ये बीस प्रत्यरे हैं। पहला प्रकृति अष्टक है, दूसरा धातु अष्टक है, तीसरा सिद्धि अष्टक है। तनमद, जनमद, धनमद, बलमद, ज्ञानमद, बुद्धिमद, कुलमद और जातिमद यह चौथा मद अष्टक है। अशुभ को सोचना, अशुभ को सुनना और अशुभ को देखना, अशुभ को बोलना, अशुभ को स्पर्श करना, अशुभ का करना, अशुभ को कराना और अशुभ की अनुमोदना, यह पांचवां अशुभ अष्टक है। नित्यधर्म, निमित्तधर्म, देशधर्म, कालधर्म, कुलधर्म, जातिधर्म, आपद्धर्म और अपवादधर्म यह छठा धर्म अष्टक है। धर्म, अर्थ और काम यह मार्गत्रय है। राग द्वेष ये दो निमित्त हैं। ममता अहन्ता ही एक मोह है।

पञ्चस्रोतोम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥५॥

पांच ज्ञानेन्द्रियरूप जल वाली, पांच महाभूतों से उग्र तथा बांकी। प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान इन पांचप्राणरूप तरंगवाली। पांच ज्ञानेन्द्रियों का नाम बुद्धि-इन्द्रियां है, पांच ज्ञानेन्द्रियों का आदि—मन—मूलवाली। शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श इन पांच विषयरूप भंवर वाली। मृत्युदुःख, जरादुःख, व्याधिदुःख, इष्टवि-

योगदुःख और मानसदुःख इन पांच दुःखसमूह रूप वेगवती, पँचास भेद वाली और पांच क्लेश रूप जोड़ वाली—प्रवाह वाली नदी को हम जानते हैं।

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते, अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे ।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा, जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥६॥

जन्म-जन्मान्तर में जाने वाला हंस—जीवात्मा इस पूर्व वर्णित, सर्वजीवनस्थान सर्वाश्रय, महान् ब्रह्मचक्र में—ईश्वर के चलाये चक्र में, कर्मानुसार भ्रमण करता है। परन्तु अपने आपको और प्रेरक परमेश्वर को विवेक से पृथक् मनन कर—जान कर और तत्पश्चात् उस भगवान् से उसकी दया का प्रेमपात्र होकर मोक्ष को प्राप्त करता है। मोक्ष का कारण आत्म-परमात्म-ज्ञान और परमेश्वर की कृपा है।

उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म, तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च ।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा, लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥७॥

यह तीन का समुदाय ऊपर कहा गया है—ऊपर गाया गया है, उसमें एक तो परम ब्रह्म है, दूसरी सुन्दर स्थिति—प्रकृति है और तीसरा अक्षर – जीवात्माओं का समूह है। इस त्रय में अन्तर को—तीनों के वास्तविक स्वरूप को अथवा भेद को जान कर, ब्रह्म जानने वाले, ब्रह्म में लीन, ब्रह्मपरायण जन्म से मुक्त हैं। परमेश्वर भक्त और उपासक विवेक से उक्त तीन पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर और भगवत्परायण होकर मुक्त हो जाते हैं।

संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च, व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः ।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्, ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥८॥

यह क्षर—परिणाम को प्राप्त होने वाला प्रकृतितत्त्व और अक्षर—जीवात्मतत्त्व परस्पर संयुक्त है, भोग्यभोक्तृभाव में संमिलित है। इस व्यक्ताव्यक्त संपूर्ण को—परिवर्त्तन द्वारा विकारप्राप्त प्रकृति को और स्वस्वरूपस्थित जीवात्मतत्त्व को, परमेश्वर पालन करता है। जीवात्मा अनीश्वर है—स्वयं ईश्वर नहीं है इस कारण भोक्तृभाव से—प्रकृति का भोक्ता होने से बन्ध जाता है—भोग्य में आसक्ति के कारण कर्म से लिप्त हो जाता है। परन्तु परमेश्वर को भक्तिद्वारा जान सारे बन्धनों से छूट जाता है। प्रकृति का संग आत्मा के लिये बन्ध का कारण है और भगवान् का पूजन, आराधन, ज्ञान, मोक्ष का साधन है।

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा, ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता ।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता, त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥९॥

ईश्वर अनीश्वर—परमात्मा तथा आत्मा दोनों अजन्मा हैं, सर्वज्ञ अल्पज्ञ हैं; निश्चय एक

प्रकृति भी अनुत्पन्ना है और भोक्ता के भोग के अर्थ से युक्त है । और अनन्तस्वरूप भगवान् विश्वरूप है— विश्व को रचता है परन्तु स्वरूप से अकर्ता है। जब मनुष्य इस त्रय को प्राप्त करता है—इन तीनों को पृथक् पृथक् जानता है तब इस ब्रह्मपद को प्राप्त कर लेता है।

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः, क्षरात्मानावीशते देव एकः ।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्, भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥१०॥

परिणामधर्म वाला क्षर, प्रधान—जगत् का उपादान कारण, दूसरा अमृत अविनाशी आत्मतत्त्व और तीसरा पापों को हरने वाला हर ईश्वर ये तीन हैं। इनमें एक देव - परमेश्वर ही प्रकृति और जीवात्मतत्त्व को शासन करता है—भगवान् ही दोनों का ईश्वर है। उस भगवान् के चिन्तन से, योग से—उसमें चित्त जोड़ने से और बार बार स्मरण वा जाप से अन्त में संपूर्ण अविद्या की निवृत्ति हो जाती है। अविद्या की निवृत्ति, भगवान् के स्वरूप के चिन्तन, आराधन और बार बार स्मरणरूप परा भक्ति से होती है।

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः, क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे, विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ॥११॥

देव को—परमेश्वर को जान कर सर्वबन्धन-विनाश हो जाता है, अविद्यादि पांच क्लेशों के क्षीण होने से जन्म और मृत्यु का नाश हो जाता है। उसके ध्यान से—परमेश्वर की उपासना से, शरीर के पृथक् होने पर, परमात्मरूप तीसरे सकल ऐश्वर्य पद को, (केवलः) निर्द्वन्द्व, पूर्णकाम उपासक प्राप्त होता है। परमात्मा की प्राप्ति का परम साधन उपासना है।

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं, नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित् ।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा, सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥१२॥

यह अविनाशी सकलैश्वर्यपद आत्मा में स्थित ही जानना चाहिए—परमेश्वर को अन्तर्मुख होकर ही जानना चाहिए। निश्चय इसके अनन्तर जानने योग्य अन्य कुछ भी नहीं है। भोक्ता—जीवात्मा, भोग्य को—प्रकृति को और सब के प्रेरक ईश्वर को जान कर मुक्त हो जाता है। यह सब तीन प्रकार का ब्रह्म कहा है; आत्मा, परमात्मा और प्रकृति इन तीनों को ब्रह्म कहा गया है।

वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः ।
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ॥१३॥

जैसे काष्ठादि उत्पत्तिस्थानगत अग्नि की आकृति नहीं दीखती और न ही उसका चिह्ननाश है अर्थात् उसका ऊष्मा रूप चिह्न भी नष्ट नहीं होता। वह अग्नि चाहो तो फिर भी इन्धनयोनि से ग्रहण की जा सकती है, निश्चय ऐसे ही—तद्वत् ही आत्मतत्त्व-परमात्मतत्त्व दोनों देह में प्रणव से—नाम-ध्यान तथा जाप से ग्रहण करने योग्य हैं।

स्वदेहमरणिं कृत्वा, प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत् ॥१४॥

परम कल्याण का अभिलाषी उपासक अपने शरीर को नीचे की अरणि कल्पना कर और प्रणव को ऊपर की अरणि कल्पना कर, ध्यानरूप निर्मथन अभ्यास से, काष्ठ में प्रच्छन्न अग्निवत् परमेश्वर को देखें। मन लगा कर भगवान् के नामस्मरण से और नाम ध्यान से भगवान् के दर्शन करे।

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ, सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥१५॥

जैसे तिलों में तेल है, दही में घृत है, स्रोतों में—जल के झरनों में जल है और अरणियों में अग्नि है, ऐसे ही यह परमात्मा आत्मा में—अपने आपमें ग्रहण किया जाता है—अन्तर्मुख ध्यान से जाना जाता है और उस द्वारा जाना जाता है जो उपासक इस को सत्य से—आस्तिक बुद्धि से और ब्रह्मचर्यादि तप से देखता है।

सर्वव्यापिनमात्मानं, क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्।
आत्मविद्यातपोमूलं, तद् ब्रह्मोपनिषत्परम्। तद् ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥१६॥

दूध में घृत की भाँति सर्वत्र विद्यमान, आत्मविद्या और तप से जानने योग्य, सर्वव्यापी आत्मा को जानना ही वह ब्रह्मोपनिषत् परम है, वह ब्रह्मोपनिषत् परम है, यह ही ब्रह्मविद्या तथा रहस्य है।

दूसरा अध्याय

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥१॥

सविता—ईश्वर ने मनुष्यों के तत्त्वज्ञान के लिए उनकी बुद्धियों और मन को पहले जोड़ते हुए अन्तःकरण को नियम में लगा कर अग्नि की ज्योति को निश्चय करके पृथिवी में धारण किया—परमेश्वर ने सब को नियम में नियत किया।

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। सुवर्गेयाय शक्त्या ॥२॥

हम उपासक जन स्वर्ग के लिए—परमानन्द की प्राप्ति के लिये परमेश्वर सविता के यज्ञ में—ध्यान में पूरी शक्ति से और युक्त—एकाग्र मन से स्थिर होवें। सर्वोत्पादक परमेश्वर की उपासना पूरे प्रयत्न और एकाग्र मन से करनी चाहिए।

युक्त्वाय मनसा देवान्सुवर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ॥३॥

स्वर्ग को परमानन्द को जाते हुए उपासक इन्द्रियों को बुद्धि से और मन से स्वर्ग में—मोक्षपद में जोड़ कर उपासना करें, स्थिरबुद्धि और एकाग्र मन से भगवान् को आराधें। बड़ी ज्योति करता हुआ सविता देव उन उपासकों को आनन्दित करता है, विशाल प्रकाश दर्शन के साथ भगवान् उन भक्तों पर आनन्दरस बरसाता है।

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही[१७] देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥४॥

याजक, विद्वान् जन भगवान् के प्रकाशमय स्वरूप में मन लगाते हैं—मन जोड़ते और इन्द्रियों को लगाते हैं, उस परमेश्वर में मन और इन्द्रियां समाहित करते हैं। हमारे कर्मों को जानने वाला वह एक ही परमेश्वर विश्व को धारण कर रहा है। उसी ज्ञानी, महान्, सर्वज्ञ, सविता देव की बड़ी स्तुति है; उसी भगवान् की अनन्त स्तुति है।

युंजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥५॥

जो तुम सारे अमृत के पुत्र हो—परमेश्वर के भक्त हो, इस वाक्य को सुनो—तुम्हारे नमस्कारों से—तुम्हारी प्रार्थनाओं से मैं सनातन ब्रह्म तुम गुरुशिष्यरूप भक्तों को मिलता हूं—तुम में प्रकट होता हूं। सूर्य के मार्गों की भांति तुम्हारे समीप कीर्ति आवे; दिव्य लोकों को आप (आतस्थुः) अधिकार करके रहो। भगवान् की कृपा और प्राप्ति नमस्कारों और भावपूर्ण प्रार्थनाओं से प्राप्त होती है।

अग्निर्यत्राभिमथ्यते, वायुर्यत्राभिरुध्यते।
सोमो यत्रातिरिच्यते, तत्र संजायते मनः ॥६॥

जिस ध्यानावस्था में अग्नि—आदित्यधाम की ज्योति भली भांति मथन की जाती है—चमचमा कर प्रकट होती है, जिस ध्यानदशा में वायु—प्राण वश में किया जाता है—प्राणगति सूक्ष्म हो जाती है और जिस समाधि में सोम—प्रसादभाव

अधिक बढ़ जाता है उस समाधि में मन—मननशील आत्मा स्वतन्त्र होकर प्रकट होता है। ऐसी समाधि में ही स्वात्मसत्ता का बोध होता है।

सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम्।
तत्र योनिं कृणवसे न हि ते पूर्तमक्षिपत् ॥७॥

भगवान् सवितारूप रसप्रस्रव से, भगवान् के प्रकाश के प्रकट होने से सनातन ब्रह्म को सेवें, जब भगवान् सविता की ज्योति का अन्तरात्मा के संमुख जन्म हो तो ब्रह्म में और भी लीन होवे। उसी प्रकाश में आत्मजागृति का स्थान करे—उसको स्वात्मसत्ता की जागृति का स्थान बनावे, हे उपासक! निश्चय से तेरा शुभकर्म न फेंका जाय, तेरा पूर्तकर्म न नाश हो। उपासनाकर्म का कदापि नाश नहीं होता, इसका संस्कार जन्मान्तरों तक बना रहता है।

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥८॥

शरीर को तीन स्थान से ऊपर को ऊंचा, छाती, ग्रीवा और सिर सीधा ऊंचा सम स्थापन कर, मन से इन्द्रियों को हृदय में सम्यक्तया प्रविष्ट कर, फिर ब्रह्मरूप-नामरूप—उडुप से, तरने के साधन से सारे भय वाले प्रवाहों को विद्वान् अच्छी प्रकार तर जाय। ध्यान में नामावलम्बन से सारी पाप नदियों को तरे।

प्राणान्प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः, क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं, विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः ॥९॥

विद्वान् उपासक, इस प्राणायाम की विधि में, आसनानन्तर, प्राणों को भली भांति पीडन कर—रोककर, वश में चेष्टा वाला, प्राण के निर्बल होने पर उसको नासिका से बाहर निकाले; वाम नासिकापुट से पूर्ण करके भीतर रोके फिर दक्षिण नासिकापुट से निकाले, फिर दक्षिण से लेकर भीतर रोके और तत्पश्चात् वाम से निकाले, ऐसे शोधक प्राणायाम करे। दुष्ट घोड़ों से युक्त वाहन की भांति इस प्राण को अप्रमादी आत्मा धारण करे—वशीभूत बनावे।

समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्॥१०॥

प्राणायाम आदि का स्थान वर्णन करता हुआ ऋषि कहता है—सम, पवित्र, कंकड़ अग्नि रेतरहित, शब्द—कोलाहल जलाश्रयादि से रहित, मन के अनुकूल, आंख को न पीड़ा देने वाले, गुफा वायु रहित स्थान में विशेषता से योग साधे। ऐसे एकान्त और निर्विघ्न स्थान में साधना करे।

नीहारधूमार्कानिलानलानां, खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम् ।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि, ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥११॥

कुहर, धूआं, सूर्य, वायु, अग्नि, जुगनू, बिजली, स्फटिक, चांद आदिकों के ये रूप—प्रकाश, योग में पहले होने वाले परमेश्वर की अभिव्यक्ति करने वाले होते हैं, उक्त सारे आत्मिक दृश्य भगवान् के दर्शनों के परिचायक हैं। योग में, ऐसी लीलाएं भगवान् की कृपा से भक्तों को आप ही आप दीख पड़ती हैं।

पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते, पंचात्मके योगगुणे प्रवृत्ते ।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥१२॥

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश में, सूक्ष्म पांच तत्त्वों में, पांचभूतात्मक योगसिद्धि के उदय होने पर और प्रवृत्त होने पर उस, योगाग्निमय शरीर को प्राप्त हुए को न रोग है; न जरा है और न मृत्यु है। पांच भूतों के वशीकार से योगी रोगादि को जीत लेता है।

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च ।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥१३॥

देह का हलकापन, नीरोगता, निर्लोभपन, मुखादि का वर्णप्रसाद और स्वर का कोमलपन, शुभ गन्ध और मूत्रपुरीष अल्प यह पहली योगप्रवृत्ति—योगपरिणाम योगी कहते हैं।

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं, तेजोमयं भ्राजते तत्सुधातम् ।
तद्वाऽऽत्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही, एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ॥१४॥

जैसे ही मिट्टी से लिपा हुआ, सुवर्णपिण्ड भली प्रकार धोया हुआ वह तेजोमय चमकता है, वैसे ही योगद्वारा निर्मल किए हुए आत्मतत्त्व को अच्छी प्रकार देख कर आत्मा निर्द्वन्द्व, कृतार्थ और शोकरहित हो जाता है।

यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं, दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् ।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं, ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१५॥

और जब इस पूर्वोक्त समाधि में दीप की उपमा से—जैसे दीपक से अन्य पदार्थ देखे जाते हैं ऐसे आत्मतत्त्व से, अपने आत्मा से परमात्मा को योगी देखे। तब अजन्मा निश्चल, सर्वतत्त्वों से शुद्ध—परम पवित्र देव को जान कर उपासक सर्वबन्धनों से मुक्त हो जाता है। जब अपने आत्मा से परमात्मा के दर्शन होते हैं तो सारे बन्धन टूट जाते हैं।

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः, पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।
स एव जातः स जनिष्यमाणः, प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥१६॥

यह ही ध्यान में प्रत्यक्ष देव सब दिशाओं में विद्यमान है, पूर्वकाल में प्रकट था, वह ही सब के गर्भ में, मध्य में भीतर है, वह ही ईश्वर पहले था और वह प्रकट होता रहेगा, सर्व ओर से मुख वाला भगवान् अप्रत्यक्ष भाव से जनों को आवृत करके रह रहा है । भगवान् स्वसत्ता से सर्वत्र देश में और तीनों काल में एकरस विद्यमान है ।

यो देवो अग्नौ यो अप्सु, यो विश्वं भुवनमाविवेश ।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु, तस्मै देवाय नमो नमः ॥१७॥

जो भगवान् स्वशक्ति से अग्नि में विद्यमान है, जो जलों में विद्यमान है, जो सकल भुवन को घेर कर उसमें प्रविष्ट हुआ, जो अन्नों में विद्यमान है और जो वनस्पतियों में विद्यमान है, उस देव को नमस्कार नमस्कार ।

तीसरा अध्याय

य एको जालवानीशत ईशनीभिः, सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
य एवैक उद्भवे सम्भवे च, य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥१॥

जो भगवान् एक ही जालवान्—जालवत् नियमवान् स्वशक्तियों से शासन करता है और सर्व लोकों को स्वशक्तियों से शासन करता है, जो सब का ईश्वर है और जो एक ही उत्पत्ति में तथा प्रलय में शासन करता है जो उपासक इसको जानते हैं वे अमृत होजाते हैं । जाल में जैसे पंछी घिर जाते हैं ऐसे ही जिसके अटल नियम में सारा संसार बन्धा हुआ है, अध्यात्मवाद में वह ईश्वर जालवान् है ।

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमांल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ॥२॥

जो परमेश्वर इन लोकों को स्वशक्तियों से शासन करता है, सकल भुवनों को रच कर पालक है—उनका रक्षक है, अन्तकाल में—प्रलय में संहार करता है और जो अप्रत्यक्षरूप से जनों को आवृत करके रह रहा है । वह ईश्वर एक ही है; हे उपासको ! दूसरे के लिए न खड़े हो—दूसरा ईश्वर न जानो ।

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ॥३॥

एक अखण्ड ईश्वर सब ओर से चक्षु—द्रष्टा है और सब ओर से उपदेष्टा है, सब ओर से शक्तिमान् है और सब ओर से क्रियामय है; वह ही परमेश्वर दोनों भुजाओं से-सर्वज्ञाता और सर्वशक्तिमत्ता से, द्यु-प्रकाशवान् लोक को और भूमि को—

अप्रकाशवान् लोक को उत्पादन करता हुआ परमाणुओं से धमन करता है—पतनशील परमाणुओं से वायु फूंकता है—जगत्-रचना परमाणुओं से करता है।

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं, स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥

जो अटल-नियमवान् भगवान् अग्नि आदि देवों का उत्पत्तिकर्ता और प्रलय-स्थान है, सर्वेश्वर है और सर्वज्ञ है, जिस परमेश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में, ज्योतियों के स्थान ब्रह्माण्ड को रचा, वह परमेश्वर हमें शुभ बुद्धि से संयुक्त करे, वह हम को शुभबुद्धि प्रदान करे।

या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी ।
तया नस्तनुवा शंतमया, गिरिशन्ताभिचाकशीहि ॥२॥

हे अटलनियमवान् परमेश्वर! जो तेरी देह—अभिव्यक्ति कल्याणमयी, प्रियदर्शना और निष्पापरूपा है। हे पर्वतों पर शान्ति करने वाले! तू अपनी उस शान्तिमयी अभिव्यक्ति से हमें भली भांति अवलोकन कर, हमारे पर अपना मङ्गलमय, परमप्रिय और पवित्र स्वरूप प्रकट कर।

यामिषुं गिरिशन्त, हस्ते बिभर्ष्यस्तवे ।
शिवां गिरित्र तां कुरु, मा हिंसीः पुरुषं जगत् ॥६॥

हे पर्वतों पर—भूमण्डल पर शान्तिविस्तारक! जिस बाण को—जिस शक्ति को प्रक्षित करने के लिए हाथ में तू धारण कर रहा है, जो तेरी शक्ति प्रलयकारिणी है, हे भूमिसहित पर्वतों के त्राता! उस शक्ति को मङ्गलमयी कर, उससे मङ्गल प्रदान कर। हमारे पुरुष जगत् को—आत्मज्ञानियों के मण्डल को, न मार, उपासक जगत् को हिंसित न कर किन्तु उसकी पालना कर।

ततः परं ब्रह्म परं बृहन्तं, यथानिकायं सर्वभूतेषु गूढम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमीशं तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति ॥७॥

उक्त उपासकभाव को प्राप्त करने के पश्चात् परम ब्रह्म, परम महान्, सारे चराचर के यथायोग्य स्थान—आधार सर्वभूतों में गुप्तरूप से विद्यमान, सकल जगत् के एक—अद्वितीय घेरने—सुरक्षित रखने वाले, उस ईश्वर को जान कर उपासक जन मुक्त हो जाते हैं।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥८॥

मैं उपासक इस अन्धकार से ऊपर वर्तमान, आदित्यवर्ण—प्रकाशस्वरूप, महान् परमेश्वर को जानता हूं—साक्षात् उसके दर्शन करता हूं। उसको ही जान कर उपासक मृत्यु को (अत्येति) लांघ जाता है; मुक्ति के लिए दूसरा मार्ग नहीं है। भगवान् का ज्ञान ही, परा भक्ति ही मृत्यु को पार करने का साधन है, उपासना के अतिरिक्त दूसरा मुक्ति का मार्ग नहीं है।

यस्मात्परं नापरमस्ति किंचिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥९॥

जिससे दूर और समीप कोई वस्तु नहीं है—जो सर्वत्र विद्यमान है, जिससे कोई भी सूक्ष्म नहीं है और न कोई महान् है। जो वृक्षवत् निश्चल अकेला स्वर्ग में—मुक्ति में सदा स्थिर रहता है, उस पुरुष से यह सारा जगत् पूर्ण है, वह ही परमेश्वर सर्वत्र विराजमान है।

ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्। य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥१०॥

उससे—कार्यजगत् से जो श्रेष्ठतम है—उसका कर्ता है, वह अरूप है और दुःखरहित है। जो उपासक यह जानते हैं वे मुक्त हो जाते हैं, और दूसरे—इसको न जानने वाले दुःख को ही प्राप्त होते हैं। परमेश्वर का ज्ञान ही मोक्ष का उपाय है।

सर्वाननशिरोग्रीवः, सर्वभूतगुहाशयः।
सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात्सर्वगतः शिवः ॥११॥

जो परम पुरुष संपूर्ण ही मुख, सिर और ग्रीवावान् है—जिसके सारे स्वरूप में बोलने आदि की शक्ति है, जो सर्व प्राणियों के हृदयों में विद्यमान है, वह ही सर्वत्र व्याप्त है—सर्वशक्तिमान् है, इसलिए विद्यमानता से सर्वत्र प्राप्त शिव है। परमेश्वर सर्वशक्तिमान्, सर्वप्राप्त और मङ्गलमय है।

महान्प्रभुर्वै पुरुषः, सत्त्वस्यैष प्रवर्त्तकः।
सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः ॥१२॥

निश्चय से यह परम पुरुष महान् है, समर्थ है, शुभ का प्रवर्त्तक है, अविकारी है, प्रकाशमय है और इस अतिशय निर्मल प्राप्ति मोक्षानन्दप्राप्ति का ईश्वर है। परमपद का अधिपति भी भगवान् ही है।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा, सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।
हृदा मनीषी मनसाऽभिक्लृप्तो, य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥१३॥

अङ्गस्थ—अङ्गमात्र का साक्षी परम पुरुष अन्तर्यामी है, जनों के हृदयों में सदा प्रविष्ट है, शुद्ध हृदय से और मन से प्राप्त है—प्राप्त होने योग्य है, मनीषी[11] है, [1]जो उपासक यह जानते हैं वे[15] अमृत हो[17] जाते हैं।

सहस्रशीर्षा पुरुषः, सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥१४॥

सहस्रों जिस में सिर हैं, सहस्रों जिस में आंखें हैं और सहस्रों जिस में पांव हैं अर्थात् जो भगवान् अनन्त प्राणियों का आश्रय है वह परम पुरुष है—परमेश्वर है। वह ईश्वर सब ओर से भूमि को आवृत कर के दश अङ्गुल को—दश दिशाओं को लांघ कर स्थित है। यहां सहस्रपद अनन्तार्थ में है और अङ्गुल गिनती को दर्शाता है। अङ्गुलियों पर गिनने से दिशाएं दस ही हैं। भगवान् दिशाओं में नहीं घिरा हुआ, देश से पार है, यह ही उक्त पद का तात्पर्य है।

पुरुष एवेदं सर्वं, यद् भूतं यच्च भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो, यदन्नेनातिरोहति ॥१५॥

जो कुछ भूतकालीन था और जो भविष्यत् में होगा वह यह सब पुरुष ही है—पुरुष आश्रित ही है। [10]जो प्राणी-जगत् अन्न से जीता है उसका और मोक्ष का वह भगवान् स्वामी है।

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके, सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१६॥

वह परम पुरुष सब ओर से हाथ पांव वाला है, सब ओर से आंख, सिर, मुख वाला है और सब ओर से कान वाला है। क्रिया, ज्ञान में सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ है। वह लोक में सारे जगत् को स्वशक्ति से घेर कर रह रहा है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं, सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
सर्वस्य प्रभुमीशानं, सर्वस्य शरणं बृहत् ॥१७॥

सब इन्द्रियों के सामर्थ्ययुक्त परन्तु सब इन्द्रियों से रहित, सारे संसार के प्रभु, सब के स्वामी और सब के महान् शरण—आश्रय भगवान् को परम पुरुष कहा है।

नवद्वारे पुरे देही, हंसो लेलायते बहिः ।
वशी सर्वस्य लोकस्य, स्थावरस्य चरस्य च ॥१८॥

देहवान्—बद्धात्मा नवद्वार वाले पुर में—शरीर में रहता है, हंस—ज्ञानवान् मुक्तात्मा देह से—बन्ध से, बाहर प्रकाशमान होता है। और परम पुरुष सारे स्थावर और जङ्गम जगत् का वश करने वाला है—सब का ईश्वर है।

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता, पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता, तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥१९॥

वह परम पुरुष हाथ-पैर रहित है, स्वसंकल्प से वेगवान् और ग्रहण करने वाला है। वह नेत्ररहित है परन्तु सब को देखता है, वह कर्णरहित है परन्तु सब कुछ सुनता है। वह सारे ज्ञातव्य को जानता है परन्तु पूर्णतया उसका ज्ञाता कोई नहीं है, उसी भगवान् को सन्त जन मुख्य, महान् और पुरुष कहते हैं।

अणोरणीयान् महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको, धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥२०॥

इस प्राणी के हृदय में सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् परमेश्वर विद्यमान है, उस कर्मरहित—ज्ञानमय महान् ईश्वर को, शोकरहित उपासक, भगवान् की कृपा से ही देखता है। अनन्तमहिमामय ईश्वर का दर्शन उसकी कृपा से ही प्राप्त होता है।

वेदाहमेतमजरं पुराणं, सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य, ब्रह्मवादिनो प्रवदन्ति नित्यम् ॥२१॥

कोई वीतराग उपासक परम पुरुष का दर्शन पाकर कहता है—मैं इस अविनाशी, सनातन, सब के साक्षी और समर्थ होने से सर्वत्र विद्यमान, भगवान् को जानता हूं—साक्षात् रूप से जानता हूं, और उस प्रभु को जानता हूं, ब्रह्मज्ञानी जिसका जन्मनिरोध कहते हैं—जिसको अजन्मा बताते हैं, तथा जिसको नित्य—एकरस कहते हैं।

चौथा अध्याय

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः, स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥१॥

जो एक, निराकार, निहित—प्राप्त अर्थ—पूर्णकाम भगवान्, स्वशक्ति के योग से अनेक वर्णों को—नानारूपवान् पदार्थों को, बहुत प्रकार से धारण वा पालन करता है। वह ही देव आदि में—सृष्टि के आरम्भ में, समस्त जगत् को (वि एति) विशेषता से प्राप्त होता है, रचता है और अन्त में प्रलय करता है। वह भगवान् हमको शुभ बुद्धि से जोड़े।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म, तदापस्तत्प्रजापतिः ॥२॥

वह ही देव वेदों में अग्नि है, वह आदित्य है, वह वायु है और वह चन्द्रमा है, वह ही शुक्र है, वह ब्रह्म है, वह जल है और वह ही प्रजापति है। इन अग्नि आदि नामों से वेदों में वह ही गाया गया है।

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि, त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि, त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥३॥

स्वात्मा को अभिमुख करके कोई उपासक कहता है—हे मेरे आत्मा ! तू स्त्री है, तू पुरुष है, तू कुमार है और तू ही कुमारी है। तू जीर्ण हुआ लाठी से—लाठी के सहारे से चलता है और तू ही सब ओर मुख वाला—सर्वज्ञानमय कर्मवश जन्मा हुआ होता है—जन्म धारण करता है। इन सब अवस्थाओं में हे आत्मा ! तू ही होता है।

नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्षस्तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः ।
अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे, यतो जातानि भुवनानि विश्वा ॥४॥

कोई उपासक प्रकृति को—जगत् के उपादान कारण को लक्ष्य बना कर कहता है—हे अनादिमत् कारण ! तू किसी सामर्थ्य से वर्त रहा है—भगवान् की इच्छा से क्रियाशील है—जिससे नीलवर्ण पदार्थ, गमनशील लोक, हरित पदार्थ, रक्तवर्ण पदार्थ, बादल, ऋतुएं, समुद्र और सारे लोक उत्पन्न हुए हैं।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते, जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥५॥

आकार वा रूप वाली, बहुत प्रजा रचती हुई, रक्तवर्ण श्वेवतर्ण कृष्णवर्ण, एक, प्रकृति को, एक अनादि जीवात्मा सेवन करता हुआ, अधिकार में करता है—उसमें बस जाता है अथवा सो जाता है। तथा दूसरा अजन्मा भगवान् जीवात्मा द्वारा भोगी हुई इस प्रकृति को त्याग देता है—वह इसमें बद्ध नहीं होता।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥६॥

जीवात्मा और परमेश्वर का संबन्ध वर्णन करते हुए ऋषि ने कहा—वे दोनों सुपक्ष—सुगुण वाले, आत्मभाव में मिले हुए हैं, सखा हैं और समान—एक ही प्रकृति-रूप वृक्ष को आलिङ्गन कर रहे हैं। उन दोनों में एक जीवात्मा वृक्ष के स्वादु फल

को खाता है और दूसरा भगवान् प्रकृति के फलों को न खाता हुआ साक्षीरूप से देखता है।

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥७॥

जिस प्रकृतिरूप पेड़ पर परमेश्वर आरूढ है उसी समान वृक्ष पर पुरुष—बद्धात्मा भोगों में निमग्न अपनी असमर्थता से मोह में फंसा हुआ शोक करता है और जब उपासना से ज्ञान होने पर दूसरे सखा ईश्वर को और इस भगवान् की महिमा को देखता है तब शोकरहित हो जाता है।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्, यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति, य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥८॥

ऋचा के जिस अविनाशी परम निराकार भगवान् में सारे देव (अधिनिषेदुः) निवास करते हैं, जो मनुष्य उसको नहीं जानता वह ऋचा से क्या करेगा? उसे ऋचा से क्या लाभ है? परन्तु जो उपासक उस भगवान् को जानते हैं वे ये मोक्षधाम में भली भांति विराजमान होते हैं।

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि, भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः ॥९॥

छन्द, यज्ञ, इष्टियां, व्रत, जो हो चुका और जो होगा वेद कहते हैं, इस सबको और इमको मायावाला भगवान् रचता है—प्रकट करता है। उसमें—सृष्टि में माया से दूसरा—भगवान् से भिन्न जीवात्मा रुका हुआ है। माया से जीवात्मा ही बद्ध है। भगवान् सदा निर्लेप है।

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु, व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥१०॥

माया को तो प्रकृति जाने और महेश्वर को मायी जाने। उस महेश्वर के अवयवभूतों से—अंशवत् अंश से, यह सारा जगत् व्याप्त है। भगवान् देश काल से और माया से घिरा हुआ नहीं है।

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको, यस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वम्।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं, निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥११॥

जो एक—अद्वितीय ईश्वर योनि योनि को—प्रत्येक लोक वा कारण को,

अधिकार में रख रहा है और जिसमें यह सर्व जगत् (सम् एति) विकास को पाता है तथा (वि एति) प्रलय हो जाता है। उस ईश्वर, वर देने वाले, स्तुतियोग्य, देव को जान कर, उपासक इस अत्यन्त शान्ति को प्राप्त होता है।

> यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च, विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
> हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं, स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥१२॥

जो भगवान् देवों का उत्पत्ति और प्रलय कारक है, विश्व का ईश्वर है, न्यायवान् है और सर्वज्ञ है। हे उपासको! उस अभिव्यक्त प्रकाशमय को देखो—उस भगवान् को ध्यान में अवलोकन करो। वह परमेश्वर हम को शुभ बुद्धि से संयुक्त करे—वह हरि हमें उत्तम बुद्धि प्रदान करे।

> यो देवानामधिपो, यस्मिल्लोका अधिश्रिताः।
> य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः, कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१३॥

जो देवों का अधिपति है, जिसमें लोक आश्रित हैं और जो इस दुपाये और चौपाये जगत् का शासन करता है—ईश्वर है, उस सुखस्वरूप भगवान् के लिए भक्ति करें। ऐसे ईश्वर का पूजन आराधन करें।

> सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये, विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
> विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं, ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति ॥१४॥

संसार की द्रवीभूत अवस्था का नाम यहां कलिल है। कलिल के बीच सूक्ष्म से अतिसूक्ष्म, विश्व के रचयिता अनेकसामर्थ्ययुक्त, विश्व के एक—अद्वितीय घेरने वाले शिव को— परमकल्याणरूप भगवान् को, जान कर उपासक, अत्यन्त – परम शान्ति को प्राप्त होता है।

> स एव काले भुवनस्य गोप्ता, विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः।
> यस्मिन्युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च, तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति ॥१५॥

जो ही भगवान् समय में—सर्वकाल में जगत् का रक्षक है, विश्व का ईश्वर है, सर्व प्राणियों में गूढ है—अन्तर्यामी रूप से विद्यमान है, और जिसमें ब्रह्मर्षि जन तथा देवता प्रेमयोग से युक्त हैं। उसको ही जान कर उपासक, मृत्यु के बन्धनों को छेदन कर देता है।

> घृतात्परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं, ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम्।
> विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं, ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१६॥

घृत से अधिक सूक्ष्म, मण्ड की भांति—रससार की भांति अति सूक्ष्म, सर्व भूतों में गूढ़े शिव को, जान कर तथा विश्व के अद्वितीय नियन्ता देव को जान कर, उपासक सर्व बन्धनों से छूट जाता है। भगवान् की सूक्ष्मतम सत्ता का और सर्वशक्तिमत्ता का ज्ञान हो जाने से कर्मों के सारे पाश कट जाते हैं। यहां "मण्ड" उस पदार्थ को कहा है जो सब रसों में सार रूप से—तत्त्वरूप से विद्यमान होता है।

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा, सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो, य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥१७॥

यह ही देव जगत् का रचने वाला है, महान् आत्मा है और जनों के हृदय में सदा प्रविष्ट है—विद्यमान है। वह प्रभु हृदय से—श्रद्धा से, बुद्धि से और मन से प्राप्त है, ईश्वर श्रद्धा, बुद्धि और मनन से प्राप्त होता है। जो उपासक जन इस हरि को जानते हैं वे अमृत हो जाते हैं।

यदाऽतमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं, प्रज्ञा च तस्मात्प्रसृता पुराणी ॥१८॥

परमात्मा के पद का—धाम का वर्णन करता हुआ ऋषि कहता है— जिस पद में अन्धेरा नहीं है, वह प्रकाशमय लोक न दिन है, न रात्रि है, न व्यक्त है, न अव्यक्त है, उसमें केवल—निर्विकल्प शिव ही है। उस पद में निर्विकल्प परमेश्वर ही प्रकाशमान है। वह ही उस सविता का—आदित्य वर्ण भगवान् का, वरणीय अविनाशी पद है; उससे ही सनातन प्रज्ञा विस्तृत हुई है। उसी धाम से सनातन ज्ञान का अवतरण होता है।

नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं, न मध्ये परिजग्रभत्।
न तस्य प्रतिमा अस्ति, यस्य नाम महद्यशः ॥१९॥

इस आदित्यवर्ण भगवान् को कोई न ऊपर से, न तिरछा और न मध्य में पकड़ सकता है। क्योंकि जिसका प्रसिद्ध और महत् यश है उसकी प्रतिमा—मूर्त्ति नहीं है। अनन्त कीर्तिवान् भगवान् अमूर्त है—निराकार है, इस कारण इन्द्रियों से ग्रहण नहीं किया जा सकता।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य, न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥२०॥

इस भगवान् का प्रकाशमय रूप आंख के लिए नहीं ठहरता है—आंख का विषय नहीं है इसी कारण इसको कोई भी आंख से नहीं देखता है। जो उपासक इस

हृदय में स्थित भगवान् को श्रद्धा और मन से ऐसे जानते हैं वे मुक्त हो जाते हैं। अध्यात्म प्रकाश नेत्र का विषय नहीं है। वह आदित्यवर्ण हरि केवल आत्मा से जाना जाता है।

अजात इत्येवं कश्चिद् भीरुः प्रपद्यते ।
रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम् ॥२१॥

हे रुद्र! कोई कोई जन्म-मरण से भीरु तुझको अजन्मा है ऐसे प्राप्त होता है। हे भगवान्! तेरा जो ज्ञानयुक्त स्वरूप है उससे मुझको सदा बचा—मेरी सदा पालना कर।

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः ।
वीरान्मा नो रुद्र भामिनो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे ॥२२॥

हे रुद्र! हमारे नवजात बच्चों में, बालकों में न प्रहार कर; हमारी आयु में प्रहार न कर, हमारी गौओं में प्रहार न कर, हमारे घोड़ों में प्रहार न कर। हमारे तेज वाले—आवेश वाले वीरों को न मार। पूजा वाले हम, स्थिरस्वरूप तुझ को ही अपने यज्ञों में आह्वान करते हैं, तू परमेश्वर ही हमारे सर्वस्व का पालक और रक्षक है।

पांचवां अध्याय

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे ।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥१॥

जिस अनन्त अविनाशी परब्रह्म में विद्या-अविद्या दोनों—ज्ञान-कर्म दोनों गहरे स्थित हैं—जिससे ये दोनों निसृत होते हैं, वह सर्वज्ञ भगवान् है। कर्म तो नाशवान् है और निश्चयरूप से ज्ञान अमृत है। तथा जो विद्या-अविद्या को शासन करता है—इनका ईश्वर हो रहा है, वह भगवान् इन दोनों से भिन्न है, वह हरि नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव है।

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः ।
ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत् ॥२॥

जो एक—अद्वितीय भगवान्, योनि योनि को-प्रत्येक लोक को अधिकार में कर रहा है, जो सारे साकार पदार्थों को और सब कारणों को वश में रक्खे हुए है और जिसने पूर्वकाल में उत्पन्न हुए—बालक कपिल ऋषि को ज्ञानों से पोषण किया,

उपासक उस प्रकटस्वरूप को—उस प्रकाशस्वरूप भगवान् को देखें—ध्यान में उसका दर्शन करे।

एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन् क्षेत्रे संहरत्येष देवः ।
भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा ॥३॥

यह ऊपर वर्णित ईश्वर, प्रत्येक सृष्टिरूप जाल को अनेक प्रकार से विस्तृत करता हुआ इसी क्षेत्र में—आकाश में उसका संहार करता है। उसी प्रकार फिर (पतयः) जीवें प्रकट करके वह महान् आत्मा ईश्वर सब का स्वामित्व करता है।

सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक् प्रकाशयन् भ्राजते यद्वनड्वान् ।
एवं स देवो भगवान् वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः ॥४॥

(यत्) जैसे ही सूर्य ऊपर, नीचे, तिरछे लोक और सब दिशाएं प्रकाशित करता हुआ प्रकाशमान होता है, ऐसे ही वह एक, वरणीय, दिव्यस्वरूप, भगवान् कारणों और वस्तुस्वभावों को अधिकृत करता है; कार्य-कारण-भावों को नियम में रखता है।

यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः पाच्यांश्च सर्वान् परिणामयेद्यः ।
सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येको गुणांश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः ॥५॥

और जो विश्व का कारण स्वभाव को—याथातथ्यकार्यभाव को पकाता है, और जो सब पकने योग्य पदार्थों को परिणाम में लाता है, तथा जो सत्त्व आदि सब गुणों को पदार्थों में भली भांति जोड़ता है, वह ही अद्वितीय भगवान् इस सम्पूर्ण विश्व को नियम में रख रहा है।

तद्वेदगुह्योपनिषत्सु गूढं तद् ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम् ।
ये पूर्वदेवा ऋषयश्च तद्विदुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः ॥६॥

उस वेदों की रहस्यरूप उपनिषदों में गूढ को और उस वेद के कारण को ब्रह्मा—वेदवेत्ता जानता है—उपनिषदों मे वर्णित ईश्वर को वेद का ज्ञाता ही जानता है। जो पूर्वज देव और ऋषि उसे जान गये, निश्चय वे उसमें लीन होकर मुक्त हो गये।

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः ॥७॥

जीवात्मा का वर्णन करते हुए ऋषि ने कहा—जो आत्मा गुणयुक्त है, फलवाले कर्मों का कर्ता है, उस किये हुए का वह ही भोगने वाला है। वह आत्मा विश्वरूप है—

अनेक जन्म योनियों के रूप वाला है, सत्त्व, रज, तम रूप तीन गुणयुक्त है, ऊंच, नीच, मध्यम जन्म रूप तीन मार्गवाला है और इन्द्रियों का स्वामी है तथा अपने कर्मों से जन्मजन्मान्तरों में फिरता है।

अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकारसमन्वितो यः।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैवं आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः ॥८॥

परमात्मा से भिन्न दूसरा भी जो आत्मा है वह अङ्गुष्ठमात्र है—अङ्गों में रहने वाला है, सूर्यसदृश रूपवान् है, संकल्प और अहंकारसंयुक्त है। बुद्धि के गुण से और आत्मा के गुण से ही वह सूई की नोक बराबर—अत्यन्तसूक्ष्म देखा गया है। जीवात्मा प्रकाशस्वरूप परम सूक्ष्म है।

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥९॥

बाल के अग्र के सौवें भाग का सौ प्रकार से टुकड़े किये हुए का भाग वह जीव जानना चाहिए। वह अनन्त के लिये कल्पित किया जाता है। आत्मा का उक्त परिमाण सूक्ष्मतादर्शक है, वास्तव में आत्मा परम सूक्ष्म है।

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स रक्ष्यते ॥१०॥

यह देही आत्मा न ही स्त्री है, न पुरुष और न ही यह नपुंसक है किन्तु जिस जिस स्त्री आदि के शरीर को ग्रहण करता है उस उस से वह रक्षित वा लक्षित किया जाता है। आत्मा वास्तव में त्रिलिङ्गातीत है।

संकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैर्ग्रासाम्बुवृष्ट्या चात्मविवृद्धिजन्म।
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसंप्रपद्यते ॥११॥

संकल्प, भोग, दर्शन और मोह से और अन्न तथा जलसेचन से जीव के शरीर का बढ़ना और जन्म है। जीवात्मा लोकों में क्रम से कर्मानुसार जन्मों को प्राप्त होता है।

स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः ॥१२॥

देहवान् आत्मा अनेक स्थूल-सूक्ष्म देहों वा जन्मों को अपने गुणों से ही—अपने शुभाशुभ कर्मों से ही वरता है— प्राप्त होता है। स्वाभाविक क्रिया के गुणों से

और नियन्तादि आत्मगुणों से दूसरा भगवान् भी उन जन्मों के संयोग का कारण देखा गया है। जीवात्मा का जन्मसंयोग भगवान् के विधान से होता है।

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१३॥

संसार के बीच अनादि अनन्त, विश्व के रचयिता, अनेकरूप, विश्व के एक घेरने वाले देव को जान कर उपासक सर्व बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम् ।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥१४॥

भावना से ग्रहण करने योग्य, अशरीर, उत्पत्ति प्रलय के कर्ता, कलाओं के रचने वाले, मङ्गलस्वरूप देव को जो उपासक जानते हैं वे तन को त्याग देते हैं—वे अमर हो जाते हैं।

छठा अध्याय

स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथाऽन्ये परिमुह्यमानाः ।
देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥१॥

जिससे संसार में परिवर्तन हो रहे हैं उसको कोई कोई पण्डित स्वभाव कहते हैं, ऐसे ही अज्ञान में मोहित होते हुए दूसरे काल कहते हैं, परन्तु यह तो लोक में देव की महिमा है जिससे यह ब्रह्मचक्र घुमाया जाता है।

येनावृतं विश्वमिदं हि सर्वं ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद्यः ।
तेनेशितं कर्म विवर्तते ह पृथ्व्याप्यतेजोऽनिलखानि चिन्त्यम् ॥२॥

जिससे यह विश्व आच्छादित है, निश्चय जो सब का ज्ञाता है, काल का कर्ता है, गुणी है और जो सर्ववेत्ता है, उससे अधिकृत होकर इस लोक में कर्म वर्तते हैं और पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश होते हैं; यह ही भाव चिन्तनीय है।

तत्कर्म कृत्वा विनिवर्त्य भूयस्तत्त्वस्य तत्त्वेन समेत्य योगम् ।
एकेन द्वाभ्यां त्रिभिरष्टभिर्वा कालेन चैवात्मगुणैश्च सूक्ष्मैः ॥३॥

मनुष्य उस भगवान् का कर्म करके शान्त होकर फिर तत्त्व से—आत्मा से तत्त्व के—भगवान् के योग को प्राप्त करके, एक – आत्मभाव से ध्यान करे। दो से – ध्यान से और स्मरण से आराधन करे। ध्यान, स्मरण और कीर्तन इन तीनों से आराधन करे।

ध्यान, स्मरण, कीर्तन, पाठ, संयम, सत्सङ्ग, सत्कर्म और सेवाभाव इन आठ से भगवान् का आराधन करे। तथा काल के नियम से मनुष्य का आराधन करे और सूक्ष्म परमात्मगुणों के चिन्तन से आराधन करे।

आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः।
तेषामभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः ॥४॥

जो मनुष्य तीनगुणयुक्त कर्मों को आरम्भ करके सब भावों को भगवान् में लगावे—भावों से भगवान् का ध्यान करे तो उन गुणों का अभाव हो जाने पर किये हुए कर्म का नाश हो जाता है। कर्म क्षय होने पर वह उपासक परमार्थ से दूसरा—मुक्त हो जाता है। वह मुक्तभाव को प्राप्त होता है।

आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः।
तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम् ॥५॥

वह भगवान् सनातन है, परमाणुओं और जन्मों के संयोग का निमित्त कारण है, तीन काल से ऊपर है और कलारहित भी जाना गया है। उस अनन्तस्वरूप, उत्पत्ति के स्थान, स्तुतियोग्य, अपने चित्तस्थ देव को पहले आराध कर फिर मनुष्य मुक्त होता है।

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो यस्मात्प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम्।
धर्मावहं पापनुदं भगेशं ज्ञात्वाऽऽत्मस्थममृतं विश्वधाम ॥६॥

जिस से यह पांचभूतों का विकाररूप प्रपञ्च प्रवृत्त हो रहा है वह भगवान् संसाररूप वृक्ष की काल आकृतियों से भिन्न है और उत्कृष्ट है। उस धर्म के प्रवर्तक, पापनाशक ऐश्वर्य के ईश्वर, अमृत, सर्वाश्रय और आत्मस्थ देव को जान कर उपासक मुक्त होता है। मुक्त होने का अध्याहार चौथे श्लोक से होता है।

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद् विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥७॥

उस समर्थों के परम महेश्वर, उस देवों के परम दैवत और रक्षकों के उत्तम परम रक्षक, भुवन के ईश्वर, स्तुतियोग्य देव को हम उपासक जानते हैं।

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥८॥

उस का कार्य और कार्यसाधन नहीं है—उसको स्वात्मा के लिए कुछ भी

कृत्य नहीं है, न कोई, उस समान और अधिक दीखता है। इसकी, निश्चय विविध—विचित्र परम शक्ति और नैसर्गिक ज्ञानबलक्रिया सुनी जाती है। भगवान् की शक्ति परम और आश्चर्यजनक है। उसके ज्ञान, बल और क्रियारूप गुण स्वाभाविक हैं।

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् ।
स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥९॥

लोक में उसका कोई पति—रक्षक नहीं है, न वश करने वाला है और न ही उसका कोई चिह्न है। इस अजन्मा का न कोई उत्पादक है और न अधिपति है। वह भगवान् जगत् का कारण है और इन्द्रियों के स्वामी—जीव का स्वामी है।

यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो देव एकः स्वमावृणोत् ।
स नो दधात् ब्रह्माप्ययम् ॥१०॥

जो परमेश्वर मकड़ी की भांति प्रकृति से उत्पन्न हुए तन्तुओं से अपने आप को आच्छादित कर लेता है—जो प्रकृति में विद्यमान है, और जो स्वभाव से एक—अखण्ड ईश्वर है, वह हमको ब्रह्म में लीनता प्रदान करे—वह हमें स्वस्वरूप में स्थिति देवे।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥११॥

एक ही देव सर्वभूतों में गूढ—छुपा हुआ, सर्वव्यापी, सर्वप्राणियों का अन्तर्यामी, कर्मों का फलदाता, सर्वभूतों में बसने वाला, संसार का साक्षी, ज्ञानस्वरूप, निर्द्वन्द्व और निर्गुण है, सत्त्वगुण से, रजोगुण से, तमोगुण से रहित है।

एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥१२॥

जो सबको वश करने वाला एक—अखण्ड ईश्वर अनेक निष्क्रिय—जड़ भूतों के प्रकृतिरूप एक बीज—कारण को बहुत प्रकार करता है—नाना रूपों में प्रकट करता है। जो धीर जन उस आत्मस्थ—भगवान् को देखते हैं उनका निरन्तर रहने वाला सुख है, दूसरों का सदा रहने वाला सुख नहीं है।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१३॥

जो अनन्त, नित्य चेतनों का—आत्माओं का, नित्य, चेतन, एक ईश्वर है और कामनाओं को पूर्ण करता है उस सांख्य तथा योग से प्राप्त होने योग्य, जगत् के निमित्त-कारण परमेश्वर को जान कर उपासक बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१४॥

उस प्रकाशरूप भगवान् में सूर्य नहीं चमकता, न चन्द्रतारे चमकते हैं, न ये बिजलियां चमकती हैं, तब यह अग्नि कहां से चमके। वास्तव में उस ही प्रकाशमान के पीछे सब प्रकाशमय जगत् प्रकाशित हो रहा है। उस भगवान् की ज्योति से ही यह सर्व प्रकाशमान जगत् चमक रहा है। श्रीभगवान् ज्योतियों की ज्योति है।

एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले संनिविष्टः ।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥१५॥

इस पृथिवी आदि भुवन के बीच विद्यमान एक सर्वज्ञ ईश्वर है। वह ही ज्योति है और जल में प्रविष्ट है। उपासक उसको ही जान कर मृत्यु को (अति एति) अतिक्रमण कर जाता है। मुक्ति के लिये दूसरा मार्ग नहीं है। भगवान् का ज्ञान ही मोक्ष का मार्ग है।

स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद्यः ।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ॥१६॥

जो परमेश्वर प्रकृति और जीवों का स्वामी है, सत्त्व, रजस्, तमस् इन तीन गुणों का ईश्वर है, संसार के मोक्ष, स्थिति और बन्ध का कारण है, वह भगवान् विश्व—जगत् कर्ता है, जगत् का ज्ञाता है, स्वयम्भू है, ज्ञानस्वरूप है, कालकारक है, सर्वगुणी है और सर्वज्ञ है।

स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता ।
य ईशे अस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय ॥१७॥

वह परमेश्वर स्वस्वरूपमय है, निश्चय अविनाशी है, ईश्वरभाव में स्थित है, ज्ञानस्वरूप है, सर्वत्र विद्यमान है और इस जगत् का रक्षक है। जो परमेश्वर सदा ही इस जगत् का ईश्वर हो रहा है उससे भिन्न दूसरा कोई जगत् का ईश्वरत्व करने के लिये कारण—समर्थ नहीं है।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥१८॥

जो भगवान् आदि में ब्रह्मा को रचता है और निश्चय जो उसके लिए वेदों को प्रदान करता है। उस आत्मज्ञान के प्रकाश सबके आश्रय देव को मैं मोक्षाभिलाषी प्राप्त होता हूं।

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् ।
अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानिलम् ॥१९॥

निष्कल, क्रियारहित, शान्त, निर्दोष, निर्लेप, अमृत के परम पुल मोक्ष के परम पहुंचाने वाले और निर्धूम अग्निवत् प्रकाशमान देव को मैं प्राप्त होता हूं। अध्याहार पिछले श्लोक से होता है।

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥२०॥

जब उपासक मनुष्य आकाश को—निराकार भगवान् को देह पर जैसे त्वचा लिपटी हुई है तद्वत् लपेट लेंगे—सब ओर से उसके आश्रय में हो जायेंगे, तब देव को भली भांति जान कर उनके दुःख का अन्त हो जायगा।

तपःप्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान् ।
अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम् ॥२१॥

यह वार्ता प्रसिद्ध है कि श्वेताश्वतर विद्वान् ने तप के प्रभाव से और देव की कृपा से परम पवित्र भली प्रकार ऋषिसमूह से सेवित यह ब्रह्म—ब्रह्मोपदेश संन्यासियों को कहा

वेदान्ते परमं गुह्यं पुरा कल्पे प्रचोदितम् ।
नाऽप्रशान्ताय दातव्यं नाऽपुत्रायाऽशिष्याय वा पुनः ॥२२॥

पुराकल्प में वर्णित वेदान्त में—उपनिषदों में परम रहस्यरूप यह ब्रह्मज्ञान अशान्तचित्त को नहीं देना चाहिये, न अपुत्र को देना चाहिए और न अशिष्य को देना चाहिये। प्रशान्तचित्त पुत्र और शिष्य को ही यह रहस्योपदेश देना उचित है।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥२३॥

जिसकी परम देव में परम भक्ति है और जैसी भक्ति देव में है वैसी ही गुरु में है, उस महात्मा को कहे हुए ये अर्थ—रहस्य प्रकाश पाते हैं—उसको दिये हुए ये उपदेश सफल होते हैं।

अथ शान्तिः

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ओं शान्तिः ! शान्तिः !! शान्ति !!!

इति यजुर्वेदीया श्वेताश्वतरोपनिषत्समाप्ता ॥

लेखक

के

अन्य ग्रन्थ

यदि आप भगवान् श्रीरामचन्द्र जी के जीवन चरित्र का मूर्तिमान् सर्व-सुन्दर स्वरूप का दर्शन करना चाहत हैं, तो पढ़िये—

वाल्मीकीयरामायण-सार

यदि आप भक्ति-धर्म का अलभ्य लाभ लेना चाहते हैं और यदि अपने जीवन को आस्तिक भावों से सरस, सुन्दर बनाना चाहते हैं, तो पाठ कीजिए—

भक्तिप्रकाश

यदि आप भगवान् श्रीकृष्ण के उपदेशों के सार और मर्म का मधुर स्वाद लेना चाहते हैं तो लेखक द्वारा किया गया गीता का सरल और सरस भाषा अनुवाद पढ़िये—

श्रीमद्भगवद्गीता—भाषा भाष्य

अपने आपको ब्राह्मी अवस्था में ले जाने वाले

स्थितप्रज्ञ के लक्षण

आपको अवश्य पढ़ने चाहिएँ

मिलने का पता :—

१. श्री भगवान दास, एण्ड कम्पनी, कश्मीरी गेट, देहली ६।
२. श्रीराम शरणम्, ८ रिंग रोड, लाजपत नगर, नई देहली १४।
३. विश्वेश्वरानन्द पुस्तक भण्डार, साधु आश्रम, होश्यारपुर।